अष्टाध्यायी के परिभाषा सूत्रों
का
समीक्षात्मक अध्ययन

पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर (छत्तीसगढ़) में
कला संकाय के अन्तर्गत संस्कृत विषय में
पी-एच.डी. की उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध - प्रबंध

शोध-निर्देशक :

डॉ. तोयनिधि वैष्णव
सहायक प्राध्यापक
(व्याकरण विभाग)
शा. दू. श्री वै स्नातकोत्तर
संस्कृत महाविद्यालय, रायपुर (छ.ग.)

शोध-कर्त्री :

(श्रीमती पूर्णिमा केलकर)
शा. दू. श्री वै स्नातकोत्तर
संस्कृत महाविद्यालय, रायपुर (छ.ग.)

शोध-केन्द्र :

शासकीय दू. श्री वै. स्नातकोत्तर संस्कृत महाविद्यालय, रायपुर (छ.ग.)

निर्देशक का प्रमाण-पत्र

(कंडिका १२ ख)

प्रमाणित किया जाता है कि यह कार्य शीर्षक **"अष्टाध्यायी के परिभाषा सूत्रों का समीक्षात्मक अध्ययन"** पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर (छ.ग.) की **"डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी"** की उपाधि के लिए मेरे निर्देशन में और देख-रेख में किया गया है। शोध-कर्त्री ने मेरे साथ २०० (दो सौ) दिनों से अधिक की उपस्थिति पूरी कर ली है। मेरी अधिकतम जानकारी और विश्वास के अनुसार यह शोध-प्रबंध :

१. स्वयं शोधार्थी द्वारा किया गया कार्य है।

२. विधिवत् पूरा किया गया है।

३. अन्वेषण कार्यान्तर्गत विषयानुकूल मूल स्रोत सामग्रियों का आकलन एवं विश्लेषण व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया गया है; जो एक अध्येता के अध्वसाय एवं अनवरत परिश्रम पूर्वक किए गए कार्य की उपादेयता को परिभाषित करता है।

४. विश्वविद्यालय की पी.-एच. डी. की उपाधि से संबंधित सत्यापित अध्यादेश की आवश्यकताओं को पूरा करता है तथा

५. परीक्षकों को प्रेषित करने हेतु विषय-वस्तु और भाषा दोनों दृष्टिकोणों से अपेक्षित स्तर का है।

प्राचार्य/अधीक्षक :

6.3.02

डॉ. रामकुमार बेहार
शा. दू. श्री वै. स्नातकोत्तर
संस्कृत महाविद्यालय, रायपुर (छ.ग.)

शोध-निर्देशक :

डॉ. तोयनिधि वैष्णव
सहायक प्राध्यापक
(व्याकरण विभाग)
शा. दू. श्री वै. स्नातकोत्तर
संस्कृत महाविद्यालय, रायपुर (छ.ग.)

शोध प्रत्याशी का घोषणा-पत्र

(कंडिका १२ ख)

प्रमाणित किया जाता है कि यह कार्य शीर्षक **"अष्टाध्यायी के परिभाषा सूत्रों का समीक्षात्मक अध्ययन"** पूर्णरूपेण मेरे द्वारा किया गया है, जिसे डॉ. तोयनिधि वैष्णव, सहायक प्राध्यापक, शा. दू. श्री वै. स्नातकोत्तर संस्कृत महाविद्यालय, रायपुर (छ.ग.) के निर्देशन में शासकीय दू. श्री वै. स्नातकोत्तर संस्कृत महाविद्यालय, रायपुर (छ.ग.) शोध-केन्द्र में पूर्ण किया गया है। मैने निर्देशक के साथ शोध-केन्द्र में २०० (दो सौ) दिनों की उपस्थिति पूर्ण कर ली है।

मैं यह घोषणा करती हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी के अनुसार इस शोध-प्रबंध में किसी ऐसे कार्य का कोई अंश बिना समुचित उद्धरण के सम्मिलित नहीं है, जिसे किसी उपाधि के प्रदाय करने के लिए इस विश्वविद्यालय में या किसी अन्य विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया गया है।

निर्देशक के हस्ताक्षर :

डॉ. तोयनिधि वैष्णव
सहायक प्राध्यापक
(व्याकरण विभाग)
शा. दू. श्री वै. स्नातकोत्तर
संस्कृत महाविद्यालय, रायपुर (छ.ग.)

शोध-प्रत्याशी के हस्ताक्षर :

श्रीमती पूर्णिमा केलकर
शा. दू. श्री वै. स्नातकोत्तर
संस्कृत महाविद्यालय, रायपुर (छ.ग.)

प्राचार्य/अधीक्षक

6.03.02

डॉ. रामकुमार बेहार
शा. दू. श्री वै. स्नातकोत्तर
संस्कृत महाविद्यालय, रायपुर (छ.ग.)

अष्टाध्यायी के परिभाषा सूत्रों का समीक्षात्मक अध्ययन

अनुक्रमणिका

❀❀❀

शिव संकल्प

वागीशं वाग्भिरर्चामः - वेदार्थ विज्ञान में व्याकरण का महत्वपूर्ण योग है। वेद के ६ अंगों में व्याकरण मुख स्थानीय होने से प्रमुख अंग कहा जाता है। वस्तुतः स्थावर जङ्गमात्मक इस समस्त जगत् का अनुगम शब्द से ही सम्भव है, इसलिए विशुद्ध बोधात्मक परब्रह्म को शब्द ब्रह्म कहा गया है। वैयाकरणों ने इस शब्दानुगम को ही समस्त बोध का हेतु माना है। (**न सो ऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते - वाक्यपदीय**) शब्दशास्त्र की इस महत्ता के कारण जिज्ञासु मन इसके अध्ययन की ओर उन्मुख होता है। अनेक व्याकरणों में पाणिनीय व्याकरण के प्रति विशेष रुचि होना उसकी वैशिष्ट्यपूर्ण शैली का प्रतीक है। विद्वज्जन इसे अवरोहक शैली कहते हैं। वस्तुतः अतिविस्तृत शब्द राशि को सारगर्भित समास शैली में प्रस्तुत करना पाणिनि की विशेषता है।

उत्सर्गापवाद न्याय से रचित पाणिनीय शास्त्र के प्रति एक आकर्षण प्रारम्भ से ही रहा है किंबहुना माहेश्वर सूत्रों के उच्चारण से ही मैने बोलना प्रारम्भ किया इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। मेरे पारिवारिक परिसर विशेषतः मेरी माता (डॉ. **श्रीमती मनीषा पाठक**) से प्राप्त संस्कार व शिक्षा ने मुझे इस योग्य बनाया कि मैं अपनी रुचि को पल्लवित कर सकी। स्नेहमयी जननी के इस ऋण की निष्कृति अनन्त जन्मों में भी करना संभव नहीं है। माता के बाद मातृवत् मातृष्वसा डॉ. **श्रीमती पुष्पा दीक्षित** ने मेरे चित्त में स्थिर संस्कार को परखा और सतत् मुझे प्रेरणा प्रदान करती रही। उनकी व्याकरण साधना अनुपम है। अष्टाध्यायी के परिभाषा सूत्रों पर कार्य करने का परामर्श आचार्या दीक्षित से ही प्राप्त हुआ।

उपर्युक्त महनीय आचार्या द्वय की कृपा ही इस शोधकार्य का बीज है। निर्धारित विषय पर जब मैने शोध-कार्य का संकल्प कर लिया तब परमादरणीय डॉ. तोयनिधि वैष्णव ने मुझे इस कार्य हेतु मार्गदर्शन करने की कृपा पूर्वक स्वीकृति दी। पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय ने डॉ. वैष्णव के निर्देशन में कार्य करने की अनुमति प्रदान की।

सागर के आचार्य श्री राधावल्लभजी त्रिपाठी ने जो मेरे गुरुकल्प हैं, इस शोध कार्य को विधिवत् प्रारम्भ करने का नान्दी पाठ किया। मैं उनकी हृदय से आभारी हूँ।

मध्यप्रदेश के वैयाकरणमूर्धन्य आचार्य बच्चूलाल जी अवस्थी ने मेरी अन्तरतम की शास्त्र-निष्ठा को अपनी सूक्ष्मेक्षिका से पहचाना और अपने आशीर्वचन मुझे प्रदान किए।

भगवत् कृपा से परमपूज्य गुरुदेव आचार्य डॉ. रामयत्न जी शुक्ल के श्रीचरणों में बैठकर कुछ ग्रन्थों को पढने का अवसर मिला। अपनी अद्भुत अध्यापन शैली से व्याकरण जैसे दुर्बोध विषय को हठात् हृदयंगम करा देते हैं। उनके अनुग्रह से मेरा इस विषय में प्रवेश हो सका।

सुप्रसिद्ध व्याकरण विदुषी पुणे वास्तव्या डॉ. श्रीमती सरोजा भाटे तथा डॉ. श्रीमती भाग्यलता पाटस्कर ने भी मेरी [illegible] से अनुमोदन कर मेरा उत्साह बढ़ाया।

परमपूज्य आचार्य डॉ. कृष्णकान्त जी चतुर्वेदी ने समय-समय पर आयोजित शास्त्रीय चर्चा सत्रों में मुझे प्रवेश की अनुमति देकर विद्वज्जनों के पाण्डित्यपूर्ण उद्बोधनों से लाभान्वित किया।

आचार्य डॉ. आद्याप्रसाद जी मिश्र से वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड का अध्ययन किया। उनके कृपा-प्रसाद से आज "इयं सा मोक्षपाणानामजिह्मा राजपद्धति" का अनुगम कर सकी।

आचार्य श्रीनिवास रथ (उज्जैन), **डॉ. केदार नारायण जोशी** (उज्जैन), **डॉ. रहसबिहारी द्विवेदी** (जबलपुर), **श्रीमती अजिता त्रिवेदी** (उज्जैन), **पं. कृष्णशास्त्री कानिटकर जी** (पुणे) की हृदय से आभारी हूँ, जिनके शुभाशीर्वचन ही मेरे कार्य की सफलता के हेतु हैं।

व्याकरण शास्त्र पर कतिपय समीक्षा ग्रन्थ मराठी एवं आंग्ल भाषा में लिखे गए हैं। इन ग्रन्थों को तथा इनके साथ मूल संस्कृत ग्रन्थों को भी पढ़कर सुनाने का अति दुरुह कार्य मेरे पिता ने सहर्ष किया। मूल ग्रन्थों का पाठ जब तक मुझे श्रुतिगोचर न कराया जाता, यह चिन्तन एवं अनुशीलन करना असंभव था। मेरे परमपूज्य पिता **श्री विजय पाठक** ही इस शोध-कार्य के भी जनक हैं। जिनके प्रति अनन्त जन्मों में आधमर्ण्य को वहन करती हुई नमन करती रहूँगी, क्योंकि कुछ कहने के लिए अनन्त शब्द राशि भी बहुत छोटी है।

अन्त में भगवान् श्री विश्वनाथ के असीम अनुग्रह स्वरूप मेरे जीवन के अनन्य सहचर **पण्डित दीपक केलकर** ने जिस समाहित चित्त से मेरे शोध-प्रबंध को मूर्तरूप दिया उनकी कर्तव्य निष्ठा और समर्पण शब्द वाच्य नहीं। तीन वर्षो की अध्ययन अवधि में अनेक गुरुवत पूज्यजनों का निर्देशन और सतीर्थो का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहयोग प्राप्त हुआ। मैं उन सभी की कृतज्ञ हूँ।

शोध केन्द्र शा. दू. थ्री. वै. स्नातकोत्तर संस्कृत महाविद्यालय, रायपुर के निदेशक तथा प्राचार्य **डॉ. एस. एल. दुबेजी** तथा पूर्व प्राचार्य डॉ. रामनिहालजी शर्मा के प्रति अपार श्रद्धा तथा निष्ठा व्यक्त करती हूँ, जिनकी प्रेरणा एवं सद्भावना निरंतर मेरा पथ प्रशस्त करती रही।

सम्प्रति शोध-केन्द्र के वर्तमान प्राचार्य/निदेशक के प्रति विनम्रतापूर्वक नमन करती हूँ।

भगवान् श्री कृष्णचन्द्र के चरणारविंदों में जीवन की प्रत्येक क्रिया समर्पित है, यह उन्हीं का प्रसाद है।

"प्रभो ! तव कृपां विना तृणकणोऽपि न स्पन्दते।"

श्रीमती पूर्णिमा केलकर

पुरस्क्रिया

विश्वेशं सच्चिदानन्दं वन्देऽहं यो ऽखिलं जगत् ।
चरीकर्त्ति बरीभर्त्ति संजरीहर्त्ति लीलया ॥

पाणिनि का व्याकरणशास्त्र भारतीय शब्द विद्या का प्राचीनतम ग्रन्थ है । भारतवर्ष में व्याकरण को उत्तराविद्या एवं छहों वेदाङ्गों में प्रधान माना गया है । (**व्याकरण नामेयं उत्तरा विद्या । प्रधानं च षट्सु अङ्गेषु व्याकरणम् । - म. भा. - १.२.३२.**) आचार्य पाणिनि ने अपनी विराट् कल्पना के द्वारा अष्टाध्यायी को जो विशाल क्रमबद्ध व वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया है वह मानवीय मेधा का सार है । पाणिनि ने संस्कृत भाषा को अमरता प्रदान की । अष्टाध्यायी के आठ अध्यायों में लगभग चार सहस्र सूत्रों का उपदेश कर सूत्रकार ने अपने समय में प्रचलित लौकिक एवं वैदिक भाषा का सर्वाङ्ग व्याकरण प्रस्तुत किया । अष्टाध्यायी के अनन्तर अष्टाध्यायी पर आधारित कात्यायन के वार्तिक पतञ्जलि कृत महाभाष्य काशिका नामक वृत्ति ग्रन्थ मध्यकौमुदी, लघुकौमुदी, प्रक्रियाकौमुदी और सिद्धान्त कौमुदी नामक चार प्रकरणात्मक टीका ग्रन्थ तथा शब्देन्दुशेखर, प्रौढ़ मनोरमा, शब्दरत्न, शब्द कौस्तुभ नामक टीकाएँ प्रमुख हैं । इसके अतिरिक्त पाणिनीय सूत्रों से ज्ञापित होने वाले अथवा लोक व्यवहार में प्रचलित और शास्त्र में परिभाषा के रूप में प्रसिद्ध न्यायों के संग्रह ग्रन्थ लिखे गए, जिनमें - परिभाषा भास्कर, परिभाषेन्दुशेखर इत्यादि परिभाषा ग्रन्थ महत्वपूर्ण हैं । व्याकरण शास्त्र के दार्शनिक पक्ष का चिन्तन तथा शब्द का अर्थ विषयक धारणाओं और सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने वाले वाक्यपदीयम् वैयाकरण भूषण, मंजूषा आदि अर्थ विषयक व्याकरण ग्रन्थ हैं । उपर्युक्त ग्रन्थों में उल्लिखित किन्तु वर्तमान में अनुपलब्ध ग्रन्थों में व्याडिकृत संग्रह नामक ग्रन्थ, उस पर आचार्य कुणी की "सूत्रवृत्ति" विद्वताप्रचुर टीक ग्रन्थ होंगे । महाभाष्य पर आचार्य भर्तृहरि कृत टीका भी आज सम्पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं होती, मात्र प्रारम्भिक सात आह्निकों तक ही उपलब्ध व प्रकाशित है ।

उपर्युक्त ग्रन्थ सम्पत्ति का यथामति अवलोकन कर अष्टाध्यायी के परिभाषाओं को ही प्रस्तुत शोध-प्रबंध में अध्ययन का विषय निर्धारित किया गया है । शब्द शास्त्रियों ने अष्टाध्यायी के सूत्रों को उनके स्वरूप के आधार पर छः प्रकार से परिगणित किया है ।

"संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्र लक्षणम् ॥"

सूत्रों के उपर्युक्त षड्विध प्रकारों में से प्रत्येक का असाधारण धर्म अथवा लक्षण प्रबंध में प्रतिपादित हैं । विशेष रूप से परिभाषा सूत्रों की सर्वाङ्ग व्याख्या तथा अनुशीलन करना प्रस्तुत प्रबंध का लक्ष्य है । व्याख्या के अन्तर्गत परिभाषा सूत्र का सोदाहरण अर्थ उसका प्रवृत्ति विषय या लिङ्ग तथा लक्ष्य सिद्धि में उसका सहयोग तथा औचित्य प्रतिपादित है । परिष्कार पद्धति में परिभाषा सूत्र का सर्वाङ्ग लक्षण प्रस्तुत किया गया है । नियम सूत्रों से और परिभाषा सूत्रों में सूक्ष्मतम अन्तर को स्पष्ट करते हुए विधिसूत्रों के साथ उनकी एकवाक्यता को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है । कदाचित् अतिदेश सूत्रों में भी परिभाषात्व के संकेत प्राप्त होने पर इन्हें परिभाषा सूत्रों की कोटि में परिगणित किया जा सकता

है। अधिकार सूत्रों के सम्बन्ध में काशिकाकार प्रायः लिखते हैं - "अयमधिकारः परिभाषा वा।" ऐसे सूत्रों में "परश्च" (३.१.२.) आदि की विवेचना प्रस्तुत की गई है। संज्ञा और विधि सूत्रों में भी यदि नियमकारिता दृश्यमान है तो उन्हें अध्ययन का विषय बनाया गया है।

सूत्रार्थ बोध की दो पद्धतियाँ प्रचलित हैं। एक तो पाणिनीय अष्टाध्यायी के क्रम से सूत्रों का अध्ययन करना। यह पद्धति महाभाष्य से अद्यावधि प्रचलित है। दूसरी पद्धति है - प्रक्रिया पद्धति, जिसका प्रामाणिक ग्रन्थ सिद्धान्त कौमुदी है। दोनों पद्धतियों में परिभाषासूत्रों का स्थान विधि सूत्रों के उपकारक के रूप में प्रसिद्ध हैं। लक्ष्यसिद्धि में विधि सूत्रों का प्रमुख स्थान है, परिभाषा सूत्र उनके साथ एकवाक्यता कर लक्ष्यसिद्धि में उपकारक होते हैं। अष्टाध्यायी में अधिकांश परिभाषा सूत्र प्रथम अध्याय में पठित हैं। सिद्धान्त कौमुदीकार ने इन्हें प्रकरण के अनुसार संज्ञा के बाद पढ़ा है। यद्यपि कौमुदीकार ने सभी परिभाषा सूत्रों का संग्रह इस प्रकरण में नहीं किया है। इस संबंध में शेखर कार लिखते हैं - **"समर्थः पदविधिः - (२.१.१.) इत्यादिनामन्यत्रोपन्यासस्तु कार्यकालपक्षमाश्रित्य। सूत्रकृतापि तस्यास्तथैव करणाच्च। सर्वशास्त्रोपकारिकरणामेवात्र पठाच्च - शब्देन्दुशेखर, परिभाषा प्रकरण"**

प्रस्तुत प्रबंध में अष्टाध्यायी में पठित सभी परिभाषा सूत्रों का सर्वाङ्ग अनुशीलन कर लक्ष्यसिद्धि में उनकी उपकारिता का प्रतिपादन किया गया है। इस संदर्भ में भाष्यवार्तिक तथा समस्त वृत्ति ग्रन्थ - कौमुदी शेखर, मनोरमा, शब्दरत्न तथा सर्वाधिक अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थ व्याकरण सिद्धान्त सुधानिधि का पर्यालोचन किया गया है। यथास्थान कातन्त्र, हेमचन्द्र, जैनेन्द्र आदि व्याकरण ग्रन्थों की टिप्पणी को उद्धृत किया गया है। इस प्रकार एक-एक परिभाषा सूत्र पर विभिन्न व्याकरण ग्रन्थकारों के अभिमत प्राप्त कर आवश्यकतानुसार स्वाभिप्राय का प्रकाशन किया है। परिभाषा सूत्रों की यह समीक्षा निस्सन्देह व्याकरण अध्येताओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

प्रथम अध्याय में अष्टाध्यायी की संरचना के अन्तर्गत - अष्टाध्यायी के सूत्रों का वैशिष्ट्य तथा अष्टाध्यायी के विज्ञान अथवा रचना कौशल का विवेचन है। समस्त सूत्रों की संयोजन व्यवस्था में जो अद्भुत शिल्प दृष्टिगोचर होता है, वह विश्वसाहित्य की अमूल्य निधि है। पाणिनि से पूर्व शब्द विद्या के दूसरे आचार्यो ने संस्कृत को नियमबद्ध करने का प्रयास किया था किन्तु वे एकांगी थे। शब्दों के रूप और भाषा का विस्तार उनके नियमों में पूर्ण रूप से आबद्ध न हो सके। पाणिनि का शास्त्र अर्थ गाम्भीर्य की दृष्टि से सर्वातिशायी सिद्ध हुआ। इसीलिए लोक में एक स्वर से इस शास्त्र का स्वागत हुआ और यह ध्वनि गुञ्जित हुई - **"पाणिनीयं महत् सुविहितम् - (भा. - ३.२.३.)"** भगवान् पतञ्जलि ने सूत्रकार के लिए "अनल्पमति आचार्य - (१.४.५१.)" विशेषण का प्रयोग किया है। अष्टाध्यायी के सूत्रों पर भाष्य करते समय भाष्यकार सूत्र के पौर्वापर्य पर भी सूक्ष्म विचार करते हैं। उदाहरणार्थ - "तस्मादित्युत्तरस्य"- (१.१.६७.) के बाद यदि "आदेः परस्य" (१.१.५४.) सूत्र का पाठ किया जाए अथवा तस्मादित्युत्तरस्यादेः इस प्रकार एक ही सूत्र बनाया जाए तो लाघव हो सकता है, किन्तु सूत्र पाठ में आदेः परस्य - (१.१.५४.) सूत्र पहले और तस्मादिति० - (१.१.६७.) बाद में पठित है। इसका विज्ञान यह है कि दोनों की एक सूत्रना में अनेकाल् शित्सर्वस्य - (१.१.५५.) का आदेः परस्य की दृष्टि में परत्व नष्ट हो जाता है। इसके फलस्वरूप अनेकाल० सूत्र आदेः परस्य का बाधक न होकर स्वयं उससे बाधित हो जाता। अष्टाध्यायी में जो सूत्र जिस स्थान पर जिस रूप में पठित या उपदिष्ट है उसे किञ्चिन्मात्र

भी स्थानान्तरित या परिवर्तित करना सम्भव नहीं है। यदि ऐसा कोई प्रयास हुआ तो महान् अनर्थ की सम्भावना हो सकती है। इसलिए भाष्यकार **"यथान्यासमेवास्तु"** कहकर पाणिनीय सूत्रपाठ को यथावत् स्वीकार करने के पक्ष में हैं। अष्टाध्यायी के सूत्र संयोजन का एक महत्वपूर्ण उदाहरण - **"पूर्वत्रासिद्धम्"** - (८.२.१.) है। जो अष्टमाध्याय के द्वितीय पाद का प्रथम सूत्र है। यह सूत्र अपने स्थान पर स्थित होकर सम्पूर्ण अष्टाध्यायी के सूत्रों की प्रवृत्ति का नियामक है। इस सूत्र के पूर्व में पठित सवा सात अध्याय के सूत्रों के प्रति आगामी तीन चौथाई अध्याय के सूत्र असिद्ध हो जाते हैं। अपने अधिकार से यही सूत्र त्रिपादी के सूत्रों में पर सूत्र में असिद्धत्व का प्रतिपादन करता है। **(सपाद सप्ताध्यायी प्रति त्रिपाद्यसिद्धा त्रिपाद्यामपिपूर्वं प्रति परमसिद्धम्।)** वैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर आचार्य पाणिनि की यह अभूतपूर्व कल्पना है। **"सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदस्मिन् पश्यामि शास्त्रे यदनर्थक स्यात्"** अथवा **"प्रमाणभूत आचार्यो दर्भ पवित्रपाणिः शुचावकाशे प्राङ्मुखः उपविश्य महता यत्नेन सूत्रं प्रणयति स्म। तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुं किं पुनरियता सूत्रेण"** इन शब्दों में भाष्यकार ने अष्टाध्यायी के सूत्रों का अलौकिकत्व और सूत्रकार का असीम प्रभुत्व प्रदर्शित किया है।

सूत्रों के प्रकार - पूर्व में परिगणित षड्विध सूत्रों में प्रत्येक सूत्र का लक्षण तथा परिष्कार प्रस्तुत किया गया है। इनमें विशेष रूप से परिभाषा सूत्रों के लक्षण और स्वरूप पर विस्तृत विवेचन किया गया है। नव्य न्याय की पद्धति में परिभाषात्व का परिष्कृत लक्षण करते हुए उसी आधार पर प्रत्येक परिभाषा सूत्र की समीक्षा करने का यत्न किया गया है।

परिभाषा सूत्रों का लक्षण और प्रकार - इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम परिभाषाओं का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अवलोकन प्रस्तुत है। व्याकरण शास्त्र के अन्तर्गत परिभाषाओं पर सर्वप्रथम उपलब्ध ग्रन्थ व्याडिकृत परिभाषा सूचनम् का उल्लेक प्राप्त होता है। सीरदेव कृत परिभाषावृत्ति नामक ग्रन्थ बनारस से प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त रॉयल एशियाटिक सोसायटी बंगाल के पुस्तकालय में परिभाषा शास्त्र पर दस हस्त लिखित ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इसी परिच्छेद में परिभाषाओं की आवश्यकता उनका शब्द शास्त्रीय महत्व तथा उद्भव और विकास क्रम की चर्चा ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर प्रस्तुत की गई है। परिभाषाकारों के विभिन्न सम्प्रदायों का उल्लेख करते हुए पाणिनीय सम्प्रदाय के परिभाषा ग्रन्थों का कालक्रम से विवेचन है।

परिभाषाओं को ग्रन्थकारों ने शास्त्रत्व सम्पादक बाधबीजपरक और तन्त्रशेष इस प्रकार तीन प्रकरणों में विभाजित किया है। विभिन्न प्रकरणों में पठित परिभाषाओं को पुनः - १. वाचनिकी, २. न्याय सिद्ध और ३. ज्ञापक सिद्ध, इस प्रकार त्रिवर्गीकृत किया गया है। अष्टाध्यायी के परिभाषा सूत्रों में इस प्रकार वर्गीकरण नहीं है। इनमें कतिपय परिभाषा सूत्र - १. पदोपस्थापक, २. स्थानी नियमार्थक और ३. आदेश नियमार्थक हैं। परिभाषा सूत्रों की व्याख्या में यथास्थान इनका निर्देश किया गया है।

पाणिनीय परिभाषा सूत्रों के पूर्व परिभाषा की स्थिति तथा पाणिनि के उत्तरवर्ती काल में नागेशादि कृत परिभाषाओं का औचित्य प्रतिपादित है।

शोध प्रबंध का द्वितीय अध्याय - इस अध्याय में शोध-कार्य का प्रमुख विवेच्य विषय

सन्निहित है। अष्टाध्यायी के परिभाषा सूत्रों की विस्तृत व्याख्या इस अध्याय में प्रस्तुत है। सभी परिभाषा सूत्र एक स्थान पर या एक ही अध्याय में पठित नहीं हैं। अधिकांश परिभाषा सूत्र अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय में हैं। एक परिभाषा द्वितीय अध्याय में - "समर्थः पदविधिः" - (२.१.१.), एक तृतीय अध्याय में - "वासरूपोऽस्त्रियाम्" - (३.१.९४.), "अनुदात्तं पदम्" - (६.१.१५८.) छठवें अध्याय में विधिसूत्र होकर परिभाषावत् नियमकारी प्रतीत होने वाले "देविका शिंशपा०" - (७.३.१.) आदि सप्तम अध्याय में पठित हैं। इन सूत्रों को सुविधा की दृष्टि से दो खण्डों में विभाजित कर प्रथम खण्ड में प्रथमाध्याय प्रथम पद के परिभाषा सूत्रों की समीक्षा है। प्रबंध के इसी अध्याय के द्वितीय खण्ड में शेष अष्टाध्यायी में पठित परिभाषा सूत्रों का विवेचन किया गया है। परिभाषा सूत्रों की व्याख्या सूत्र के प्रत्येक अंश या विचार बिन्दु पर समाहित दृष्टि से चिन्तन किया गया है। सूत्र की समीक्षा में निम्न बिन्दुओं की प्रामाणिक चर्चा प्रस्तुत है :-

१. सूत्रार्थ
२. पदकृत्य
३. सूत्र की व्याप्ति, उदाहरण
४. औचित्य
५. विविध ग्रन्थकारों के अभिमत।

कदाचित् परिभाषा सूत्र प्रत्याख्येय प्रतीत होने पर भी भाष्यकार का उसके प्रति उदार दृष्टिकोण प्रतीत होता है। कदाचित् सूत्र के स्वरूप में परिवर्तन की कल्पना की है। इस न्यासान्तर कल्पना में क्या-क्या अनुपपत्तियाँ सम्भावित हैं ? इसकी चर्चा की गई है। उदाहरण - इकोगुणवृद्धी के स्थान पर "इकस्तौ" या उरण् रपरः के स्थान पर "उरणोरक्" की न्यासान्तर कल्पना पर विवेचन किया गया है।

संक्षेप में सूत्रकार के व्याख्यान को इस भाष्यवचन के अनुसार प्रस्तुत करने का प्रयास है :-

"पदच्छेदः पदार्थोक्तिः विग्रहो वाक्य योजना।
आक्षेपोऽथ समाधानं व्याख्यानं षड्विधं मतम्॥"

शोध प्रबंद के तृतीय अध्याय में उभयविध सूत्रों की चर्चा है। उभयविध में तात्पर्य ऐसे सूत्रों से है, जिनमें अंशतः परिभाषा के समान नियम कारित्व दृश्यमान है। शेषभाग विधि नियम अतिदेश या अधिकार के रूप में प्रसिद्ध है। इन सूत्रों को पाँच वर्गो में वर्गीकृत किया गया है :-

१. संज्ञा और परिभाषा
२. विधि और परिभाषा
३. नियम और परिभाषा
४. अतिदेश और परिभाषा
५. अधिकार और परिभाषा

सम्पूर्ण अष्टाध्यायी के सूत्रों का सूक्ष्म अध्ययन करने के पश्चात् सूत्रों में उपर्युक्त संकेत प्राप्त हुए हैं। उदाहरणार्थ - "स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा" - (१.१.६८.) सामान्यतः संज्ञासूत्र है। किन्तु इनमें नियमकारित्व का दर्शन होता है। अतः परिभाषात्व भी है।

अन्त में "प्राग्दीव्यतोऽण्" - (४.१.८३.) सूत्र पर चर्चा है। इस एक सूत्र में अधिकार विधि और परिभाषा इन तीनों का दर्शन होता है।

चतुर्थ अध्याय में अष्टाध्यायी के उन सूत्रों की समीक्षा है, जो किसी न किसी रूप में परिभाषाओं को ज्ञापित करते हैं। नागेशादि परिभाषाग्रन्थकारों ने इन सूत्रों को ज्ञापक सूत्र कहा है। वस्तुतः अनेक परिभाषाएँ भाष्य में पठित हैं तथा परिभाषा ग्रन्थों में निर्दिष्ट हैं, किन्तु अष्टाध्यायी में उनका सूत्र रूप में उल्लेख नहीं है तथापि सूत्रकार के द्वारा प्रदत्त कुछ संकेतों द्वारा यह सिद्ध है कि वे परिभाषाएँ उन्हें भी स्वीकार्य हैं। नागेश भट्ट ने परिभाषेन्दुशेखर के प्रारम्भ में लिखा है - **"वैयाकरण तन्त्रे वाचनिकार्नि पाणिनीय तन्त्रे ज्ञापक न्याय सिद्धानि भाष्य वार्तिकयोरूपनिबद्धापि यानि परिभाषा रूपाणि तानि व्याख्यायन्ते ।"** इस प्रकार की परिभाषाओं को अथवा न्यायों के विषय में **गोल्डस्टूकर** लिखते हैं - "A fule has the character of a "ज्ञापक" only when it is given in referene to a rule already previously established and when its sense becomes completed by it. (Panini - His place in Sanskrit Literture)"

उदाहरणार्थ - "सुप्तिङन्तं पदम्" - (१.४.१४.) सूत्र में पठित अन्त शब्द से सूत्रकार यह संकेत करना चाहते हैं कि संज्ञा सूत्रों में प्रत्ययों के द्वारा तदन्त ग्रहण नहीं होता। इसी आधार पर परिभाषाकारों ने "संज्ञाविधौ प्रत्यय ग्रहणे तदन्त ग्रहणं नास्ति" परिभाषा अथवा न्यायोक्त संकेत करने वाले लगभग ५० सूत्रों का अनुशीलन इस अध्याय में है। इन सूत्रों को १. शास्त्रत्व संपादक, २. बाधबीज, ३. शेष प्रकरणों में वर्गीकृत किया है। परिभाषाकारों ने अपने ग्रन्थों में कतिपय ऐसी परिभाषाओं का संग्रह किया है जो पाणिनीय सूत्र का ही प्रपंच प्रतीत होती है। अर्थात् पाणिनीय सूत्र की अनुवादिका है। टीकाकारों ने और स्वयं परिभाषेन्दुशेखरकार नागेश भट्ट ने ऐसी परिभाषाओं को **"सूत्र सिद्ध वाचनिकी"** कहा है। इस अध्याय में ऐसे सूत्रों का भी निर्देश किया है। उदाहरणार्थ "वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम्" परिभाषा को नागेश भट्ट "प्रत्यय लोपे प्रत्ययलक्षणम्" सूत्र के अर्थ का प्रपंच करने वाली कहते है। इस कोटि में लगभग १३ सूत्रों का अन्तर्भाव है।

अन्तिम अध्याय में उपसंहार के रूप में समग्र शोध-प्रबंध का निष्कृष्टार्थ है। परिभाषाओं के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण स्थापनाएँ एवं अभिमत प्रस्तुत हैं।

उपर्युक्त शोध-प्रबंध में इस अकिञ्चन ने जो अन्वेषणात्मक प्रयास किया है, उससे व्याकरण जगत् का उपकार होगा - यह मेरा विश्वास है। षडविध सूत्रों में मात्र परिभाषा सूत्रों का सर्वाङ्ग अनुशीलन कर मैने व्याकरण शास्त्र के जिज्ञासु के लिए एक दिशा निर्देश करना चाहा है, यदि मेरे इस कार्य से पाणिनि शास्त्र के अध्येता को कुछ प्राप्त हो सका तो यही मेरे अध्ययन की कृतार्थता होगी।

क्व शब्दशास्त्रं गम्भीरं गाधशोऽल्पमतिः क्व च
तथापि साहसं कुर्वे क्षन्तव्यं तन्मनीषिभिः।

विक्रमाब्द - २०५८ — श्रीमती पूर्णिमा केलकर
१२.०३.२००२

अध्याय - 9

"अष्टाध्यायी की संरचना"

- (अ) अष्टाध्यायी की वैज्ञानिकता
- (इ) सूत्रों के प्रकार
- (उ) परिभाषा सूत्र

अष्टाध्यायी की संरचना

पाणिनीय अष्टाध्यायी व्याकरण शास्त्र का एक विलक्षण ग्रन्थ है। आचार्य पाणिनि ने अपनी सूक्ष्मेक्षिका से संस्कृत के अशेष शब्द भंडार का अवलोकन कर सूत्र शैली में निबद्ध कर दिया। सूत्र अर्थात् धागे के समान लघुकाय होते हुए व्यापकता की दृष्टि से अनेक अर्थो को अपने अन्दर समाहित करने वाले ये पाणिनि के सूत्र विश्व साहित्य की अमूल्य निधि हैं। चतुर्दश माहेश्वर सूत्रों से आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी का विशाल शब्द शिल्प निर्माण किया अपने विलक्षण रचना कौशल और संयोजन के कारण आज भी पाणिनि का यह शास्त्र शब्द विद्या का उत्कृष्टतम निदर्शन कहा जाता है। संस्कृत को अमरता प्रदान करने का श्रेय अष्टाध्यायी को है। अष्टाध्यायी के पश्चात् इसके सूत्रों पर कात्यायन ने वार्तिक तथा भगवान् पतञ्जलि ने महाभाष्य लिखा तथा महाभाष्य के अनन्तर अनेक व्याख्या ग्रन्थ लिखे गए, किन्तु इन ग्रन्थों में ऐसी कोई नवीन स्थापना अथवा भाषागत गवेषणा उपलब्ध नहीं होती है जिसका अष्टाध्यायी में अभाव है। वस्तुतः शब्द-शास्त्रीय विचार धाराओं और चिन्तन तथा दर्शन की यह गंगोत्री है, जिसकी प्रतिष्ठा युगों तक अक्षुण्ण रहेगी। इसीलिए तन्त्र वार्तिककार कहते है :-

"सूत्रेष्वेव हि तत् सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्तिके। सूत्रं योनिरिहार्थानां सूत्रे सर्वं प्रतिष्ठितम्। - तंत्रवार्तिक (२.३.१.)"

(अ) अष्टाध्यायी की वैज्ञानिकता - अष्टाध्यायी के रूप में आचार्य पाणिनि आज जिस रूप में साक्षात् होते हैं, वह वाग्योग की सहज समाधि का ध्यान गम्य तत्व है। प्रमाणभूत आचार्य ने प्राङ्मुख होकर साधना की तपोभूमि में स्थित समाहित चित्त से शब्द ब्रह्म के साथ तदाकार होकर इस महनीय शास्त्र की सृष्टि की अतः इसका प्रत्यक्षर छन्दोवत् पवित्र एवं पुण्यकारी होगा। भारतवर्ष में व्याकरण विद्या को उत्तरा विद्या और वेदाङ्गों में प्रधान माना गया है। अष्टाध्यायी की संरचना जिस पृष्ठभूमि पर की गई उसमें रचनाकार का अनन्त श्रम और तप निहित है। इस ग्रन्थ के रहस्य को हृदयंगम करने के लिए उसकी विशेषता की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

अष्टाध्यायी का विज्ञान - अष्टाध्यायी की व्यूहरचना के तत्त्वबोध को समझने के लिए उसका विज्ञान समझना आवश्यक है। सूत्रपाठ के वैशिष्ट्य को निम्न बिन्दुओं के आधार पर प्रस्तुत किया जा सकता है।

लाघव युक्त लेखन पद्धति - लाघव ही पाणिनीय व्याकरण का मुख्य आधार है। भाष्यकार ने स्पष्ट रूप से कहा है कि अनन्त शब्द सागर को लघुतम उपाय से अन्वाख्यान करने का एकमात्र साधन व्याकरण ही है। प्राचीन काल में शब्द शास्त्र का प्रतिपद पाठ किया गया था, जिसमें वृहस्पति ने इन्द्र के लिए दैवी एक हजार वर्षो तक शब्द पारायण किया किन्तु समाप्त नहीं हुआ। इस अनन्त शब्द राशि का व्याकरण लिखने का संकल्प आचार्य पाणिनि ने किया जिसकी सिद्धि के लिए उन्होने लगभग चार सहस्र सूत्रों में समग्र शब्द शास्त्र को निबद्ध कर दिया। वैदिक और लौकिक दोनों प्रकार के शब्दों का साधुत्व इस ग्रन्थ में है। शब्दों के अनन्त महासागर के सामने यह ग्रन्थ गोष्पद के समान ही है। इस संकल्पित

विशालकाय कार्य का प्रारम्भ सूत्रकार ने उत्सर्गापवाद न्याय से किया। भाष्यकार ने पाणिनि की योजना को शब्द रूप में प्रस्तुत करते हुए लिखा है -

"शब्दानुशासनमिदानीं कर्तव्यम् । तत् कथं कर्तव्यम् ? किञ्चित् सामान्य विशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम्" - (व्या. म. भा. पस्पशा)

सूत्र निर्मिति में लाघव की रक्षा के लिए सूत्रकार ने विविध युक्तियों का (Technic) प्रयोग किया है। इन युक्तियों में सर्वप्रथम सूत्रों में अनुवृत्ति का विज्ञान समझना आवश्यक है।

अनुवृत्ति विज्ञान - आठ अध्यायों में तथा प्रत्येक अध्याय में चार पादों के अन्तर्गत सूत्रों का उपदेश कर अष्टाध्यायी एक समग्र एवं अविभाज्य रूप में अध्येताओं के समक्ष अपना ताना-बाना प्रस्तुत करती है। किसी भी सूत्र के स्पष्टार्थ बोध के लिए सूत्रपात में अनुवृत्ति के नियम का पालन करना आवश्यक है। उदाहरणार्थ - हलन्त्यम् - (१.३.३.) सूत्र में दो ही पद हैं - १. हल्, २. अन्त्यम् पूर्व सूत्र उपदेशे ऽजनु नासिक इत् - (१.३.२.) से उपदेशे और इत् इन दो पदों की अनुवृत्ति आती है। इन दोनों पदों का हलन्त्यम् के साथ अन्वय कर "उपदेशेऽन्त्यं हल् इत्" इस प्रकार सूत्र की वृत्ति बनती है। इसीलिए आचार्यो ने कहा है - **"सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र।"** अनुवृत्ति नियम यह है कि जिस सूत्र में पूर्व सूत्र से अनुवृत्ति करना अभीष्ट है, उस सूत्र में उद्देश्य कोटि में जिस विभक्ति वाला पद होगा, उस विभक्ति वाला पद पूर्व सूत्र से अनुवृत्त नहीं होता, जैसे - हलन्त्यम् में हल् और अन्त्यम् दोनों प्रथमान्त उद्देश्य हैं, अत: पूर्व सूत्र से (उपदेशे ऽजनुनासिक इत्) अच् और अनुनासिक: पदों की अनुवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि ये भी प्रथमान्त उद्देश्य हैं। उपदेशे सप्तम्यन्त है और इत् प्रथमान्त होने पर भी विधेय कोटि का है, अत: इन दोनों की अनुवृत्ति हो जाती है। इस अनुवृत्ति के कारण अर्थात् सूत्रों का क्रम स्मरण रखने के लिए सूत्र पाठ को कण्ठस्थ करना आवश्यक होता है।

सूत्र की वृत्ति में जिस प्रकार अनुवृत्ति सहायक होती है, उसी प्रकार परिभाषा सूत्र भी सहायता करते हैं। जैसे - सूत्र में पठित षष्ठी विभक्ति "स्थान" के साथ सम्बद्ध होकर अर्थ बोध कराती है। (षष्ठी स्थाने योगा) उदाहरणार्थ : "इकोयणचि" सूत्र में पठित इक: पद की षष्ठी किसी सम्बन्ध विशेष का बोध नहीं कराती अपितु स्थाने पद से "इक: स्थाने यण् स्यात्" यह अर्थ निष्पन्न कराती है।

सूत्रार्थ बोध का दूसरा महत्वपूर्ण आधार उसके अधिकार सूत्र है। अष्टाध्यायी के षड्विध सूत्रों में अधिकार सूत्र अर्थबोध प्रक्रिया में अत्यधिक सहायक हैं। अधिकार - सूत्रों का प्रयोजन **"प्रतियोगं तस्यानिर्देशार्थम्"** कहकर भाष्यकार ने पाणिनि के लाघव युक्त रचना शैली की ओर संकेत किया है। एक अधिकार सूत्र के उदाहरण द्वारा पाणिनि की सर्वातिशायिनी मेधा का अनुमान लगाया जा सकता है। "प्राग्रीश्वरान्निपाता:" - (१.४.५६.) सूत्र में "रीश्वर" इस अनर्थक शब्द का उच्चारण किया है। यहाँ प्रागीश्वरान् भी कह सकते थे। "अधिरीश्वरे" - (१.४.९७.) सूत्र के रीश्वर पद तक निपात संज्ञा का अधिकार सूत्रकार को अभीष्ट है। ईश्वर शब्द के पूर्व तक अर्थात् ईश्वरे तोसुन्कसुनौ - (३.४.१३.) सूत्र तक निपात का अधिकार करते तो कृन्मेजन्त: - (१.१.३९.) आदि निपात संज्ञा विधायक सूत्र व्यर्थ हो जाते। **(रीश्वरादीश्वरान्माभूत् कृन्भेजन्त: परोऽपिस: - काशिका - १.४.५६.)**

प्रत्याहार - पाणिनीय शास्त्र का प्राणतत्त्व प्रत्याहार है। चतुर्दश माहेश्वर सूत्र इन प्रत्याहारों के उपजीव्य हैं। विशाल शब्द शास्त्र को सारगर्भित समास शैली में प्रस्तुत करना प्रत्याहारों के कारण ही सम्भव हुआ माहेश्वर सूत्रों को आधार मानकर सूत्रकार ने उनमें अनुबंधों की योजना की। इन अनुबंधों के द्वारा प्रत्याहार का निर्माण हुआ। भाष्यकार ने "किमर्थो वर्णानामुपदेश:" कहकर "वृत्ति समवायार्थ उपदेश:" और "अनुबन्धकरणार्थश्च" इन दो वार्तिकों को उद्धृत किया है। इनका तात्पर्य यही है कि वर्णो के उपदेश के दो प्रयोजन हैं - १. शास्त्र प्रवृत्ति, २. अनुबन्धों के लिए। अनुबन्धों का प्रयोजन प्रत्याहारों की सिद्धि के लिए है। प्रत्याहारों की संकल्पना से शास्त्र प्रवृत्ति में लाघव की सिद्धि होती है। इन माहेश्वर सूत्रों को प्रत्याहार सूत्र भी कहा जाता है। सूत्रकार ने इन चतुर्दश सूत्रों में निहित अनुबन्धों के द्वारा ४१ प्रत्याहारों का प्रयोग अष्टाध्यायी में किया है। प्रत्याहारों की सिद्धि के लिए "आदिरन्त्येन सहेता" सूत्र पठित है। प्रत्याहारों का यह विज्ञान अत्यंत व्यवहारिक या लौकिक रीति के अनुकूल प्रतीत होता है। लोक में भी भाषा में संक्षिप्त अभिव्यक्ति के लिए कुछ इसी प्रकार का यत्न किया जाता है। जैसे - निरुक्तकार कहते हैं - अस्मिन् द्यवि शब्दों के प्रथमाक्षर को लेकर कहते "अद्य" का प्रयोग होता है। लोक से शास्त्र में संक्षेपीकरण की प्रक्रिया में भेद यही था कि लोक में शब्दों के प्रथमाक्षर प्रयुक्त होते हैं, शास्त्र में प्रथम और अन्तिम, जैसे - अ, इ, उ, ण् के लिए अण्। कुछ प्रत्याहारों की कल्पना वार्तिककार ने भी की जिसका भाष्यकार ने समर्थन किया। उदाहरणार्थ - "उरण्रपर:" - (१.१.५१.) सूत्र में पठित र को प्रत्याहार मानकर उसके अन्तर्गत र और ल का अन्तर्भाव प्राचीन आचार्यों ने किया है। इसीलिए शब्देन्दुशेखर, कौमुदी आदि ग्रन्थों में "लण् सूत्रे ऽकारश्च" कहकर लण् सूत्र के अकार को इत् संज्ञक माना है। पाणिनि को यह प्रत्याहार अभीट था इस विषय में मत भेद है। अर्वाचीन आचार्यो के मत में यह प्रत्याहार पाणिनि सम्मत न था अन्यथा "अतो ल्रान्तस्य" - (७.२.२.) सूत्र में लकार का उच्चारण न करते। **(परे त्वस्यानु० नासिकत्वे "तो ल्रान्तस्य" इति सूत्रे पाणिनिर्लकारं नोच्चारयेत्। प्रत्याहारेणैव निर्वाहात् - शब्देन्दुशेखर)** "चयो: द्वितीया शरि पौष्करसोदरिति वाच्यम्" वार्तिक में चय् प्रत्याहार की कल्पना वार्तिककार ने की है।

पर सूत्र का प्राधान्य - अष्टाध्यायी में प्रत्येक सूत्र का अपना विशिष्ट क्रम लाघव की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। एक ही लक्ष्य में युगपत् दो अथवा दो से अधिक सूत्रों की प्रवृत्ति होने पर "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" की व्याख्या के अनुसार पर सूत्र से कार्य होता है। जैसे - "समेभ्य: में सुपि च" - (७.३.१०२.) सूत्र से दीर्घ प्राप्त है तथा "बहुवचने झल्येत्" - (७.३.१०३.) से अङ्ग को एत्व भी प्राप्त है। अष्टाध्यायी सूत्र-पाठ के क्रम में बहुवचने० सूत्र पर में पठित होने से एत्व ही होता है और अभीष्ट प्रयोग सिद्ध होता है। एक नियम के कारण अनेक निषेध सूत्रों का गौरव परिहास सम्भव हो गया।

कदाचित् लक्ष्य सिद्धि में पूर्ण और पर सूत्रों में पर सूत्र का प्राधान्य बाधक सिद्ध हो जाता है। जैसे - वारीणाम् प्रयोग में वारि + आम् मिथिति में "ह्रस्वनद्यायोनुद्" - (७.१.५४.) सूत्र से नुद् का आगम और इको ऽचि विभक्तौ - (७.१.७३.) सूत्र से नुम् आगम युगपत् प्राप्त होते हैं। विप्रतिषेध न्याय से पर सूत्र को बली मानने से नुमागम की प्रवृत्ति हो जाएगी। नुमागम होने पर नामि - (६.४.३.) सूत्र से दीर्घ नहीं हो सकता और वारीणाम् की सिद्धि अवरुद्ध हो जाएगी। इसके समाधान के लिए भाष्यकार ने एक युक्ति प्रस्तुत की है। इसके अनुसार सूत्र पठित परम् शब्द अनेकार्थक है। अत: कदाचित् उसका अभिप्राय "इष्टम्" भी हो सकता है। इस स्थिति में "विप्रतिषेधे परं यदिष्टं तद्भवति" यह विप्रतिषेध० सूत्र

का तात्पर्य होता है। **(पर शब्दोऽयं बह्वर्थः।......। अस्तीष्टवार्ची पर शब्दः। तद्यथा - परं धाम गतः। इष्टं धाम गत इति गम्यते। तद्य इष्टवार्ची पर शब्दस्येदं ग्रहणम् - विप्रतिषेधे परं यदिष्टं तद् भवतीति - म. भा. - १.४.२.)**

पाणिनि की दृष्टि में पर सूत्र की बलवता का अपवाद "स्वरितेनाधिकारः" - (१.३.११.) सूत्र के आधार पर प्राप्त हो सकता है। सविरितत्व प्रतिज्ञा बलात् अधिक कार्य का सामर्थ्य उत्पन्न होता है। इस नियम के अनुसार स्वरितत्व के कारण पूर्वसूत्र को प्रबलतर सिद्ध किया जा सकता है। इसे पूर्व विप्रतिषेध कहा जा सकता है। इस व्यवस्था से पूर्व विप्रतिषेध परक अनेक वार्तिकों की अन्यथा सिद्धि हो जाती है। जैसे - १. नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन। २. गुणवृद्धयौत्वतृज्वद्भावेभ्यो नुम् पूर्व विप्रतिषेधेन।

त्रिपादी के द्वारा लाघव सिद्धि - विप्रतिषेध० न्याय से पूर्व और पर सूत्रों में सामान्यतः पर सूत्र को बली सिद्ध करने के पश्चात् जहाँ अधिकांश सूत्रों के पूर्व सूत्र में बलीयस्त्व दृष्टिगोचर होता है, ऐसे सभी सूत्रों को सूत्रकार ने अष्टम अध्याय को त्रिपादी में न्यस्त कर दिया है। इन तीन पादों के प्रारम्भ में "पूर्वत्रासिद्धम्" - (८.२.१.) सूत्र का न्यास किया गया है। इस सूत्र के बल से त्रिपादी के पूर्व (सपाद सप्ताध्यायी में पठित) सूत्र की और त्रिपादी में पठित सूत्र की एक ही लक्ष्य में युगपत् प्रसक्ति हो तो, पूर्व सूत्र ही बली होता है। त्रिपादी में पठित सूत्रों में कार्य निष्पादकता की दृष्टि से भी पूर्व सूत्र बली होता है और पर सूत्र दुर्बल।

प्रकृत सूत्र में "असिद्धम्" पद का विशेष प्रयोजन है। केवल पूर्व सूत्र को बली सिद्ध करना होता तो "पूर्व कार्यम्" सूत्रारम्भ कर सकते थे, किन्तु असिद्धम् का तात्पर्य है कि यदि त्रिपादी के किसी सूत्र से कार्य संपन्न हो चुका है तो उस कार्य या विधि पर आधारित ऐसा कार्य नहीं हो सकता जो उस सूत्र से पूर्व में पठित सूत्र से प्राप्त है, वह पूर्व सूत्र चाहे सपादी का हो चाहे त्रिपादी का। उदाहरणार्थ हरे + इह में "एचो ऽयवायावः" - (६.१.७८.) से एकार को अयादेश और लोपः शाकलयस्य - (८.३.६९.) से य लोप होकर हर इह प्रयोग निष्पन्न होता है। यहाँ आद्गुणः - (६.१.८७.) सूत्र से गुण की प्राप्ति है, किन्तु पूर्वत्रासिद्धम् द्वारा की गई व्यवस्था के अनुसार आद् गुणः की दृष्टि से य लोप असिद्ध है। य लोप की असिद्धता गुण की प्रसक्ति की बाधिका है। सूत्र की द्विविध व्यवस्था को वृत्तिकारों ने इन शब्दों में स्पष्ट किया है - "सपाद सप्तध्यायी प्रति त्रिपाद्यसिद्धा। त्रिपाद्यामपि पूर्व प्रति परमसिद्धम्।"

अदृष्टपिशाच न्याय - कार्यकाल पक्ष में जब संज्ञा और परिभाषाएँ त्रिपादी में प्रवृत्त होकर त्रिपादीस्थ विधि सूत्रों के साथ एकवाक्यता कर अर्थ बोध कराती है। तब यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यदि त्रिपादी असिद्ध ही है तब सपादी की संज्ञा परिभाषा वहाँ कैसे उपस्थित हो सकती है? इसका समाधान करते हुए भाष्यकार कहते है - **"त्रिपाद्या असिद्धत्वातत्र सपाद सप्ताध्यायीस्थ परिभाषामप्रवृत्तिमाशङ्क्य यद्यपीदं तत्रासिद्धं तत्विह सिद्धम्। कथम्। कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्। यत्र कार्यं तत्र द्रष्टव्यम्। - (पूर्वत्रासिद्धम्)"** इस दृष्टान्त को स्पष्ट करने के लिए टीकाकारों ने **"अदृष्ट पिशाच न्याय"** का उदाहरण दिया है। जिस प्रकार मनुष्य को पिशाच दिखाई नहीं देता किन्तु पिशाच मनुष्य को देख सकता है। उसी प्रकार त्रिपादी के सूत्र सपादी के लिए असिद्ध होते हैं,

किन्तु सपादी तो सिद्ध ही हैं। उसके सूत्र तो त्रिपादी में वाक्यार्थबोध के लिए विधिसूत्रों के पास गमन कर सकते हैं।

"षत्वतुकोरसिद्धः" - (६.१.८६.) सूत्र में षत्व अथवा तुगागम की कर्तव्यता में एकादेश शास्त्र को असिद्ध किया गया है। इस असिद्धता के दो उद्देश्य हैं - १. एकादेश के बाद प्राप्त कार्य की निवृत्ति होना और २. एकादेश के पूर्व स्थानी के प्राप्त कार्य की प्रवृत्ति होना। **(षत्वतुकोरसिद्धवचनमादेशलक्षण प्रतिषेधार्थमुत्सर्गलक्षणभावार्थं च - म. भा. वा. - ८.१.८६.)**[1] इस असिद्धता के कारण कोऽसिश्चत् आदि में षत्व की निवृत्ति और अधीत्य - प्रेत्य में तुक् की प्रवृत्ति सिद्ध हो जाती है। "आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च प्रीणिताः" न्याय का सर्वत्र प्रयोग लाघव की सिद्धि के लिए किया गया है।

असिद्धवदत्राभात् - (६.४.२२.) सूत्र से समानाश्रय आभीय शास्त्र की कर्तव्यता में समानाश्रय आभीय शास्त्र को असिद्ध माना गया है। इस असिद्धता के द्वारा प्रयोग की सिद्धि में संभावित अनुपपत्तियों का निवारण हो जाता है अन्यथा एधि - शाधि आदि प्रयोगों में अस् को एत्व (ध्वसोरेद्धावभ्या लोपश्च - ६.४.११९.) शास् का शा आदेश (शा हौ - ६.४.३५.) करने के बाद हि को धि आदेश की प्रप्ति नहीं हो सकती थी क्योंकि झलन्त अङ्ग उपलब्ध नहीं थे। केवल इन आदेशों को असिद्ध करने से स्थानि सम्बन्धी कार्य (हि को धि आदेश) भी हो गए और अभीष्ट अङ्ग भी उपलब्ध हुआ।

आकडारादेका संज्ञा - (१.४.१) - जहाँ दो भिन्न संज्ञाएँ एक स्थल पर अभीष्ट नहीं हैं उन सभी संज्ञाओं को कडाराधिकार में पढ़ा गया है। यह अधिकार १.४.१. से लेकर आगामी तीन पदों तक (कडाराः कर्म धारये - २.२.३८.) चलता है। इस अधिकार के अन्तर्गत पठित संज्ञाओं में जो संज्ञा अभीष्ट है, वह नियमानुसार (परत्वादि नियम से) प्रवृत्त होती है।

लौकिक तथा वैदिक शब्दों का अनुशासन - आचार्य पाणिनि ने लौकिक एवं वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों का व्याकरण प्रस्तुत किया है। भगवान् पतञ्जलि - "केषां शब्दानाम्? लौकिकानां वैदिकानां च" कहकर पस्पशाह्निक में इसका संकेत करते हैं। यही कारण है कि जिन सूत्रों में छदसि या भाषायाम् शब्दों का निर्देश नहीं है वे सूत्र लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों की सिद्धि में उपयोगी हैं। सभी सूत्रों का प्रयोजन इष्ट सिद्धि और अनिष्ट की निवृत्ति है। कदाचित् "अस्तेर्भूः" इत्यादि सूत्रों के विषय में यह आशङ्का हो सकती है कि इस सूत्र के अभाव में भी बभूव आदि इष्ट प्रयोग तो सिद्ध होते हैं, "अस्तेर्भूः" का क्या प्रयोजन। इसका समाधान यह है कि अनिष्ट की निवृत्ति के लिए प्रकृत सूत्र आवश्यक है। इस सूत्र के अभाव में अस् धातु से लिट् में आस रूप की आपत्ति हो सकती है। वैदिक शब्द प्रयोगों के सम्बन्ध में सूत्र सिद्ध प्रयोगों की व्याप्ति को नियमित करने के लिए "नित्यं छन्दसि" सूत्र का उपदेश किया है। उदाहरणार्थ "बह्वादिभ्यश्च" - (४.१.४५.) सूत्र से बहु आदि शब्दों को स्त्रीलिंग का ङीप् प्रत्यय विकल्प से विहित है। इसके फलस्वरूप बह्वी और बहुः - ये दो रूप लोक में सिद्ध होते हैं किन्तु वेद में केवल "बह्वी" का ही प्रयोग है, अतः "नित्यं छन्दसि" सूत्र का पाठ किया गया है।

दृष्टानुविधिश्छन्दसि - लोक में पाणिनीय सूत्रों की प्रक्रिया के अनुसार जो शब्द सिद्ध होते है वे शुद्ध ही होते हैं। अतः लोक में हम व्यवहार को देखकर अनन्त शब्द राशि को निष्पन्न करने में स्वतन्त्र

है। किन्तु वेद में ऐसा नहीं है क्योंकि वेद में एक भी शब्द घटाया या बढ़ाया नहीं जा सकता। वहाँ जो शब्द जैसा उपलब्ध है उसे उसी रूप में सिद्ध करना पड़ता है। छन्दसि दृष्टानुविधि का यही अभिप्राय है। पाणिनीय प्रक्रिया से वैदिक शब्दों को सिद्ध करते समय पाणिनि ने तीन सूत्रों की ओर विशेष रूप से संकेत किया है। **१. छन्दस्युभयथा - (३.४.११७.)** - इसका तात्पर्य है कि वेद में सार्वधातुक और आर्धधातुक संज्ञाएँ प्रयोगानुसार होती हैं, अर्थात् किसी भी प्रत्यय की सार्वधातुक संज्ञा हो सकती है। यही सूत्र दो प्रकरणों में और पठित है। नामि के परे दीर्घ करते समय - (६.४.५.) और भू तथा सुधी को यण् और इयङ् उवङ् करते समय - (६.४.८६.) छन्द में दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। अर्थात् नाम के परे कभी ह्रस्व और कभी दीर्घ होता है। भू और सुधी को कभी यण् और कभी इयङ् उवङ् होता है। निष्कर्ष यह हुआ कि लोक में शास्त्र के अनुसार शब्दों की सिद्धि की जाती है और वेद में जो शब्द जैसा सिद्ध है उसके अनुसार ही शास्त्र की प्रवृत्ति होती है। पाणिनीय प्रक्रिया से वैदिक शब्दों को सिद्ध करने का यही विज्ञान है।

पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम् - काशिकाकार ने पाणिनीय व्याकरण को अकालक व्याकरण कहा है। (पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम् - २.४.४१.) अकालक का आशय कालाधिकार रहित अर्थात् जिसमें भूत, भविष्य, वर्तमान आदि काल के निर्देशक अधिकार सूत्र नहीं हैं। पदमंजरीकार इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं - "पूर्वाणि व्याकरणान्यद्यतनादि काल परिभाषा युक्तानि तद्रहितम्।" पूर्ववर्ती वैयाकरणों ने अद्यतनीश्वस्तनी भविष्यन्ती अनद्यतनी परोक्षा भवन्ती आदि काल बोधक संज्ञाओं का निर्देश किया है। पाणिनीय व्याकरण में इनका लक्षण नहीं मिलता। अतः इसे अकालक व्याकरण कहा जाता है। महाभाष्य में क्वचित् इनका प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। जैसे - "वाद्यतन्याम्" - (६.४.११४., वा.- ३.), परिदेवनेश्वस्तनी भविष्यन्त्यर्थे - (३.३.१५., वा. - १.) कातन्त्र व्याकरण में भी इसका प्रयोग है। पाणिनि ने इन कालवाचक संज्ञाओं के स्थान पर लट् लिट् आदि लकार युक्त संज्ञाओं का प्रयोग किया है।

वस्तुतः स्मृतिग्रन्थों के समान जिसकी प्रामाणिकता में कोई काल मर्यादा या देश मर्यादा न हो ऐसा व्याकरण ग्रन्थ होने से इसे अकालक व्याकरण कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में कैयट के वचन उपादेय हैं - **"नियतकालाश्च स्मृतयो व्यवस्थाहेतव इति मुनित्रयेनाद्यत्वे साध्वसाधुंप्रविभागः न" - (५.१.२१.)**

अष्टाध्यायी का स्वरूप और प्रतिपाद्य विषय - अष्टाध्यायी के प्रथम और द्वितीय अध्याय में पदों के दो भेद सुबन्त और तिङन्त तथा वाक्य में पदों के परस्पर सम्बन्ध की चर्चा की गई है। तृतीय अध्याय में धातु से शब्द सिद्धि की प्रक्रिया वर्णित है। प्रातिपदिकों से शब्द सिद्धि का विचार (तद्धित) चतुर्थ और पञ्चम अध्याय में है। षष्ठ एवं सप्तम अध्यायों में सुबन्त तथा तिङन्त पदों की प्रकृति प्रत्ययात्मक सिद्धि तथा उनमें स्वर सिद्धि के नियमों का उल्लेख है। अष्टम अथवा अन्तिम अध्याय में पदान्तर की सन्निधि के कारण वर्णोच्चारण में तथा स्वर में होने वाले परिवर्तन का विचार है। यह वर्गीकरण सामान्य रूप में है। इसके अन्तर्गत लक्ष्यसिद्धि में सहायक अनेक विषयों का अन्तर्भाव यथास्थान किया गया है।

प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से निम्नलिखित विषय प्रमुख रूप से प्रतिपादित हैं। १. संज्ञा और

परिभाषा, २. स्वरों और व्यञ्जनों के प्रकार (कित्वादि का अतिदेश), ३. कारक विचार, ४. विभक्ति विचार, ५. एक शेष और समास, ६. कृदन्त और तिङन्त, ७. तद्धित, ८. प्रत्यय के कारण प्रकृति को और प्रकृति के कारण प्रत्यय को होने वाले आगम और आदेशों का विचार। ९. स्वर विचार, १०. द्विरुच्चारण, ११. सन्धि कार्य।

उपर्युक्त विषयों का विवेचन करते समय पाणिनि का यह स्पष्ट अभिमत व्यक्त होता है कि वे प्रकृति और प्रत्यय में अर्थबोधकता स्वीकार करते हैं। प्रत्ययों का विधान करते समय तत्तत् अर्थों का भी निर्देश किया है। जहाँ प्रत्ययों में अर्थ निर्देश नहीं है, वहाँ "अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति" नियमानुसार प्रत्ययों को स्वार्थिक अर्थात् प्रकृति के अर्थ का बोधक माना गया है। प्रातिपदिकों का परिगणन असंभव होने के कारण नहीं किया गया। धातुपाठ में अर्थ निर्देशपूर्वक धातुओं का परिगणन किया गया है। वैयाकरणों की मान्यता के अनुसार शब्द नित्य होते हैं, अर्थ के साथ उसका सम्बन्ध भी नित्य होता है। (सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे - म. भा. पस्पशा) तथापि शास्त्र प्रक्रिया निर्वाह के लिए प्रकृति प्रत्यय विभाग की कल्पना वैयाकरणों द्वारा की जाती है। अष्टाध्यायी भी इसी सिद्धान्त पर आधारित है।

पूर्व वैयाकरणों के संस्कार - आचार्य पाणिनि ने अपनी पूर्ववर्ती व्याकरण परम्परा का लाभ उठाकर अष्टाध्यायी के रूप में एक वैज्ञानिक व्याकरण की रचना की। अनेक स्थलों पर वे पूर्वाचार्यों के ऋणी हैं। कुछ पारिभाषिक शब्द पाणिनि कल्पित हैं, जो सर्वथा निरर्थक प्रतीत होते हैं। पाणिनि द्वारा संकेतित अर्थ को ग्रहण करने पर ही वे सार्थक होते हैं। उदाहरणार्थ -

टि (अचोऽन्त्यादि टि),
घु (दाधाघ्वदाप्),
घि (शेषोध्यसखि),
भ (यचि भम्)।

पाणिनि ने कुछ अनेकाक्षर परिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है, जिन्हें महासंज्ञा अथवा अन्वर्थ संज्ञा कहा जाता है। जैसे -

प्रातिपदिक - (अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्)
सर्वनाम स्थान - (शि सर्वनाम स्थानम्)
सर्वनाम - (सर्वादीनि सर्वनामानि)
सम्प्रसारण - (इग्यणः सम्प्रसारणम्)

आङ् औङ् आदि प्रत्यय पूर्ववर्ती व्याकरण में प्रयुक्त थे। पाणिनि ने पूर्वाचार्यो के द्वारा उक्त इन प्रत्ययों का प्रयोग अपने सूत्रों में किया गया है। आङोनास्त्रियाम् आङि चापः, औङ् आपः - (७.३.१२०., ७.३.१०५., ७.१.१८.) पूर्वाचार्यो के प्रति सम्मान व्यक्त करने के लिए सूत्रकार इन प्रत्ययों का प्रयोग विधि सूत्रों में करते हैं, किन्तु अपनी प्रत्यय व्यवस्था में वे इनका उल्लेख क्रमशः टा और औ के रूप में ही करते हैं। पूर्वाचार्यो ने तृतीया के एकवचन में आङ् और औङ् प्रत्यय में ङकार अनुबन्ध के रूप में रखा था। पाणिनि की व्यवस्था में यहा ङकार अनुबन्ध उचित नहीं था क्योंकि ङकार अनुबन्ध से प्रत्यय में

ङित्व धर्म आकर घिसंज्ञक शब्दों के पर इनकी उपस्थिति होने पर घेर्ङिति - (७.३.११.) सूत्र की प्रसक्ति हो जाती। प्रथमा द्विवचन में औ विभक्ति निरनुबन्धक है और द्वितीया द्विवचन में औट् सानुबन्ध है। इसमें टकार इत्संज्ञक करने से प्रत्याहार की निर्मिति होती है।

निष्कर्षतः व्याकरण की शिष्ट परम्परा का निर्वाह करते हुए आचार्य पाणिनि ने अपनी आवश्यकता के अनुरूप संशोधन किया और सूत्रों की व्यूहरचना की।

गणपाठों के अन्तर्गत अनेक शब्द शाकटायन - आपिशलि प्रभृति पूर्व वैयाकरणों के ग्रन्थों से संगृहीत हैं। धातु पाठ तथा उसके अन्तर्गणों में अनेक धातुएँ पूर्ववर्ती आचार्यों के व्याकरण ग्रन्थों की सहायता से उपलब्ध हैं।

पाणिनीय शब्द व्युत्पत्ति की विशेषता - उत्सर्ग - अपवाद न्याय से सूत्रकार ने अनन्त शब्द राशि का व्याकरण प्रस्तुत किया है। धातुओं से शब्द निर्वचन पद्धति को उन्होंने स्वीकार किया। लोक में प्रचलित धातुओं का विशाल संग्रह उन्होंने धातुपाठ में किया। शब्द-सिद्धि की प्रक्रिया में प्रकृति और प्रत्यय के प्रचलित अर्थ की रक्षा करते हुए कृदन्तों प्रत्ययों की सूची प्रस्तुत की। पाणिनि से पूर्व आचार्य शाकटायन ने भी सभी शब्दों को धातुज माना था। (नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य तोकम्। आचार्य पाणिनि ने शब्द व्युत्पत्ति का यह क्लिष्ट प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने देखा कि लोक में कतिपय शब्द ऐसे हैं, जिनमें प्रकृति प्रत्यय की कल्पना सम्भव नहीं है। ऐसे शब्दों को पाणिनि ने संज्ञा प्रमाण कहा है। (१.२.५३.) कुछ प्रयोगों में व्याकरण के नियम प्रवृत्त नहीं हैं किन्तु लोक में प्रचलित हैं। ऐसे शब्दों कों यथोपदिष्ट मानते हुए उनकी प्रामाणिकता "पृषोदरादीनि यद्योपदिष्ठम्" - (६.३.१०९.) कहकर स्वीकार की है। "उणादयो बहुलम्" - (३.३.१.) सूत्र को उणादि पद्धति से शब्द सिद्ध करने की प्रक्रिया पर स्वीकृति की मुहर तो लगा दी किन्तु बहुलम् कहकर उसमें यथेष्टता की छूट दे दी।

अर्थ की दृष्टि से पदों का विभाजन करना पाणिनि का उद्देश्य न था। अर्थ पर आधारित व्याडि का संग्रह ग्रन्थ उनके समक्ष था अतः अर्थ-विवेचन की उन्होंने आवश्यकता न समझी। पदार्थ जाति है अथवा व्यक्ति ? इस विवाद का प्रत्यक्ष समाधान अष्टाध्यायी में प्राप्त नहीं होता महाभाष्य में इस विषय पर विस्तृत शास्त्रार्थ किया गया है। आचार्य वाजप्यायन जाति पक्ष के समर्थक थे। (**आकृत्यभिधानाद्वैकं विभक्तौ वाजप्यायनः - १.२.६४-३५.)** आचार्य व्याडि के व्यक्ति पक्ष का समर्थन किया था। (द्रव्याभिधानं व्याडि - १.२.६४-४५.) इस विषय में पाणिनि ने मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया "जात्याख्यायाम् एकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्" - (१.२.५८.) सूत्र में उन्होंने जाति को शब्दार्थ माना है। "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ" - (१.२.६४.) सूत्र में शब्दो का अर्थ द्रव्य या व्यक्ति लिया है।

अष्टाध्यायी का महत्व - पाणिनि का शास्त्र इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि उसपर एक ही आचार्य के कर्तृत्व की छाप है। यह चरण साहित्य के समान गुरु-शिष्य परम्परा से पल्लवित शास्त्रीय ज्ञान का संकलन नहीं है। यावत् शब्द सामग्री का संकलन करने के बाद पूर्वाभिमुख आसन पर बैठकर

यत्नपूर्वक शास्त्र की रचना की। (**प्रमाणभूत आचार्यों: दर्मपवित्र पाणि: शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता यत्नेन सूत्रं प्रणयति स्म। - म. भा. - १.१.३९.**) विदेशी विद्वान् बर्नेल ने लिखा है - ढाई सहस्त्र वर्षों की सुदीर्घ परम्परा के बाद अष्टाध्यायी का जितना शुद्ध और प्रामाणिक पाठ हमें प्राप्त होता है उतना किसी अन्य संस्कृत ग्रन्थ का नहीं। (ऐन्द्रव्याकरण पर विचार - पृष्ठ - ३१.)

अष्टाध्यायी सूत्र पाठ - गुरु-शिष्य परम्परा से अष्टाध्यायी के सूत्र पाठ को कंठस्थ किया जाता रहा है। वेद पाठी श्रोत्रिय आज भी षड् वेदाङ्गों में अष्टाध्यायी कंठस्थ करते हैं। स्वर सिद्धान्त चन्द्रिका के अनुसार इसकी सूत्र संख्या ३९९५ है, जिसमें १४ प्रत्याहार सूत्र सम्मिलित हैं।

"चतु: सहस्त्री सूत्राणां पञ्चसूत्र विवर्जिता।
अष्टाध्यायी पाणिनीया सूत्रै: माहेश्वरै: सह ॥"
- (स्व. सि. च - १५.)

वैयाकरण सम्प्रदाय में प्रचलित उक्ति के अनुसार सूत्रों की संख्या ३९९६ है।

**"त्रीणि सूत्र सहस्त्राणि तथा नव शतानि च
षण्णवतिश्च सूत्राणां पाणिनि: कृतवान् स्वयम्"**

कहीं योग-विभाग के द्वारा सूत्रों की संख्या में वृद्धि हो गई है - कहीं कुछ वार्तिकों को सूत्रों के अन्तर्गत मान लेने से सूत्र संख्या में अन्तर आया है।

वैदिक ग्रन्थों के समान अष्टाध्यायी का पाठ भी सस्वर था। इसे त्रैस्वर्य पाठ कहा जाता है। वर्तमान में उपलब्ध सूत्र-पाठ में इसका संकेत नहीं मिलता क्योंकि -

१. स्वरों का अनुनासिक पाठ जिनकी इत् संज्ञा कर लोप करना अभीष्ट है (उपदेर्शऽजनुनासिक इत् - १.३.२.) उपलब्ध नहीं है।

२. सूत्रों में जिन शब्दों का अधिकार परवर्ती सूत्रों में ले जाना है उन पर स्वरित चिह्न नहीं हैं। जिसका निर्देश सूत्रकार "स्वरितेनाधिकार:" - (१.२.११.) में करते हैं।

वर्तमान सूत्र पाठ में संहिता पाठ अर्थात् पहिले सूत्र के अन्तिम अक्षर और पर सूत्र के आदि अक्षर को मिलाकर सन्धि युक्त पाठ प्राप्त होता है। जैसे - वृद्धिरादैजदेङ्गुण इको गुण वृद्धी। स्थानेऽन्तरतम उरण्रपर:। आदि।

इत् संज्ञक अनुनासिक और अधिकार के सूचक स्वरित के विषय में प्रारम्भ से ही स्पष्ट कर दिया गया कि - **"प्रतिज्ञानुनासिक्या: पाणिनीया:। और प्रतिज्ञास्वरिता: पाणिनीया:।"**

अष्टाध्यायी और भाषाविज्ञान - अष्टाध्यायी के रचनातंत्र की यह विशेषता है कि इसकी रचना में आधारभूत सिद्धान्तों का व्यवस्थित विवरण, वर्गीकरण, विश्लेषण, क्रम और प्रयोग को दृष्टिपथ में रखा गया है। अर्वाचीन भाषा शास्त्रज्ञों ने पाणिनि को अप्रतिम मेधावाला भाषा वैज्ञानिक पहले और वैयाकरण बाद में स्वीकार किया है। डॉ. रमानाथ शर्मा कहते हैं - "भाषा परिमित साधनों का अपरिमित प्रयोग करती है। व्याकरण इस सर्जनात्मक पक्ष का उद्घाटन करता है।" पाणिनीय व्याकरण की विशेषताओं को आधुनिक संदर्भो में स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि - "आधुनिक व्याकरण के सूत्र स्वतः पूर्ण स्पष्ट और स्वतंत्र हैं, आत्मनिर्भर हैं।" पाणिनि के सूत्र अत्यंत सारगर्भित, संक्षिप्त एवं तार्किक वक्तव्य है किन्तु ये सूत्र स्वतंत्र या आत्मनिर्भर नहीं हैं। इनमें परस्पर अन्तरावलम्बन है। इसीलिए एक सत्र का अर्थनिर्धारण करने के लिए अनेक सूत्रों की सहायता लेनी पड़ती है। पाणिनि के सूत्र परस्पराश्रित तथा प्रसङ्गाश्रित हैं। अन्तरावलम्बी का आशय है - पिछले सूत्र अथवा उसके किसी अंश का आगामी सूत्र के अर्थ निर्धारण में सहायक होना। इसे ही भाषा वैज्ञानिक - "सूत्र संदर्भ या Rule - Context कहते हैं।" पाणिनीय शब्दावली में यही अधिकार या अनुवृत्ति है। अधिकार अनुवृत्त होता है और अधिकार की पहिचान उस पर अंकित स्वरित चिह्न से होती है। अनुवृत्ति की अन्तिम सीमा का निर्णय परम्परा या टीकाओं से होता है। कुछ अधिकार सूत्रों में आ अथवा प्राक् का प्रयोग होता है, जैसे - "आकडारादेका संज्ञा" - (१.४.१.), "प्राग्वहरोष्ठक्" - (४.४.१.)।

अष्टाध्यायी का प्रथम सूत्र वृद्धिरादैच् है और अन्तिम सूत्र अ अ है। इन सूत्रों की आदि और अन्त में विद्यमानता का विशिष्ट प्रयोजन है। वृद्धिरादैच् एक संज्ञा सूत्र है। आ, ऐ और औ की वृद्धि संज्ञा करता है। अष्टाध्यायी में पठित सभी संज्ञा सूत्रों में प्रथम संज्ञी और बाद में संज्ञा शब्द उच्चरित है। प्रकृत सूत्र में इस नियम के विपरीत संज्ञा शब्द का प्रथम उच्चारण और संज्ञी आदैच् का पश्चात् उच्चारण है। इसका कारण स्पष्ट करते हुए भाष्यकार कहते हैं - "एतदेकमाचार्यस्य मङ्गलार्थं मृष्यताम्।" अर्थात् वृद्धि शब्द व्याकरण शास्त्र का पारिभाषिक प्रयोग है किन्तु सूत्र में इसका प्रयोग मंगलार्थक है। ग्रन्थ के प्रथम सूत्र में पठित होने से इसका अर्थ उन्नति या समृद्धि के रूप में ग्राह्य है।

"अ अ" सूत्र के सम्बन्ध में यह वक्तव्य है कि संस्कृत भाषा के किसी रूप में प्रातिपदिक, धातु, प्रत्यय, आगम आदेश आदि में कहीं भी ह्रस्व अकार विवृत्त नहीं होता। वह तो सदैव संवृत्त ही होता है। किन्तु दीर्घ तथा प्लुत के साथ सवर्ण संज्ञा की निष्पत्ति के लिए शास्त्रीय प्रक्रिया की दृष्टि से ह्रस्व अकार को विवृत्त मानना पड़ता है। धातु, प्रत्यय आदि में विवृत्त ह्रस्व अकार का उपदेश है। प्रक्रिया की समाप्ति पर प्रयोगवस्था में इस विवृत्त अकार के स्थान पर संवृत्त अकार विहित है। ग्रन्थ के अन्त में इस सूत्र को रखने का यही प्रयोजन है कि सम्पूर्ण शास्त्रीय प्रक्रिया सम्पन्न हो जाने के बाद इसकी प्रसक्ति है। आचार्यों ने इसे प्रत्यापत्ति वचन कहा है। आचार्य भट्टोजी दीक्षित ने "अ अ" - (८.४.६८.) सूत्र की वृत्ति में स्पष्ट शब्दों में इसकी प्रवृत्ति प्रदर्शित की है - **"विवृत्तमनूद्य संवृत्तो ऽनेन विधीयते। अस्य चाष्टाध्यायी सम्पूर्णा प्रत्यसिद्धत्वाच्छास्त्र दृष्ट्या विवृतत्वमस्त्येव।"**

पाणिनीय व्याकरण सम्प्रदाय में अष्टाध्यायी की व्याख्या करने वाले ग्रन्थों की विपुल परिमाण में रचना हुई। आज भी भारतीय तथा विदेशी विद्वान इसके अध्ययन में लगे हैं। किन्तु अष्टाध्यायी अपनी विशेषताओं के कारण अपनी कोटि का अद्वितीय ग्रन्थ ही रहा है। वस्तुतः अष्टाध्यायी पाणिनि की प्रतिभा

का एक अभूतपूर्व चमत्कार है।

(इ) सूत्रों के प्रकार - (सूत्र शैली एवं अष्टाध्यायी) भारतीय वाङ्मय में सूत्र शब्द का प्रयोग विशेष पारिभाषिक अर्थ में किया जाता है। सामान्यतः लौकिक प्रयोग में सूत्र का तात्पर्य धागा या रस्सी होता है। व्याकरण के सन्दर्भ में सूत्र का आशय यह है कि धागे के समान लघुकाय या सूक्ष्म होते हुए भी व्यापकता की दृष्टि से अनेक अर्थों को अपने में समाहित करने वाला सङ्केत है। ग्रन्थ के आधार पर सूत्र का लक्षण इस प्रकार है -

"अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः।"
- (वायु पुराण - ५९.१४२.)

"लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च
सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः।"
- (भामती टीका - १.१.१.)

इसका अभिप्राय यह है कि बाह्य आकार की दृष्टि से लघु होते हुए भी अर्थ व्यापकता के आधार पर बह्वर्थ-बोधकत्व ही सूत्रत्व है। पाणिनि के सूत्रों में उपर्युक्त लक्षण अक्षरशः चरितार्थ होते हैं। "सामर्थ्य योगान्नहि किञ्चिदत्र पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात् तथा सूत्रं हि नाम तद् ध्वनति, भ्रमति, मुहूर्तमपि नावतिष्ठते" - (म. भा. - ६.१.७७. और म. भा. - १.१.३.) आदि भाष्योक्तियों से पाणिनीय सूत्रों की अनवद्यता तथा स्तोमराहित्य प्रमाणित होता है। भाष्यकार ने पाणिनि के सूत्रों के लिए सूत्र शब्द का प्रयोग किया है - "नचेदानीमाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति" - (पस्पशा) कदाचित् योग शब्द का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है, जैसे - "अथवा योगविभागः करिष्यते" - (म. भा. - १.१.१२.) व्याकरण शब्द का अर्थ प्रतिपादित करते हुए "लक्ष्य लक्षणे व्याकरणम्" वार्तिक में भाष्यकार ने शब्दो लक्ष्यः, सूत्र लक्षणम् कहकर सूत्र के लिए लक्षण शब्द का प्रयोग भी किया है। इस वार्तिक के अनुसार व्याकरण शब्द भी सूत्र का बोध कराता है। इसीलिए सूत्रों का अध्ययन करने वाले को वैयाकरण कह दिया जाता है। (सूत्राणि चाप्यधीयान इष्यते वैयाकरण इति - पस्पशा) जिन सूत्रों में शब्दों का निपातन है उन्हें "निपातन" भी कहा जाता है। जैसे - "किं निपातनम् ? द्वितीय तृतीय चतुर्थ तुर्याण्यन्यतरस्याम् इति" - (म. भा. - ६.४.२.) जहाँ सूत्रों में कोई न्याय अथवा परिभाषा का संकेत है, वहाँ सम्पूर्ण सूत्र को न्याय शब्द से भी अभिहित किया है। उदाहरणार्थ - "वासरूप न्यायेन" - (म. भा. - ३.१.९४.)

सूत्रात्मक शैली में ग्रन्थ प्रणयन का प्रमुख उद्देश्य संक्षेपीकरण रहा है। संक्षेप से ही कंठस्थीकरण के द्वारा शास्त्रों का ज्ञान एवं सुरक्षा संभव थी। ब्राह्मण ग्रन्थों से प्रारम्भ होकर आरण्यक उपनिषदों से होती हुई व्याकरण शास्त्र में सूत्र शैली का पूर्ण परिष्कार हो गया और इसी के परिणाम स्वरूप सूत्र व्याकरण का पर्यायवाची बन गया। (व्याकरणं सूत्रयति - म. भा. पस्पशा) और पाणिनि की संज्ञा सूत्रकार हो गई। (पाणिनेः सूत्रकारस्य - म. भा.-२.२.११.)

पाणिनि से पूर्व सम्भवतः शब्दों का प्रतिपद पाठ होता था। इसके आधार पर शब्द पारायण आदि व्याकरण ग्रन्थों की रचना हुई थी। (एवं हि श्रूयते। बृहस्पतिरिन्द्राय प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्द पारायणं प्रोवाच। - म. भा. पस्पशा) शब्द-ज्ञान की यह शैली किसी भी दृष्टि से उपादेय न थी, क्योंकि इसमें लाघव न था। अध्येता के पास अध्ययन के लिए इतनी सुदीर्घ अवधि न थी। अतः पाणिनि की सूत्र शैली का प्रारम्भ हुआ और भाष्य के शब्दों में शब्दानुशासन की प्रतिष्ठा हुई। पाणिनि ने सूत्रों के सम्बन्ध में कहा है कि प्रयत्न पूर्वक पारिमार्जित एवं परिष्कृत सूत्र को "प्रतिष्णात" कहा जाता है। (सूत्रं प्रतिष्णातम् - (८.३.९०.) पाणिनीय सूत्रों में यह संज्ञा अन्वर्थ है इसीलिए भाष्यकार ने "पाणिनेः सूत्रकारस्य" - (२.२.११.) कह कर पाणिनि को सूत्रकार की संज्ञा से अभिहित किया है। "आकुमारं यशः पाणिनेः" - (म. भा. - १.४.८९.) उक्ति पाणिनि के यश की व्यापकता का परिचायक है।

सूत्रों के प्रकार - शास्त्रीय शब्दावली में सूत्रों के दो प्रकार हैं - १. सामान्य और २. विशेष, ये दोनों क्रमशः उत्सर्ग और अपवाद कहे जाते हैं। (किञ्चित् सामान्य विशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम्। किं पुनस्तत् ? उत्सर्गापवादौ - म. भा. पस्पशा) भाषा शास्त्रियों ने अर्थबोध और प्रक्रिया निर्वाह की दृष्टि से इन सूत्रों को संज्ञादि ६ भेदों में वर्गीकृत किया है।

"संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्र लक्षणम्।"
- लघु शब्देन्दुशेखर अभिनव चन्द्रिका टीका, संज्ञा प्रकरण)

इन षोढा भेदों को निम्नानुसार परिभाषित किया जा सकता है :-

संज्ञा सूत्र - जो सूत्र किसी वस्तु या पदार्थ की संज्ञा अथवा नामकरण करते हैं वह संज्ञा सूत्र है। (शक्ति नियामकत्वम् - संज्ञा सूत्रत्वम्) जैसे - वृद्धिरादैच - (१.१.१.) सूत्र से आ, ऐ, औ की वृद्धि संज्ञा होती है। संज्ञाओं के दो भेद हैं - १. कृत्रिम संज्ञा, २. अकृत्रिम संज्ञा। कृत्रिम संज्ञाएँ लघु और निरर्थक होती हैं, जैसे - टि, घु, भ आदि। अकृत्रिम संज्ञाएँ महती तथा अन्वर्थ होती हैं। जैसे - सर्वनाम, उपसर्जन आदि।

अर्थात् अनेक अर्थों के अभिधान में समर्थ होने पर भी शब्द शक्ति का किसी विशेष अर्थ में नियमन करना ही संज्ञाकरण है। वस्तुतः लाघव की सिद्धि के लिए कुछ सांकेतिक संज्ञाओं की कल्पना आवश्यक होती है। भाष्यकार के शब्दों में - "संज्ञा च नाम यतो न लघीयः। लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्।" - (म. भा. - १.१.२३.)। डॉ. एच. पी. द्विवेदी ने संज्ञासूत्रों का एक भेद "धर्म संज्ञा" भी किया है। उदाहरणार्थ - उदात्त, अनुदात्त, स्वरित ये स्वरों के धर्म या गुण हैं - इनकी "उच्चैरुदात्तः" - (१.२.२९.), "नीचैरनुदात्तः" - (१.२.३०.), "समाहारः स्वरितः" - (१.२.३१.) सूत्रों से उदात्तादि संज्ञा की गई है। (Studies in Panini)

आचार्य पं. रामप्रसाद त्रिपाठीजी ने संज्ञा सूत्रों के दो भेद किए हैं - १. शब्द संज्ञा, २. अर्थ संज्ञा। वृद्धि, गुण आदि शब्द संज्ञाएं हैं। लोप, कर्म, करण आदि संज्ञाएं अर्थ की संज्ञाएं हैं।

इन्हें ही अन्वर्थ-अनन्वर्थ भेद से दो प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है। सर्वनाम, कारक, अव्यय आदि अन्वर्थ संज्ञाएँ हैं। टि, घु, भ आदि अनन्वर्थ संज्ञाएँ हैं। अन्वर्थ का तात्पर्य अवयवार्थ बोधकता या योगार्थ से है। जैसे - सर्वनाम का आशय - "सर्वेषां यानि नामानि तानि सर्वनामानि।" टि, घु, भ आदि संज्ञाएँ सूत्र निरूपित अर्थ की बोधिका हैं - अर्थात् तत्तत् अर्थों में रूढ़ हैं। अष्टाध्यायी में लगभग १०० संज्ञासूत्र हैं।

महामहोपाध्याय पं. काशिनाथ वासुदेव अभ्यंकर ने संज्ञाओं के भेद कुछ निम्न दृष्टिकोण से प्रदर्शित किए हैं - इनके अनुसार पाणिनि की संज्ञाओं के पाँच भेद किए जा सकते हैं -

१. (अ) प्रथम, मध्यम, उत्तम - ये पुरुष वाचक संज्ञाएँ।
(ब) वर्तमान, भूत, भविष्य - ये काल वाचक संज्ञाएँ।
(स) पुंस, स्त्री, नपुंसक - ये लिङ्ग वाचक संज्ञाएँ।
(द) एकवचन, द्विवचन, बहुवचन - ये वचन वाचक संज्ञाएँ।
(इ) प्रथमा, द्वितिया, तृतीया इत्यादि विभक्ति वाचक संज्ञाएँ।

इस प्रकार कुल १९ संज्ञाएँ लोक प्रचलित और पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों में प्रसिद्ध थीं जिनको यथावत् पाणिनि ने ग्रहण किया। इनका लक्षण या विवरण न देते हुए सूत्रकार ने इनका प्रयोग किया है।

२. धातु, उपसर्ग, गति, निपात, अव्यय, सर्वनाम और संख्या संज्ञाओं के द्वारा शब्दों के प्रकार बताए गए हैं।

समास - तत्पुरुष, कर्मधारय, द्विगु, अव्ययीभाव, द्वन्द्व, बहुव्रीहि, एकदेश - ये समास सूचक संज्ञाएँ तथा प्रत्यय, कारक और प्रगृह्य ये सामान्य संज्ञाएँ सब मिलकर वैयाकरण कुल में प्रसिद्ध तथा लोक में प्रयुक्त होने वाली हैं, जिनका अष्टाध्यायी में उल्लेख है। इन संज्ञाओं के लक्षण या व्याख्याएँ सूत्रकार ने प्रस्तुत नहीं की हैं। इनका परिगणन अवश्य किया है।

३. ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, लघु, गुरु, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, गुण, वृद्धि, अनुनासिक, संयोग और सवर्ण संज्ञाएँ वर्णो को होती हैं। गोत्र और युवन् संज्ञाएँ अर्थपरक, उपादान, सम्प्रदान, करण, अधिकरण, कर्ता और कर्म संज्ञाएँ विभक्त्यर्थ की संज्ञाएं हैं। संहिता, अवसान, लोप और उपसर्जन संज्ञाएँ, शब्द; सम्बन्धनिष्ठ हैं। - ये २५ संज्ञाएं पूर्ववर्ती व्याकरण ग्रन्थों से प्राप्त हुई हैं। किन्तु विवक्षित अर्थो में तत्तत् सूत्रों द्वारा उनका नियमन किया है।

४. कृत्, कृत्य, निष्ठा, तद्धित, तद्राज, सार्वधातुक, आर्धधातुक, परस्मैपद, आत्मनेपद, विभक्ति, सम्बुद्धि सर्वनाम स्थान और अपृक्त सज्ञाएं प्रत्ययों की हैं। सुप्, अच्, तिङ्, हल् संज्ञाएं प्रत्याहार रूप संज्ञाएं हैं। लुक्, श्लु, लुप्, इत् - ये वर्णलोप निदर्शन संज्ञाएं हैं। प्रातिपदिक, अङ्ग, वृहद, नदी, पद्, आमन्त्रित, उपपद और पद संज्ञाएं विशिष्ट शब्द स्वरूप की हैं।

उपर्युक्त ३३ संज्ञाएँ व्याकरण शास्त्र की उपयोगी शास्त्रीय संज्ञाएँ हैं, जिनके आधार पर विधि सूत्रों की प्रवृत्ति होकर लक्ष्य की सिद्धि होती है। इन सभी संज्ञाओं के बोधक सूत्र अष्टाध्यायी में पठित हैं।

५. टि, घु, घ, घि और भ संज्ञाएँ पाणिनि द्वारा कल्पित हैं, जो लाघव की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

उपर्युक्त संज्ञाओं के अतिरिक्त माहेश्वर सूत्रों के आधार पर कतिपय प्रत्याहारों की योजना की है। इसकी निष्पत्ति के लिए "आदिरन्त्येन सहेता" - (१.१.७१.) सूत्र का आरम्भ किया गया। संक्षेपीकरण या लाघव सिद्धि के लिए प्रत्याहारों की कल्पना सूत्रकार के रचना कौशल का प्रमाण है। अच्, हल् आदि ४२ प्रत्याहारों का प्रयोग अष्टाध्यायी में है। पूर्व प्रचलित नाम और आख्यात संज्ञाओं के स्थान पर पाणिनि ने प्रातिपदिक और धातु संज्ञा का प्रयोग किया है।

स्वर शब्द से अ, आ इत्यादि वर्णों का बोध अभीष्ट है अथवा उदात्तादि धर्म अभीष्ट है - इस विषय में संदेह उपस्थित न हो इस दृष्टि से सूत्रकार स्पष्टतः अ, इ को अच् और व्यञ्जन को हल् कहते हैं। उदात्तादि धर्मों के लिए स्वर का प्रयोग है। पूर्वाचार्यों की उपग्रह संज्ञा को पाणिनि ने परस्मैपद, आत्मनेपद नाम दिया है। संक्रम और निवृत्ति स्थान को क्रमशः कित् अथवा ङित् प्रग्रह का प्रगृह्य नामकरण करते हुए पाणिनि ने पूर्वाचार्यों की संज्ञाओं में कुछ परिवर्तन किया है। इत् संज्ञाओं को ही वार्तिककार और भाष्यकार ने अनुबन्ध भी कहा है।

परिभाषा सूत्र - विधि सूत्रों का स्पष्ट और निःसन्दिग्ध अर्थ बोध के लिए अष्टाध्यायी में कतिपय परिभाषा सूत्रों का पाठ किया गया है। विधिसूत्रों की सहायता के साथ ही साथ अनियम की स्थिति में नियम का विधान करना परिभाषा का मुख्य कार्य है। इसीलिए काशिका ने कहा है - **"पारिभाषेयं स्थानिनियमार्था। अनियम प्रसङ्गे नियमो विधीयते।"** - (सूत्र - १.१.३.)। भाष्यकार के अनुसार - **"एक देश में स्थित होकर सर्वत्र व्याप्त रहने वाली उक्ति ही परिभाषा है।"**

"एकदेश स्थिता शास्त्रभवने याति दीपताम्
परितो व्यापृतां भाषां परिभाषां प्रचक्षते।"

- म. भा. - उद्योत - २.१.१.

आचार्यो ने परिभाषा का निर्दुष्ट लक्षण करते हुए कहा है - **"स्वदेशे लक्ष्यासंस्कारक बोध जनकत्वे सति विधिसूत्रैकवाक्यतया बोध जनकत्वम्।"** - अर्थात् लक्ष्यसिद्धि में परिभाषा सूत्रों का सक्षात् सहयोग नहीं होता, अपितु विधिसूत्रों के साथ एकवाक्यता के द्वारा उनमें बोधजनकता होती है। यह एकवाक्यता तीन प्रकार से होती है -

१. वाक्यैकवाक्यता, २. पदैकवाक्यता, ३. पदार्थैकवाक्यता।

प्रथम में विधिसूत्र और परिभाषा सूत्र में उपजीव्य-उपजीवक भाव सम्बन्ध से शाब्दबोध निष्पन्न होता है। जैसे - "तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य" - (१.१.६६.) सूत्र वाक्यार्थबोध का उपजीव्य है और इकोयणचि सूत्र का वाक्यार्थ बोध उपजीवक है। दोनों सूत्रों में एकवाक्यता करने पर निष्पन्न शब्द बोध उपजीव्योपजीवक भाव सम्बन्ध से निष्पन्न हुआ। यही वाक्यैकवाक्यता है।

दो सूत्रों के पदों में निरूप्य-निरूपक भाव सम्बन्ध से एकवाक्यता होकर अर्थबोध होने पर पदैकवाक्यता होती है। इसका उदाहरण भी तस्मिन्निति और इकोयणचि में द्रष्टव्य है। तस्मिन्निति० सूत्र के दो पद निर्दिष्टे और पूर्वस्य का सम्बन्ध इकोयणचि में पठित अचि और इकः के साथ होता है। निर्दिष्टे का अन्वय अचि के साथ और पूर्वस्य का इकः के साथ निरूप्य निरूपक भाव सम्बन्ध से होता है और "इकोयणचि" इस विधि सूत्र के पदों के साथ समन्वित होकर इष्टार्थ बोध होता है।

पदार्थैकवाक्यता में पूर्वोक्त व्यवस्था के अनुसार दो सूत्रों के पदार्थो में बीच निरूप्य-निरूपक भाव से अन्वय होता है। जैसे - निर्दिष्टे पद के अर्थ के साथ अचि पदार्थ का अन्वय और पूर्वस्य के अर्थ के साथ इकः के अर्थ का अन्वय होता है। दोनों स्थितियों में निरूप्य-निरूपक भाव से ही अन्वय होकर इष्टार्थ बोध होता है।

परिभाषा का लक्षण - महाभाष्य में पठित परिभाषाओं के सम्बन्ध में गोल्डस्टूकर कहते हैं - "They (परिभाषा) do not amend and criticise, but teach the proper application of the Rules of Panini " - इसका आशय है कि परिभाषाएँ न तो पाणिनि के सूत्रों में संशोधन करती हैं और न सूत्रों की समालोचना करती हैं। परिभाषाएँ केवल लक्ष्य सिद्धि में सहायक होकर विधि सूत्रों की प्रवृत्ति को व्यवस्थित करती हैं। संज्ञा और परिभाषा में यही भेद है। संज्ञा सूत्र पाणिनि की विशिष्ट पारिभाषिक शब्दावली (Technical terms) का अर्थ स्पष्ट करती हैं। परिभाषा - सामान्य नियमों या सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती हैं, जिसके अन्तर्गत सूत्रों को प्रवृत्त होना है। उदाहरणार्थ जिन सूत्रों में गुण-वृद्धि, उपसर्ग, गति आदि शब्दों के अर्थ बताए गए हैं वे संज्ञा सूत्र हैं। जब कोई सूत्र यह प्रतिपादित करता है कि - मित् आगम शब्द के अन्तिम अच् के बाद होता है, अथवा किसी सूत्र में पठित षष्ठ्यन्त पद स्थानी का वाचक होता है - तब ऐसे सूत्र परिभाषा सूत्र कहे जाते हैं।(सूत्र - १.१.४७., ४९.)

परिभाषा ग्रन्थ कारों (नागेशादि) ने परिभाषा का लक्षण नहीं बताया। वैद्यनाथ पायगुण्डे द्वारा प्रदत्त "परितो व्यापृतां भाषां परिभाषां प्रचक्षते" लक्षण का अनेक व्याख्याकारों ने अनुसरण किया है। जयदेव तथा उनके अनुयायी तार्किकों ने परिभाषा को इस रूप में परिभाषित किया है - **"लक्ष्यधर्मिकसाधुत्वप्रकारकाप्रामाण्यज्ञानास्कन्दितबोधोपयोगिबोधजनकत्वं परिभाषात्वम्।"** पदमञ्जरीकार हरदत्त मिश्र के अनुसार - **"परितः सर्वत्र पूर्वत्र परत्र व्यवहिते ऽनन्तरे च भाष्यते कार्यमनया सा परिभाषा।"**

परिभाषा के उपर्युक्त लक्षण नागेशादि की परिभाषाओं में भी चरितार्थ होते हैं। अष्टाध्यायी में पठित सूत्रों में जहाँ उपर्युक्त नियमकारित्व परिलक्षित होता है, वही परिभाषा सूत्रों के अन्तर्गत विवेच्य हैं। अधिकांश परिभाषा सूत्र अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय में पठित हैं, कुछ अन्यत्र भी हैं। विधि सूत्रों के

साथ इनका योग दो प्रकार से होता है। - १. यथोद्देश्य पक्ष में परिभाषाएँ अपने स्थान पर स्थित होकर विधि सूत्रों की उपकारक होती हैं, २. कार्यकाल पक्ष में जहाँ विधि सूत्रों के प्रदेश में इनकी आवश्यकता होती है वहाँ वे पहुँच जाती हैं। एकवाक्यता की दृष्टि से दोनों पक्षों में कोई तात्विक भेद नहीं है। क्योंकि किसी भी पक्ष में सूत्रों के अध्याय पाद में परिवर्तन नहीं होता। केवल यथोद्देश पक्ष में परिभाषा के प्रदेश में विधि सूत्रों का स्मरण होता है और कार्यकाल पक्ष में विधि प्रदेश में परिभाषाएँ स्मरण की जाती हैं। इनमें विशेषता यही है कि कार्यकाल पक्ष में त्रिपादी के सूत्रों में भी परिभाषाओं का स्मरण हो सकता है। अन्यथा त्रिपादी असिद्ध होने से सपादी की परिभाषाओं की प्रवृत्ति में आपत्ति हो सकती थी।

(कार्यकाल पक्षे तु त्रिपाद्यामाप्युपस्थितिरिति विशेषः - परिभाषेन्दु० - २.३.)

विधिसूत्र - अप्राप्त कार्य का विधान करने वाले सूत्र विधि सूत्र हैं। (विधिरत्यन्तमप्राप्तौ० - तन्त्र वार्तिक - १.२३४.) गुण, वृद्धि, लोप, सम्प्रसारण आदि किसी भी कार्य का विधान करने वाले सूत्रों को विधि सूत्र कहा जाता है। जैसे - आद् गुणः। वृद्धिरेचि। तस्यलोपः इत्यादि। ये विधि सूत्र लक्ष्य सिद्धि में साक्षात् उपकारक होते हैं। इसीलिए "साक्षाल्लक्ष्यसंस्कारक साधुत्व प्रकारक बोधजनकत्वम् विधित्वम्" कहा जाता है। विधिसूत्र दो प्रकार के होते हैं - १. उत्सर्ग, २. अपवाद। उत्सर्ग सूत्र के द्वारा सामान्य रूप से किसी कार्य का विधान किया जाता है। जैसे - "कर्मण्यण्" - (३.२.१.) सूत्र से कर्म उपपद पूर्वक किसी भी धातु से अण् का विधान है। "आतो ऽनुपसर्गे कः" - (३.२.३.) के द्वारा सामान्य विधान का अपवाद कहा गया है। इसके अनुसार उपसर्ग रहित आकारान्त धातु से अण् नहीं होता वरन् क प्रत्यय होता है।

निषेध सूत्रों को भी सामान्य का बाधक होने से अपवाद के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है।

नियम सूत्र - एक विधि सूत्र के द्वारा किसी कार्य का विधान होने पर यदि दूसरा सूत्र किसी कारण वश पुनः उसी कार्य का विधान करता है तो वह सूत्र नियम सूत्र कहा जाता है। इसीलिए "नियमः पाक्षिके सति" कहा गया है - "अन्य निवृत्ति फलकत्वे सति सिद्धार्थप्रतिपादकत्वम् - नियम सूत्रत्वम्।" उदाहरणार्थ - "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" नियम सूत्र है। किसी प्रसङ्ग में पूर्व शास्त्र से कार्य प्राप्त है और पर शास्त्र से भी प्राप्त है। इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से पर सूत्र को कार्य हेतु नियमित किया गया। उदाहरणार्थ - वृक्षेभ्यः प्रयोग में वृक्ष + भ्यस् इस स्थिति में "सुपि च" - (७.३.१६४.) से दीर्घ और "बहुवचने झल्येत्" - (७.३.१६३.) से एत्व प्राप्त होता है इनमें एत्व कार्य पर सूत्र से विहित है, अतः "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" के अनुसार एत्व ही होता है और वृक्षेभ्यः की सिद्धि होती है।

इस प्रसङ्ग में नियम और परिसंख्या के भेद को समझना आवश्यक है।

"विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते।"

इस कारिका के अनुसार विधि के सर्वथा प्राप्त होने पर नियम सूत्र विशेष अवस्था में उसका

नियमन करते हैं। परिसंख्या में भी नियमन ही होता है किन्तु यह नियमन विधि से सम्बद्ध नहीं होता किन्तु उद्देश्य से संबंधित होता है। सिद्धान्त चिन्तामणिकार आचार्य रामप्रसाद त्रिपाठी जी ने इस उत्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है -

"विधेयस्य यत्र एवकारार्थे ऽन्वय स्तत्र नियमः।
यथा - कर्मणि द्वितीयेत्यस्य कर्मणि द्वितीयैव।
उद्देश्यस्य यत्र एव कारार्थे ऽन्वयस्तत्र परिसंख्या। यथा.......
..... इत्युद्देश्यदले एवकारान्वयः एवमेव पूर्वभाग पदघटितसमुदायस्य चेत्
प्रातिपदिक संज्ञा तर्हि समासस्यैव इत्युद्देश्यांशे एव कारान्वयः।"

इसका अभिप्राय यह है कि नियम सूत्र में विधेय नियमित होता है और परिसंख्या में उद्देश्य नियमित होता है। इसके अनुसार कर्मणि द्वितीया आदि नियम सूत्र हैं क्योंकि इसका अर्थ "कर्मणि द्वितीयैव" है। परिसंख्या के उदाहरण "पतिः समास एव, धातोस्तन्निमित्तस्यैव" आदि हैं। इनमें एवकार का अन्वय उद्देश्य के साथ होता है। "कृत्तद्धितसमासाश्च" सूत्र में "समास ग्रहणं नियमार्थम्" कहा गया है। यहाँ नियम का आशय परिसंख्या से है।

अतिदेश सूत्र - सामान्यतः जो जैसा नहीं है उसे वैसा मान लेना अतिदेश है। आपटे कोष के अनुसार - "अतिदेशो नाम इतरधर्मस्य इतरस्मिन् प्रयोगायादेशः।" अर्थात् अन्य धर्म का अन्यत्र आरोपण करना ही अतिदेश है। उदाहरणार्थ - "स्थानि वदादेशो ऽनल्विधौ" - (१.१.५६.) सूत्र से आदेश को स्थानिवत् माना जाता है, अल्विधि न हो तो। यह अतिदेश सूत्र है। लोक में भी यह देखा जाता है कि गुरु की अनुपस्थिति में गुरुपुत्र को गुरुवत् मानकर पूज्य माना जाता है। शास्त्र में भी अनेक बार यह प्रवृत्ति देखी जाती है। इसे अतिदेश सूत्रों के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। अतिदेश सूत्रों का प्रयोजन भी मुख्यतः लाघव की सिद्धि ही है। "गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिङ्ति्" - (१.२.१.) सूत्र से निरन्तर (१.२.२६. सूत्र तक) अतिदेश सूत्रों का पाठ है। कहीं ङित्व का अतिदेश है, कहीं कित्व का। यद्यपि सर्वत्र अतिदेश सूचक "वत्" का उल्लेख नहीं है तथापि सूत्रकार का आशय ङित् से ङिद्वत् और कित् से किद्वत् है। लोक में भी जिस प्रकार अभेदोपचार के प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं - यह भीम है कहने पर "यह भीम के समान है" ऐसा बोध होता है। उसी प्रकार शास्त्र में भी समझना चाहिए। "आद्यन्तवदेकस्मिन्" - (१.१.२१.) सूत्र में वत् के उच्चारण के बिना सूत्रार्थ बोध स्पष्ट नहीं होता अतः वत् का उच्चारण है। आद्यन्तयोरिव अर्थ में सप्तम्यन्त से इवार्थक वति प्रत्यय है। "चिण्वत्" - (६.४.६२.), "सन्वत्" - (७.४.७३.), "परवल्लिङ्गम्" - (२.४.२६.), "लेटो लड्वत्" - (३.४.८५.) में षष्ठ्यन्त से वति प्रत्यय है। "तत्र तस्येव" - (५.१.११६.), "स्थानिवत्" - (१.१.५६.) आदि में स्पष्टार्थ प्रतीति के लिए वत् ग्रहण है। "गाङ्कुटादिभ्यो०" - (१.२.१.), "असंयोगाल्लिट्कित्" - (१.२.५.), "षत्वतुकोरसिद्धः" - (६.१.८६.), "गोतो णित्" - (७.१.९०.), "पूर्वत्रासिद्धम्" - (८.२.१.) इत्यादि सूत्रों में वत् के बिना भी उसेक अर्थ की प्रतीति हो जाती है। शब्द कौस्तुभ ने अतिदेश के षोढा भेद बताए हैं - १. निमित्तातिदेश, २. व्यपदेशातिदेश, ३. तादात्म्यातिदेश, ४. शास्त्रातिदेश, ५. कार्यातिदेश, ६. रूपातिदेश।

इनमें निमित्त का अतिदेश संभव नहीं है। जिस प्रकार "ब्राह्मण्यवत्" का प्रयोग उपपन्न नहीं

होता। ब्राह्मण का अग्रभोजनादि का निमित्त उसका ब्राह्मण्य रूप निमित्त क्षत्रिय में अतिदिष्ट नहीं हो सकता। शास्त्र में भी "पूर्ववत्सनः" - (१.३.६२.) सूत्र से सन् प्रत्यय के पूर्व आत्मनेपद की धातु सन् प्रत्ययान्त होने पर पूर्ववत् अर्थात् आत्मनेपद की ही होती है। यहाँ मूल धातु का आत्मने पद होने का ङित्वादि निमित्त है वह सन्नन्त में कैसे अतिदिष्ट हो सकता है ? अतः अतिदेश सूत्र का तात्पर्य यह मानना होगा कि प्रकृतिभूत धातु का आत्मनेपद कारक ङित्व रूप निमित्त सन् के व्यवधान होने पर भी आत्मने पद की प्रवृत्ति कराता है।

व्यपदेशातिदेश का उदाहरण "आद्यन्तवदेकस्मिन्" - (१.१.२१.) में प्राप्त होता है। एक वर्ण में आदि या अन्त के समान व्यवहार होता है। इसीलिए आभ्याम् आदि प्रयोगों में अ + भ्याम् में अकार रूप एक वर्ण वाला अङ्ग अकारान्त मानकर सुपि च - (७.३.१०२.) से दीर्घ हो जाता है।

तादात्म्यातिदेश में दो भिन्न पदार्थों में अभेद का आरोप होता है। "सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे" - (२.१.२.) सूत्र में इसका उदाहरण प्राप्त होता है। आमन्त्रित के परे रहते सुबन्त को स्वर की कर्तव्यता में वह सुबन्त भी पराङ्गवत् अर्थात् आमन्त्रित के समान हो जाता है। तादात्म्य का अतिदेश है।

शास्त्रातिदेश "कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः" - (३.१.८७.) सूत्र में विवक्षित है। इसमें कर्मस्थ क्रिया के सदृश्य क्रिया वाला कर्ता कर्मवत् होता है, अर्थात् उस कर्ता को कर्म के समान कार्य होते हैं। उदाहरणार्थ - पच्यते फलम्। भट्टोजी दीक्षित इसे कार्यातिदेश मानते हैं। वस्तुतः शास्त्रातिदेश मानने पर भी शास्त्र का उद्देश्य भी लक्ष्यसिद्धि रूप कार्य निष्पन्न करना ही है, अतः कार्यातिदेश मानने से भी कोई हानि नहीं है। (यद्यपि शास्त्रातिदेशे ऽपि लक्ष्यं सिध्यति तथापि शास्त्रस्यापि कार्यार्थतया मुख्यत्वात् कार्यातिदेश एवाश्रितः। तत्वबोधिनी - ३.१.८७.)

कार्यातिदेश का उदाहरण शब्द कौस्तुभकार के अनुसार "गोतोणित्" - (७.१.९०.) इत्यादि सूत्रों में प्राप्त है।

रूपातिदेश का लक्षण "द्विर्वचने ऽचि" - (७.१.९५.), "तृज्वत् क्रोष्टुः" - (१.१.५९.) इत्यादि सूत्रों में उपलब्ध होता है।

"प्रकृतात् कर्मणो यस्मात् तत् समानेषुकर्मसु
धर्मप्रवेशी येन स्यात् सो ऽतिदेश इति स्मृतः।"
- (शब्दार्थ चिन्तामणि)

अधिकार सूत्र - "स्वदेशे वाक्यार्थशून्यत्वे सति परदेशे वाक्यार्थ बोधकत्वमधिकारत्वम्" - अर्थात् अपने स्थान पर वाक्यार्थ बोध न होने पर अन्य सूत्रों के स्थलों पर वाक्यार्थ बोध कराने वाले सूत्र को अधिकार सूत्र कहते हैं। सामान्यतः अष्टाध्यायी का प्रत्येक सूत्र या उससे विहित कार्य एक विशिष्ट अधिकार क्षेत्र में आवद्ध है। जैसे - "धातोः" - (३.१.९१.) के अधिकार में विहित सभी प्रत्यय धातु से

ही विहित होंगे। प्रत्येक सूत्र में धातोः - धातोः कहने की आवश्यकता नहीं रहती। अधिकार के सामर्थ्य से लाघव की सिद्धि हो जाती है। समर्थ सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं - **"अधिकारः प्रतियोगं तस्यानिर्देशार्थ इति योगे योग उपनिष्ण्ते।" - (२.१.१. - म.भा.)** अधिकार को भाष्यकार ने त्रेधा माना है।

१. जो एक स्थान पर पठित होकर सारे शास्त्र को व्यापृत करता है। जैसे अच्छी तरह से प्रदीप्त दीपक घर के एक कोने में रखा हुआ समस्त घर को प्रकाशित करता है। **(अधिकारो नाम त्रिप्रकारकः। कश्चिद् एकदेशस्थः सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति यथा प्रदीपः सुप्रज्वलितः सर्वं वेश्माभिज्वलयति। - म. भा. १.१.४९.)**

२. दूसरा अधिकार अनुवृत्ति रूप होता है, जो चकार के द्वारा अनुकर्षित होता है। जिस प्रकार रस्सी या लोहे में बंधी लकड़ी खींची जाती है। **(अपरो ऽधिकारो यथा रज्वायसा वा बद्धं काष्ठमनुकृष्यते वद्वदनुकृष्यते चकारेण - म. भा. - १.१.४९.)**

३. तृतीय अधिकार स्वरितत्व के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। "स्वरितेना०" - (१.३.११) सूत्र के अनुसार स्वरित चिह्न से युक्त शब्द को अभीष्ट सूत्रों तक अधिकृत माना जाता है। प्रत्येक सूत्र में उस शब्द का उच्चारण आवश्यक नहीं है। स्वरितत्व के बल से वह शब्द स्वयं ही उपस्थित हो जाता है। वर्तमान सूत्रपाठ में ये स्वरित चिह्न लुप्त हो गए हैं किन्तु व्याख्याकारों ने इसे आचार्यों के व्याख्यान के द्वारा अनुमित कर लिया है।

अधिकार कभी एक पद का होता है। जैसे - "अनभिहिते" - (२.३.१.) और कभी अनेक पदों का भी होता है। जैसे - "अलुगुत्तरपदे" - (६.३.१.) अधिकार की अवधि कहाँ तक होती है ? इस सम्बन्ध में सूत्रकार कभी स्पष्ट रूप से प्राक् शब्द का निर्देश कर देते हैं। जैसे - "प्रागीश्वरान्निपाताः" - (४.४.५६.), "प्राक् कडारात्समासः" - (२.१.३.), "कृत्याः प्राङ्ण्वुलः" - (३.१.९५.) इत्यादि। "प्राग्दीव्यतो ऽण्" - (४.१.८३.) सूत्र में अण् का अधिकार "दीव्यति" शब्द पर्यन्त किया है। इसमें अण् प्रत्यय की अनुवृत्ति "अश्वपत्यादिभ्यश्च" - (४.१.८४.) सूत्र में है किन्तु इनके उत्तवर्ती "दित्यदित्यादित्य०"- (४.१.८५.) सूत्र में नहीं है। क्योंकि इस सूत्र में "ण्य" प्रत्यय का निर्देश है। इसमें चकार का उच्चारण न होने से "अधिकृत" - (४.१.८३.) अण् के अनुवृत्ति की आशङ्का नहीं हो सकती। "०दीव्यत०" पद से अर्थ का निर्देश होने के कारण आगामी सूत्रों में जहाँ-जहाँ अर्थ निर्देश है, वहाँ-वहाँ अण् प्रत्यय का अधिकार है। अवधि के रूप में अर्थ का (दीव्यतः) निर्देश होने से अर्थों में ही अण् अधिकृत माना जाता है। यही कारण है कि "तस्यः समूहः" - (४.२.३७.), "विषयो देशे" - (४.२.५२.), "तदधीते०" - (४.२.५९.) इत्यादि अर्थ निर्देश युक्त सूत्रों में अण् की उपस्थिति होती है। "भिक्षादिभ्यो ऽण्" - (४.२.३८.) सूत्र में अर्थ का निर्देश न होने से अधिकृत अण् से कार्य सिद्ध नहीं हो सकता था, अतः स्वतन्त्र अण् का उच्चारण करना पड़ा। "प्राग्वहतेष्ठक्" - (४.४.१.), "प्राग्घिताद्यत्" - (४.४.७९.) इत्यादि सूत्रों में भी इसी नियम से अधिकारों की प्रवृत्ति समझनी चाहिए।

अधिकारों के सम्बन्ध में यह भी ध्यातव्य है कि विधिसूत्र का कोई अंश भी स्वरितत्व के बल से अधिकृत हो सकता है। जैसे - "तयोर्य्वावचि संहितायाम्" - (८.२.१०८.) सूत्र में केवल संहितायाम् पद का ही अधिकार अष्टम अध्याय की परिसमाप्ति तक चलता है। सम्पूर्ण सूत्र अधिकार सूत्र नहीं है। अधिकार की अवधि के संबंध में भाष्यकार ने "स्वरितेनाधिकारः" - (१.३.११.) सूत्र के भाष्य में पर्याप्त विचार किया है। सामान्यतः एक अधिकार की अवधि दूसरे अधिकार के प्रारम्भ होने से समाप्त होती है, अर्थात् द्वितीय अधिकार तक पहले अधिकार की सीमा होती है। जैसे - "धातोः" - (३.१.९१.) का अधिकार "ङ्याप् प्रतिपादिकात्" - (४.१.१.) तक है। ङ्याप् प्रातिपदिकात् अधिकार प्रारम्भ होते ही धातोः का अधिकार समाप्त हो जाता है। शब्दार्थ चिन्तामणि के अनुसार -

"व्याकरणमते पूर्वसूत्रस्थित पदस्यापर सूत्रेषु उपस्थितौ। अनुवृत्तौ। स त्रिविधो यथा - सिंहावलोकितारव्यश्च मण्डूकप्लुतिरेव च। गङ्गास्त्रोत इति रव्यातः अधिकारास्त्रयो मताः ॥"

(उ) परिभाषा सूत्र -

परिभाषा एवं परिभाषा सूत्र - अष्टाध्यायी में परिभाषा पद का प्रयोग नहीं है। सर्वप्रथम कात्यायन के वार्तिक में एवं भाष्य में परिभाषा शब्द का उल्लेख है। सूत्रकार पाणिनि ने लाघव युक्त किन्तु सारगर्भित एवं सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण की रचना के उद्देश्य से कतिपय युक्तियों का योजनाबद्ध रीति से प्रयोग किया है। सूत्रकार की इन्हीं सूत्र व्यवस्थाओं को संज्ञा परिभाषा - विधि आदि रूपों में वर्गीकृत कर शब्द-सिद्धि की प्रक्रिया को हृदयंगम करने का प्रयास किया जाता है। इन्हीं युक्तियों के अन्तर्गत परिभाषा सूत्र भी सम्मिलित है। भगवान् पतञ्जलि ने "समर्थः पदविधिः" - (२.१.१.) के भाष्य में परिभाषा और अधिकार का अंतर स्पष्ट किया है। यद्यपि इस स्थल पर परिभाषा शब्द का कोई स्पष्ट लक्षण वे प्रस्तुत नहीं करते किन्तु परिभाषा के सम्बन्ध में यह प्रतिपादित करते हैं कि - **"परिभाषा पुनरेकदेशस्था सती सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति प्रदीपवत्। तद्यथा प्रदीपः सुप्रज्वलितः एकदेशस्थः सर्वं वेश्माभिज्वलयति।"** इसका आशय है कि परिभाषा सूत्र स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं करते अपितु कार्य विधायक अथवा निषेधक सूत्रों की सहायता करते हैं। इनकी सहायता से विधि या निषेध सूत्रों का अर्थ स्पष्ट होता है। परवर्ती वैयाकरणों ने भी इसी अर्थ में परिभाषा शब्द का प्रयोग किया है। म. म. के. वी. अभ्यंकर के शब्दों में - **"The परिभाषा rule casts a glance at all the rules just as the light of moon and goes wherever it is needed for a clarification of the sense. Helpfulness in the formation of correct words was a shade of meaning added to the original sense of the term परिभाषा by later grammarians."** - (परिभाषेन्दुशेखर की प्रस्तावना)।

सामान्यतः परिभाषा शब्द से अष्टाध्यायी के परिभाषा सूत्रों का तथा मुख्य रूप से नागेशादि द्वारा पठित परिभाषाओं एवं न्यायों का बोध होता है। आचार्यों ने तथा व्याकरण ग्रन्थों की समीक्षा करने वाले व्याख्याकारों ने परिभाषा के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किए हैं, वे दोनों के लिए चरितार्थ होते हैं। गोल्डस्टूकर का कथन है कि - परिभाषाऐं न तो पाणिनि के सूत्रों में संशोधन करती हैं और न सूत्रों की समीक्षा करती हैं। परिभाषाएं केवल लक्ष्यसिद्धि की दृष्टि से पाणिनीय सूत्रों की प्रवृत्ति को व्यवस्थित

दिशा प्रदान करती है। (परिभाषाs do not amend and criticise, but teach the proper application of the rules of पाणिनि) परिभाषा को उक्त कार्यप्रणाली का संकेत करते हुए गोल्डस्टूकर पाणिनि के परिभाषा सूत्रों को ही परिभाषित करते हैं। इसीलिए उदाहरणस्वरूप वे "मिदचो ऽन्त्यात्परः" - (१.१.४७.) और "षष्ठी स्थाने योगा" - (१.१.४९.) को उद्धृत करते हैं।

पाणिनि के परिभाषा सूत्र - अष्टाध्यायी में परिभाषा सूत्रों की संख्या के सम्बन्ध में मतभेद है। अर्वाचीन विचारकों ने इसकी संख्या ५० तक बताई है। भट्टोजी दीक्षित ने अष्टाध्यायी को प्रकरण के अनुसार वर्गीकृत किया और परिभाषा प्रकरण में मात्र १३ परिभाषा सूत्रों का संग्रह किया है। इस प्रकरण में १३ सूत्रों के अतिरिक्त अन्यत्र भी परिभाषा सूत्र पठित हैं। शब्देन्दुशेखरकार ने यह स्वीकार किया है कि इस प्रकरण में केवल सर्वशास्त्रोपकारक परिभाषा सूत्र ही पठित हैं। "समर्थः पदविधिः" - (२.१.१.) आदि भी परिभाषा सूत्र हैं, जो कार्यकाल पक्ष में विधि सूत्रों के सहायक होते हैं। (**"समर्थः पदविधिः - २.१.१." इत्यादीनामन्यत्रोपन्यासस्तु कार्यकाल पक्ष माश्रित्य। सूत्रकृतापि तस्यास्तथैव करणाच्च। सर्वशास्त्रपकारिकाणामेवात्र पाठाच्च। - वृहच्छब्देन्दुशेखर - परिभाषा प्रकरण**)

वस्तुतः पाणिनि के परिभाषा सूत्रों की निश्चित संख्या के सम्बन्ध में मतभेद होना स्वाभाविक है। क्योंकि स्वयं भाष्यकार परिभाषा का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक मानते हैं। "षष्ठी स्थाने०" - (१.१.४९.) के भाष्य में "अधिकारो नाम त्रिप्रकारः" कहकर भाष्यकार ने स्पष्ट रूप से परिभाषा को भी पारार्थ्यसाम्य से अधिकार माना है। कदाचित् इसी दृष्टि से पारार्थ्यसाम्य के आधार पर अधिकार भी परिभाषा कोटि में परिगणित हो सकते हैं। काशिकाकार ने प्रायः अधिकार सूत्रों को "अयमधिकारः परिभाषा वा" कहकर इसका संकेत किया है। ("परश्च - ३.१.२.", "आद्युदात्तस्य - ३.१.३.", "प्राग्दीव्यतोऽण् - ४.१.८३." इत्यादि।)

संभवतः महाभाष्य के विभिन्न संस्करणों में पाठभेद का कारण परिभाषा के लक्षण की व्यापकता हो सकती है। महाभाष्य के कलकत्ता संस्करण में "आद्यन्तवेदकस्मिन्" - (१.१.२१.) को अतिदेश ही कहा गया है। "येन विधि०" - (१.१.७२.) के भाष्य में भाष्यकार इसे परिभाषा स्वीकार करते हैं। (**द्वयोः परिभाषयोः सावकाशयोः समवस्थितयोराद्यन्तवदेकस्मिन् येन विधिस्तदन्तस्येति च। इयमिह परिभाषा भविष्यति आद्यन्तवदेकस्मिन्निति। इयं च न भविष्यति येन विधिस्तदन्तस्येति।**)

उपर्युक्त भाष्य वचन में ही पुनः "येनविधि०" - (१.१.७२.) सूत्र को भी परिभाषा ही कहा गया है। "अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः" - (१.१.६९.) सामान्य रूप से संज्ञासूत्र कहा जाता है, किन्तु वार्तिककार और भाष्यकार इसे परिभाषा कहते हैं - (**वर्णपाठ उपदेश इति चेदवरकालत्वात् परिभाषाया अनुपदेशः - म. भा. वा. - १. सूत्र - १.१.६९.**)

इस पारार्थ्य सादृश्य के कारण ही कदाचित् अधिकार और परिभाषा में अभेद होता है। कदाचित् अतिदेश और संज्ञासूत्रों का परिभाषा के साथ अभेद प्रतीत होता है। इसके परिणामस्वरूप अधिकार संज्ञा और अतिदेश सूत्रों को भी व्याख्याकारों ने परिभाषा सूत्रों के अन्तर्गत परिगणित कर दिया

है। (प्रदेशान्तरेषु तु परार्थता सामान्यादधिकार परिभाषयोरमेदेन व्यवहारो भाष्यकारस्य ...। - म. भा. प्रदीप - २.१.१.१. "पारार्थ्य सामान्यादतिदेश संज्ञयोः परिभाषात्वेन व्यवहार इति बोध्यम्।" - म. भा. उद्योत - २.१.१.१.)

निषेध सूत्रों को भी निषेध्य की आकाक्षा होने से विधि के साथ उनकी एक वाक्यता होती है। अतः निषेध सूत्रों में भी परिभाषा के साधर्म्य से परिभाषात्व प्रतीत होता है। "क्ङिति च" - (१.१.५.) के भाष्य में भाष्यकार ने इसी आधार पर कार्यकाल पक्ष में क्ङिति च सूत्र की प्रवृत्ति "पुगन्तलघूपधस्य०" - (७.३.८६.) सूत्र में की है। (अथवा कार्यकालं संज्ञा परिभाषम्। यत्र कार्यं तत्र द्रष्टव्यम्। पुगन्तलघुपधस्य गुणो भवति इत्युपस्थि तमिदं भवति क्ङिति नोति।) इसीलिए प्रदीपकार कैयट ने इस निषेध सूत्र को स्पष्ट रूप से परिभाषा कहा है। (यत्र गुणवृद्धी विधीयेते, तत्र क्ङिति ने त्युपतिष्ठते इत्येवमियं परिभाषा भवति।)

परिभाषा के लक्षण - सिद्धान्ततः किसी सूत्र में परिभाषात्व का निश्चय कतिपय निर्धारित एवं सर्वमान्य लक्षणों के आधार पर किया जा सकता है। पुरुषोत्तम वृत्ति की टीका में टीकाकार ने इकोगुणवृद्धी - (१.१.३.) की टीका में परिभाषा के लक्षण प्रतिपादित किए हैं। जिसके अनुसार परिभाषा सूत्र में कोई न कोई लिङ्ग या संकेत होता है, जिसके कारण वह सम्बद्ध सूत्र में प्रवृत्त होकर अभीष्ट अर्थ का बोध कराती है। इन चिह्नो के कारण वह लिङ्गवती कही जाती है। उदाहरणार्थ इको गुणवृद्धी - (१.१.४.) परिभाषा सूत्र ऐसे विधिसूत्रों में प्रवृत्त होगा जहाँ गुण या वृद्धि रूप लिङ्ग विद्यमान होंगे। गुण-वृद्धि विधायक विधि सूत्रों में प्रवृत्त होकर उन सूत्रों में "इकः" इस षष्ठ्यन्त पद को उपस्थापित करना ही इस परिभाषा का कार्य है।

परिभाषा का दूसरा प्रकार है - विधि सूत्रों के बलाबलत्व का निर्णय करना और लक्ष्य सिद्धि में उपकारक विधि सूत्रों की प्रवृत्ति को निर्धारित करना। इसके अन्तर्गत "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" - (१.४.२.) आदि नियम सूत्र आते हैं। (परि सर्व शास्त्र उपयुक्ता वाणी सा परिभाषा। सा च लिङ्गवती विध्यङ्गशेषभूता च। या लिङ्ग द्वारा भावेनोपयुज्यते सा लिङ्गवती। या सर्वेव विधि वाक्य उपयुज्यते सापरा। सापि काचिद्विधेरङ्गभूता या विना विधिर्वाक्यान्नैव प्रवर्तते। यथा - "आदेः परस्येति" - (१.१.५४.)। "न हि तद्विना ईदासः" - (७.२.८७.) इति प्रवर्तते। कचिद्य विधिशेष भूता। विप्रतिषेधे परमिति - (१.४.२.) अविरोधे वृक्षेष्वित्यादौ झल्येत्वमव्याहतमेव - (७.२.१०३.) विरोधविषये तु एत्वात्परं कारयति। परिभाषावृत्ति टीका - १.१.४.)

उपर्युक्त सन्दर्भ से यह प्रतीत होता है कि परिभाषा दो प्रकार की होती है। - १. लिङ्गवती, २. विध्यङ्गशेषभूता। इन लक्षणों के आधार पर कतिपय परिभाषाएँ अष्टाध्यायी में सूत्र रूप में पठित हैं, अधिकांश परिभाषाएँ महाभाष्य में उल्लिखित हैं। नागेश भट्ट ने परिभाषेन्दुशेखर के प्रारम्भ में कहा है - "प्राचीन वैयाकरण तन्त्रे वाचनिकान्यत्र पाणिनीये तन्त्रे ज्ञापक न्याय सिद्धानि भाष्यवार्तिकयोरूपनिबद्धानि यानि परिभाषा रूपाणि तानि व्याख्यायन्ते।" इसका अभिप्राय है कि परिभाषा पाणिनि पूर्व व्याकरण ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से उपलब्ध थी। पाणिनि की अष्टाध्यायी में वे यथावत् पठित नहीं की जा सकीं क्योंकि अष्टाध्यायी का स्वरूप सूत्रात्मक था। सूत्र रूप में कतिपय परिभाषाओं की रचना अष्टाध्यायी में की गई।

अन्य परिभाषाओं को ज्ञापक सूत्रों के माध्यम से पाणिनि की स्वीकृति परिलक्षित होती है। कतिपय परिभाषाएँ तो पाणिनीय सूत्र की अनुवादिका या व्याख्यानभूता ही कही जा सकती हैं। उदाहरणार्थ - "निर्दिश्यमान स्यादेशा भवन्ति" परिभाषा "षष्ठी स्थाने योगा" - (१.१.४९.) सूत्र की अनुवादिका है। पुनः "प्रसङ्ग विज्ञानात् सिद्धम्" और "सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव" ये दोनों परिभाषाएँ "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" - (१.४.२.) की विधिपरक एवं नियम परक व्याख्या के द्वारा निष्पन्न हो जाती है। ऐसी परिभाषाओं को नागेश भट्ट सूत्र सिद्ध वाचनिकी कहते हैं।

पाणिनीय तन्त्र में अर्थात् अष्टाध्यायी के सूत्रों से ज्ञापित होने वाली तथा कुछ सूत्रों का अनुवाद या प्रपञ्च करने वाली परिभाषाओं के अतिरिक्त न्याय सिद्ध परिभाषाएँ भी परिभाषा ग्रन्थों में संकलित है। चूँकि ये परिभाषाएँ लोक न्याय सिद्ध हैं अतः पाणिनि की स्वीकृति का प्रश्न ही नहीं है। लोक न्याय की प्रामाणिकता सूत्रकार को भी स्वीकार्य है। नागेश भट्ट ने परिभाषेन्दुशेखर में ज्ञापक सिद्ध, न्यायसिद्ध परिभाषाओं का संग्रह किया है, जो भाष्य और वार्तिक में उपनिबद्ध है। **(भाष्यवार्तिकयो र्निबद्धानि)** इसका तात्पर्य है कि नागेशोक्त परिभाषाएँ वार्तिककार कात्यायन के पूर्व विद्यमान थी उदहारणार्थ नागेश भट्ट द्वारा पठित "नानर्थके ऽलोन्त्य विधिनभ्यास विकारे" - (परिभाषा - १०५.) परिभाषा उपधासंज्ञा के सूत्र - (१.१.६५.) में वार्तिककार द्वारा पठित है। यद्यपि भाष्यकार ने इसके प्रयोजनों को अन्यथा सिद्ध कहकर इसका प्रत्याख्यान कर दिया है। किन्तु वार्तिककार कात्याययन द्वारा पठित होने से यह सिद्ध है कि यह परिभाषा कात्यायन के पूर्व विद्यमान थी। इस प्रसङ्ग में यह विचारणीय है कि क्या पाणिनि को भी यह परिभाषा ज्ञात थी ? "प्राचीन वैयाकरणतन्त्रे वाचनिकानि" शब्दों के द्वारा नागेश यह संकेतित करना चाहते हैं कि परिभाषाएँ पाणिनि से पूर्व व्याकरण ग्रन्थों में पठित रही होंगी। परिभाषेन्दुशेखर के टीकाकार वैद्यनाथ पायगुण्डे ने "प्राचीन" का आशय इन्द्रादि वैयाकरणों से लिया है। वाचनिकानि का अर्थ सूत्ररूपेण पठितानि किया है। "भाष्यवार्तिकयोर्निबद्धानि" कहकर नागेश भट्ट परिभाषाओं की प्रामाणिकता का प्रतिपादन करते हैं।

परिभाषाओं के विकास की प्रक्रिया - वार्तिककार कात्यायन ने जिन परिभाषाओं का उल्लेख किया है यदि वे परिभाषाएँ सूत्रकार को ज्ञात थी तब परिभाषाओं का कर्तृव्य पूर्णतः नागेश भट्ट या सीरदेव का नहीं है। वस्तुतः यह भाषा के विकास की एक प्रक्रिया है। पाणिनि पूर्व जो नियम व्यापक रूप से व्याकरण ग्रन्थों में प्रयुक्त थे कालान्तर में वे ही सूत्र रूप में पाणिनि की अष्टाध्यायी में अभिव्यक्त हुए। पुनः पाणिनि के उत्तरवर्ती काल में उन सूत्रात्मक नियमों की विस्तृत व्याख्याएँ अपेक्षित हुई। परिणामस्वरूप उन सूत्रों का प्रपञ्च करने वाली परिभाषाओं का निर्माण हुआ और परिभाषा ग्रन्थों की रचना हुई। जिस प्रकार सूत्रों में उक्त अनुक्त और दुरुक्त विषयों का चिन्तन करने वाले वार्तिकों की [१] निर्मिति हुई। कालान्तर में सूत्र और वार्तिकों की समीक्षा कर भाषा के प्रवाह के साथ एकरूपता स्थापित करने के लिए भाष्य की रचना हुई। व्याकरण शास्त्र का भाषा गत विकास के साथ इस समन्वयात्मक परिवर्तन और संशोधन के कारण ही व्याकरण को भाषा का प्रतिबिंब कहा जाता है। संस्कृत व्याकरण की पारदर्शिता का यही तत्व है।

परिभाषाकार जब समासान्त विधिरनित्यः परिभाषा पढ़ते हैं तब निश्चित रूप से पाणिनि के समासान्त विधियों में संशोधन या परिमार्जन की सूचना देते हैं। वस्तुतः यह भाषागत विकास

का सूचक है। पाणिनि से लेकर नागेश के कालखंड तक संस्कृत भाषा में अनेक परिवर्तन हुए जिसे आचार्यों ने कदाचित सूत्र की प्रवृत्ति को अनित्य कहकर प्रचलित प्रयोगों की व्याकरण शुद्धता का समर्थन किया। **"यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्"** कहकर व्याख्याकारों ने परवर्ती प्रयोग को प्रामाणिक सिद्ध किया है। पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि इस मुनित्रयों ने किसी शब्द प्रयोग के विषय में मतभेद प्रदर्शित किया हो तो भगवान् पतञ्जलि द्वारा स्वीकृत प्रयोग ही भाषा शास्त्र की दृष्टि से प्रामाणिक माना जाता है।[२]

परिभाषा सूत्रों की पृष्ठभूमि - परिभाषा ग्रन्थों में संकलित परिभाषाओं के समान पाणिनि ने अष्टाध्यायी में परिभाषाएँ नहीं पढ़ी है, किन्तु जो परिभाषा सूत्र पठित हैं वे इन परिभाषाओं से कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। गोल्डस्टूकर कहते हैं - **"... His work bears evidence that he has given परिभाषा Rules (Axioms) which are in no way more important that many of those which are met with in the महाभाष्य, but not in his work."** अनेक प्रकार से पाणिनि अपने पूर्वाचार्यों के ऋणी हैं। कतिपय समीक्षक इस आधार पर पाणिनि को इस व्याकरणिक - व्यवस्था के अनुसन्धाता नहीं मानते। पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों में उपलब्ध परिभाषाओं को पाणिनि ने यथावत् अपने ग्रन्थों में उद्धृत नहीं किया इसका कारण यह हो सकता है कि पूर्वाचार्यों द्वारा पठित परिभाषाओं को उद्धृत करना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा, कहीं-कहीं सूत्रों में परिभाषाओं के संकेत कर दिए जिसे परिभाषाकारों ने ज्ञापक कहकर पाणिनि की संमति प्रकट की।

ज्ञापक सूत्र और परिभाषा - "सिद्धे सति आरम्यमाणो विधिर्ज्ञापको भवति।" अर्थात् कोई कार्य प्रकारान्तर से सिद्ध होने पर भी उसके लिए पुनः विशेष प्रयास किया जाए तो वह किसी परिभाषा का ज्ञापक हो सकता है। गोल्डस्टूकर के शब्दों में - "A rule has the character of a ज्ञापक only when it is given in reference to a rule already previously established, and it's sense becomes completed by it." - (From पाणिनि his place in sanskrit literature)

वस्तुतः ज्ञापक सूत्रों का वही महत्व होता जो परिभाषाओं का होता है। इस विषय में पुनः गोल्डस्टूकर के विचार महत्वपूर्ण हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार पाणिनि के ज्ञापक सूत्र परिभाषाओं को ज्ञापित करते हैं, किसी समय पाणिनि की परिभाषाएँ (अर्थात् परिभाषा सूत्र) पूर्वाचार्यो के ज्ञापक सूत्रों के परिणाम होंगे।

"As there are ज्ञापक Rules which indicate the purpose of other rules, there are ज्ञापक rules which indicate the purpose of परिभाषा and all the परिभाषा given by पाणिनि himself, therefore precede their ज्ञापक rules." - (पाणिनि - his place in Sanskrit Litrature.)

निष्कर्षतः ज्ञापक और परिभाषा सूत्र में वही सम्बन्ध है जो पाणिनि के ज्ञापक सूत्र और ज्ञापित परिभाषाओं के बीच में है। तात्पर्य यह है कि -भाष्यवचन **"सिद्धे सति आरम्यमाणो**

विधिर्ज्ञापको भवति" के आधार पर यह सिद्ध होता है कि पाणिनि पूर्व भी परिभाषाओं का अस्तित्व था। ज्ञापक सूत्रों के द्वारा उनकी सत्ता प्रमाणित होती है। भाष्यकार ने सूत्र को ज्ञापक और परिभाषा को ज्ञाप्य कहा है। सूत्र "सुप्तिङन्त पदम् " - (१.४.१४.) के भाष्य में भाष्यकार लिखते हैं - **"पदसंज्ञायामन्तग्रहणं क्रियते ज्ञापकार्थम् किं ज्ञाप्यम् ? एतज्ज्ञापयत्याचार्यः अन्यत्रं संज्ञाविधौ प्रत्यय ग्रहणे तदन्तविधिर्न भवतीति।"**

इसमें परिभाषा को ज्ञाप्य कहा गया है। सिद्धान्ततः पाणिनि के परिभाषा सूत्रों की पृष्ठभूमि में पूर्ववर्ती वैयाकरणों की परिभाषाएँ एवं परिभाषा विषयक मान्यताएँ रही होंगी जिन्हें किसी न किसी रूप में पाणिनि ने सूत्रों में अभिव्यक्त किया है। अष्टाध्यायी में निर्दिष्ट दस वैयाकरणों के साथ पाणिनि ने कतिपय विषयों में अपनी मत भिन्नता प्रदर्शित की है, जैसे - संधिकार्य, द्वित्व, आगम, स्वर और गुण।[३] इनके अतिरिक्त प्रत्यय विधान अथवा शब्दसिद्धि के सम्बन्ध में पाणिनि का इनसे कोई मतभेद परिलक्षित नहीं है। कृदन्त और तद्धितों की निष्पत्ति के सम्बन्ध में भी किसी आचार्य के मत का उल्लेख नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि उपर्युक्त संधि कार्यादि विशेष स्थलों के अतिरिक्त पाणिनि अपने पूर्वाचार्यों से एकमत थे। परिभाषा सूत्रों में प्रतिपादित नियम व्यवस्था में भी पाणिनि से पूर्व व्याकरणिक धारा में कोई परिवर्तन या भिन्न व्यवस्था न रही होगी।

प्रान्तीय उच्चारण भेद से कदाचित् दो स्वरों के मध्य यकार का उच्चारण होता था, अन्यत्र महाराष्ट्रीय उच्चारण में यह यकार उच्चारित नहीं होता था। उदाहरणार्थ - "ओतो गार्ग्यस्य" - (८.३.२०.) से भो इदम्, भोयिदम्। व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य - (८.३.१८.) से अस्मायुद्धरअस्मायुद्धर, लोपस्य शाकट्यस्य - (८.३.१९.) से हर इह और हरयिह। द्वित्व के सम्बन्ध में भी उच्चारण विषयक भेद दृष्टिगत होते हैं। जैसे - संयुक्ताक्षर का पूर्ववर्ती स्वर ह्रस्व होने पर भी दीर्घ के समान उच्चरित होता है। इसके कारण दो व्यञ्जनों के संयोग में अच् के बाद वाले व्यञ्जन को द्वित्व करें या न करें, उच्चारण में भेद नहीं दिखता। पुत्रम् कहने में अथवा पुत्त्रम् कहने में कोई अन्तर नहीं होता। "अनचि च" - (८.४.४७.) में सूत्रकार इसका संकेत करते हैं। त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य - (८.४.५०.) और सर्वत्र शाकल्यस्य - (८.४.५१.) सूत्रों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि शाकटायन से सम्बन्धित पूर्वीय प्रान्तों में संयुक्ताक्षरों में तीन व्यञ्जनों के उच्चारण का प्रचलन रहा होगा। (इन्द्रः - राष्ष्ट्रम् आदि) शाकल्य उत्तरप्रदेश वास्तव्य होंगे जहाँ पर यह द्वित्व प्रचलित नहीं होगा। (अर्कः, ब्रह्मा इत्यादि) इन आचार्यो के अतिरिक्त काश्यप, गालव, गार्ग्य, सेनक, भारद्वाज, चाक्रवर्मण, स्फोटायन और आपिशलि का उल्लेख पाणिनि करते हैं। इन आचार्यो का नामोच्चारण, इडागम-ह्रस्व, स्वरितोच्चारण इकार के स्थान पर अकार अथवा रूप भिन्नता के सम्बन्ध में है।[४]

पाणिनि पूर्व वैयाकरणों में इन्द्र का नाम प्रसिद्ध है। यद्यपि ऐन्द्र व्याकरण सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। तथापि पाणिनि ने प्राचाम् पद में सम्भवतः ऐन्द्रव्याकरण का ही निर्देश किया है। ऐन्द्र व्याकरण के समान माहेश-व्याकरण भी पाणिनि पूर्व व्याकरणों में प्रचलित था। वैयाघ्रपद्य का दशकम्, काशकृत्स्न का त्रिकम्, काशकृत्स्नं गुरुलाघवम् नाम व्याकरणों का उल्लेख काशिकादि ग्रन्थों में मिलता है। (सूत्राच्च कोपधात् - ४.२.६५. त्रिकाः काशकृत्स्नाः। दशकं वैयाघ्रपदीयम् - काशिका)

पाणिनि ने अपने ग्रन्थ में जिसका उल्लेख नहीं किया है ऐसे वैयाकरणों में व्याडि का नाम महत्वपूर्ण है। महाभाष्य में व्याडि को दाक्षायण नाम से उद्धृत किया है। (**शोभना खलु दाक्षायणस्य** संग्रहस्य कृतिः - म. भा. - २.३.६५.) संग्रह नामक लक्षश्लोकात्मक व्याकरण ग्रन्थ की रचना व्याडि ने की थी। उद्योतकार ने लिखा है - **"संग्रहो व्याडिकृतो लक्षसंख्यो ग्रन्थः" - (म. भा. उद्योत पस्पशा)** सर्वमान्य रूप से व्याडि पाणिनि के समकालीन थे। संग्रह ग्रन्थ के अतिरिक्त व्याडि ने परिभाषाओं पर भी ग्रन्थ रचना की थी। भाष्य और वार्तिक में उद्धृत अनेक न्याय और परिभाषाएँ व्याडि के ग्रन्थ से उद्धृत हैं, ऐसा विद्वानों का मन्तव्य है। **"व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति र्न हि संदेहादलक्षणम्"** परिभाषा सर्वप्रथम व्याडि द्वारा प्रतिपादित है यह वैयाकरणों में प्रवाद है। काशिकाकार ने "उपज्ञोपक्रम०" - (२.४.११.) सूत्र का विवेचन करते हुए "व्याड्युपज्ञ दुष्करणम्" उदाहरण दिया है। न्यासकार दुष्करण के स्थान पर हुष्करण पाठ स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार हुष् काल वाचक संज्ञा है। पदमंजरीकार वृत् के समान हुष् को परिगणन के अन्त में समाप्तिसूचक पद मानते हैं।

देवनन्दी का दैव व्याकरण और चन्द्रगोमी का चान्द्र व्याकरण भी लोक में प्रचलित था। चान्द्रव्याकरण में अनेक परिभाषाओं का उल्लेख है जो व्याडि की परिभाषावृत्ति से ली गई है। शौनकि, पौष्करसादि, भागुरि, चारायण और माध्यदिनि की भी व्याकरण रचनाएँ यत्र-तत्र उल्लिखित हैं। चा. सू. - ४.३.१०६.) में शौनकादिम्यश्छंदसिचयोः द्वितीया शरि पौष्करसादेरिति० - ८.४.४८. वा. - ३.) भागुरी का उल्लेख म. भा. - ७.३.४५. में और माध्यन्दिनि का म. भा. - ४.३.६०. में आता है।

परिभाषाओं की आवश्यकता - व्याकरण शास्त्र शब्दों की व्युत्पत्ति का शास्त्र है। शब्दों की निष्पत्ति के लिए प्रकृति - प्रत्ययों की कल्पना की जाती है। मुख्य रूप से व्याकरण में शब्द सिद्धि के लिए विधि सूत्रों की रचना होती है किन्तु एक ही विधि सूत्र में व्याप्ति-अव्याप्ति, नित्यानित्यत्व, परापरत्वकी व्यवस्था स्थानिविषयक नियम अथवा आगम और आदेश के सम्बन्ध में निर्धारित व्यवस्थाओं में संभव नहीं है। अतः सूत्रकार को लाघव की दृष्टि से परिभाषा के रूप में कतिपय निर्देश करना आवश्यक होता है। ये परिभाषाएँ सूत्र रूप में भी हो सकती हैं। अथवा वाक्यात्मक भी हो सकती हैं। इस दृष्टि से परिभाषाओं के तीन उद्देश्य हैं :

१. पाणिनीय सूत्रों की सहायता करना। जैसे - "इकोगुणवृद्धी" - (१.१.३.)

२. दो सूत्रों की एक लक्ष्य में युगपत् प्रवृत्ति होने पर उनके बलाबलत्व का निर्णय करना। जैसे - "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" - (१.४.२.) परिभाषाओं में परस्पर बलाबलत्व का विचार "पर नित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः" परिभाषा में किया गया है।

३. सूत्रों को स्पष्टता एवं विस्तार प्रदान करना जिससे लक्ष्य सिद्धि में सहायता प्राप्त हो। जैसे - "एच इग्घ्रस्वादेशे" - (१.१.४८.)

व्याडिकृत परिभाषा सूचनम् - व्याकरण शास्त्र में परिभाषाओं के प्रथम लेखक व्याडि कहे जाते हैं। परिभाषाभास्कर की वृत्ति में हरिभास्कर लिखते हैं - **"व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरित्यादि सर्व-परिभाषा व्याडिमुनिना विरचिता।"** इससे स्पष्ट होता है कि पाणिनीय परम्परा में व्याडि ने

सर्वप्रथम परिभाषाओं की रचना की। प्रा. के. वी. अभ्यङ्कर ने "व्याडिकृत परिभाषा सूचनम्" नामक एक प्राचीन परिभाषावृत्ति का प्रकाशन भाण्डारकर प्राच्य विद्या संशोधन मन्दिर, पुणे - १९६७ से किया है। अभ्यङ्कर जी के मतानुसार संग्रहकार व्याडि ने ही अपनी परिभाषाओं पर यह वृत्ति लिखी है और इसका रचनाकाल भाष्यकार के पूर्व में होना चाहिए। वस्तुतः परिभाषा सूचनम् के कर्तृत्व एवं स्थिति काल के सम्बन्ध में विद्वानों में एक मत नहीं है। पाश्चात्य विद्वानों में प्रो. वेझलर (Albrecht Wezler) और जार्ज कार्डोना आदि परिभाषा सूचनम् के कर्ता महाभाष्य के पूर्ववर्ती नहीं मानते। श्री वसन्त कुमार भट्ट ने विविध प्रमाणों के द्वारा इसका स्थिति काल वार्तिककार कात्यायन के पश्चात् प्रतिपादित किया है।

परिभाषा सूचनम् की दो हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हैं, जिनमें ९३ परिभाषाओं पर ग्रन्थकार ने वृत्ति लिखी है। चान्द्र और शाकटायन के ग्रन्थों में परिभाषा सूचनम् के आधार पर कतिपय परिभाषाओं की रचना की गई है। शर्व वर्मा के कातन्त्र व्याकरण में दो परिभाषाएँ उद्धृत हैं। वर्तमान में "परिभाषा पाठ" नामक और "परिभाषा वृत्ति" नामक दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनमें से एक पर दुर्गसिंह की टीका है, जो ६५ परिभाषाओं तक है। दूसरी परिभाषा वृत्ति के लेखक भाव मिश्र हैं, जिन्होंने ६२ परिभाषाएँ संकलित की हैं। इन दोनों वृत्तियों में परिभाषाओं का क्रम व्याडि के ग्रन्थ से भिन्न है।

व्याकरण की पौरस्त्य परम्परा - पाणिनीय व्याकरण पर विस्तृत एवं महत्वपूर्ण वृत्ति काशिका है जो वामन और जयादित्य की संयुक्त रचना है। सातवीं शताब्दी के मध्यकाल में इन दोनों वैयाकरणों ने वृत्ति लिखी। काशिका वृत्ति के पश्चात् जितेन्द्र बुद्धि द्वारा "काशिका विवरण पञ्जिका" लिखी गई, जो सामान्यतः न्यास के रूप में प्रचलित हुई। इनके अनुकरण पर मैत्रेय रक्षित द्वारा "भाषा प्रदीप" और "तन्त्र प्रदीप" नामक ग्रन्थों की रचना की गई। इन्दुमित्र द्वारा - अनन्यास, पुरुषोत्तमदेव द्वारा - भाषा वृत्ति, परिभाषा वृत्ति और ज्ञापक समुच्चय, सीरदेव का परिभाषा वृत्ति इत्यादि व्याकरण ग्रन्थों की रचना हुई। पुरुषोत्तम देव बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन के राजाक्षित थे। इनका समय बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध था। इन्दुमित्र और मैत्रेय रक्षित पुरुषोत्तम देव से कुछ पूर्व हुए थे। सीरदेव पुरुषोत्तम देव के पश्चाद्वर्ती थे।

पुरुषोत्तम देव का परिभाषा पाठ - पुरुषोत्तम देव के अनेक व्याकरण ग्रन्थों में परिभाषाओं पर लिखित ये ग्रन्थ प्रमुख हैं -

१. लघु परिभाषावृत्ति - इसमें १२० परिभाषाएँ हैं जो व्याडि और शाकटायन की पद्धति से क्रमबद्ध की गई हैं।

२. इस ग्रन्थ में परिभाषाओं का संग्रह है। इसका क्रम परिभाषा वृत्ति के क्रम से भिन्न है। इस संग्रह में परिभाषाओं को तीन प्रकार से वर्गीकृत किया है -

(१) प्रथम वर्ग में १ से ३८ तक सूत्रार्थ व्यवस्थापक परिभाषाएँ हैं, इनका क्रम कातन्त्र के व्याकरण के समान है।

(२) द्वितीय वर्ग में ३९ से ६० तक ऐसी परिभाषाएँ पठित हैं जो नियम सूत्र का कार्य करती हैं अर्थात् किसी एक लक्ष्य में दो या अधिक सूत्रों की युगपत् प्रवृत्ति होने पर उनकी प्रवृत्ति नियन्त्रित करती है। कातन्त्र व्याकरण में बलाबल सूत्रों के प्रकरण के समान यह वर्ग है। इनमें कुल २२ परिभाषाएं हैं।

(३) तृतीय वर्ग में ६१ से ९५ तक ऐसी परिभाषाएँ हैं जो सूत्रों की वैकल्पिक प्रवृत्ति या निवृत्ति का संकेत करती हैं। संभवत: इस वर्ग में वे परिभाषाएँ या न्याय पठित हैं, जिनसे विशेष अपवादात्मक प्रयोग अथवा निपातन योग्य शब्दों की सिद्धि में सहायता मिलती है।

सीरदेव की परिभाषा वृत्ति – पुरुषोत्तम देव के कुछ वर्षों बाद सीरदेव ने वृहद्परिभाषावृत्ति लिखी। सीरदेव पौरस्त्य वैयाकरणों में विख्यात थे। पूर्वीय भारत के निवासी थे। इनके ग्रन्थ से यह ज्ञात होता है कि इन्होंने पूर्ववर्ती व्याकरण ग्रन्थों का जैसे - न्यास, तंत्रप्रदीप, भाषावृत्ति, परिभाषा वृत्ति, अनुन्यास तथा अन्य व्याकरण ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया था।

परिभाषों के संकलन में ये अपने पूर्ववर्ती किसी आचार्य के अनुगामी प्रतीत नहीं होते। महाभाष्य अथवा अष्टाध्यायी के क्रम से इन्होंने परिभाषा का पाठ किया है। महाभाष्य में पठित १२९ परिभाषाओं को उसी क्रम में उद्धृत करते हुए अंत में १० परिभाषाएँ ऐसी हैं, जो महाभाष्य में पठित नहीं हैं। संभवत: ये १० परिभाषाएँ पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों से ग्रहण की गई तथा इन्हें आवश्यक और महत्वपूर्ण मानते हुए सीरदेव यथावत् अपने ग्रन्थ में उल्लिखित करते हैं।

परिभाषा वृत्ति की टीकाओं से प्रतीत होता है कि सीरदेव एक उच्चकोटि के प्रतिभासम्पन्न वैयाकरण थे। इस ग्रन्थ की एक ही प्रकाशित प्रति उपलब्ध है। इस ग्रन्थ पर दो या तीन टीकाएँ लिखी गईं, जो आज तक अप्रकाशित हैं और हस्तलिखित रूप में उपलब्ध होती हैं। परिभाषेन्दुशेखर के समान सीरदेव के ग्रन्थ में भी १३३ परिभाषाएँ पठित हैं। जिनमें अनेक परिभाषाएँ यथावत् परिभाषेन्दुशेखर में पठित हैं। कतिपय परिभाषाओं को भिन्न शब्दावली में प्रस्तुत किया गया है और कुछ नयी परिभाषाएँ भी हैं, जो परिभाषेन्दु० में नहीं हैं। परिभाषेन्दु० की कुछ परिभाषाएँ इस ग्रन्थ में नहीं हैं।

सीरदेव ने परिभाषावृत्ति को दो भागों में विभक्त किया है। प्रथम भाग में ज्ञापक सिद्ध परिभाषाओं का और द्वितीय में न्याय सिद्ध परिभाषाओं का उल्लेख है। कोई परिभाषा सूत्र सिद्ध वाचनिकी नहीं है। ग्रन्थ का प्रथम खण्ड अष्टाध्यायी के समान ८ अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में चार पाद और प्रत्येक पाद में वे ही परिभाषाएँ पठित हैं जो तत्तत् पाद में पठित सूत्रों से ज्ञापित होती हैं। सारांश ज्ञापक सूत्र क्रमानुसार परिभाषाओं को ग्रन्थ में विन्यस्त किया गया है। नागेस भट्ट ने इस क्रम को स्वीकार नहीं किया है।

अर्वाचीन परिभाषाकार - सीरदेव के पश्चात् और नागेश भट्ट के पूर्ववर्ती कालखण्ड में अर्थात् १२ वीं शताब्दी से १७ वीं शताब्दी के मध्यवर्ती काल में परिभाषाओं पर अत्यधिक सीमित ग्रन्थरचना हुई। इस अवधि में प्राय: अष्टाध्यायी पर आधारित प्रक्रिया ग्रन्थों की रचना हुई। जैसे - प्रक्रिया कौमुदी, सिद्धान्त कौमुदी आदि। इस अवधि में परिभाषाओं से संबंधित "परिभाषा भास्कर" की रचना श्री हरिभास्कर अग्निहोत्री ने की। नीलकण्ठ दीक्षित ने "परिभाषा वृत्ति" लिखी। परिभाषा भास्कर वस्तुत: सीरदेव की परिभाषा वृत्ति का सार संक्षेप ही कहा जा सकता है। नीलकण्ठ दीक्षित वरदराज भट्टाचार्य के शिष्य थे। इनकी परिभाषा वृत्ति में लगभग ११० परिभाषाओं की सोदाहरण संक्षिप्त व्याख्या है।

परिभाषाकारों के तीन सम्प्रदाय - कालखण्ड के आधार पर परिभाषाकारों के तीन सम्प्रदाय माने जाते हैं -

१. प्राचीनतम सम्प्रदाय के प्रवर्तक व्याडि थे। इनका सम्प्रदाय सूत्रकार तथा वार्तिककार अर्थात् पाणिनि और कात्यायन के बाद प्रचलित हुआ और भाष्यकार के समय तक प्रतिष्ठित हो गया। चान्द्र और शाकटायन इस सम्प्रदाय के अनुगामी थे। इस सम्प्रदाय में परिभाषाओं का प्रारम्भ **"अर्थवद् ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्"** परिभाषा से किया जाता रहा।

२. द्वितीय सम्प्रदाय कातन्त्र व्याकरण का था। कातन्त्र व्याकरण पर आधारित परिभाषा ग्रन्थों में अधिकांशतः पाणिनीय सूत्र सम्मिलित थे। परिभाषाओं को इन आचार्यों ने परिभाषा सूत्र ही कहा है। ये सर्व प्रथम **"एकदेशविकृतमनन्यवत्"** परिभाषा का उल्लेख करते हैं। इनके ग्रन्थों के दो खण्ड होते हैं - (१) परिभाषा सूत्र, (२) बलाबल सूत्र।

३. परिभाषाओं का तृतीय सम्प्रदाय पुरुषोत्तमदेव से प्रारम्भ होता है। (१२ शताब्दी) इनके ग्रन्थों में सर्वप्रथम परिभाषा **"व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तिर्नहि संदेहादलक्षणम्"** पठित है। ये परिभाषाएँ तीन वर्गों में विभक्त होती हैं, जिनका निदर्शन परिभाषेन्दुशेखर में होता है। अर्वाचीन परिभाषाकारों ने इसी शैली में ग्रन्थ रचना की है।

परिभाषेन्दुशेखर तथा नागेश भट्ट के अन्य ग्रन्थ - नागेश भट्ट ने कुल १३३ परिभाषाएँ परिभाषेन्दुशेखर में पढ़ी हैं। प्रा. के. वी. अभ्यंकर का कथन है कि - "येन नाप्राप्ते यो विधिरारम्यते स तस्य बाधको भवति - परिभाषा बाद में जोड़ी गई।" ग्रन्थारम्भ में नागेश ने एक प्रतिज्ञा उद्धृत की है - "प्राचीन वैयाकरण तंत्रे वाचनिकानि पाणिनीय तन्त्रे ज्ञापक न्याय सिद्धानि भाष्यवार्तिकयोरूपनिबद्धानि परिभाषा रूपाणि व्याख्यायन्ते" इस प्रतिज्ञा वचन का नागेश ने कहाँ तक निर्वाह किया है यह चिन्तन का विषय है क्योंकि ग्रन्थ में ऐसी अनेक परिभाषाएँ हैं जो महाभाष्य में किसी भी रूप में पठित नहीं हैं। कतिपय परिभाषाएँ ऐसी भी हैं जो पाणिनि के किसी सूत्र से ज्ञापित नहीं हैं और न ही लोक न्याय से सिद्ध हैं। उपर्युक्त उक्ति में वाचनिकानि और लौकिक न्याय सिद्धानि को परिभाषा रूपाणि का विशेषण माना जाए अथवा बीच में च का अध्याहार कर स्वतंत्र प्रयोग माना जाए यह संदेह है। कतिपय टीकाकारों का कथन है कि भाष्य में कई परिभाषाओं के ज्ञापकों का उल्लेख नहीं है तथापि सभी परिभाषाओं को ज्ञापक सिद्ध ही मानना चाहिए। कतिपय व्याख्याकारों के अनुसार नागेशोक्त "प्राचीन वैयाकरण तंत्र" का अभिप्राय कातंत्र शाकटायन आदि के व्याकरण ग्रन्थों से है।

नागेश ने परिभाषेन्दुशेखर के अतिरिक्त वृहच्छब्देन्दुशेखर, लघुशब्देन्दुशेखर, महाभाष्य प्रदीपोद्योत, वृहन्मञ्जूषा, लघुमञ्जूषा की रचना की।

नागेशोक्त परिभाषाओं का क्रम और उद्भव - पुरुषोत्तम देव की ९५ परिभाषाएँ नागेश ने यथावत् उसी क्रम से अपने ग्रन्थ में ग्रहण की हैं। केवल चार परिभाषाएँ स्वतंत्र रूप से परिगणित नहीं है।

१. कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमस्यैव ग्रहणम्।
२. कृताकृतप्रसङ्गि नित्यम्
३. येन नाप्राप्ते यो विधिरारम्यते स तस्य बाधको भवति।
४. लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते।

इनमें से येन नाप्राप्ते० परिभाषा कतिपय संस्करणों में स्वतंत्र रूप से पठित है।

कुछ स्थलों पर नागेश ने पुरुषोत्तमदेव के परिभाषा क्रम में आंशिक परिवर्तन किया है। जैसे - १. "सर्वविधिभ्यो लोप विधिर्बलवान्" और २. "सर्व विधिभ्य इड् विधिर्बलवान्" इन दो परिभाषाओं को नागेश स्वतंत्र रूप से पठित करते हैं। प्राचीन वैयाकरणों ने (व्याडि, सीरदेव और नीलकण्ठ ने भी) इनका पृथक्-पृथक् ग्रहण किया है। पुरुषोत्तम इन दोनों परिभाषाओं को एक साथ सम्बद्ध रूप से पढ़ते हैं। नागेश द्वारा पठित परिभाषाओं में प्रायः सभी परिभाषाएँ पुरुषोत्तम, सीरदेव अथवा नीलकण्ठ की परिभाषावृत्ति में हैं। मात्र ११ परिभाषाएँ ऐसी हैं, जो इनके ग्रन्थों में नहीं हैं।[५] ये परिभाषाएँ जब किसी भी पूर्ववर्ती व्याकरण ग्रन्थ में पठित नहीं हैं तब प्रश्न यह है कि नागेश ने इन्हें कहाँ से प्राप्त किया ? उदाहरणार्थ - "परनित्यान्तरङ्गपवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः" की दो परिभाषाएँ - १. परान्नित्यं बलवत्, २. अन्तरङ्गादप्यपवादो बलीयान् हैं। यद्यपि इनका स्पष्ट उल्लेख भाष्यादि में नहीं मिलता तथापि नित्यत्वात् अन्तरङ्गत्वात् शब्दों के द्वारा इसके संकेत अवश्य मिलते हैं। कातन्त्र और कालाप व्याकरणों में "परान्नित्यं बलवत्" का उल्लेख है।

नित्यत्व की परिभाषा - परिभाषा के नित्यत्व को परिभाषित करते समय नागेश भट्ट अपने पूर्वाचार्यों के ऋणी प्रतीत होते हैं। कृताकृत प्रसङ्गि नित्यम् - तद्विपरीतमनित्यम् इस लक्षण के आधार पर नागेश ने अनित्यत्व के ६ प्रकार निरूपित किए हैं।

१. शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यः - यह व्याडि और पुरुषोत्तम देव ने भी स्वीकार किया है।
२. शब्दान्तरात् प्राप्नुवन् विधिरनित्यः - यह पूर्व लक्षण का ही विस्तार है।
३. लक्षणान्तरेण प्राप्नुवन् विधिरनित्यः - व्याडि ने भी यही लक्षण दिया है।
४. यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते न तदनित्यम् - इसका महाभाष्य में संकेत है। (सूत्र - ७.१.२३. - म. भा.)
५. यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते तदप्यनित्यम् - इसका भी संकेत सूत्र - ७.१.२३. "स्वमोर्नपुंसकात्" के भाष्य में तथा प्रदीप में प्राप्त है।
६. स्वर भिन्नस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यः - भाष्यकार ने सूत्र - २.४.८५. के भाष्य में इसे उद्धृत किया है।

इस प्रकार उपर्युक्त ६ प्रकार के अनित्यत्व के लक्षणों में से ४ लक्षण नागेश से पूर्ववर्ती आचार्यो के ग्रन्थों में उल्लिखित हैं। "नञ् घटितमनित्यम्" परिभाषा कालाप व्याकरण में पठित है।

निष्कर्षतः उपर्युक्त ११ परिभाषाएं किसी न किसी रूप में पूर्ववर्ती व्याकरण ग्रन्थों में दृष्टिगत

होती है। नागेश ने इन सभी ग्रन्थों का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन करने के पश्चात् परिभाषेन्दुशेखर की रचना की। इस में उन्होंने पुरुषोत्तमदेव की परिभाषाओं के क्रम और व्यवस्था का अधिकतम अनुकरण किया है। यहाँ तक कि अन्तिम परिभाषा "अर्धमात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः" सीरदेव ने भी अपने ग्रन्थ के अन्त में लिखी है। अन्य किसी वैयाकरण ने इस परिभाषा का उल्लेख नहीं किया है।

परिभाषेन्दुशेखर में परिभाषाओं का विषयवार वर्गीकरण - परिभाषेन्दुशेखर की परिभाषाओं को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में ३७ परिभाषाएँ हैं, जिन्हें टीकाकारों ने शास्त्रत्व सम्पादक परिभाषा प्रकरण कहा है। यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रकरण है। पाणिनीय सूत्र के वास्तविक अर्थ के निर्धारण में ये परिभाषाएँ सहायक हैं। अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय में पठित परिभाषा सूत्र "तस्मिन्निति०" - (१.१.६६.), "तस्मादिति०" - (१.१.६७.) आदि से समानता रखती है। महाभाष्यकार ने पाणिनि के इन सूत्रों को भी परिभाषा ही कहा है। परवर्ती वैयाकरण जो पाणिनि भिन्न सम्प्रदाय के हैं, इन सूत्रों को परिभाषा सूत्र कहकर अपने ग्रन्थ में सम्मिलित करते हैं।

प्रारम्भिक परिभाषाओं में व्याकरण शास्त्र के महत्वपूर्ण नियमों का विवेचन है। जैसे - एक से तीन परिभाषाओं तक संज्ञा और परिभाषाओं की प्रकृति विषयक चर्चा है। चतुर्थ परिभाषा से अष्टम परिभाषा तक अनुबन्धों की चर्चा है। परिभाषा क्रमांक ९ से ११ तक कार्यी या स्थानी के गुणधर्म बताए गए हैं। १२वीं और १३वीं परिभाषा में आदेशों का विवेचन है। १४ से १६ तक अर्थवत्व का प्रतिपादन है। १७ और १८ में अनुवृत्ति के नियम प्रदर्शित हैं। १९ और २० में सवर्ण, २१ में प्रत्ययलक्षण, २२वीं परिभाषा में शब्दों की व्युत्पत्ति। २९ तक तदन्तविधि और ३० तथा ३१ में व्यपदेशिवद्भाव तथा अन्तिम ६ परिभाषाओं में सामान्य नियमों (प्रकृतिवदनुकरण् इत्यादि) का निर्देश है।

"व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्"

यह परिभाषा पाणिनीय सूत्रों का सर्वाङ्ग अध्ययन करते समय अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होती है। सूत्रकार ने अण् और इण् प्रत्याहारों का प्रयोग करते समय स्पष्ट रूप से कोई निर्देश नहीं दिया है कि ये प्रत्याहार पूर्व णकार तक समझे जाएँ अथवा पर णकार तक ? इस शंका का समाधान आचार्यों के व्याख्यान से अर्थात् यत्र-तत्र सूत्रों में निर्दिष्ट संकेतों से सम्भव होता है। आचार्यों के व्याख्यान के आधार पर ही टीकाकारों ने अण् और इण् प्रत्याहारों की सिद्धि के लिए यह निष्कर्ष निकाला है।

"परेणैवेण् ग्रहाः सर्वे पूर्वेणैवाण् ग्रहाः मताः।
ऋते ऽणु दित्सवर्णस्येत्ये तदेकं परेण तु ॥"

द्वितीय वर्ग में वे परिभाषाएं हैं जो दो सूत्रों की युगपत् प्रवृत्ति होने पर उनके बलाबलत्व का निश्चय करती है। इस प्रकरण में लगभग ३३ परिभाषाएं हैं। इस प्रकरण का नाम बाधबीज तन्त्र है। पाणिनि ने सूत्रों की युगपत् प्रवृत्ति होने पर सूत्रों की प्रवृत्ति को सूत्र पाठ के अनुसार "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" - (१.४.२.) सूत्र के द्वारा निर्धारित किया है। जहाँ पर, पर सूत्र की प्रवृत्ति से प्रयोग सिद्धि में बाधा उत्पन्न हो सकती थी ऐसे सूत्रों को सूत्रकार ने त्रिपादी में संकलित कर दिया और

पूर्वत्रासिद्धम् - (८.२.१.) के द्वारा उन सूत्रों के परत्वमूलक बलीयस्त्व को प्रतिबंधित कर दिया है। सपादी के सूत्रों में भी यदि विप्रतिषेध की स्थिति में पूर्व सूत्र से कार्य अभीष्ट है वहाँ कात्यायन कतिपय वार्तिकों का आरम्भ करते हैं किन्तु भाष्यकार विप्रतिषेधे० सूत्र में ही **"इष्टवाची खलु पर शब्दः"** कहकर लक्ष्य सिद्धि करते हैं।

कहीं पर सूत्रों के बलीयस्त्व का निर्धारण नित्यत्व के आधार पर कहीं अन्तरङ्गत्व के आधार पर और कहीं अपवादत्व के आधार पर किया गया है। **(पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः - परिभाषा ३८)** विप्रतिषेध० सूत्र की विधिमुखेन व्याख्या करने पर पुनः "प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धम्" परिभाषा निष्पन्न की गई है और नियममुखेन व्याख्या करने पर सकृद्गतौ० परिभाषा की निष्पत्ति की गई है। अपवाद सूत्रों की बाधकता को "तककौण्डिन्य परिवेषण न्याय" और "माठर कौण्डिन्य परिवेषण न्याय" के आधार पर स्पष्ट किया गया है।

तृतीय प्रकरण शास्त्र शेष तन्त्र है। इस प्रकरण में विविध परिभाषाएँ हैं, जो लक्ष्य सिद्धि में प्रत्यक्ष रूप से उपयोगी नहीं है और न सूत्रों की प्रवृत्ति की नियामिका है। ये परिभाषाएँ सामान्य नियम एवं लोकन्याय का संकेत करती हैं जो व्याकरणिक प्रक्रिया में ध्यातव्य होते हैं। जैसे - प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः। अभेदकाः गुणाः। पर्जन्यवल्लक्षण प्रवृत्तिः। योगविभागादिष्टसिद्धिः। इत्यादि। इस प्रकरण की अधिकांश परिभाषाएँ पुरुषोत्तमदेव के परिभाषा पाठ का अनुकरण करती है।

सिद्धान्ततः सभी परिभाषाएँ अष्टाध्यायी के सूत्रों की व्याख्या, समर्थन अथवा पुष्टि करने वाली है। परिभाषाकारों का उद्देश्य अष्टाध्यायी की पृष्ठभूमि में पाणिनि के समक्ष विद्यमान अनन्त शब्दराशि का साधुत्व प्रतिपादित करना है।

"त्वय्येव निपतन्त्योधाः जाह्नवीया इवार्णवे" के समान पाणिनि की धारा में संसक्त होकर पाणिनीय परम्परा को अव्याहत रखना परिभाषाकारों का लक्ष्य था। अष्टाध्यायी गङ्गोत्री है, जिसके परिभाषा सूत्रों की समीक्षा करना साम्प्रत लक्ष्य है।

❀❀❀

शब्द संकेत

१. उक्तानुक्त दुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुः वार्तिकज्ञाः विचक्षणाः ।। - काव्य मीमांसा

२. "न बहुव्रीहौ" - (१.१.२९.) सूत्र में बहुव्रीहि की विवक्षा में सर्वनाम संज्ञा का निषेध है। भाष्यकार इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हैं। सूत्रकार के अनुसार - त्वकं पिता यस्य सः त्वत्कपितृकः। अहकं पिता यस्य सः - मत्कपितृकः रूप सिद्ध होते हैं। भाष्यकार को ये रूप अभीष्ट नहीं। भाष्यकार के अनुसार त्वकत् पितृकः मकत् पितृकः रूप निष्पन्न होने चाहिए। व्याख्याकारों ने यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम् के आधार पर त्वकत्पितृकः। भकत्पितृकः रूपों का समर्थन किया है।

३. वा सुप्यापिशलेः - (६.१.९२.), प्रार्षभीयतिः प्रर्षभीयति सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे - (६.१.१६.), वायो इति वायविति। अवङ् स्फोटायनस्य। (६.१.१२३.) गवाग्रम् गोऽग्रम्। ई चाक्र वर्मणस्य - (६.१.१३०.) चिनुहीदम् चिनु ही इदम् इको ऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च - (६.१.१२७.) दधिअत्र, दध्यत्र।

४. त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य - (८.४.५०.) इन्द्रः - इन्द्रः। सर्वत्र शाकल्यस्य - (८.४.५१.) अर्कः ब्रह्मा। तृषि मृषि कृषेः काश्यपस्य - (१.२.२५.) तृषित्वा - तर्षित्वा। इको ह्रस्वो ऽ ङ्यो गालवस्य - (६.३.६१.), ब्रह्मबन्धुतरा - ब्रह्मबन्धूतरा। नदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम् - (६.४.६७.) - गार्ग्यस्तत्र। अड् गार्ग्यगालवयोः - (७.३.९९.) अस्वपीत् अस्वपत्। गिरेश्च सेनकस्य - (५.४.१११.) उपगिरम् - उपगिरि। ऋतो भारद्वाजस्य - (७.२.६३.) सस्मर्थ। लङः शाकटायनस्य - (३.४.१११.) अयुः। तृतीयादिषु भाषितपुंसकं पुंवद्गालवस्य - (७.१.७४.) शुचये - शुचिने।

५. वे ११ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं :-
१. परान्नित्यं बलवत्।
२. शब्दान्तरात् प्राप्नुवतः शब्दान्तरे प्राप्नुवतश्चानित्यम्।
३. यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते नतदनित्यम्।
४. यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते तदप्यनित्यम्।
५. स्वर भिन्नस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति।
६. पूर्वोत्तरनिमित्तकार्यात्पूर्वमन्तरङ्गोप्येकादेशो न।
७. अन्तरङ्गादप्यपवादो बलीयात्।
८. उपसंजनिष्यमाणेनिमित्तोप्यपवाद उपसंजातनिमित्तमप्युत्सर्गं बाधते।
९. नञ्घटितमनित्यम्।
१०. आतिदेशिकमनित्यम्।
११. एकस्या आकृतेश्चरितः प्रयोगो द्वितीयस्यास्तृतीयश्च न भविष्यति।

अध्याय - २

"परिभाषा सूत्र"

(अ) अष्टाध्यायी प्रथम अध्याय, प्रथम पादस्थ :

- (अ) इको गुण वृद्धी
- (इ) आद्यन्तौ टकितौ
- (उ) मिदचो ऽन्त्यात्पर:
- (ऋ) एच इग्ह्रस्वादेशे
- (ऌ) षष्ठी स्थानेयोगा
- (ए) उरण् रपर:
- (ओ) अलोऽन्त्यस्य
- (ऐ) ङिच्च
- (औ) आदे: परस्य
- (ह) अनेकालशित्सर्वस्य
- (य) तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य
- (व) तस्मादित्युत्तरस्य

(इ) द्वितीय पादस्थ और अन्यत्र पठित :

- (र) अचश्च
- (ल) स्वरितेनाधिकार:
- (ञ) अनुदात्तं पदमेकवर्जम्
- (म) वासरूपोऽस्त्रियाम्
- (ङ) समर्थ: पदविधि:

अष्टाध्यायी के परिभाषा सूत्रों का समीक्षात्मक अध्ययन

इको गुणवृद्धी
(१.१.३)

यह परिभाषा सूत्र है। अधिकार सूत्र नहीं है, क्योंकि इसमें स्वरितत्व नहीं है। स्वरितत्व युक्त शब्द स्वरुप ही अधिकृत माना जाता है। (स्वरितेनाधिकारः १.३.११) यदि अधिकार होता तो उत्तर सूत्र में पठित नञ् (न धातुलोप आर्धधातुके - १.१.४) का ग्रहण भी इसी सूत्र में करना पड़ता क्योंकि निषेध के प्रतियोगी गुण और वृद्धि पद है। प्रतियोगिभूत गुण और वृद्धि पदों को एक सूत्र में तथा निषेधवाचक नञ् पद को उत्तर सूत्र में रखकर विषमता उपस्थित करना अनुचित है। न धातुलोप आर्धधातुके (१.१.४) सूत्र में सूत्रकार को इक् स्थानिक गुणवृद्धि का निषेध अभीष्ट है। अधिकार पक्ष में इको गुणवृद्धी कहकर न धातुलोप आर्धधातुके (१.१.४) के द्वारा उसका निषेध करने की अपेक्षा निषेध विशिष्ट इको गुणवृद्धी का अधिकार करना ही युक्ति संगत प्रतीत होता है। पदमंजरीकार कहते हैं "अधिकारे हि इको गुणवृद्धी न धातुलोपः" इति संयुज्यैव निर्दिशेत्।

अन्य स्थलों पर सूत्रकार ने अधिकार के रुप में विवक्षित सभी पदों का एक ही सूत्र में ग्रहण किया है। जैसे सर्वस्य द्वे (८.१.१.) सूत्र में सर्वस्य और द्वे दोनों पदों का एक ही सूत्र में अधिकार किया है। नित्यवीप्सयोः (८.१.४.) आदि सूत्रों में ये दोनों पद अनुवृत्त होते हैं। कभी-कभी अधिकार के रुप में विवक्षित पदों का दो पृथक्-पृथक् सूत्रों में पाठ है। जैसे प्रत्ययः (३.१.१.) और परश्च (३.१.२.) इन पदों का योग विभाग करने का कारण यह है कि दोनों सूत्रों के विधेय भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्ययः (३.१.१.) सूत्र से प्रत्यय संज्ञा का विधान होता है तथा परश्च (३.१.२.) सूत्र से प्रत्यय में प्रकृति की अपेक्षा परत्व का विधान है।

इस प्रकार इको गुणवृद्धी (१.१.३.) को अधिकार सूत्र नहीं माना जा सकता।

इसे विधि सूत्र भी नहीं मान सकते क्योंकि गुण-वृद्धि विधायक मिदेर्गुणः (७.३.८२) मृजेर्वृद्धिः (७.२.११४.) इत्यादि विधि सूत्रों में गुण और वृद्धि पदों का ग्रहण किया गया है। इको गुणवृद्धी को विधि सूत्र मानने पर इन विधिसूत्रों का गुण वृद्धि ग्रहण व्यर्थ सिद्ध हो जाएगा। अतः सिद्धान्ततः इकोगुणवृद्धी (१.१.३.) परिभाषा सूत्र ही है।

अनियमे नियम कारिणी परिभाषा इस लक्षण के अनुसार जिन विधि सूत्रों में साक्षात् स्थानी का निर्देश न हो वहाँ इसकी प्रवृत्ति होती है। जैसे सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७.३.१८४.) सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु (७.२.१.) इत्यादि सूत्रों में प्रकृत परिभाषा प्रवृत्त होती है और इक् के स्थान पर गुण या वृद्धि किये जाने का नियम प्रतिपादित करती है।

लिङ्गवती परिभाषा - इस परिभाषा की प्रवृत्ति का लिङ्ग (संकेत) गुण और वृद्धि पद है।

जिन विधि सूत्रों में गुण या वृद्धि पद पठित हैं वहाँ इसकी प्रवृत्ति होती है। उदाहरणार्थ - मिदेर्गुणः (७.३.८२.), मृजेर्वृद्धिः (७.२.११४.) इत्यादि।

सूत्रार्थ - अष्टाध्यायी के परिभाषा सूत्रों में इकोगुणवृद्धी प्रथम परिभाषासूत्र है जो प्रथम अध्याय के प्रथम पाद का तृतीय सूत्र है इसके पूर्व दो सूत्र हैं जो क्रमशः वृद्धि संज्ञा (वृद्धिरादैच १.१.१.) और गुण संज्ञा (अदेङ गुणः १.१.२.) के सूत्र हैं। इन दोनों सूत्रों से वृद्धि और गुण पदों की अनुवृत्ति [1] प्रकृत सूत्र में करने पर तथा 'इति उच्चार्थ विधीयते' इन तीन पदों का अध्याहार कर सम्पूर्ण परिभाषा सूत्र का अर्थ इस प्रकार निष्पन्न होता है - "गुण और वृद्धि शब्दों का उच्चारण कर जहाँ गुण और वृद्धि का विधान होता है वहाँ इकः यह षष्ठ्यन्त पद उपस्थित होता है।" वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदीकार भट्टोजी दीक्षित के शब्दों में - "गुणवृद्धी शब्दाभ्यां यत्र गुणवृद्धी विधीयेते तत्रेक इति षष्ठ्यन्तं पदमुपतिष्ठते" यह परिभाषार्थ है।

परिभाषा सूत्र का प्रयोजन - भाष्यकार इस सूत्र के भाष्य में प्रारम्भ में मात्र इग् ग्रहण के प्रयोजन की चर्चा करते हैं। वस्तुतः इग्ग्रहणं किमर्थम् का तात्पर्य सम्पूर्ण सूत्र के प्रयोजन से है। तथापि गुण और वृद्धिपद आगामी सूत्र में अनुवृत्ति हेतु सार्थक होने से इग् ग्रहण के प्रयोजन की ही चर्चा प्रासंगिक है।

इग्ग्रहणमात् संध्यक्षरव्यञ्जननिवृत्यर्थम् - वार्तिक में भाष्यकार कहते हैं कि आकार संध्यक्षर (ए, ऐ, ओ,औ) और व्यंजनों को गुण या वृद्धि न हो जाए एतदर्थ इकः पद पठित है। याता - वाता इत्यादि उदाहरणों में सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७.४.८४.) से गुण नहीं हो सकता क्योंकि आकार (या + ता / वा + ता) इक् नहीं हैं। संध्यक्षरों को गुण न होना ग्लायति म्लायति आदि उदाहरणों में दृष्टिगत होता है। यहाँ शप् के परे सार्वधातुका. (७.४.८४.) से अङ्ग के अन्त्य सन्ध्यक्षर ऐ को गुण प्राप्त होता है। इक् के ग्रहण से नहीं हो पाता। व्यंजन को गुण निवृत्ति का उदाहरण उम्भिता उम्भितुम् उम्भितव्यम् उदाहरणों में द्रष्टव्य है। इन उदाहरणों में क्रमशः तृच् तुमुन् और तव्य या तव्यत् प्रत्यय के परे पूर्व सूत्र से (७.४.८४.) गुण प्राप्त होता है। इक् के ग्रहण से नहीं होता।

वस्तुतः आकार को गुण की निवृत्ति होना चह इक् का प्रयोजन नहीं है। आचार्य पाणिनि आतोऽनुपसर्गे कः (३.२.३.) सूत्र में ककार अनुबंध युक्त प्रत्यय का विधान करते हैं जिसका यह उद्देश्य है कि कित् परे रहने पर आतो लोप इटि च (६.४.६४.) से आकार का लोप हो जाए। यदि आकार को गुण होता तो ककार अनुबन्ध का कोई प्रयोजन न था क्योंकि आकार को गुण होकर अकार होता जो प्रत्यय के अकार के साथ पररुप (अतो गुणे ६.१.९७.) होकर गोदः कम्बलदः इत्यादि रुप सिद्ध हो जाते। आचार्य पाणिनि यह मानते हैं कि आकार को गुण नहीं हो सकता अतः वे क अनुबन्ध के द्वारा इष्ट रुप सिद्धि की व्यवस्था करते हैं।

संध्यक्षरों को गुण की निवृत्ति रुप जो दूसरा प्रयोजन प्रतिपादित है वह भी युक्ति संगत नहीं है। संध्यक्षरों को यदि गुण होता तो उनका उपदेश ही व्यर्थ हो जाता। धातुपाठ में ग्लै म्लै इस प्रकार ऐकारान्त धातुओं का उच्चारण किया गया है। यदि ऐकार को गुण होकर एकार ही होना है तो धातुपाठ

में एकारान्त धातु का ही उपदेश किया गया होता। इस प्रकार उपदेश सामर्थ्य से संध्यक्षरों को गुण की निवृत्ति हो जाती है।

व्यञ्जन को गुण की निवृत्ति भी इक् ग्रहण का प्रयोजन नहीं हो सकता। सप्तम्यां जनेर्डः (३.२.९७.) सूत्र में जन् धातु से ड प्रत्यय विहित है। यह डित्करण ज्ञापित करता है कि व्यञ्जन को गुण नही होता। टेः (६.४.१४३.) सूत्र से डित् प्रत्यय परे रहते टि का लोप होता है। उपसरजः मन्दुरजः इत्यादि उदाहरणों में उपसर, मन्दुर उपपद पूर्वक जन् धातु से ड प्रत्यय होता है। जन् की टि भाग (अन्) का लोप होकर उपसरजः मन्दुरजः प्रयोग सिद्ध होते हैं। यहाँ प्रत्यय के डित्व सामर्थ्य से प्रकृति की भ संज्ञा न होने पर भी टि लोप हो जाता है। यहाँ व्यञ्जन को यदि गुण हो सकता तो डित् प्रत्यय का कोई प्रयोजन न होता। व्यञ्जन (नकार) को गुण होकर उपसरज + अ +अ में तीनों अकारों में पररुप (अतो गुणे ६.१.९७.) होकर अभीष्ट रुपों की सिद्धि हो जाती।

भाष्यकार उपर्युक्त ज्ञापकों अथवा अनुमान के आधार पर इक् ग्रहण के प्रयोजनों को अन्यथा सिद्ध मानने के पक्ष में नहीं हैं। आतोऽनुपसर्गे कः (३.२.३.) के कित्करण को वे तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः (३.२.५.) में उपयोगी मानते हैं। तुन्दपरिमृजः में मृजेर्वृद्धिः (७.२.११४.) से वृद्धि प्राप्त होती है। इसी प्रकार शोकापनुदः में पुगन्तलघुपदस्य च (७.३.८६.) से गुण प्राप्त है किन्तु क प्रत्यय कित् होने से क्ङिति च (१.१.५.) इस गुण और वृद्धि का निषेध होता है।

आतोऽनुपसर्गे कः (३.२.३.) में कित् करण की अन्यत्र सार्थकता प्रतीत होने पर भी गापोष्टक् (३.२.८.) में टक् प्रत्यय के कित् करण का अन्य कोई प्रयोजन न होने से इसे आकार के गुण निवृत्ति का ज्ञापक माना जा सकता है अन्यथा साम + गै = साम + गा + अ में आकार को अकार गुण होकर पररुप (६.१.९७.) से सामगः रुप सिद्ध हो सकता था। गापोष्टक् (३.२.८.) में गा और पा इन दो धातुओं से ही टक् प्रत्यय का विधान है। अतः सामगः, सोमपः इन उदाहरणों में धातु के आकार का लोप होना ही कित् प्रत्यय का प्रयोजन है। कित् करण का अन्य कोई प्रयोजन नहीं हो सकता। अतः टक् प्रत्यय का कित् करण आकार की गुण निवृत्ति का ज्ञापक हो सकता है।

ग्लायति - म्लायति मे उपदेश सामर्थ्य से सन्ध्यक्षरों को गुण की निवृत्ति कही गई वह भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती। उपदेश सामर्थ्य से यदि गुण की निवृत्ति करेंगे तो उपदेश सामर्थ्य से अन्य कार्य जैसे ऐ को आयादेश भी नहीं हो पाएगा। वस्तुतः यह दोष संभावना उचित नहीं है क्योंकि जिस विधि के प्रति उपदेश अनर्थक होता है वह विधि उपदेश सामर्थ्य से बाधित होती है। परन्तु जिस विधि का वह (उपदेश) निमित्त ही है वह विधि बाधित नहीं हो सकती। गुण के सम्बंध में अर्थात् संध्यक्षरों को गुण करने पर संध्यक्षरों का उच्चारण ही व्यर्थ हो जाता है किन्तु आयादेश के लिए तो संध्यक्षर निमित्त है। निष्कर्षतः उपदेश सामर्थ्य से संध्यक्षरों को गुण की निवृत्ति हो सकती है उसके लिए प्रकृत सूत्र में इक् ग्रहण करना आवश्यक नहीं।

इक् ग्रहण के तृतीय प्रयोजन - व्यञ्जन को गुण निवृत्ति का खण्डन करते हुए डित् करण को व्यापक माना गया है इस विषय में भाष्यकार कहते हैं कि सप्तम्यां जनेर्डः (३.२.९७.) के डित् करण को

ज्ञापक मानने पर भी गमेर्डो वक्तव्यः का डित् करण इस दृष्टि से सार्थक है। यदि गम् से डित् प्रत्यय न करते तो गम् के मकार को गुण होकर म के स्थान पर स्थान साम्य से ओकार रुप गुण हो जाता और फलस्वरुप गुरुतल्पगः आदि उदाहरण सिद्ध न होते। अतः टि लोप करना आवश्यक था। टि लोप के लिए डित् प्रत्यय आवश्यक था। इस प्रकार व्यञ्जन को गुण की निवृत्ति के लिए इको गुणवृद्धी में इक् ग्रहण आवश्यक है।

उदाहरण एवं परिभाषा सूत्र की व्याप्ति - सूत्र में इक् ग्रहण की सार्थकता सिद्ध होने के पश्चात् सूत्रार्थ पर विचार करना आवश्यक है। सूत्र में यदि इक् पद आवश्यक है तब गुण और वृद्धि केवल इक् को ही होगी यह सूत्रार्थ निष्पन्न होगा। इस स्थिति में द्यौः, पन्थाः, सः इमम् इत्यादि प्रयोगों में क्रमशः दिव औत् (७.१.८४.) से दिव् के व को औ आदेश न होकर इकार को होगा। पन्थाः में पथिमथ्यृभुक्षामात् (७.१.८५.) से पथिन् के न को आकार आदेश, न होकर इकार को होगा। सः में इक् न होने के कारण त्यदादीनामः (७.२.१०२.) से अकार नहीं हो पाएगा। इमम् में भी अकार आदेश इमम् के इक् को होने लगेगा। इन सभी अनुपपत्तियों के निवारणार्थ भाष्यकार व वृत्तिकारों ने परिभाषा सूत्र की व्याख्या में परिष्कार किया है।

सूत्रार्थ समीक्षा - पूर्व सूत्रों से गुण और वृद्धि पदों की अनुवृत्ति होने पर भी सूत्रकार पुनः गुण और वृद्धि पदों का ग्रहण सूत्र में करते हैं। इससे प्रतीत होता है कि सूत्रकार को दो बार गुण वृद्धि पदों की आवश्यकता है। इक् के स्थान पर गुण वृद्धि होती है - यही परिभाषार्थ अभीष्ट होता तो 'इकः' सूत्रारम्भ पर उसमें पूर्व सूत्रों से गुण वृद्धि पदों की अनुवृत्ति कर लेते किन्तु सूत्र में पुनः गुण वृद्धि पदों के ग्रहण सामर्थ्य से यह सिद्ध है कि सूत्रकार को सामान्य रुप से गुण और वृद्धि अभीष्ट नहीं है। अपितु गुण वृद्धि शब्दों के द्वारा विधीयमान गुण वृद्धि अभीष्ट है।

प्रकृत सूत्र पर पठित वार्तिक 'संज्ञया विधाने नियमः' के भाष्य में भाष्यकार लिखते हैं - "संज्ञया गुणवृद्धीशब्दाभ्यां ये विधीयन्ते तेषु नियमः।" प्रदीपकार कैयट ने इस भाष्य पंक्ति को टिप्पणी देते हुए कहा है - "गुणवृद्ध्यनुवृत्त्यैव गुणवृद्ध्योरिकः सिद्धत्वाद्विदितीयं गुणवृद्धिग्रहणमाश्रितगुणवृद्धिशब्दव्यापारार्थम विज्ञायते। तेन गुण इत्येवं यो गुणः। वृद्धिरित्येवं या वृद्धिरिति विज्ञायते। अथवा गुणवृद्धिमात्रग्रहणे गुणवृद्ध्यधिकारादेव सिद्धे पुनर्गुणवृद्धिग्रहणं गुणवृद्धिशब्दाव्यापाराश्रयणार्थ विज्ञायते।" इसका आशय यह है कि गुण वृद्धि पदों की अनुवृत्ति के द्वारा ही गुणवृद्धि की इक् स्थानीयता सिद्ध हो सकती थी तथापि पुनः गुणवृद्धि ग्रहण गुणवद्धि के अर्थ के बोधक हैं। अनुवर्त्यमान गुण वृद्धि पद स्वरुप वाचक होते हैं। (अनुवृत्तसंज्ञापदानां स्वरुपपरकत्वम्) इस प्रकार संपूर्ण सूत्र का अभीष्ट अर्थ निष्पन्न होता है।[२]

परिभाषा का फल - प्रकृत परिभाषासूत्र की प्रवृत्ति ऐसे विधिसूत्रों में ही होती है जहाँ गुण या वृद्धि पदों के उच्चारण पूर्वक गुण या वृद्धि का विधान होता है। इसीलिए दिव औत् (७.१.८४.) त्यदादीनामः (७.२.१०२.) पथिमथ्यृभुक्षामात् (७.१.८५.) आदि सूत्रों में वृद्धि और गुण संज्ञक औकार आकार आदि का विधान होने पर भी वृद्धि और गुण पदों के उच्चारण पूर्वक विधान न होने से यह परिभाषा उपस्थित नहीं होती। दिव औत् में दिवः यह स्थान षष्ठी है। अतः अलोऽन्त्यस्य (१.१.५२.) इस परिभाषा से अन्तिम वकार को औत् आदेश हो जाता है और दिव् + सु, दिऔ + सु, इकोयणचि (६.१.७७.) मे

यणादेश करने पर द्यौः रुप सिद्ध होता है। इसी प्रकार त्यदादीनामः सूत्र (७.१.१०२.) से त्यदादियों को गुण संज्ञक अकार का विधान है किन्तु गुण पद का उच्चारण नहीं है अतः प्रकृत परिभाषा की उपस्थिति नहीं होती। यदि परिभाषा सूत्र की प्रवृत्ति त्यदादीनामः इत्यादि सूत्रों में होती अर्थात् गुण वृद्धि पदों के उच्चारण पूर्वक गुण वृद्धि के विधान में परिभाषा प्रवृत्ति को नियमित नहीं करते तो त्यदादियों में मात्र दो सर्वनामों में ही इसकी प्रवृत्ति होती। 1. द्वि में, 2. इदम् में। द्वि और इदम् इन दो सर्वनामों में ही कि दृष्टिगोचर होता है। अन्य सर्वनामों में इक् न होने से परिभाषा के प्रवृत्त होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। ऐसे विधिसूत्रों में परिभाषा सूत्र की प्रसक्ति अभीष्ट नहीं है। स्थान षष्ठी में अलोऽन्त्यस्य सूत्र के द्वारा अन्तिम वर्ण को जैसे तद् के दकार को या इदम् के मकार को अत्व (तद् + सु, तअ + सु) अतो गुण से पररुप एकादेश तदोः सः सावनन्त्ययोः (७.२.१०६.)से त को स (स + सु) सु विभक्ति प्रत्यय को रुत्वविसर्गादि कार्य होकर सः रुप सिद्ध होता है। इसी प्रकार इदम् + अम् में म को अत्व, पररुप, दश्च से द को म, अमिपूर्वः (६.१.१०७.) से पूर्वरुप होकर इमम् रुप सिद्ध होता है। उपर्युक्त उदाहरणों में यदि इकोगुणवृद्धी की प्रवृत्ति होती तो तद् में इक् न होने से सः की सिद्ध न हो पाती और इदम् में इक् के स्थान पर गुण होकर विकृत रुप सिद्ध हो जाता।

गुण - वृद्धि पदों के द्विधा ग्रहण की (1. स्वरुपपरक, 2. अर्थपरक) यही चरितार्थता है।

इकः पद की व्याख्या - सूत्र में पठित इकः पद षष्ठ्यन्त इकः पद का अनुकरण है तथा स्वरुपपरक होने से 'इकस' यह नपुंसक लिङ्ग का असन्त प्रातिपदिक है। पदम का विशेषण होने से नपुंसक लिङ्ग में है। इकस् प्रातिपदिक से सु विभक्ति होकर स्वमोर्नपुंसकात् (७.१.३३.) से सु का लोप होता है। कौमुदीकार 'इक इति षष्ठ्यन्तं पदमुपतिष्ठते' कहते हैं। इस उक्ति में इकः षष्ठ्यन्त नहीं अपितु षष्ठ्यन्त इकः पद का शब्द स्वरुपपरक प्रथमान्त अनुकरण है। यह भेदानुकरण पक्ष है। इस पक्ष में अनुकार्य से अनुकरण भिन्न होता है। अर्थात् इकः अनुकार्य का जो अर्थ होता है। वही अर्थ अनुकरण वाचक इकः का भी होता है। इसीलिए इकस् अर्थवान् होने से उसकी प्रातिपदिक संज्ञा (अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् १.२.४५.) हो जाती है। पदम् का विशेषण होने से नपुंसक लिङ्ग में सु विभक्ति और सु का लोप (स्वमोर्नपुंसकात् ७.१.३३.) होता है और इकः यह प्रथमान्त रुप सिद्ध होता है।

परिभाषा सूत्र का विधि सूत्र के साथ समन्वय - जिस स्थल पर सामानाधिकरण्य संभव है वहाँ षष्ठ्यन्त इकः पद का इगन्तस्य पदस्य इस क्रम से अन्वय होता है। उदाहरणार्थ - सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७.३.८४.) सूत्र में मिदेर्गुणः (७.३.८२.) सूत्र से गुणः पद की अनुवृत्ति होती है और इस प्रकार गुण पद का उच्चारण करते हुए सार्वधातुक या आर्धधातुक प्रत्यय के परे गुण का विधान होने के कारण इस विधिसूत्र में प्रकृत परिभाषा प्रवृत्त होती है और प्रवृत्त होकर षष्ठ्यन्त इकः पद की उपस्थिति कराती है। सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७.३.८४.) सूत्र अङ्गाधिकार में पठित होने के कारण इसमें अङ्गस्य पद भी अनुवृत्त होता है। इस प्रकार इकः और अङ्गस्य इन दोनों षष्ठ्यन्त पदों का सामानाधिकरण्य अव्वय होता है तथा इकः पद अङ्गस्य का विशेषण बनता है। येन विधिस्तदन्तस्य (१.१.७२.) सूत्र के अनुसार विशेषण वाचक पद तदन्त का बोधक होता है। अतः इकः का अर्थ इगन्तस्य होगा और संपूर्ण सूत्र का अर्थ 'इगन्तस्य अङ्गस्य गुणो भवति सार्वधातुकार्धधातुकयोः प्रत्यययोः परयोः' होगा।

इसके विपरीत मिदेर्गुण: (७.३.८२.) मृजेवृद्धि: (७.२.११४.) इत्यादि स्थलों सप सामानाधिकरण्य संभव नहीं है अत: 'मिदिमृज्योरवयवस्येक:' इस प्रकार इक: पद का अन्वय होता है। इन दोनों सुत्रों में क्रमश: गुण और वृद्धि पदों का उच्चारण करते हुए गुण और वृद्धि का विधान है। अत: प्रकृत परिभाषा प्रवृत्त होकर षष्ठ्यन्त इक: पद की उपस्थिति कराती है। दोनों विधिसूत्र अङ्गाधिकार में पठित होने से इनमें अङ्गस्य की अनुवृत्ति होती है। इक: और अङ्गस्य दोनों षष्ठ्यन्त हैं किन्तु दोनों में सामानाधिकरण्य संभव नहीं है। क्योंकि मिद् और मृज् हलन्त है इगन्त नहीं हैं। इनकी उपधा में इक है अत: सूत्र पठित मिदे: और मृजे: को अवयव षष्ठी मानना होगा। इस प्रकार संपूर्ण विधिसूत्र का अर्थ होगा - मिदेरवयवस्येको गुण: और मृजेरवयवस्येको वृद्धि:। यह वैयधिकरण्य अन्वय है।

निष्कर्षत: सूत्र पठित पदों का सामानाधिकरण्य से अन्वय संभव हो तो एक पद को दूसरे का विशेषण मानकर अभेदान्वय किया जा सकता है किन्तु जब सामानाघिकरण्य संभव न हो तो वैयधिकरण्य से अन्वय कर अर्थ बोध करना चाहिए।(सम्भवति सामानाधिकरण्य वैयधिकरण्यमन्याय्यम्)

प्रक्रिया कौमुदीकार का मत - इस सूत्र की वृत्ति में प्रक्रिया कौमुदीकार श्री रामचंद्र शेष लिखते हैं - 'गुणवृद्धी स्वसंज्ञया विधीयमाने इक एव स्थाने स्त:।' इसकी व्याख्या में प्रसादकार श्री विट्ठल शेष 'अनियम प्रसङ्गे नियमार्थम्' कहकर 'इको गुणवृद्धी' को नियमसूत्र बताते हैं।[३] वस्तुत: यह मत भाष्यविरुद्ध होने से स्वीकार्य नहीं है। क्योंकि भाष्य के मत में यह परिभाषा स्थानिमियमार्था न होकर पदोपस्थापिका परिभाषा है। प्रकृत सूत्र में भाष्यकार ने तीन पक्ष उपस्थित किए हैं - १. तच्छेषपक्ष, २. तदपवाद पक्ष, ३. पदोपस्थिति पक्ष। इनमें तच्छेष और तदपवाद पक्षों का प्रत्याख्यान कर तृतीयपक्ष (पदोपस्थिति पक्ष) को सिद्धान्त पक्ष के रुप में स्थापित किया है।

शब्दरत्नकार हरिदीक्षित भी भाष्यमत के समर्थक हैं। वे कहते हैं कि महोजी दीक्षित ने पूर्व सूत्रों से गुण और वृद्धि पदों की अनुवृत्ति करते हैं। सूत्र पठित गुण-वृद्धी पद को भी यथावत् स्वीकृत किया है। वे चाहते तो सूत्र पठित गुणवृद्धी पद का प्रत्याख्यान कर सकते थे किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया क्योंकि अनुवृत्ति एक बार होती। अभीष्ट अर्थ की निष्पत्ति के लिए अनुवृत्त पद गुण और वृद्धि में लक्षणा करनी पड़ती। लक्षणा के द्वारा गुणवृद्धी पद को एक बार शब्द परक और एकबार अर्थपरक मानना पड़ता। शब्द परक मानकर 'गुणवृद्धिशब्दकरणकविधानाधिकरणे ' अर्थात् 'गुणवृद्धिशब्दोच्चारणेन यत्र गुणवृद्धिविधानं क्रियते तत्र' इस प्रकार अर्थबोध होता। अर्थपरक गुणवृद्धी पद को विधेयपरक मानकर 'गुणवृद्धी स्त:' इस प्रकार संपूर्ण सूत्रार्थ निष्पन्न होता। इस प्रक्रिया में लक्षणा का आश्रय करना पड़ता। दूसरा सूत्र पठित गुणवृद्धी पद का प्रत्याख्यान करना तथा पूर्व सूत्रों से गुणवृद्धी की अनुवृत्ति कर उसका द्विरुच्चारण करना, एक को शब्द परक दूसरे को अर्थपरक मानना इत्यादि गौरव करना पड़ता। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में सामान्य विद्यार्थी को सूत्रार्थ बोध होना दुष्कर हो जाता। अत: भट्टोजी दीक्षित ने सर्वसामान्य विद्यार्थी को सहजबोधगम्य व्याख्या प्रस्तुत की है।[४] इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि 'स्व रुपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' (१.१.६८.) इस सूत्र के अनुसार शब्दशास्त्र में कोई भी शब्द अपने स्वरुप का वाचक होता है किंतु संज्ञा शब्द अर्थ के अर्थात् संज्ञी के बोधक होते हैं। प्रकृत परिभाषासूत्र की वृत्ति में मनोरमाकार श्री भट्टोजी दीक्षित तथा शब्दरत्नाकार श्री हरिदीक्षित ने अनुवर्तमान गुण और वृद्धि - इन संज्ञा पदों को स्वरुप परक माना है और सूत्र पठित गुण वृद्धि पदों को अर्थपरक कहा है जो स्वंरुपम्० सूत्र के अर्थ से

विरुद्ध प्रतीत होता है। महाभाष्य के टीकाकारों ने इस अनुपपत्ति का समाधान किया है। संबंधमनुवर्तिष्यते - 'वृद्धिरादैच्' । 'अदेङ्गुणः' । वृद्धिरादैच् । ततः 'इको गुणवृद्धी' इति । गुणवृद्धिग्रहणमनुवर्त्तते आदैजदेङ्ग्रहणं 'निवृत्तम्' इस भाष्योक्ति की व्याख्या में प्रदीपकार कैयट कहते हैं कि अदेङ्गुणः में अनुवृत्त होने वाला वृद्धि पद आदैच् रुप अर्थ से सम्बद्ध है अतः वह अदेङ् से सम्बद्ध नहीं हो सकता। अदेङ्गुणः के बाद इको गुणवृद्धी में वह वृद्धि पद अनुवृत्त होता है तब वह अपने संज्ञी रुप आदैच् का त्याग कर देता है। जिस प्रकार कोई वणिक् समूह घने जंगल को पार करते समय रक्षा सैनिकों को साथ लेकर चलता है, दुर्गम मार्ग पार हो जाने के बाद उन रक्षा सैनिकों को वापस भेज देता है। उसी प्रकार अदेङ् गुणः में अनुवृत्त वृद्धि पद संज्ञावाचक होने से आदैच् का बोधक था किन्तु इको गुणवृद्धी में वह मात्र स्वरुप परक रह गया। आदैज्ग्रहणसम्बद्धं वृद्धिग्रहणमदेङ्गुण इत्यत्रानुवर्तते, तेनाऽदेङ्भिर्न संबध्यते। इह त्वनुवृत्तमादैचो जहाति। कान्तारोत्तरणाय सार्थस्येव, त्यागोपादाने। (सार्थो नाम वणिक्समूहः। कान्तारोत्तरणाय सार्थो रक्षापुरुषान् सहनयति, उत्तीर्णे दुर्गमार्गे च तान् त्यजतीत्येवमत्रापि ज्ञेयम्।) प्रदीप म. भा. - १.१.३.। आगन्तूनामन्ते निवेश इति न्यायेनादेङ्सूत्रे गुणपदोत्तरं वृद्धिपदोपस्थित्या तत्साहचर्येण तत्र सूत्रे स्वरुपपरत्वं तस्य, उत्तरत्र तु योग्यतयाऽर्थपरत्वम्। - उद्योत म.भा. (१.१.३.)।

सार रुप में यह परिभाषा वहीं प्रवृत्त होती है जहाँ गुण या वृद्धि पदों के द्वारा गुण या वृद्धि का विधान हो तथा दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि उस सूत्र में स्थानी का निर्देश न हो। जिस सूत्र में गुण वृद्धि का उच्चारण कर, गुण वृद्धि का विधान तो है किन्तु स्थानी की आकांक्षा नहीं है अर्थात् स्थानी का स्पष्ट निर्देश है वहाँ यह परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती। उदाहरणार्थ अचोऽञ्णिति (७.२.११५.) तथा ओर्गुणः (६.४.१४६.) में अच् और उ का स्थानी के रुप में स्पष्ट निर्देश है अतः इनमें स्थानीविषयक कोई आकांक्षा उत्थित नहीं होती। 'श्रुतिलिङ्गवाक्य प्रकरण स्थान समाख्यानां पारदौर्बल्यमर्थ विप्रकर्षात्' इसी मीमांसोक्त न्याय के अनुसार श्रुति प्रमाण की अपेक्षा लिङ्ग प्रमाण दुर्बल होता है। प्रकृत परिभाषा की प्रवृत्ति लिङ्ग प्रमाण पर आधारित है। गुण और वृद्धि पद इसके लिङ्ग हैं। जिन सूत्रों में गुण या वृद्धि का स्थानी साक्षात् श्रुत या पठित है वहाँ श्रुत प्रमाण लिङ्ग प्रमाण से प्रबल होने के कारण लिङ्ग प्रमाण से प्रवृत्त होने वाली परिभाषा नहीं आती।

अलोऽन्त्यस्य (१.१.५१.) परिभाषा सूत्र के साथ इको गुणवृद्धी (१.१.३.)की एक वाक्यता - उपर्युक्त विवेचन में यह प्रतिपादित किया गया कि स्थानीविषयक आकांक्षा होने पर प्रकृत परिभाषा उपस्थित होती है। स्थानी विषयक आकांक्षा को शान्त करने के लिए सूत्रकार ने अलोऽन्त्यस्य (१.१.५१.) परिभाषा सूत्र का आरंभ किया है जिसके अनुसार सभी विधियाँ अन्तिम अल् को होती हैं। प्रकृत परिभाषा के अनुसार गुण वृद्धि इक् के स्थान पर ही होते हैं। इन दोनों परिभाषा सूत्रों के मध्य वाक्यार्थ की दृष्टि से किस प्रकार संबंध स्थापित किया जाएगा यह विचारणीय है। यदि प्रकृत परिभाषा को अलोऽन्त्यस्य का पूरक या शेष मानें तो दोनों में अक वाक्यता होगी और अर्थ होगा - कोई भी विधि अन्त्य अल् के स्थान पर होती है किन्तु गुण वृद्धि इक् रुप अन्त्य अल् के स्थान पर होंगे। यदि दोनों परिभाषा सूत्रों में एकवाक्यता न कर भिन्न-भिन्न वाक्यों से अर्थ बोध करें तब अलोऽन्त्यस्य के अनुसार सभी विधियाँ अन्त्य अल् के स्थान पर होती हैं। इको गुणवृद्धी का अर्थ होगा गुण और वृद्धि इक् के स्थान पर होती हैं चाहे वह इक् अन्त्य हो या अनन्त्य। अर्थात् गुण वृद्धि रुप आदेश इक् के स्थान पर ही होंगे। इस पक्ष में इको गुणवृद्धी अलोऽन्त्यस्य का अपवाद कहा जाएगा।

तच्छेष एवं तदपवाद - प्रक्रिया कौमुदीकार तथा प्रसादकार ने दोनों परिभाषासूत्रों को नियम सूत्रों के समान एक-दूसरे का पूरक माना है और उनमें विशेषण विशेष्य भाव में संबंध स्थापित किया है। यह विशेषण विशेष्य भाव ही भाष्यकार के शब्दों में तच्छेष पक्ष है। तच्छेष का अभिप्राय है सः (अलोऽन्त्यस्येति नियमः) शेषः (विशेषणमस्य इको गुणवृद्धी इति नियमस्य ।) अथवा 'तस्य अलोऽन्त्यस्येति नियमस्य शेषः (विशेषणम्)' इस प्रकार तच्छेष पक्ष में बहुब्रीहि अथवा तत्पुरुष समासपरक विग्रह कर अर्थबोध होता है।

तदपवाद - पक्ष में इको गुणवृद्धी परिभाषा सूत्र अलोऽन्त्यस्य का अपवाद माना जाता है। इन दोनो पक्षों में अन्तर यह है कि तच्छेष पक्ष में दोनों परिभाषा सूत्र साथ-साथ उपस्थित होते हैं और सम्मिलित रुप से यह अर्थ बोध कराते हैं कि षष्ठी निर्देश के द्वारा कहा गया कार्य अन्तिम अल् को होता है किन्तु गुण और वृद्धि अन्त्य इक् रुप अल् के स्थान पर ही होंगे। इस प्रकार अर्थबोध होने से अनेक प्रयोगों में अभीष्ट रुप की सिद्धि न हो पाएगी। जैसे मिदेर्गुणः (७.३.८२.) में मिद् धातु के अन्त में इक् न होने से गुण प्राप्त नहीं होगा। मिद् में इकार को गुण की प्राप्ति हेतु मिदेर्गुणः सूत्र में मिदेरिकः गुणः अर्थात् मिद् के इक् को गुण के विधान हेतु स्वतंत्र वचनारम्भ करना पड़ेगा। मृजेवृद्धिः (७.२.११४.) में भी मृज् के इक् को वृद्धि हेतु वचनारम्भ करना होगा क्योंकि मृज् के अन्त में इक् नहीं है। इसी प्रकार पुगन्तलघूपधस्य (७.३.८६.) सूत्र में इकः पद का उच्चारण करना होगा। अन्यथा सेधति इत्यादि उदाहरणों में इक् अन्त में न होने से गुण नहीं हो पाएगा। इसी प्रकार लिट् के परे ऋच्छ् धातु को विहित गुण (ऋच्छत्यृताम् - ७.४.११.) भी नहीं हो पाएगा। क्योंकि ऋच्छ् धातु के अन्त में इक् नहीं है अतः इस सूत्र में इकः पद पढ़ना पड़ेगा। ऋदृशोऽङि गुणः (७.४.१९.) में इकः पद का ग्रहण करना पड़ेगा। दृश् में भी ऋकार अन्त में नहीं है। क्षिप्र और क्षुद्र शब्दों को गुण विधान करने वाले सूत्र 'स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः' (६.४.१५६.) में भी इकः पद का ग्रहण करना पड़ेगा क्योंकि क्षिप्र और क्षुद्र के अन्त में इक् वर्ण नहीं है। अतः अन्त को कहा गया गुण नहीं हो सकता।

[वृद्धिगुणावलोन्त्यस्येति चेन्मिदिमृजिपुगन्तलघूपधर्च्छिदृशिक्षिप्रक्षुद्रेष्विग्ग्रहणम् ॥

वृद्धिगुणावलोन्त्यस्येति चेन्मिदिमृजिपुगन्तलघूपधर्च्छिदृशिक्षिप्रक्षुद्रेष्विग्ग्रहणं कर्तव्यम्। 'मिदेर्गुणः' (७.३.८२.) 'इक इति वक्तव्यम्' अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति। 'मृजेर्वृद्धिः' (७.२.११४.) 'इक इति वक्तव्यम्' अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति। पुगन्तलघूपधस्य गुणः (७.३.८६.) 'इक इति वक्तव्यम्' अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति। ऋच्छेर्लिटि गुणः (७.४.११.) 'इक इति वक्तव्यम्' अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति। 'ऋदृशो ङि गुणः'(७.४.१६.) 'इक इति वक्तव्यम्' अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति। क्षिप्रक्षुद्रयोर्गुणः, (६.४.१५६.) 'इक इति वक्तव्यम्' अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति। **]**

यह ध्यान रहे कि तच्छेष पक्ष में उपर्युक्त आपत्तियाँ इसलिए उपस्थित होती हैं कि अलोऽन्त्यस्य और इको गुणवृद्धी दोनों परिभाषा सूत्र साथ-साथ उपस्थित होते हैं। इसीलिए मिदेर्गुणः आदि में अन्त में इक् न होने से गुण की प्राप्ति नहीं होती। तच्छेपत्व के कारण अलोऽन्त्यस्य परिभाषा अकेली प्रवृत्त नहीं हो सकती और न ही इको गुणवृद्धी स्वतंत्र रुप से प्रवृत्त होकर अन्त या अनन्त में विद्यमान इक् को गुण कर सकती है।

इस पक्ष में दूसरा दोष यह है कि दोनों परिभाषासूत्रों में एकवाक्यता द्वारा यह प्रतिपादित किया गया कि गुण और वृद्धि अन्तिम इक् को होते हैं। इस स्थिति में धातुओं के अन्तिम वर्ण इक् नहीं है उनमें यदि गुण की प्राप्ति है तो वह गुण सर्वादेश हो सकता है। जैसे याता वाता में या और वा धातुओं को सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७.३.८४.) से सम्पूर्ण धातु को गुणादेश हो जाएगा। अलोन्त्यस्य की षष्ठी का सम्बन्ध इकः के साथ हो जाने से याता वाता आदि उदाहरणों में दोनों परिभाषा सूत्रों का प्रसङ्ग नहीं है। ये परिभाषा सूत्र ऐसे स्थलों पर ही प्रवृत्त होंगे जहाँ अन्त्य वर्ण इक् है। याता वाता में अन्त में इक् नहीं है तथा सार्वधातुकार्धधातुकयोः सूत्र की प्रवृत्ति है। इस सूत्र में अङ्गस्य का अधिकार है अतः संपूर्ण अङ्ग को गुण की प्राप्ति संभाव्य है। वस्तुतः यह कोई दोष नहीं है क्योंकि अलोऽन्त्यस्य की षष्ठी जैसे अन्त्य इक् के साथ अन्वित होती है उसी प्रकार अङ्गस्य यह स्थान षष्ठी भी अन्त्य इक् के साथ अन्वित हो सकती है। इस प्रकार षष्ठी विभक्तियाँ अन्त्य इक् के साथ अन्वित हो जाने से जो अङ्ग इगन्त नहीं है वहाँ षष्ठी ही नहीं है। तब याता वाता सदृश्य उदाहरणों में गुण की प्राप्ति ही नहीं है, सर्वादेश का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

सिद्धान्त रुप से यह कहा जा सकता है कि तच्छेष पक्ष में जो दोष परिगणित किए है (मिदेर्गुणः इक इति वक्तव्यम् इत्यादि) उन्हीं का यह 'सर्वादेशप्रसङ्गश्चानिगन्त्यस्य' कहकर प्रयोजन प्रतिपादित किया है। अर्थात् तच्छेष पक्ष में यह दूसरा दोष नहीं है अपितु प्रथम् दोष का ही पूरक है। इस दोष को इस प्रकार उपस्थापित किया जा सकता है। मिदेर्गुणः में मिद् के इक् को गुण का विधान करने से अन्तिम दकार को गुण नहीं होगा और अलोन्त्यस्य के वचन से अन्तिम अल् को गुण विधान होने से इक् को गुण नहीं होता। फिर भी मिदेर्गुणः में सूत्रकार ने गुण विधान किया। तब सूत्रकार के वचन सामर्थ्य से यह गुण सम्पूर्ण मिद् के स्थान पर हो जाएगा।

[सर्वादेश प्रसङ्गश्चानिगन्तस्य ।।

सर्वादेशश्च गुणोऽनिगन्तस्य प्राप्नोति-याता वाता। किं कारणम् ? 'अलोन्त्यस्ये' ति षष्ठी चैव ह्यन्त्यमिकमुपसङ्क्रान्ता। अङ्गस्येति च स्थानषष्ठी। तद्यदिदानीमनिगन्तमङ्गं तस्य गुणः सर्वादेशः प्राप्नोति।]

तदपवाद पक्ष - तच्छेष पक्ष में उपर्युक्त दोषों की उद्भावना होने से यदि तदपवाद पक्ष को स्वीकार किया जाए अर्थात् इको गुणवृद्धी को अलोऽन्त्यस्य का अपवाद मानें तो सूत्रार्थ होगा कोई भी षष्ठी निर्दिष्ट कार्य अन्तिम अल् को होता है (अलोऽन्त्यस्य) किन्तु गुण और वृद्धि इक् मात्र के स्थान पर होती है चाहे वह इक् अन्त में हो या अनन्त में। इस पक्ष में मिदेर्गुणः इत्यादि पूर्वोक्त दोषों के परिहार तो संभव हैं किन्तु जुसिच (७.३.८३.) इत्यादि सूत्रों में परिभाषा सूत्र की अतिप्रसक्ति हो सकती है। उदाहरणार्थ - जुसि च (७.३.८३.) से जुस् के परे विधीयमान गुण जिस प्रकार अजुहवुः अबिभयुः इत्यादि स्थलों पर होता है उसी प्रकार अनेनिजुः, पर्यवेविषुः इत्यादि स्थलों पर भी प्राप्त हो जाएगा। इन प्रयोगों में जुस् के परे धातु का इक् तो है किन्तु वह अन्त में नहीं है तथापि अपवाद पक्ष में अनन्त इक् में भी गुण प्रसक्ति हो जाएगी। इसी प्रकार सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७.३.८४.) से कर्त्ता, हर्त्ता, नयति, तरति, भवति इत्यादि इगन्त स्थलों में गुण होता है इसी तरह ईहिता-इहितुम्-इहितव्यम् आदि में भी प्राप्त हो सकता है।

ह्रस्वस्य गुणः (७.३.१०८.) सूत्र से विहित गुण जिस प्रकार हे अग्ने ! हे वायो ! आदि उदाहरणों में होता है उसी प्रकार हे अग्निचित्, हे सोमसुत् में भी प्राप्त होने लगेगा। जसि च (७.३.१०९.) से विहित गुण जैसे अग्नयः, वायवः आदि प्रयोगों में होता है वैसे ही अब तदपवाद पक्ष में अग्निचितः, सोमसुतः आदि प्रयोगों में दृश्यमान इक् को भी होने लगेगा। ऋतो ङि सर्वनाम स्थानयोः (७.३.११०.) से ङि और सर्वनामस्थान के परे रहते ऋकार को होने वाला गुण जैसे कर्त्तरि-कर्त्तारौ-कर्त्तारः इत्यादि स्थलों पर होता है वैसे ही सुकृति-सुकृतौ-सुकृतः में भी हो सकता है क्योंकि इनमें भी ऋकार है। घिसंज्ञक को ङित् के परे होने वाला गुण (घेर्ङिति - ७.३.१११.) अग्नये, वायवे आदि में होता है। अब वह गुण अग्निचिते-सोमसुते में भी हो जाएगा क्योंकि इनमें भी इक् विद्यमान है। ओर्गुणः (६.४.१४६.) सूत्र से ब्राभ्रव्यः, माण्डव्यः आदि प्रयोगों में गुण होता है अब इग्मात्र को गुण किए जाने पर (चाहे वह इक् अन्त में हो या अनन्त में) सौश्रुतः आदि प्रयोगों में भी उकार को गुण प्राप्त होगा।

[इङ्मात्रस्येति चेज्जुसिसार्वधातुकार्धधातुकह्रस्वाद्योर्गुणेष्वनन्त्यप्रतिषेधः]

वस्तुतः उपर्युक्त वार्त्तिक में परिगणित दोषों का निवारण किया जा सकता है। अपवाद पक्ष में यदि अन्त्य और अनन्त्य दोनों प्रकार के इक् को गुण प्राप्त हो तो पुगन्त लघूपध० (७.३.८६.) सूत्र में पुगन्त और लघूपध शब्द व्यर्थ हो जाएंगे। व्यर्थ होने पर उनका अन्य कोई प्रयोजन सिद्ध न होने से दोनों पदों का नियमार्थ उपयोग संभव होगा। नियम का स्वरुप इस प्रकार होगा - अन्त्य इक् को सार्वधातुक या आर्धधातुक प्रत्यय के परे यदि गुण प्राप्त हो तो मात्र पुगन्त अथवा लघूपध धातुओं को ही हो अन्य को नहीं। अथवा सार्वधातुक या आर्धधातुक प्रत्यय के परे प्राप्त होने वाला गुण केवल पुगन्त या लघूपध धातुओं को ही होता है। इसी प्रकार दोनों प्रकारों से नियम ज्ञापित होता है। इस नियम के परिणामस्वरुप ईहिता-ईहितुम्-ईहितव्यम् इत्यादि प्रयोगों में सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७.३.८४.) से प्राप्त गुण की निवृत्ति हो जाएगी क्योंकि ये प्रयोग पुगन्त नहीं हैं और लघूपध भी नहीं हैं। तथापि ह्रस्वस्य गुणः (७.३.१०८.) आदि सूत्रों से जो गुण की अतिप्रसक्ति बताई गई उसका निवारण उक्त नियम से संभव नहीं है।

पुगन्त और लघूपध से ज्ञापित होने वाला नियम सार्वधातुक या आर्धधातुक प्रत्यय के परे रहते प्राप्त होने वाले गुण के विषय में ही प्रवृत्त होता है। क्योंकि वही गुण प्राकरणिक है। हरवस्य गुणः (७.३.१०८.) से प्राप्त गुण में सार्वधातुक या आर्धधातुक की निमित्तता नहीं है। अतः अपवाद पक्ष में जिस प्रकार हे अग्ने, हे वायो ! में गुण होता है उसी प्रकार हे अग्निचित्, हे सोमसुत् में भी इक् को गुण की प्रसक्ति यथावत् बनी रहेगी। इसी प्रकार जुस् प्रत्यय के परे विहित गुण (जुसि च - ७.३.८३.) उपर्युक्त नियम के अन्तर्गत नहीं आता अतः अनेनिजुः, पर्यविविषु इत्यादि प्रयोगों में अनत्य इक् को गुण की प्राप्ति होगी।

इस प्रकार अलोऽन्त्यस्य (१.१.४२.) और प्रकृत परिभाषा अपने - अपने विषयों में चरितार्थ होती है तब परस्पर निरपेक्ष रुप से कार्य करती है किन्तु जब एक ही स्थल पर दोनों की युगपत् प्रवृत्ति होती है तब दोनों परिभाषाओं में परस्परापेक्षा होना आवश्यक नहीं है। दोनों परिभाषाओं का एक विषय में सन्निपात होने पर दोनों में विशेषण विशेष्य भाव होता है। विशेषण विशेष्य भाव से दोनों परिभाषाओं

में शेष शेषि भाव की कल्पना करना अथवा उत्सर्ग अपवाद भाव की प्रतीति करना उचित नहीं है। (परस्परानपेक्षयोः स्वस्वनिमित्तप्रयुक्तसन्निधानयोर्द्वयोः परिभाषयोः प्रदेशेषु स्वस्वकार्यप्रतिपादनम्। तत्र यदि कथंचिदेकविषये सन्निपातो भवति, नैतावता परस्परापेक्षा भवतीत्यर्थः। - कैयट - १.१.३.)

क्रोष्ट्रीय वैयाकरणों का मत - कतिपय आचार्यों के अनुसार भाष्यकार ने इको गुणवृद्धी को अलोऽन्त्यस्य का न तो तच्छेष कहा है और न तदपवाद। अपितु यह स्वतंत्र परिभाषा सूत्र है, अलोऽन्त्यस्य सूत्र से इसका कोई संबंध नहीं है। (एवं तर्हि नायं तच्छेषः नापि तदपवादः। अन्यदेवेदं परिभाषाऽन्तरमसम्बद्धमनया परिभाषया - म. भा.) कोष्ट्रीय वैयाकरण भी इस परिभाषा की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि विप्रतिषेध न्याय से अलोऽन्त्यस्य का बाध होकर इको गुणवृद्धी से इक् को गुण और वृद्धि होती है। यदि इनमें शेष शेषि भाव होता तो दोनों सूत्रों में अभेद हो जाता और तब एक ही सूत्र में विप्रतिषेध या विरोध की कल्पना संभव न थी। इसी प्रकार इको गुणवृद्धी अपवाद होता तो अलोऽन्त्यस्य और इको गुणवृद्धी में उत्सर्ग-अपवाद भाव होता। उत्सर्ग-अपवाद भाव में दोनों सूत्रों में तुल्य बलत्व न होने से विप्रतिषेध या विरोध की कल्पना उचित नहीं है।

कोष्ट्रीय वैयाकरणों ने दोनों परिभाषाओं में विप्रतिषेध माना है जो युक्ति संगत है। दो सूत्रों में विप्रतिषेध तभी माना जाता है जब दोनों पृथक्-पृथक् या स्वतंत्र रुप से चरितार्थ होते हैं। इसके पश्चात् किसी विषय में दोनों की युगपत् प्रवृत्ति होती है। प्रकृत प्रसंग में 'राज्ञः क च' (४.२.१४७.) सूत्र से सिद्ध होने वाले राजकीयम् प्रयोग में अलोऽन्त्यस्य चरितार्थ है। इसमें राजन् शब्द से छ प्रत्यय और राजन् को क आदेश होता है। अलोऽन्त्यस्य की सहायता से क आदेश राजन् के अन्तिम नकार के स्थान पर होता है। छ के स्थान पर ईय आदेश होने पर राजकीयम् रुप सिद्ध होता है। इको गुणवृद्धी सूत्र की चयनम्-चायकः, लवनम्-लावकः में चरितार्थता है। चि + ल्युट्, चि + ण्वुल् तथा लू + ल्युट्, लू + ण्वुल् में अलोऽन्त्यस्य की प्रसक्ति ही नहीं है। यहाँ इको गुणवृद्धी से इ को गुण और वृद्धि होकर इष्ट रुप सिद्ध होते हैं। मेद्यति, मार्ष्टि उदाहरणों में मिद् + यति, मृज् + ति में मिद् को गुण और मृज् को वृद्धि प्राप्त है। (सूत्र मिदेर्गुणः और मृजेर्वृद्धिः से) यहाँ दोनों परिभाषा सूत्र तुल्य बल हैं और युगपत् प्रवृत्त हो रहे हैं। अतः विप्रतिषेध न्याय से इको गुणवृद्धी से कार्य होता है।

इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि विप्रतिषेधे परं कार्यम् (१.४.२.) के अनुसार पर सूत्र से कार्य होना चाहिए किन्तु यहाँ इको गुणवृद्धी पूर्व सूत्र है और अलोऽन्त्यस्य पर सूत्र है। तब इको गुणवृद्धी इस पूर्व सूत्र की प्रवृत्ति कर कैसे इष्ट रुप सिद्ध किया गया है ? इसका समाधान करते हुए भाष्यकार स्पष्ट रुप से कहते हैं :- इष्टवाची पर शब्दः विप्रतिषेधे परं यदिष्टं तद्भवतीति। यहाँ पुनः यह आशङ्का उपस्थित होती है कि अलोऽन्त्यस्य और इको गुणवृद्धी का एक ही स्थल में प्रवृत्त होना क्या दोनों सूत्रों में विप्रतिषेध माना जाए ? एक स्थानी को दो विभिन्न सूत्रों से विभिन्न कार्यो की प्राप्ति होने पर विप्रतिषेध मानना युक्ति संगत हो सकता है। प्रकृत स्थल पर एक स्थानी को दो आदेशों की प्राप्ति दृष्टिगोचर नहीं हो रही है। जैसे मेद्यति में मिद् धातु में गुण रुपी आदेश के दो स्थानी हैं - १. इकार और २. दकार। इस प्रकार एक आदेश और दो स्थानी होने से द्विकार्य योगो हि विप्रतिषेधः प्रतीत नहीं हो रहा है। इस आशङ्का का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि एक स्थानी को दो कार्यो की प्राप्ति ही विप्रतिषेध नहीं है अपितु दो सूत्रों की एक प्रयोग में प्रवृत्ति संभव न होना भी विप्रतिषेध है। जिस प्रकार एक स्थानी को युगपत् दो

आदेश संभव नहीं है उसी प्रकार दो स्थानियों को एक आदेश संभव नहीं है। वृक्षेभ्यः-प्लक्षेभ्यः आदि उदाहरणों में (वृक्ष + भ्यस्, प्लक्ष + भ्यस्) सुपि च (७.३.१०२.) से होने वाले दीर्घ का स्थानी अकार है और 'बहुवचने झल्येत्' (७.३.१०३.) से होने वाले एत्त्व का स्थानी भी अकार ही है। यहाँ एक स्थानी को युगपत् दो आदेश किया जाना असंभव है। उसी प्रकार मेघति-मेघतः आदि उदाहरणों में इकार और दकार इन दो स्थानियों को गुण रुप एक आदेश होना भी असंभव है।

इस प्रकार कोष्ट्रीय वैयाकरणों के अनुसार दोनों परिभाषाओं को तुल्यबल मानकर विप्रतिषेधे न्याय से इष्ट रुप सिद्ध हो सकता है।

सिद्धान्ततः उपर्युक्त कोष्ट्रीय वैयाकरणों के मत से भाष्यकार सहमत नहीं हैं क्योंकि अनेनिजुः, पर्यविविषुः इत्यादि उदाहरणों में जुसि च (७.८.८३.) सूत्र से प्राप्त गुण का निवारण इस पक्ष में संभव नहीं है।

पदोपस्थिति पक्ष - अलोऽन्त्यस्य और इको गुणवृद्धी के परस्पर संबंध पर विचार करते हुए :- १. तच्छेष पक्ष, २. तदपवाद पक्ष पर गुण दोषों की विस्तृत समीक्षा करने के पश्चात् कोष्ट्रीय मत की चर्चा की गई। असम्बद्ध परिभाषा पक्ष अर्थात् इको गुणवृद्धी को स्वतंत्र परिभाषा सूत्र मानकर अलोऽन्त्यस्य से उसे असम्बद्ध मानना इन सभी पक्षों को पूर्व पक्ष में रखते हुए भाष्यकार ने सिद्धान्त रुप से पदोपस्थिति पक्ष की उद्भावना की है। (एवं च क्रोष्ट्रीयमतमसंबद्धपरिभाषान्तरपक्षश्च नोपपद्यते - कैयट) भाष्य के शब्दों में 'एवं तर्हि वृद्धिर्भवति गुणो भवतीति यत्र ब्रूयादिक इत्येतत्तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यम्' इसका अभिप्राय है - गुण और वृद्धि शब्दों के द्वारा जहाँ गुण और वृद्धि का विधान होता है वहाँ 'इकः' षष्ठ्यन्त पद की उपस्थिति होती है। गुण वृद्धि विधायक विधि सूत्रों में एक षष्ठ्यन्त पद पूर्वपठित होता है। परिभाषा के बल से दूसरा षष्ठ्यन्त इकः पद भी प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार दो षष्ठ्यन्त पदों में इच्छानुसार विशेषण विशेष्य भाव कल्पित कर लक्ष्यानुसारी अर्थ बोध किया जा सकता है। विशेषण विशेष्य भाव की कामचार या इच्छानुसार व्यवस्था से पूर्वोक्त दोनों पक्षों में संभाव्य दोषों का निवारण हो सकता है। जैसे - तच्छेष पक्ष में मिद्, मृज्, पुगन्त् धातु, लघूपध धातु, ऋच्छ्, दृश्, क्षिप्र और क्षुद्र शब्दों को गुण या वृद्धि विधान करने वाले सूत्रों में इकः पद विशेष्य और मिदादि विशेषण होंगे। तब सूत्रार्थ होगा - मिद् के इक् के स्थान पर या मृज् के इक् के स्थान पर क्रमशः गुण और वृद्धि होती है। तदपवाद पक्ष में जुस् सार्व धातुक व आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते, गुण विधायक सूत्रों में (७.३.८३.) तथा ह्रस्वादि को गुण का विधान करने वाले सूत्रों में इकः पद विशेषण होगा। तब सूत्रार्थ होगा - इगन्त धातुओं को जुस् के परे गुण होता है।

इस व्यवस्था से तच्छेष पक्ष में 'वृद्धिगुणावलोन्त्यस्येति चेन्मिदिमृजिपुगन्तलघूपधर्च्छिदृशिक्षिप्रक्षुद्रेष्विग्ग्रहणम्' कहकर मिदादियों में गुण या वृद्धि की सिद्धि के लिए इग्ग्रहण की आवश्यकता प्रतिपादित की गई थी, उसकी पूर्त्ति हो जाती है। तदपवादपक्ष में भी 'इङ्मात्रस्येति चेज्जुसिसार्वधातुकार्धधातुकह्रस्वाद्योर्गुणेष्वनन्त्यप्रतिषेधः' के द्वारा अनन्त प्रतिषेध की आवश्यकता प्रतीत हो रही थी। अब इकः पद को विशेषण मानने पर इसका खण्डन हो जाता है।

वस्तुतः तच्छेषपक्ष में प्रदत्त दोषों का पर्यालोचन करने पर यह प्रतीत होता है कि वार्तिकोक्त सभी विधि सूत्रों में स्थानी का स्पष्ट निर्देश है। जैसे - मिदेर्गुणः (७.३.८२.) में मिदः पद में मिद् और एः ये दो पद हैं। मिद् धातु अविभक्तिक उच्चरित है। एः इकार की षष्ठी का रुप है। मिद् के साथ इसका अन्वय करने पर मिद् का अवयव जो इकार है उसके स्थान पर गुण होगा। अथवा मिदेः का अर्थ है मिद् का जो इकार (मिदः इः = मिदिः तस्य मिदेः - षष्ठी तत्पुरुष समास) वह मिदि है। मिदि की षष्ठी का रुप मिदेः है। इस प्रकार संपूर्ण सूत्र का अर्थ है - मिद् के इकार के स्थान पर गुण होता है। गुण का स्थानी इकार सूत्र में स्पष्टतः पठित है। अतः इको गुणवृद्धी की यहाँ आवश्यकता ही नहीं है।

पुगन्तलघूपधस्य च (७.३.८६.) सूत्र में पुगन्त का आशय है - पुक् के परे अन्तिम वर्ण। लघूपध का आशय है - लघु रुप उपधा। पुगन्त और लघूपध का समाहार द्वन्द्व करने पर सूत्रार्थ निष्पन्न होगा - 'पुक् के परे रहते अन्तिम वर्ण को तथा लघु भूत उपधा को सार्वधातुक अथवा आर्धधातुक प्रत्यय के परे गुण होता है।' सिद्धान्ततः यही सूत्रार्थ उचित भी है। यदि पुगन्त और लघूपध को अङ्ग का विशेषण मानेंगे तो भिनत्ति-छिनत्ति में भी गुण की प्रसक्ति हो जाएगी। क्योंकि इनमें अङ्गसंज्ञक भिद् और छिद् लघूपध हैं। भिद् + श्नम् + तिप्, छिद् + श्नम् + तिप्, यहाँ श्नम् के मध्य में प्रवेश होने से तिप् परे भिनद् और छिनद् की अङ्ग संज्ञा है। ये लघूपध अङ्ग हैं। इनके इक् को गुण प्राप्त हो जाएगा। ऋच्छत्यृताम् (७.४.११.) सूत्र में ऋकार का प्रश्लेश मानने पर ऋच्छति शब्द में ऋ वर्ण के साथ ऋच्छति का षष्ठी समास होगा। ऋच्छत्यृ का ऋत् के साथ द्वन्द्व समास होगा और इस प्रकार ऋच्छति के ऋ को गुण का विधान होगा। संक्षेप में ऋच्छति ऋ ऋ ऋताम् = ऋच्छत्यृताम् इस प्रकार सूत्र का व्याख्यान होगा। दृश् को होने वाले गुण के लिए ऋदृशोरङि गुणः (७.४.१६.) सूत्र का योगविभाग करेंगे। उरङि गुणः अर्थात् उवर्णान्त को गुण होता है - अङ् परे रहते। पश्चात् दृशेः सूत्र से दृश् को भी अङ् परे गुण करेंगे। इसमें उः पद की अनुवृत्ति होगी। इससे दृश् धातु के ऋकार को अङ् प्रत्यय के परे गुण होगा। क्षिप्र क्षुद्र शब्दों को गुण विधान करने वाले सूत्र 'स्थूलदूरयुवक्षिप्रक्षुद्र ०' (६.४.१५१.) में यणादिपरं गुणः कहने मात्र से 'यणादि पर भाग लुप्त होता है और अवशिष्ट भाग को गुण होता है' - यह अर्थबोध हो सकता था किन्तु आचार्य पाणिनि 'पूर्वस्य शब्द का उच्चारण करते हैं। इस पूर्वस्य पद के सामर्थ्य से इक् के स्थान पर ही गुण सिद्ध होता है, अनिक् के स्थान पर नहीं।' (इस व्याख्या का तात्पर्य है कि 'स्थूलदूरयुवक्षिप्रक्षुद्र ०' इत्यादि सूत्र का योगविभाग किया जाए और उसे दो सूत्रों में विभक्त किया जाए। 'स्थूलदूरयुवह्रस्वानां यणादिपरम्' तक एक सूत्र तथा 'क्षिप्रक्षुद्रयोः पूर्वस्य च गुणः' यह दूसरा सूत्र होगा।)

स्थूल, दूर और युव इन तीन शब्दों में यणादि पर ल, र, व का लोप और उससे पूर्ववर्त्ती उकार को गुण (ओर्गुणः - ६.४.१४६.) से गुण होकर स्थविष्ठ, दविष्ठ और यविष्ठ रुप सिद्ध होते हैं। ह्रस्व को गुण की आवश्यकता नहीं है। यणादिपर का तात्पर्य है पर यण् का लोप होता है पूर्व यण् का नहीं। पर यण् का लोप होने पर अलोऽन्त्यस्य के द्वारा यण् के पूर्ववर्त्ती वर्ण को भी गुण की प्राप्ति होगी। अतः पूर्वस्य ग्रहण व्यर्थ है। व्यर्थ होकर वह ज्ञापित करता है कि क्षिप्र और क्षुद्र शब्दों में र का लोप होने पर पकार और दकार को गुण की प्राप्ति न हो जाए। इकार और उकार को ही गुण हो। इस प्रकार ज्ञापन द्वारा क्षिप्र और क्षुद्र शब्दों में भी इक् रुप स्थानी प्राप्त होता है। (तत्त्वबोधिनीकार के शब्दों में - 'पर ग्रहणं यविष्ठो, ह्रसिष्ठ इत्यत्र पूर्व यणादेर्लोपो मा भूदिति। पूर्व ग्रहणं तु स्पष्टार्थम्। परस्मिन् लुप्ते सामर्थ्यात् पूर्वस्यैव गुणलाभात्')

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि तच्छेष पक्ष में संभाव्य दोषों की निवृत्ति हो सकती है। इस पक्ष में सर्वत्र स्थानी का निर्देश होने से पभिाषा की प्रवृत्ति नहीं है। तब तच्छेष पक्ष को सिद्धान्त पक्ष के रुप में क्यों न स्वीकार किया जाए ? इस आशंका का समाधान करते हुए शब्दरत्नकार कहते हैं - 'नन्वेवं तर्हि किमर्थं प्राचां पक्ष उपेक्षित इति चेच्छृणु - लघूपधांशे इक् परिभाषानुपस्थितौ, अनिग्लक्षणत्वात्, भिन्नमित्यादौ गुणनिषेधानापत्तिभिया स उपक्षितः।' इसका आशय है कि पुगन्त लघूपधस्य च में साक्षात् स्थानी का निर्देश मानने से पभिाषा की उपस्थिति नहीं होगी। इको गुणवृद्धी की उपस्थिति न होने से इस सूत्र से विहित गुण इग्लक्षण गुण की कक्षा में नहीं आ सकता। इसके परिणाम स्वरुप भिन्नम् इत्यादि उदाहरणों में क्ङिति च (१.१.५.) सूत्र से उनका निषेध नहीं हो पाएगा। क्ङिति च (१.१.५.) से इग्लक्षण गुण का कित्, ङित् प्रत्यय के परे रहते निषेध होता है। भिन्नम् में क्त प्रत्यय कित् होने पर भी इग्लक्षण गुण की प्राप्ति न होने से निषेध भी न हो पाएगा। (प्राप्तस्यैव निषेधः) यही कारण है कि तच्छेष पक्ष त्याज्य या अस्वीकार्य है। तच्छेषवादी का कथन है कि भिन्नम्, छिन्नम् इत्यादि स्थलों पर क्ङिति च से गुण निषेध हेतु यह युक्ति दी जा सकती है - त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः (३.२.१४०.) सूत्र में क्नु प्रत्यय का कित् करण यह ज्ञापित करता है कि क्ङिति च से होने वाला निषेध इग्लक्षण और अनिग्लक्षण दोनो प्रकार के गुण के लिए है। अन्यथा त्रसिगृधिधृषि० सूत्र में पठित धातुओं को तो इग्लक्षण गुण प्राप्त ही नहीं है, तब इग्लक्षण गुण के निषेध के लिए क्नु प्रत्यय में कित् करण की क्या आवश्यकता है ? यदि 'क्ङिति च' की प्रवृत्ति ही नहीं है तो ऐसे स्थलों पर कित्करण निरर्थक ही कहा जाएगा किन्तु चूँकि आचार्य पाणिनि क्नु प्रत्यय में कित्करण करते हैं इसके सामर्थ्य से यह ज्ञापित होता है कि 'क्ङिति च' सूत्र इग् लक्षण और अनिग्लक्षण दोनों प्रकार के गुण का निषेधक है। इस आधार पर तच्छेषपक्ष में भिन्नम्, छिन्नम् आदि रुपों की सिद्धि में जो आक्षेप या शंका उठाई गई थी व निर्मूल है। (अथवाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति भवत्युपधालक्षणस्य गुणस्य प्रतिषेध इति यदयं त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः, इको झलन्तच्च इति क्नुसनौ कितौ करोति। कथं कृत्वा ज्ञापकम् ? कित्करणे एतत् प्रयोजनं गुणः कथमपि न स्यादिति। यदि चात्र गुण प्रतिषेधो न स्यात् कित्करणमनर्थकं स्यात्। पश्यति तु आचार्यो भवत्युपधालक्षणस्य प्रतिषेध इति, ततः क्नुसनौ कितौ करोति। - म. भा. क्ङिति च -१.१.५.)

उपर्युक्त भाष्य वचन के आधार पर तच्छेष वादी ने शंका उपस्थित की है। इस प्रसंग में शब्दरत्नकार का मत ध्यातव्य है। वे कहते हैं कि ज्ञापन के आधार पर अनिग्लक्षण गुण का 'क्ङिति च' से निषेध करना अनुचित है। इसकी अपेक्षा पदोपस्थिति मानना श्रेयस्कर व लाघवयुक्त है। (क्नोः कित्त्वस्यानिग्लक्षणत्वेऽपि गुणनिषेधप्रवृत्तिज्ञापकत्वाश्रयणे तु तस्य पदोपस्थितिपक्षज्ञापकत्त्वमेवोचितमिति दिक् - शब्दरत्न) पदोपस्थिति पक्ष मानने से 'पुगन्तलघूपधस्य०' सूत्र से प्राप्त गुण इग्लक्षण सिद्ध होकर गुण निषेधक 'क्ङिति च' सूत्र से गुण का निषेध हो जाता है। पूर्वोक्त ज्ञापनों का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं पडती।

तच्छेषपक्ष मानने में दूसरी अनुपपत्ति यह है कि इस पक्ष में संभाव्य दोषों के निवारणार्थ अनेक क्लिष्ट कल्पनाएँ करनी पड़ती हैं। जैसे - कभी सूत्र का योग-विभाग करना पड़ता है, कभी दण्डपाठ मानना पड़ता है। कभी सूत्र में वर्णो का प्रश्लेष करना होता है तो कभी सूत्र पठित पदों का क्लिष्ट पदच्छेद करना पडता है। इतनी श्रम साध्य व्याख्या करने के बाद ज्ञापन का भी आश्रय लेना पड़ता है। अतः तच्छेपपक्ष गौरव मूलक होने से स्वीकार्य नहीं है।

इस पक्ष में तृतीय अनुपपत्ति यह है कि 'गुणानां च परार्थत्त्वात्' न्याय के अनुसार दो परिभाषाओं में परस्पर अङ्गाङ्गि भाव या विशेषण विशेष्य भाव रुप सम्बंध नहीं माना जा सकता। तच्छेष पक्ष में अलोऽन्त्यस्य और इको गुणवृद्धी इन परिभाषाओं में विशेषण विशेष्य भाव या अङ्गाङ्गि भाव की कल्पना करनी पड़ती है। यही कारण है कि महाभाष्यकार ने पदोपस्थिति पक्ष की स्थापना की है तथा परवर्त्ती वैयाकरणों में इसे स्वीकार किया है।

वृद्धिग्रहण का प्रयोजन - उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि इको गुणवृद्धी पदोपस्थापिका परिभाषा है जो स्थानी के रुप में इकः पद की उपस्थिति कराती है। यह भी स्पष्ट किया गया कि जहाँ विधि सूत्रों में स्थानी का निर्देश न हो वहीं यह परिभाषा प्रवृत्त होती है। इस व्यवस्था के अनुसार गुण विधायक सूत्रों में प्रायः स्थानी का निर्देश दृष्टिगत नहीं होता अतः परिभाषा की सहायता से इक् रुप स्थानी की प्रतीति हो जाती है। अष्टाध्यायी की वृद्धि विधायक सूत्रों में सर्वत्र स्थानी उपलब्ध होता है जैसे - अचोञ्णिति (७.२.११५.) अत उपधाया (७.२.११६.) तद्धितेष्वचामादेः (७.२.११७.) इत्यादि सूत्रों में अचः, अतः, अचामादेः शब्दों से स्थानी का स्पष्ट निर्देश किया गया है। अतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इन सूत्रों में प्रकृत परिभाषा की क्या आवश्यकता अर्थात् परिभाषा सूत्र में वृद्धिग्रहण का क्या औचित्य है ?

भाष्यकार के अनुसार क्ङिति च (१.१.५.) में अनुवृत्ति के लिए प्रकृत परिभाषा सूत्र में वृद्धि ग्रहण आवश्यक है। परिभाषा सूत्र में पठित गुण और वृद्धि पद अनुवृत्त होकर क्ङिति च सूत्र का अर्थबोध इस प्रकार करते हैं - कित् और ङित् प्रत्ययों के परे गुण और वृद्धि का निषेध होता है। परिभाषा सूत्रों में वृद्धि पद के न रहने पर कित्, ङित् के परे वृद्धि का निषेध नहीं हो पाएगा।

वस्तुतः वृद्धि कार्य तो ञित् और णित् प्रत्यय के परे ही होता है तब कित्-ङित् के परे वृद्धि का प्रसंग ही नही है, निषेध की क्या आवश्यकता है ? इसका समाधान इस प्रकार हो सकता है कि मृजेर्वृद्धिः (७.२.११४.) सूत्र में वृद्धि का कोई निमित्त नहीं है तब कित् ङित् में भी मृज् को वृद्धि प्राप्त हो सकती है जिसका निषेध करने के लिए परिभाषा सूत्र में वृद्धि ग्रहण आवश्यक है। जैसे - मृष्टः, मृष्टवान्, इत्यादि प्रयोगों में मृज् धातु से क्त, क्तवतु प्रत्ययों का विधान है जो कित् हैं। इनमें क्ङिति च से वृद्धि का निषेध होता है। यही वृद्धि पद की सार्थकता है। वृद्धि पद का दूसरा प्रयोजन - मृजेवृद्धि सूत्र में ही परिलक्षित होता है। इस सूत्र में मृज् को वृद्धि का विधान है किन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि मृज् के किस वर्ण को वृद्धि की जाए ? इस प्रकार यहाँ स्थानी का निर्देश नहीं मिलता। स्थानी का निर्देश न होने से अलोऽन्त्यस्य सूत्र से अन्त्य वर्ण को वृद्धि हो सकती है। प्रकृत परिभाषा में वृद्धि पद के ग्रहण से इक् के स्थान पर ही वृद्धि होती है अनिक के स्थान पर नहीं।

भाष्यकार ने उपर्युक्त प्रयोजन को अन्यथा सिद्ध करने का प्रयास किया है। मृजेर्वृद्धि सूत्र में योग विभाग के द्वारा स्थानी प्राप्त हो सकता है जैसे - अचोञ्णिति सूत्र का योग विभाग कर 'मृजेर्वृद्धिरचः' सूत्रपाठ करेंगे। इसका अर्थ होगा मृज् के अच् के स्थान पर वृद्धि होती है। इसके पश्चात् ञ्णिति सूत्र में अचः पद की अनुवृत्ति करेंगे और सूत्र का अर्थ होगा ञित् और णित् प्रत्ययों के परे अच् के स्थान पर वृद्धि होती है। इस प्रकार योग विभाग के द्वारा मृज् के इक् रुप अच् को वृद्धि सिद्ध हो जाएगी। मृष्टः, मृष्टवान्

इत्यादि उदाहरणों में ञित् या णित् प्रत्यय न होने से वृद्धि की निवृत्ति हो जाएगी। इस प्रकार क्ङिति च सूत्र में वृद्धि पद की अनुवृत्ति के बिना इष्ट सिद्धि हो जाएगी।

उपर्युक्त व्याख्यान में योग विभाग के द्वारा यदि मृज् के साथ अचः का संबंध करते है तब न्यमार्ट् आदि उदाहरणों में भी अडागम सहित मृज् के अच् के स्थान पर वृद्धि संभावित है। यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृहयन्ते परिभाषा के अनुसार मृज् पद से अडागम सहित मृज् का ग्रहण हो सकता है। इस स्थिति में अट् को वृद्धि हो जाएगी और अनिष्ट रुप सिद्ध हो जाएगा।

वस्तुतः यह दोष 'अनन्त्य विकारेऽन्त्यसदेशास्य' परिभाषा की सहायता से निवारण किया जा सकता है। इस परिभाषा के अनुसार जब किसी प्रयोग में अन्त्य को छोड़कर अनन्त्य वर्णों को कार्य प्राप्त हो रहा हो तो वह कार्य अनन्त्य वर्णों में से जो वर्ण अन्त्य के समीपवर्त्ती हो उसको करना चाहिए। प्रकृत प्रसंग में न्यमार्ट् में अनन्त्य, अचों में ऋकार और अकार को प्राप्त वृद्धि अन्त्य अकार के समीपवर्त्ती ऋकार के स्थान पर ही होनी चाहिए, अट् के अकार को नहीं।

इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में योग विभाग के द्वारा मृज् धातु को विहित वृद्धि के लिए स्थानी की उपलब्धि तो हो जाती है, किन्तु इस प्रकार होने वाली वृद्धि इग्लक्षण वृद्धि नहीं कही जाती। इग्लक्षण न होने पर क्ङिति च का निषेध मृज् के लिए नहीं हो सकता क्योंकि यह निषेध मात्र इग्लक्षण गुण वृद्धि को ही होता है।

इस अनुपपत्ति के निवारणार्थ भाष्यकार ने कतिपय वैयाकरणों का मत उद्धृत किया है। कुछ आचार्यों के मत में मृज् धातु को अजादि कित् ङित् के परे रहते विकल्प से वृद्धि होती है और परिमृजन्ति, परिमार्जन्ति, परिमृजन्तु, परिमार्जन्तु इत्यादि रुपों की सिद्धि होती है।

इस नियम के अनुसार पाणिनीय सूत्रों का योग विभाग इस प्रकार होगा - मृजेवृर्द्धिरचः - मृज् के अच् को वृद्धि होती है। इसके अनन्तर 'अचि क्ङिति' सूत्र होगा जिसका अर्थ होगा 'अजादि कित् ङित् प्रत्यय के परे रहते मृज् को वृद्धि होती है।' इस द्वितीय सूत्र से परिमार्जन्ति - परिमार्जन्तु आदि रुप सिद्ध होंगे। यह सूत्र नियमार्थ होगा, जिसका आशय है - अजादि कित् ङित् परे यदि वृद्धि हो तो केवल मृज् के अच् को ही होवे अन्यत्र नहीं। इसके पश्चात् 'वा' का ग्रहण होगा। इसमें पूर्व सूत्रों की अनुवृत्ति होकर यह अर्थ निष्पन्न होगा - अजादि कित् अथवा ङित् प्रत्यय के परे मृज् के अच् को विकल्प से वृद्धि होती है। उदाहरणार्थ - परिमृजन्ति, परिमार्जन्ति, परिमृजन्तु, परिमार्जन्तु इत्यादि।

उपर्युक्त प्रपञ्च पूर्ण व्याख्या में 'मृज्यर्थ वृद्धिग्रहणम्' का खण्डन प्रस्तुत किया गया। इस गौरव युक्त क्लिष्ट कल्पना की अपेक्षा वृद्धि ग्रहण के किसी अन्य प्रयोजन का प्रतिपादन करना युक्ति संगत होगा। भाष्यकार भी अन्य प्रयोजनों पर विचार करते हुए कहते हैं - 'इहार्थमेव तर्हि सिजर्थ वृद्धि ग्रहणम्' सिच् परे रहने पर कही गई वृद्धि (सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु - ७.२.१.) इक् के स्थान पर हो अनिक् के स्थान पर न हो - एतदर्थ इको गुणवृद्धी में वृद्धि ग्रहण करना चाहिए। अचिकीर्षत्, अजिहीर्षत् आदि उदाहरणों में कृ और हृ धातुओं से सन् प्रत्यय करने पर चिकीर्ष जिहीर्ष धातु अकारान्त होते हैं। इनके

लुङ् लकार के रुपों में सिच् के परे अकार को सिचि वृद्धि० सूत्र से अ को वृद्धि प्राप्त हो रही है। इको गुणवृद्धी की प्रवृत्ति होने से उसका निवारण होकर अभीष्ट रुप सिद्ध हो सकते हैं। वस्तुतः यह प्रयोजन युक्ति संगत नहीं है क्योंकि अतो लोप (६.४.४८.) से वृद्धि का बाध हो सकता है। अयासीत्, अवासीत् आदि उदाहरणों में अकार को वृद्धि होने पर भी कोई भेद नहीं होता संध्यक्षरों को वृद्धि की संभावना होती है - यह भी नहीं कह सकते क्योंकि सिच् परे संध्यक्षर उपलब्ध नहीं होते। उदवोढाम् आदि उदाहरणों में उद् + वह् + स् + ताम् - इस अवस्था में वदव्रज० (७.२.३.) से वृद्धि, झलो झलि से स् लोप, होढः (८.२.३१.) से ह् को ढ् , झषस्तथो० (८.२.४०.) से ताम् के त को धकार, ध को ष्टुत्व (८.४.४०.) करने पर उद् वाढ् + ढाम् में ढोठे लोपः (८.३.१३.) से ढ के परे पूर्व ढ का लोप होता है। तब उद् + वा + ढाम् इस अवस्था में सहिवहोरोदवर्णस्य (६.३.१११.) सूत्र से आकार को ओकार होकर उद् अ वो ढाम् = उदवोढाम् रुप सिद्ध होता है। इसमें सिचि वृद्धि० से ओकार को वृद्धि प्राप्त होती है जिसके निवारणार्थ इको गुणवृद्धी सूत्र से इग्लक्षण वृद्धि की प्रवृत्ति चरितार्थ है। वृद्धि ग्रहण न होता तो ओकार को भी वृद्धि हो जाती।

उपर्युक्त कथन पूर्वपक्षी का है क्योंकि ओकार उदवो + ढाम् में जैसे ही ओकार को वृद्धि प्राप्त होती है, ढोढे लोपः (८.३.१३.) से किया गया ढकार लोप असिद्ध हो जाता है। (पूर्वत्रासिद्धम् - ८.२.१.) इस प्रकार ओकार अन्त में नहीं मिल पाता। अतः वृद्धि नहीं होती।

व्यञ्जन को वृद्धि न हो जाए इसके लिए वृद्धि ग्रहण को सार्थक मानना भी उचित नहीं। अभैत्सीत् - अच्छैत्सीत् आदि प्रयोगों में वदव्रजहलन्तस्याचः (६.२.३.) सूत्र से सिचि वृद्धि० का बाध हो जाता है। अतः व्यञ्जन को वृद्धि की संभावना नहीं रह जाती। जहाँ नेटि (७.२.४.) सूत्र से वदव्रज० की प्रवृत्ति नियंत्रित हो जाती है ऐसे स्थलों पर हलन्त लक्षणा वृद्धि (७.२.३.) बाधित होने पर पुनः सिचि वृद्धि० (७.२.१.) से वृद्धि की प्राप्ति संभव नहीं है। क्योंकि नेटि (७.२.४.) सूत्र से जिस प्रकार हलन्तलक्षणा (७.२.३.) वृद्धि का बाध होता है, उसी प्रकार सिचि वृद्धि० (७.२.१.) का भी बाध होता है। इस स्थल पर एक आशंका उपस्थित हो सकती है। सामान्यतः अपवाद सूत्र का बाध हो जाने पर सामान्य सूत्र या उत्सर्ग सूत्र की पुनः प्रवृत्ति हो जाती है। जिस प्रकार लोक में 'देवदत्तहन्तृहतन्याय' से देवदत्त को मारने के लिए उद्यत व्यक्ति का वध कर देने पर देवदत्त जीवित बच जाता है। उसी प्रकार शास्त्र में भी उत्सर्ग का बाधक जो अपवाद सूत्र है उसका बाध करने पर उत्सर्ग की प्रवृत्ति निर्बाध हो जाती है। इस न्याय से उत्सर्ग सूत्र सिचिवृद्धि० (७.२.१.) का बाधक 'वदव्रज' (७.२.३.) सूत्र है। इस बाधक सूत्र का बाध नेटि (७.२.४.) सूत्र से होता है। इस अवस्था में अकोषीत् आदि उदाहरणों में नेटि सूत्र से हलन्तलक्षणा वृद्धि (७.२.३.) का बाध होता है। किन्तु सिचि वृद्धि० (७.२.१.) से प्राप्त वृद्धि तो यहाँ अबाधित ही है अतः सिचि वृद्धि० में कुष् धातु के षकार को वृद्धि प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार व्यञ्जन को प्राप्त वृद्धि के निवारणार्थ इको गुणवृद्धी में वृद्धि ग्रहण की सार्थकता हो सकती है।

सिद्धान्ती ने उपर्युक्त कथन का खण्डन किया है। उसके अनुसार 'नेटि' सूत्र जैसे - हलन्तलक्षणा (७.२.३.) वृद्धि का बाधक है उसी प्रकार सिचिवृद्धि० (७.२.१.) का भी बाधक है। भाष्यकार ने शास्त्र को अत्यन्त गतिशील ध्वनि करने वाला तथा क्षणमात्र के लिए स्थिर न रहने वाला कहा है। (लक्षणं हि नाम ध्वनति, भ्रमति, मुहूर्तमपि नावतिष्ठते) इस लक्षण के कारण नेटि सूत्र वृद्धि मात्र का प्रतिषेध करता

है क्योंकि वह सर्वत्र भ्रमण करता है। इससे वह सिचिवृद्धि० (७.२.१.) के पास भी उपस्थित होकर इट्परक वृद्धि का निषेध कर देता है। इस युक्ति की अपेक्षा अपवाद का बाध होने पर उत्सर्ग की पुनः प्रवृत्ति न होना स्वाभाविक है। अन्यत्र ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हैं जहाँ बाधक या अपवाद का निषेध होने पर उत्सर्ग सूत्र भी प्रवृत्त नहीं होता है। जैसे - सुजाते अश्व सुनृते (ऋ-५.७९.१.) अध्वर्यो अद्रिभिः सुतम् (५.१.१०५.) शुक्रं ते अन्यत् (ऋ - ६.५८.१.) आदि में उत्सर्ग सूत्र एचोऽयवायावः (६.१.७५.) से अयादेश प्राप्त होता है। उसका एङः पदान्तादति (६.१.१०५.) से विहित पूर्वरुप बाध करता है। इस पूर्वरुप का पुनः नान्तःपादम् (६.१.१११.) सूत्र से निषेध होता है और प्रकृति भाव हो जाता है। यहाँ अपवाद रुप पूर्वरुप का प्रतिषेध होने पर उत्सर्गरुप अयादि भी नहीं होते। (इसी आशय की परिभाषा भाष्यकार ने पठित की है - सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव - म. भा.)

निष्कर्षतः सिचि वृद्धि० सूत्र में इक् के स्थान पर वृद्धि विधान के लिए 'इको गुणवृद्धी' सूत्र में वृद्धि का प्रयोजन खण्डित हो जाता है। तथापि सूत्रकार वृद्धि ग्रहण करते हैं। इसका निश्चित ही कोई न कोई प्रयोजन होगा। वृद्धि पद के अभाव में अभीष्ट रुपों की सिद्धि होने पर भी सिचि वृद्धि० से होने वाली वृद्धि को इग्लक्षणा वृद्धि कहे जाने के लिए वृद्धि पद आवश्यक है। ऐसा मानने पर ही सिचि वृद्धि० के विषय में क्ङिति च (१.१.५.) सूत्र से निषेध की प्रवृत्ति संभव होगी। क्ङिति च सूत्र से केवल इग्लक्षण वृद्धि (या गुण) का ही निषेध होता है। इससे न्यनुवीत, न्यधुवीत आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं। यहाँ नि उपसर्ग पूर्वक णु और धु धातु के (तुदादि गण पठित) लुङ् लकार के रुपों में सिच् प्रत्यय गाङ् कुटादिभ्यः० (१.२.१.) से ङित् होता है अतः क्ङिति च सूत्र से वृद्धि का निषेध होता है, तथा उवङ् आदेश (६.४.७७.) होकर न्यनुवीत् - न्यधुवीत् रुप सिद्ध होते हैं। इग्लक्षण न मानने से क्ङिति च सूत्र से निषेध नहीं होगा और सिचि वृद्धि से वृद्धि होकर अनिष्ट रुप सिद्ध हो जाएँगे।

वृद्धि पद का उपर्युक्त प्रयोजन भी असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे - न्याय से अन्यथा सिद्ध हो सकता है। उवङ् आदेश का निमित्त सिच् प्रत्यय होने से वह अन्तरङ्ग है और सिच् प्रत्यय के अनन्तर परस्मैपद संज्ञक ईत् प्रत्यय वृद्धि का निमित्त होने से बहिरङ्ग है। अतः उवङ् आदेश की दृष्टि से बहिरङ्ग वृद्धि असिद्ध होकर आभीष्ट रुप सिद्ध हो सकता है।

इस प्रसंग में भाष्यकार ने अन्तरंग परिभाषा की व्याप्ति पर विचार किया है। भाष्यकार 'न सिच्यन्तरङ्गं भवति ' अर्थात् सिच् के परे अन्तरङ्ग बलवान् नहीं होता, इस नियम को मानते हैं। कतिपय युक्तियों के द्वारा वे इस नियम का समर्थन करते हैं।

भाष्य के अनुसार यदि सिच् के परे अन्तरङ्ग कार्य होता तो अकार्षीत् - अहार्षीत् रुपों में कृ और हृ धातुओं को गुण और रपर करने पर कर् और हर् रुपों में अन्त में अच् न होने से सिचि वृद्धि० से वृद्धि नहीं हो पाएगी। यदि यहाँ हलन्तलक्षणा वृद्धि (७.२.३.) से अभीष्ट सिद्ध करें तो जहाँ हलन्तलक्षणा वृद्धि भी प्राप्त न हो वहाँ इष्ट रुप सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे - अलावीत् , अपावीत् में लू और पू धातु को गुण अवादेश करने पर (लव्, पव् रुप बन जाने पर) अकार के अन्त में न होने से वृद्धि (७.२.१.) प्राप्त नहीं होगी। हलन्तलक्षणा वृद्धि (७.२.३.) नेटि से निषिद्ध है। इस स्थिति में अतो ल्रान्तस्य (७.२.२.) सूत्र से वृद्धि हो सकती है। (ल्रान्तस्य० में लकार और रेफ के साथ वकार का भी प्रश्लेष माना गया है जिसका

लोप (६.१.६६.) हो जाने के कारण श्रवण नहीं होता।)

ल्रान्तस्य में वकार का प्रश्लेष मानने पर मा भवानवीत्, मा भवान् मवीत् उदाहरणों में अव् और मव् धातुओं को वृद्धि की प्राप्ति हो सकती है। इसके निवारणार्थ 'अविमव्योर्न' यह वार्त्तिकारंभ करना होगा। अथवा स्वतंत्र वार्त्तिकारंभ करने से गौरव की आशंका हो तो ह्म्यन्तक्षण० (७.२.५.) सूत्र में णि, श्वि के स्थान पर अवि, मवि का ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रकार संपूर्ण सूत्र का स्वरुप 'ह्म्यन्तक्षणश्वसजाग्रविमव्येदिताम् (१.२.५.)' होगा। इस सूत्र में णि और श्वि धातुओं को हटाने पर भी उनको निषेध 'ह्म्यन्त' कहने से (हकारान्त, मकारान्त और यकारान्त) सिद्ध हो सकाता है। (णि और श्वि को गुण और अयादेश करने पर ये धातुएँ यकारान्त हो जाती हैं।

समस्त युक्तियों के द्वारा भी यह सिद्ध नहीं हो पाया कि 'इको गुणवृद्धी' का वृद्धि ग्रहण किस प्रयोजन के लिए है ? अन्त में भाष्यकार ज्ञापन के द्वारा यह सिद्ध करना चाहते हैं कि वृद्धि ग्रहण का प्रयोजन सिचि वृद्धि० (७.२.१.) सूत्र से प्राप्त वृद्धि को इग्लक्षण वृद्धि मानना है। न्यनुवीत् आदि उदाहरणों में अन्तरंग मानकर उवङ् आदेश (अचि श्नु०-६.४.७७.) करना अनुचित है क्योंकि सिच् प्रत्यय के विषय में अन्तरंग - बहिरङ्ग विचार नहीं होता। (न सिच्यन्तरङ्गमस्ति)

यदि सिच् के विषय में अन्तरङ्ग कार्य पहले होता तो अकोषीत् - अमोषीत् आदि उदाहरणों में अन्तरङ्गत्वात् पहले गुण होकर इष्ट रुप सिद्ध हो जाते। इसमें ओकार (गुण) अलघु होने से वृद्धि की प्राप्ति ही (अतोहलादेर्लघोः - ७.२.७.) ही न थी। जब वृद्धि प्राप्त ही न हो तो उसके निवारणार्थ सूत्र में अकार ग्रहण व्यर्थ था। यह अकार ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि गुण कार्य (७.३.८६.) अन्तरंग होने पर भी पहले नहीं हो सकता।

अन्त में भाष्यकार 'तस्मादिग्लक्षणा वृद्धिरास्थेया' कहकर यह प्रतिपादित करते हैं कि न्यनुवीत् में उवङ् आदेश को बाधकर जो वृद्धि प्राप्त होती है उसके निषेध के लिए सिचि वृद्धि० को इग्लक्षणा स्वीकार करना चाहिए। जिससे क्ङिति च (१.१.५.) से वृद्धि का प्रतिषेध हो सके।

'इको गुणवृद्धी' के स्वरुप पर पुनर्विचार - इस सूत्र में इकः षष्ठ्यन्त है। इसे 'षष्ठी स्थाने योगा' (१.१.४९.) के अनुसार स्थान षष्ठी मानकर संपूर्ण सूत्र को गुण वृद्धि का विधायक माना जा सकता है। स्वतंत्र विधि सूत्र मानने पर सूत्र का अर्थ होगा - इक् के स्थान पर गुण और वृद्धि का आदेश होता है। इस स्थिति में सभी इकों की निवृत्ति हो जाएगी। जैसे - दधि, मधु आदि शब्दों के इकार, उकार के स्थान पर गुण वृद्धि प्राप्त हो जाएँगे। इक् के स्थान पर यणादि करने वाले इकोयणचि (६.१.७७.) आदि सूत्र अपने - अपने विषय में चरितार्थ होंगे ही, इस विधि से वे व्यर्थ नहीं होंगे।

इसे विधि सूत्र मानने पर गुण, वृद्धि विधायक मिदेर्गुणः, मृजेर्वृद्धिः आदि सूत्र व्यर्थ हो जाएँगे यह आशंका नहीं की जा सकती क्योंकि तब इन विधि सूत्रों को नियमार्थ मानकर अर्थबोध किया जा सकता है। उदाहरणार्थ - सार्वधातुक या आर्धधातुक प्रत्यय के परे गुण ही होता है, वृद्धि नहीं। मिदेर्गुणः सूत्र से मिद् को गुण ही हो, वृद्धि नहीं या मृज् धातु को वृद्धि ही हो, गुण नहीं (मृजेर्वृद्धि) इस

प्रकार विधि सूत्रों की चरितार्थता सिद्ध हो जाती है। 'इको गुणवृद्धी' को विधि सूत्र मानने पर पूर्वोक्त दोष (सर्वेषामिकां निवृत्तिः प्राप्नोति) दधि, मधु यथावस्थित रह जाता है। इसी प्रसंग में इस दोष के समान 'इग्यणः सम्प्रसारणम् - १.१.४५.)' सूत्र में षष्ठी का अर्थ स्थानी होने से यणः स्थाने इक् सम्प्रसारणम् यह अर्थ होगा और सभी यणों की निवृत्ति हो जाएगी तथा उनके स्थान पर इक् आदेश होने लगेंगे। उदाहरणार्थ - याता, वाता में यकार, वकार की निवृत्ति होकर उनके स्थान पर सम्प्रसारण हो जाएगा। इस स्थिति में अन्य सम्प्रसारण विधायक सूत्र नियमार्थ माने जाएँगे। जैसे - वचिस्वपि यजादीनां किति (६.१.१५.) सूत्र का अर्थ होगा - वच्-स्वप् और यजादि धातुओं को कित् प्रत्यय के परे ही सम्प्रसारण होवे अन्यथा नहीं।

उपर्युक्त न्याय से उरण् रपरः (१.१.५१.) सूत्र से सभी ऋकारों की निवृत्ति हो जाएगी और उनके स्थान पर अर् आदेश होने लगेंगे। परिणाम स्वरुप कर्तृ, हर्तृ आदि शब्दों में भी ऋकार के स्थान पर अर् आदेश की प्राप्ति हो जाएगी।

उपर्युक्त तीनों सूत्रों में (इको गुणवृद्धी, इग्यणः सम्प्रसारणम् और उरण् रपरः) इकः, यणः और उः - इन षष्ठी विभक्तियों के कारण संभावित अनुपपत्तियों का निवारण करते हुए भाष्यकार एक युक्ति प्रस्तुत करते हैं। भाष्यकार के अनुसार इस सभी सूत्रों को षष्ठी के अधिकार में पढ़ा जाए। इनमें उरण् रपरः (१.१.५१.) यह सूत्र षष्ठी के अधिकार में (षष्ठी स्थाने योगा - १.१.४९.) पठित है। शेष दोनों सूत्रों (इको गुणवृद्धी - १.१.३. और इग्यणः सम्प्रसारणम् - १.१.४५.) को षष्ठी के अधिकार में पढ़ा जाएगा अथवा षष्ठी के अधिकार में इनका अनुवर्त्तन किया जाएगा।

सिद्धान्ततः सूत्रों की व्यवस्था बदलना आवश्यक नहीं है। जिस प्रकार विधि सूत्रों के स्पष्ट अर्थबोध के लिए परिभाषा एवं संज्ञा सूत्रों की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार परिभाषा व संज्ञाओं को भी विधि सूत्रों की अपेक्षा होती है। विधि सूत्रों के साथ इनकी एकवाक्यता करने पर अभीष्ट अर्थ बोध हो सकता है। नागेश भट्ट ने परिभाषेन्दुशेखर में संज्ञा और परिभाषाओं के संबंध में यथोद्देशपक्ष और कार्यकाल पक्ष की अवतारणा कर उपर्युक्त एकवाक्यता का ही संकेत किया है। सार्वधातुक या आर्धधातुक प्रत्यय के परे गुण कहा गया है। (७.१.८४.) वह गुण याता, वाता में नहीं होता, क्योंकि 'इको गुणवृद्धी' के अनुसार गुण और वृद्धि कार्य इक् के स्थान पर ही होते हैं। यह परिभाषा सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७.१.८४.) में उपस्थित होकर लक्ष्य सिद्धि में उपकारक होती है। यही कार्यकाल पक्ष है। इसी प्रकार 'इको गुणवृद्धी' का अर्थबोध करते समय भी सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७.१.८४.) की अपेक्षा होगी और इक् के स्थान पर सार्वधातुक या आर्धधातुक प्रत्यय के परे रहने पर ही गुण होगा।

इस प्रकार 'इको गुणवृद्धी' को स्वतंत्र विधिसूत्र मानने की कल्पना निरस्त हो जाती है।

इकस्तौ - कतिपय वैयाकरणों के अनुसार इको गुणवृद्धी के स्थान पर 'इकस्तौ' सूत्र पढ़ा जा सकता है। 'तौ' सर्वनाम के द्वारा पूर्व पठित दोनों सूत्रों का (वृद्धिरादैच् और अदेङ् गुणः) ग्रहण हो सकता है। दोनों सूत्रों की समग्र अनुवृत्ति (तौ पद के द्वारा) होने से वही अर्थ निष्पन्न हो सकता है जो वृद्धि और गुण पदों की शब्द परक और अर्थ परक अनुवृत्ति से अभीष्ट है।

वैयाकरणों का उपर्युक्त मत चिन्तनीय है क्योंकि तौ सर्वनाम के द्वारा पूर्वपठित दोनों सूत्रों का ग्रहण संभव नहीं है। **'सर्वनाम्नामुत्सर्गतः प्रधानपरामर्शित्त्वम्'** न्याय से सर्वनामों के द्वारा प्रधान का ही परामर्श होता है। प्रकृत प्रसंग में तौ सर्वनाम के द्वारा पूर्वपठित सूत्रों में से प्रधानीभूत संज्ञी का ग्रहण हो सकता है, संज्ञा और संज्ञी दोनों का नहीं। अतः 'इकस्तौ' सूत्र से अभीष्ट सिद्धि की कल्पना खण्डित हो जाती है।

कतिपय वैयाकरण 'इतोऽत् सर्वनाम स्थाने' - (७.१.८६.) सूत्र में पठित इतः ग्रहण को इकोगुणवृद्धी में शब्द परक अनुवृत्ति का ज्ञापक मानते हैं। इस सूत्र से पथिन्, मथिन् और ऋभुक्षिन् के इकार के स्थान पर अकार आदेश किया गया है। अकार गुणवाचक होने से प्रकृत परिभाषासूत्र के द्वारा इकार रुप इक् के स्थान पर हो ही जाता तथापि अकार का विधान गुण पद के उच्चारण पूर्वक न होने से इतः रुप स्थानी का निर्देश सार्थक है, यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है। 'इतोऽत् सर्वनाम् स्थाने' सूत्र में इतः ग्रहण व्यर्थ नहीं है, अपितु ऋभुक्षिन् के ऋकार और उकार रुप इक् में स्थानित्त्व की निवृत्ति के लिए सार्थक है। अन्यथा प्रकृत परिभाषा सूत्र से ऋकार, उकार और इकार, इन तीनों इकों का अन्तर्भाव हो जाता।

निष्कर्ष - इको गुणवृद्धी सूत्र सर्वथा निर्दुष्ट और सार्थक है।

❀❀❀

शब्द संकेत

१. अनुवृत्ति के संबंध में वैयाकरणों ने अनेक विकल्प प्रस्तुत किये हैं। सर्वप्रथम - वृद्धिरादैच् सूत्र से वृद्धि पद और अदेङ् गुणः सूत्र से गुण पद की अनुवृत्ति इको गुणवृद्धी सूत्र में की गई। इस पक्ष में यह दोष संभावित प्रतीत हुआ कि वृद्धिरादैच् सूत्र का वृद्धि पद पहले अदेङ्गुणः में अनुवृत्त होगा और 'अदेङ्गुणो वृद्धिश्च' यह सूत्रस्वरुप बनेगा। इससे अ-ए-ओ की गुण संज्ञा और वृद्धि संज्ञा भी प्राप्त हो जाएगी। इस दोष के निवारणार्थ संबद्ध पदों की अनुवृत्ति की गई। जैसे - आदैच् से संबद्ध वृद्धि पद और अदेङ् से संबद्ध गुण पद इको गुणवृद्धी में उपस्थित हुए। आदैच् और अदेङ् निवृत्त हो गए।

दूसरा विकल्प - अधिकारों को मेंढक के समान मानकर उनकी उपस्थिति आगामी सूत्रों में की जाए। अधिकार, मेंढक के समान होते हैं जो कूद-कूदकर मध्यवर्त्ती सूत्र का स्पर्श न करते हुए गति करते हैं। वृद्धि रादैच् का वृद्धि पद भी अदेङ् गुणः को स्पर्श न करते हुए इको गुणवृद्धी में आएगा। (मण्डूकगतयोऽधिकाराः। यथा मण्डूका उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छन्ति तद्वदधिकाराः - म.भा.)

तीसरा विकल्प - 'वृद्धिरादैजदेङ्गुणः' इस प्रकार एक ही सूत्र पढ़ा जाए। इस स्थिति में वृद्धि पद अदेङ् गुणःसे सम्बद्ध नहीं होता क्योंकि एक ही सूत्र में अनुवृत्ति नहीं होती। (अथवैकयोगः करिष्यते - वृद्धिरादैजदेङ्गुणः। तत इको गुणवृद्धीति। न चैकयोगेऽनुवृत्तिर्भवति।)

चतुर्थ विकल्प - अदेङ् गुण में वृद्धि पद की अनुवृत्ति से अदेङ् की भी वृद्धि संज्ञा की आशंका करना निर्मूल है। उत्सर्गापवाद न्याय से गुण संज्ञा के द्वारा वृद्धि संज्ञा का बाध हो सकता है। अनुकर्षण या अनुवृत्ति बोधक चकार का उच्चारण अदेङ्गुणः में नहीं है। अतः वृद्धि पद की अनुवृत्ति होने पर भी विशेषरुप से विहित गुण के द्वारा वृद्धि संज्ञा का बाध हो जाएगा। 'विभाषातिलमाषो० - (५.२.४.)' सूत्र के भाष्य में भाष्यकार यह संकेत करते हैं कि यद्यपि विधियों की अनुवृत्ति होती है किन्तु वह नाममात्र की है। इससे कोई विशेष कार्य सम्पन्न नहीं होता। विशेष कार्य हेतु विशेष यत्न करना पड़ता है। (अनुवर्तन्ते च नाम विधयो न चानुवर्त्तनादेव भवन्ति किं तर्हि ? यत्नाद् भवन्ति। - म.भा. - ५.२.४.) अतः अनुवर्त्तमान वृद्धि पद की अदेङ् के साथ सम्बद्ध होने की आशंका निर्मूल है।

२. अनुवृत्ति के विषय में लघुशब्देन्दुशेखरकार नागेश भट्ट का मत है कि अनुवर्त्तमान पद संज्ञि-परक ही होते हैं क्योंकि जिस सूत्र से अनुवृत्त होते हैं उस सूत्र में वे संज्ञापरक होते हैं। उस सूत्र में वे पद संज्ञावाचक होने से संज्ञी का बोध कराकर विरत हो जाते हैं। अन्यत्र सूत्रों में यदि वे पद अनुवृत्ति द्वारा दृश्यमान हैं तो संज्ञापरक हो ही नहीं सकते। स्वादिषु० (१.४.१७.) सूत्र में अनुवृत्त पद शब्द संज्ञा वाचक हो सकता है क्योंकि यहां पद में वही विधेयता धर्म है जो सुप्तिङन्तं पदम् (१.४.१४.) के पद में है। प्रकृत परिभाषा सूत्र

में वृद्धिरादैच् का वृद्धि पर विधेय है और अनुवर्त्तमान वृद्धि पद 'इको गुणवृद्धी' में आकर उद्देश्य कोटि में आ जाता है।

ष्णान्ताषट् (१.१.२४.) में अनुवर्त्तमान संख्या पद पुनः संज्ञी का बोधक है क्योंकि 'बहुगणवतुडति संख्या' सूत्र (१.१.२३.) में संख्या पद संज्ञावाचक है अतः उद्देश्य कोटि में हैं, उसके विधेय बहु-गण-वतु और डति हैं। ष्णान्ता षट् (१.१.२४.) में वही संख्या पद विधेय है अतः यहाँ वह अर्थपरक या संज्ञी वाचक है। 'लक्षण प्रतिपदोक्त' परिभाषा से यहाँ निर्वाह नहीं हो सकता क्योंकि प्रतिपदोक्त पद का तात्पर्य साक्षात् उच्चरित पद से है। इसी आधार पर 'विधौ परिभाषोपतिष्ठते नानुवादे' का आरम्भ किया गया है। यह पदोपस्थापिका परिभाषा है इसीलिए वृत्ति में 'विधीयते' पद का अध्याहार किया गया है।

३. गुण वृद्धी स्वसंज्ञया विधीयमाने इक एव स्थाने स्तः। इयं परिभाषा, नाधिकारः अस्वरितत्वात्। सा चानियम प्रसङ्गे नियमो विधीयते इति। यत्र साक्षात् स्थानी न निर्दिष्टः 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' - 'सिचि वृद्धि०' इत्यादि तत्रैव स्थानि नियमार्था प्रवर्त्तते। न 'अचोञ्णिति' इत्यादौ स्थानि निर्देशात्। (प्रक्रिया कौमुदी प्रसाद टीका)

४. यद्यपि तदनुवृत्तयैव सिद्धे सामर्थ्याच्छब्दव्यापाराश्रयणेन लभ्यते मूलोक्तार्थः तथापि मन्दबुद्धिसाधारण्येन स्फुटत्वायैवमेवोक्तम्। (शब्दरत्न)

❀❀❀

आद्यन्तौ टकितौ
(१.१.४६)

सूत्रार्थ - प्रकृत परिभाषा सूत्र में ट और क का द्वन्द्व समासकर उसका इत् पद के साथ बहुब्रीहि समास किया गया है। इत् संज्ञक टकार से युक्त (धुट् आदि) जिस शब्द से विहित होता है उसका आदि अवयव होता है और इत् संज्ञक ककार से युक्त (कुक् आदि) जिस शब्द को विहित है उसका अंतिम अवयव होता है। ('टित्कितौ यस्योक्तौ तस्य क्रमादाद्यन्तावयवौ स्तः' - वै सिद्धान्त कौमुदी 'आदिष्टिद् भवति, अन्तः किद् भवति षष्ठी निर्दिष्टस्य' - काशिका) काशिका के अनुसार षष्ठीनिर्दिष्ट शब्द को कहा गया टित् आदेश उसके आदि में और कित् आदेश उसके अन्त में होता है। 'षष्ठी स्थाने योगा (१.१.४९.)' परिभाषा सूत्र का यह अपवाद है। परिभाषा सूत्र का अपवाद होने से ही इसमें भी परिभाषात्त्व है।

न्यासकार के शब्दों में - 'षष्ठी स्थाने योगा' इत्यस्याः परिभाषाया अयमपवादः । तेन तत्सम्बन्धादस्यापि परिभाषात्त्वं विज्ञायते ।

व्याख्या - सूत्र में टकितौ पद का आद्यन्तौ के साथ अन्वय करते समय यह सन्देह उपस्थित हो सकता है कि टित् का अन्वय, आदि और अन्त दोनों के साथ होता है अथवा केवल आदि के साथ। लोक व्यवहार में भी द्वन्द्व समासों के परस्पर अन्वय में यह शंका उपस्थित होती है । उदाहरणार्थ - 'अजाविधनौ देवदत्तयज्ञदत्तौ' कहने पर देवदत्त और यज्ञदत्त की सम्पत्ति अजा और भेड है - यह अर्थ बोध होता है। इस वाक्यार्थ से यह स्पष्ट नहीं होता कि अजा किसकी सम्पत्ति है और भेड किसकी सम्पत्ति है ? सामान्यतः अजा और भेड दोनों प्रकार की सम्पत्ति, देवदत्त और यज्ञदत्त दोनों के पास है, इस प्रकार अर्थ प्रतीति होती है। इस लोक व्यवहार के समान शास्त्र में भी प्रकृत प्रसंग में टित् और कित् दोनों का संबंध आदि और अंत के साथ संभव है।

उपर्युक्त अनुपपत्ति के संबंध में भाष्यकार का मत है कि लौकिक दृष्टान्त के आधार पर सर्वत्र शास्त्र की व्यवस्था नहीं करनी चाहिए। जहाँ लोक व्यवहार और शास्त्रीय व्यवस्था में भिन्नता प्रतीत होती है वहाँ शास्त्रकार विशेष प्रयास करते हैं तथा संभाव्य दोषों का निवारण करते हैं। यही कारण है कि लोक में क्रम व्यवस्था होने पर भी आचार्य पाणिनि 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' - (१.३.१०.) के द्वारा समसंख्यक विधियों में क्रमानुसार कार्य की व्यवस्था करते हैं।

आद्यन्तौ में अन्वय विषयक संदेह समास के कारण उत्पन्न होता है ऐसी बात नहीं है। समास न करने पर भी 'देवदत्तस्य यज्ञदत्तस्य च अजा अवयश्च धनम्' इस वाक्यावस्था में भी उक्त संदेह हो सकता है । समास करने से यह संदेह प्रबल हो जाता है। इस संदेह का निवारण यथासंख्यमनुदेशः समानाम् (१.३.१०.) के द्वारा हो जाता है तथा टित् का संबंध आदि से और कित् का संबंध अन्त से किया जाता है।

टित् और कित् का स्वरुप - टित् और कित् क्रमशः आदि और अन्त में होते हैं - यह सूत्रार्थ निष्पन्न हुआ । अव प्रश्न यह है कि टित् और कित् का स्वरुप क्या है ? यदि इन्हें आगम मानें तो

शब्द नित्यत्त्व में बाधा उपस्थित होती है। वैयाकरणों के अनुसार शब्द नित्य होता है। वह एक ही स्वरुप में स्थित होता है। उसमें उत्त्पत्ति, विनाश आदि कोई विकार नहीं होता। ('नित्येषु नाम शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः' - म. भा.) आगम किसी न किसी रुप में आगमी का अवयव बनता है। अतः नित्य शब्द में यह आगम - आगमी की कल्पना अनुचित है। सूत्र पठित आदि और अन्त शब्द अवयव वाची है। आदेश की कल्पना में यह दोष नहीं है। एक नित्य शब्द के स्थान पर दूसरे नित्य शब्द को आदिष्ट मानकर प्रयोगार्ह माना जा सकता है। इस धारणा से शब्द नित्यत्व में हानि नहीं होगी। जैसे - जरायाजरसन्यन्यतरस्याम् (७.२.१०१.) सूत्र में जरा शब्द को जरस् आदेश कहा गया है। इस प्रसंग में जरा और जरस्, दो शब्द हैं, दोनों नित्य हैं। सूत्र ने यही व्यवस्था की है कि जरा शब्द का उच्चारण प्रसंग होने पर जरस् शब्द का उच्चारण किया जाए। इस प्रतिपत्ति से जरा शब्द का नाश नहीं हुआ और न जरस् शब्द की उत्त्पत्ति हुई। 'आदेशप्रत्यययोः' - (८.३.५९.) आदि सूत्रों में भी इसी रीति से अर्थ बोध किया जाएगा। जैसे - हरि शब्द की सप्तम्यर्थ की विवक्षा में हरि + सु न कहकर, हरिषु कहना चाहिए। इस स्थल पर जराया जरस्० के समान प्रतीति नहीं कराई जा सकती क्योंकि जरा शब्द उच्चारण योग्य है या सार्थक है। हरि + सु का उच्चारण प्रसंग तो संभव नहीं क्योंकि हरि + सु प्रक्रियावस्था है, निरर्थक है। अतः 'आदेशप्रत्यययोः' का तात्पर्य यह मानना होगा कि हरि की सप्तम्यर्थ विवक्षा में सु के स्थान पर षत्त्वयुक्त षुकार का उच्चारण करना चाहिए।

आगम पक्ष में शब्द नित्यत्त्व की रक्षा - टित्-कित् को आगम मानने पर भी शब्द नित्यत्त्व की रक्षा संभव है। आगमों को भी आदेश ही माना जाए। वह इस प्रकार हो सकता है कि आगम रहित शब्दों के स्थान पर आगम सहित का आदेश किया जाए। यह कल्पना युक्ति संगत है। क्योंकि प्रकृत प्रकरण संज्ञाओं का है। अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय में प्रायः संज्ञासूत्रों का उपदेश है। इस परिभाषा सूत्र की संज्ञा सूत्र के रुप में व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है। इस सूत्र में आदि और अन्त शब्दों का उल्लेख है ही, इसके अनन्तर टित् और कित् का भी उल्लेख है। इस प्रकार संपूर्ण सूत्र का अर्थ इस रुप में किया जा सकता है - इत् संज्ञक टकार आदि की संज्ञा है तथा इत् संज्ञक ककार अंत की संज्ञा है। इसमें टित् और कित् संज्ञाएं हैं तथा आदि और अंत संज्ञी। (संज्ञाधिकारोऽयम्। आद्यन्तौ चेह संकीर्त्येते टकारककारा वितावुदाहियेते तत्राद्यन्तयोष्टकारककारावितौ संज्ञेभविष्यतः। - म.भा. (१.१.४६.) इस आधार पर आर्धधातुकस्येड् वलादेः (७.२.३५.) सूत्र में पठित इट् (टित्) संज्ञा शब्द है जिसका अर्थ है आदि

इस प्रक्रिया में इट् में बहुव्रीहि समास मानना होगा। इत् संज्ञक टकार का अर्थ 'आदि' होने से 'इट्' इस समस्त पद का अर्थ होगा - इकार आदि में है जिसके अर्थात् इकारादि। इस प्रकार वलादि आर्धधातु को इकारादि आदेश सिद्ध हुआ। उदाहरणार्थ - तव्य, स्य आदि वलादि आर्धधातुक प्रत्ययों को इतव्य, इस्य इत्यादि आदेश होंगे और भवितव्यम् - भविष्यति इत्यादि उदाहरणों की सिद्धि होगी।

निष्कर्षतः संज्ञाधिकार पक्ष में टित्, कित् को क्रमशः आदि अन्त मानने पर 'अनागमकानां सागमका आदेशाः' इस सिद्धान्त की उपपत्ति हो जाती है।

सूत्र की अतिव्याप्ति और उसका समाधान - टित् और कित् में अन्य पदार्थ प्रधान बहुव्रीहि समास मानने पर 'लुङ्लङ्लृक्ष्वड्डुदात्तः' - (६.४.७१.) सूत्र में अट् के विग्रह में अनुपपत्ति होती है। सूत्र

पठित उदात्त पद का अन्वय अट् से होता है किन्तु अट् में बहुब्रीहि समास मानने पर संपूर्ण अङ्ग से उसका अन्वय होगा और परिणाम स्वरुप सम्पूर्ण अङ्ग को उदात्त की प्रसक्ति हो जाएगी। अट् का विग्रह होगा - अकार टित् (आदि में) है जिसके वह अङ्ग अट् कहा जाएगा, उदात्त पद उसका विशेषण हो जाएगा। इस अनुपपत्ति या अतिप्रसक्ति के निवारणार्थ भाष्यकार ने समाधान प्रस्तुत किया है जिसका आशय है - सूत्र पठित अट् में बहुब्रीहि समास न मानकर सम्पूर्ण 'अड्डदात्तः' को त्रिपद बहुब्रीहि समास माना जाए। इस त्रिपद बहुब्रीहि में उदात्त का अन्वय अ के साथ किया जाए। ऐसा करने पर अड्डदात्तः का अर्थ होगा उदात्त अ आदि में है जिसमें ऐसा आदेश लुङ्, लङ्, लृङ् लकारों में होता है। इस प्रकार 'अड्डदात्तः' की व्यवस्था निर्दोष सिद्ध हो जाती है किन्तु इस सूत्र के पश्चात् पठित आडजादीनाम् (६.४.७२.) सूत्र में अनुवृत्त होने वाले उदात्त पद की अनुवृत्ति कैसे हो सकेगी ? इस आशंका पर भाष्यकार का कथन है कि 'आडजादीनाम्' सूत्र की आवश्यकता ही नहीं है। (अजादीनामटा सिद्धम् - म.भा. - १.१.४६.) अजादि धातुओं को अडागम (६.४.७१.) करने पर भी अभीष्ट सिद्धि हो जाती है।[1]

शब्द नित्यत्व की रक्षा के लिए टित् और कित् को आगम न मानकर आगमरहित शब्द के स्थान पर आगम सहित को आदेश मानना अथवा टित् और कित् को क्रमशः आदि और अंत की संज्ञा मानकर टकार आदिर्यस्य या ककारोऽन्त्यो यस्य इस प्रकार बहुब्रीहि परक विग्रह करने की अपेक्षा प्रकृत सूत्र को परिभाषा सूत्र मानकर भी दोषों का निवारण संभव है। भगवान् भाष्यकार भी लौकिक दृष्टान्तों के द्वारा सूत्रकार की ग्रन्थ शैली का व्याख्यान करते हैं।

आचार्य पाणिनि की सूत्र पद्धति - सूत्रकार की यह शैली है कि वे पहले सामान्य रुप से प्रकृति का उपदेश करते हैं तत्पश्चात् वलादि आर्धधातुक प्रत्ययों का (जैसे-तव्य आदि का) उपदेश करते हैं। इसके अनन्तर इकार का उपदेश करते हैं। इस परम्परा में सूत्रकार का यह अभिप्राय अन्तर्निहित होता है कि वलादि आर्धधातुक प्रत्यय के प्रारम्भ में कभी इकार भी रहता है। संक्षेप में मूल प्रकृति वलादि आर्धधातुक प्रत्यय और इकार मिलकर एक स्वतंत्र शब्द 'भवितव्य' की निष्पत्ति की ओर संकेत करते हैं। जिस प्रकार लोक में यदि कोई व्यक्ति खैर (खदिर) और बबूल (बर्बुर) के वृक्षों के संबंध में किसी दूसरे व्यक्ति को जानकारी देना चाहता है तो वह पहले यही कहता है कि दोनों वृक्षों के तने सफेद होते हैं, दोनों की पत्तियाँ छोटी-छोटी होती हैं। इन शब्दों से दोनों वृक्षों की समानता बताने के पश्चात् दोनों वृक्षों की पृथक्-पृथक् विशेषताएँ बताता है जिनसे दोनों का भेद स्पष्ट प्रतीत हो जाता है। जैसे इन दोनों वृक्षों में खदिर की छाल मोटी और शुष्क होती है। इस विशेष निर्देश के द्वारा श्रोता को यह बोध हो जाता है कि खैर वृक्ष शुष्क और मोटी छाल वाला मूलतः बबूल से भिन्न वृक्ष है। कङ्कटवान् खदिरः अर्थात् खदिर में काँटे होते हैं। यह कहने पर श्रोता यह तो नहीं समझ लेता कि बबूल की छाल ही सूखकर खैर बन जाती है।

शास्त्र में उपर्युक्त लौकिक दृष्टान्त के समान ही आनुपूर्वी से शब्दान्तर का उपदेश किया जाता है। सर्व प्रथम मूल प्रकृति का उसके पश्चात् वलादि आर्धधातुक का और अन्त में इकार का उपदेश किया जाता है। इस इकार में श्रोता को आगम वुद्धि हो जाती है। वस्तुतः 'भवितव्य' शब्द मूलतः नित्य ही है किन्तु इसके विशकलित रुप का ज्ञान होने के लिए सूत्रकार उपर्युक्त प्रक्रिया अपनाते हैं। इस प्रकार शास्त्र प्रक्रिया निर्वाह के लिए काल्पनिक प्रकृति - प्रत्यय - आगम आदि का उपदेश करने पर शब्द

नित्यत्त्व में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती। (अथवैतयानुपूर्व्याऽयं शब्दान्तरमुपदिशति प्रकृतिम्, ततो वलाधार्धधातुकम्, ततः पश्चादिकारं, यस्मिंस्तस्यागमबुद्धिर्भवति। - म.भा.)

टित् और कित् प्रत्ययों में परिभाषा की अतिप्रसक्ति - प्रकृत परिभाषा सूत्र के अनुसार टित् को आदि में और कित् को अन्त में करने पर 'चरेष्टः' (३.२.१६.) 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३.२.३.) सूत्रों से विहित ट और क प्रत्यय क्रमशः टित् और कित् होने से धातु के आदि और अन्त में होने लगेंगे। इन टित् और कित् प्रत्यय में परिभाषा की प्रवृत्ति को नियंत्रित करने के लिए वचनारम्भ करना होगा। 'प्रत्ययः' (३.१.१.) और 'परश्च' (३.१.२.) सूत्रों से स्वयंमेव इस दोष का निवारण हो सकता है यह धारणा असंगत है। प्रत्ययः, परश्च सूत्र आद्यन्तौ टकितौ सूत्र से पर होने के कारण परत्त्वात् बाधक मानना अनुचित है क्योंकि आद्यन्तौ० सूत्र उक्त दोनों सूत्रों का अपवाद है। अतः यह स्वयं अपवादत्त्वात् प्रत्ययः और परश्च का बाध करता है। इसीलिए मिदचोऽन्त्यात्परः (१.१.४७.) को भी 'षष्ठी स्थाने योगा' (१.१.४९.) और प्रत्ययः परश्च का अपवाद कहा गया है।

वस्तुतः इस स्थल पर मिदचोऽन्त्यात् परः (१.१.४७.) का दृष्टान्त उचित नहीं है। मिदचोऽन्त्यात् परः में सूत्र से विहित श्नम् प्रत्यय में इत् संज्ञक मकार की अन्य कहीं भी चरितार्थता नहीं है। अतः मकार इत् संज्ञक के सामर्थ्य से मिदचो० सूत्र षष्ठी स्थाने० और प्रत्ययः परश्च का अनवकाशत्त्वात् बाधक होता है। प्रकृत प्रसंग में इत् संज्ञक ककार और टकार को अन्यत्र चरितार्थता है। अतः टित्करण सामर्थ्य या कित् करण सामर्थ्य से यहाँ आद्यन्तौ टकितौ को अपवाद मानना युक्ति संगत नहीं है। चरेष्टः (३.२.१६.) के टित्त्व का प्रयोजन कुरुचरी में प्रत्यक्ष होता है। कुरुचर शब्द टित् होने के कारण 'टिड्ढाणञ्द्वय०' (४.१.१५.) सूत्र से ङीप् होकर कुरुचरी प्रयोग सिद्ध होता है। 'आतोऽनुप०' के कित् करण का प्रयोजन - गोदः - कम्बलदः आदि प्रयोगों में आतो लोप इटि च (६.४.६४.) से आकार का लोप होता है। इस प्रकार आद्यन्तौ टकितौ अनवकाशत्त्वात् बाधक नहीं कहा जा सकता।

पूर्व पक्षी इस स्थल पर 'आद्यन्तौ टकितौ' को 'परश्च' का अपवाद सिद्ध करना चाहता है। अपवाद सिद्ध होने पर 'चरेष्टः' से विहित ट प्रत्यय चर् धातु के आदि में होकर अनिष्ट रुप की आपत्ति हो जाएगी। सिद्धान्ती के रुप में भाष्यकार का अभिमत है कि आद्यन्तौ० सूत्र अपवाद नहीं हो सकता। प्रत्ययः, परश्च सूत्र परत्त्वात् आद्यन्तौ के बाधक हैं। इसमें तर्क यह है कि 'चरेष्टः' और 'आतोऽनुपसर्गे' सूत्रों में प्रत्ययों के टित्करण और कित्करण का जो प्रयोजन या अन्यत्र चरितार्थता प्रदर्शित की गई है उसका आधार टित् और कित् प्रत्ययों का परत्त्व विधान ही है। प्रयोजन उसे कहते हैं जो नियमानुकूल है। (प्रयोजनं नाम तद्वक्तव्यं यन्नियोगतः स्यात्। यदि चायं नियोगतः परः स्यात्तत एतत् प्रयोजनं स्यात्। - म.भा.) प्रकृत स्थल पर टित् और कित् यदि नियमानुसार पर में होते तब तो उपर्युक्त प्रयोजन सिद्ध हो सकते। कुरुचरी में ट प्रत्यय और गोदः में क प्रत्यय परश्च सूत्र के अनुसार पर में होते तब ये प्रयोजन (टित् का प्रयोजन स्त्री प्रत्यय में ङीप् होना और कित् प्रयोजन आकार का लोप होना) सार्थक कहे जा सकते थे। किन्तु ये प्रत्यय पर में होते हैं इसी का निर्धारण अभी नहीं हुआ है। 'आद्यन्तौ टकितौ' से टित् प्रत्यय आदि में और कित् प्रत्यय अन्त में भी हो सकता है।

निष्कर्षतः टित्करण और कित्करण का अन्यत्र उचित प्रयोजन या उपयोग परिलक्षित न

होने के कारण टित्करण और कित्करण के सामर्थ्य से चरेष्टः और आतोऽनु० से विहित टित् और कित् प्रत्यय के परिप्रेक्ष्य में आद्यन्तौ० को परश्च का अपवाद माना जा सकता है। अपवाद होने पर 'टकितोराद्यन्तविधाने प्रत्यय प्रतिषेधः' यह वार्त्तिकारम्भ आवश्यक हो जाता है। 'परश्च' सूत्र से कार्य सिद्ध नहीं हो सकता।

टित् के सम्बन्ध में यथाकथंचित् 'परश्च' सूत्र से समाधान संभव है, क्योंकि टित् प्रत्यय को युगपत् आदि में (आद्यन्तौ० से) और पर में (परश्च से) करना संभव नहीं है। अतः असंभव रूप विरोध होने के कारण परश्च सूत्र बाधक हो सकता है। कित् के संबंध में यह युक्ति कथमपि उचित नहीं है। कित् पर में होकर एक साथ अन्त में भी किया जा सकता है। अतः आद्यन्तौ और परश्च में परस्पर कोई विरोध नहीं दिखता। इस प्रकार कित्त्व के संबंध में परत्वात् बाध होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

सम्प्रति विचारणीय है कि यदि परत्वात् बाध न हो तो क प्रत्ययान्त प्रयोगों की सिद्धि में क्या अनुपपत्ति हो सकती है ? आध्योः - प्रध्योः आदि प्रयोगों पर विचार करें तो प्रतीत होगा कि इनमें उपसर्गे घोः किः (३.३.९२.) सूत्र से विहित कि प्रत्यय यदि कित्त्वात् धातु का अन्तावयव मानें तो प्रधि + ओस्, आधि + ओस् में ओस् प्रत्यय को प्राप्त उदात्त स्वर नोङ् धातोः (६.१.१७५.) सूत्र से प्रतिषिद्ध हो जाएगा।[१] टित् के संबंध में 'परवचनात् सिद्धम्' पर पुनर्विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि टित् के लिए भी यह समाधान उचित नहीं है। 'चरेष्टः' सूत्र में ट प्रत्यय टित् होने से आद्यन्तौ के द्वारा चर के आदि में ही प्राप्त है। इसके निवारणार्थ यत्न करना आवश्यक है।

इस प्रकार 'आद्यन्तौ टकितौ' सूत्र परश्च का अपवाद ही सिद्ध होता है। 'आद्यन्तौ टकितौ' सूत्र में टित्त्व का प्रयोजन कुरुचरी प्रयोग में ङीप् (टिड्ढाणञ्० - ४.१.१५.) का मानना उचित है। टित्त्व का प्रयोजन 'गापोष्टक्' (३.२.८.) सूत्र में विहित टक् प्रत्यय में परिलक्षित होता है। 'सामगः सोमपः' उदाहरणों में साम उपपदपूर्वक गा धातु से टक् विहित है। टक् प्रत्यय टित् होने से धातु का आदि - अवयव मानें अथवा कित् होने के कारण अन्त्यावयव मानें ? यह संदेह उपस्थित होता है। विप्रतिषेधे परं कार्यम् (१.४.२.) की सहायता से आद्यवयव और अन्त्यावयव के मध्य परस्पर विरोध की स्थिति में आद्यवयव का बाध होता है और परत्वात् टक् प्रत्यय धातु का अन्त्यावयव होता है। यहाँ परत्व का निर्धारण आद्यन्तौ० में अन्त शब्द पर में पठित होने से हो जाता है। इस प्रकार टक् प्रत्यय साम + गा, सोम + पा धातुओं से पर होने पर सामगी, सोमपी आदि रूपों की सिद्धि ङीप् प्रत्यय के द्वारा हो सकती है। तात्पर्य यह हुआ कि टित् प्रत्यय की गापोष्टक् सूत्र में चरितार्थता है।

उपर्युक्त विवरण से यह सिद्ध हुआ कि टित् और कित् के सम्बन्ध में 'परवचनात् सिद्धम्' यह समाधान युक्ति युक्त नहीं। टित् के संबंध में 'आद्यन्तौ टकितौ' का अपवादत्त्व निर्बाध है। टित् प्रत्यय अपवादत्त्वात् आदि में होंगे जिसके परिणाम स्वरूप 'चरेष्टः' में दोष पूर्ववत् विद्यमान रहेगा।[१] कित्करण के विषय में परवचनात् सिद्धम् का उपयोग ही नहीं है क्योंकि कित् प्रत्यय का अन्त में होना और (आद्यन्तौ० से) अथवा परश्च से पर में होना युगपत् संभव होने से दोनों में विप्रतिषेध की स्थिति ही नहीं बनती। निष्कर्षतः 'परवचनात् सिद्धम्' वार्त्तिक खण्डित हो जाता है तथा टित् - कित् प्रत्ययों के संबंध में पूर्वोक्त दोष (टकितोराद्यन्त विधाने प्रत्यय प्रतिषेधः - प्रत्यय आदिरन्तो व मा भूत्-चरेष्टः - ३.२.१६.,

आतोऽनुत्सर्गे कः - ३.२.३.) यथावस्थित हैं।

सिद्धान्त रुप में यह समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है कि प्रकृत परिभाषा सूत्र को षष्ठी के प्रकरण में पठित किया जाए। षष्ठी विभक्ति का उच्चारण कर जिन विधि सूत्रों में टित् या कित् का विधान है वहाँ आद्यन्तौ० की उपस्थिति होती है और टित् को आदि अवयव तथा कित् को अन्त्य अवयव बनाती है। इस प्रकार परिभाषा सूत्र का अर्थ बोध होने पर चरेष्टः आदि सूत्रों में टित् होने पर भी परिभाषा उपस्थित नहीं होगी, क्योंकि सूत्र में षष्ठी विभक्ति उच्चरित नहीं है, 'चरेः' पञ्चम्यन्त है। प्रत्यय विधायक सूत्रों में पञ्चमी विभक्ति उच्चरित होती है, षष्ठी नहीं, अतः प्रकृत परिभाषा की प्रवृत्ति का प्रश्न उपस्थित नहीं होता।

वस्तुतः पाणिनीय सूत्रों में स्थान परिवर्तन अथवा शब्द परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। प्रकृत परिभाषा से अभीष्ट सिद्धि हेतु परिभाषा सूत्र को षष्ठी प्रकरण में स्थानान्तरित करना आवश्यक नहीं। सूत्र पठित शब्दों में ही षष्ठ्यर्थ निहित है। इसमें आदि और अन्त शब्द अवयव वाचक हैं। अवयवार्थ बोध के लिए षष्ठी विभक्ति आवश्यक होती है। अवयव-अवयवी संबंध की बोधिका षष्ठी विभक्ति का अर्थ सूत्र में अन्तर्निहित है। लोक में जैसे - देवदत्त आदि में बैठा है या अन्त में बैठा है कहने पर निश्चित रुप से यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि - किसके आदि में या किसके अन्त में बैठा है ? आदि और अन्त शब्द साकांक्ष होने से सूत्र पठित आद्यन्तौ० पर भी षष्ठ्यर्थ के प्रयोजक हैं। प्रत्यय विधायक सूत्रों में टित् और कित् प्रत्यय श्रूयमाण होने पर भी वहाँ षष्ठी का प्रयोग न होने से प्रकृत परिभाषा की उपस्थिति नहीं होती। इस प्रकार चरेष्टः में टित् प्रत्यय और आतोऽनुपसर्गे० में कित् प्रत्यय देखकर उसमें आदित्त्व और अन्तत्त्व की संभावना करना व्यर्थ है।[४]

शब्द निमित्तको नामार्थः - भाषा शास्त्र की दृष्टि से यह स्वयं सिद्ध है कि लोक में अर्थ प्रतिपादन के लिए शब्द प्रयोग किया जाता है। शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है। शब्द की विद्यमानता में ही अर्थ का बोध होता है। शब्द के अभाव में अर्थ का बोध नहीं होता। यह सामान्य नियम है। किन्तु भाष्यकार ने 'आद्यन्तयोर्वा षष्ठ्यर्थत्त्वात्' कहकर प्रत्यय प्रकरण में (चरेष्टः आदि सूत्रों में) परिभाषा की प्रवृत्ति को नियंत्रित किया है। प्रत्यय विधायक सूत्रों में षष्ठी विभक्ति का श्रवण न होने से षष्ठ्यर्थ के वाचक आदि और अन्त शब्दों की उपस्थिति नहीं होती। (आद्यन्तयोर्वाषष्ठ्यर्थत्त्वात् तदभावेऽसम्प्रत्ययः) भाष्यकार के उपर्युक्त वचन के आधार पर अर्थबोध पूर्णतः शब्द पर निर्भर है। वस्तुतः इसके विपरीत अनुभूति भी होती है। शब्द स्वयं अर्थ निमित्तक होता है। इसी लिए शिक्षाकारों ने कहा है - 'आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया' अर्थात् आत्मा बुद्धि से अर्थो को संगृहीत कर उन्हें अभिव्यक्त करने के लिए मन को युक्त करता है। इस वचन के अनुसार अर्थ निमित्तक शब्द प्रयोग होता है। इस आधार पर चरेष्टः आदि सूत्रों में षष्ठी के अप्रयोग से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सूत्रकार को यहाँ षष्ठी का अर्थ अभीष्ट या विवक्षित नहीं है। कैयट के शब्दों में 'शब्दभावाभावाभ्यामर्थभावाऽभावयोः शब्द निमित्तकत्वमर्थस्य प्राप्तं तच्च पुनर्नयुक्तम्। ज्ञापको हि शब्दोऽर्थस्य न तु कारकः। अर्थ एव शब्दस्य प्रयोजकस्तत्प्रतिपादनाय शब्द प्रयोगः। अप्रयोगाच्चानुमीयते नूनमर्थ एवात्र प्रयोजको नास्ति शब्दप्रयोगं यः प्रयुञ्जीत - प्रदीप ' प्रत्यय विधायक सूत्रों में प्रकृति से पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है। अतः षष्ठ्यर्थ के प्रतिपादक आदि और अन्त शब्दों की उपस्थिति कराने वाले प्रस्तुत परिभाषा सूत्र की प्रवृत्ति

संभव नहीं है।

इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि कभी-कभी प्रत्यय विधायक सूत्रों में भी षष्ठी विभक्ति का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। जैसे - 'गापोष्टक्' - (३.२.८.), 'व्रीहिशाल्योर्ढक्' - (५.२.२.) सूत्रों में गापोः और व्रीहिशाल्योः पद षष्ठ्यन्त हैं। षष्ठ्यन्त होने से इनमें पुनः षष्ठ्यर्थ आदि और अन्त की प्रवृत्ति संभाव्य है। टक् और ढक् में कित्त्वात् पद उपस्थित हो सकता है। प्रदीपकार ने इस आशंका का समाधान किया है। कैयट के शब्दों में इन सूत्रों में आनन्तर्य संबंध में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग है। यहाँ अवयव-अवयवी भाव संबंध की वाचक षष्ठी नहीं है। 'प्रत्ययः परश्च' - (३.१.१., २.) सूत्रों की आगामी प्रत्येक सूत्रों में अनुवृत्ति होती है अतः इन सूत्रों में भी प्रत्यय-परत्त्व स्वाभाविक रुप से अनुवृत्त होता है। आद्यन्तौ० परिभाषा की अनुवृत्ति का दूसरा कारण यह भी है कि यहाँ प्रत्ययों के विधान में कोई आशंका उपस्थित नहीं होती। परिभाषासूत्र तो आवश्यकता होने पर या आशंका की पूर्ति के लिए विधिसूत्रों में प्रवृत्त होकर सहायक होते हैं। इन विधि सूत्रों में यदि प्रत्यय विधान में कोई आशंका नहीं है तब परिभाषा सूत्र की उपस्थिति का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार 'गापोष्टक्' आदि सूत्रों में धातोः का अधिकार होने से सम्पूर्ण सूत्र का अर्थ निष्पन्न होता है - गा और पा धातुओं के अनन्तर टक् प्रत्यय होता है। 'गापोष्टक् व्रीहिशाल्योर्ढगित्यादावप्यानन्तर्यसम्बन्धे षष्ठी। न त्ववयवावयविसंबंधे, प्रत्यय परत्त्वेन प्रतियोगं संनिहितेनाकाक्षाविच्छेदादनर्थित्वादस्या अनुपस्थानात्।' - (प्रदीप म.भा. - १.१.४६.)।

निष्कर्षतः षष्ठी विभक्ति की विद्यमानता या षष्ठ्यर्थ गम्यमान होने पर ही प्रकृत परिभाषा प्रवृत्त होती है।

❀❀❀

शब्द संकेत

१. अजादीनामटा सिद्धं वृद्ध्यर्थमेति चेदटः । अस्वपो हसतीत्यत्र धातौ वृद्धिमटः स्मरेत् ।।१।।
परुपं गुणे नाट ओमाङोरुसि तत्समेम् । छन्दोऽर्थं बहुलं दीर्घमिणस्त्योरन्तरङ्गतः ।।२।।

भाष्य पठित उपर्युक्त श्लोक-वार्त्तिकों का आशय यह है कि अजादि धातुओं को अट् आगम करने से ही ऐज्यत, औप्यते इत्यादि रुप सिद्ध हो सकते हैं। आट् आगम की आवश्यकता नहीं है। आटश्च से होने वाली वृद्धि अब अटश्च से हो सकती है। आटश्च के स्थान पर अटश्च सूत्रारम्भ करना होगा। किन्तु अटश्च सूत्रारम्भ करने पर 'अस्वपो हसति' प्रयोग में स्वप् धातु से लङ्, सिप्, शब्लुक् और धातुको अडागम - (६.४.७१.) सिप् प्रत्यय को भी अट् का आगम (६.३.१९.) प्रत्यय के स् को रुत्त्व विसर्ग होकर 'अस्वपः' तिङन्त सिद्ध होता है। इससे अनन्तर 'हसति' क्रिया आने पर स को विसर्ग न होकर उत्त्व (६.१.११४.) और गुण (६.१.८७.) होता है तब अस्वपो हसति सिद्ध होता है। अब 'अटश्च' सूत्रारम्भ होने पर वृद्धि हो जाएगी और अनिष्ट रुप सिद्ध होगा। इस दोष के निवारणार्थ - अट् से परे अजादि धातु होने पर ही वृद्धि होती है, यह सूत्रार्थ करना होगा। 'अटश्च' सूत्र में 'धातु' ग्रहण के लिए 'उपसर्गादृति धातौ' - (६.१.९१.) का योग विभाग किया जाएगा। 'उपसर्गादृति' एक सूत्र होगा और 'धातौ' दूसरा सूत्र। यह 'धातौ' पूर्वपठित - १. अटश्च, २. उपसर्गादृति, दोनों सूत्रों का शेष होगा। इस व्यवस्था से अटश्च और उपसर्गादृति दोनों सूत्रों से विहित् वृद्धि धातु के परे रहने पर होगी। इस व्यवस्था से 'अस्वपो हसति' का दोष दूर होता है किन्तु आटीत् - आशीत् इत्यादि स्थलों पर अट् और अश् धातु को आट् आगम होने पर ह्रस्व अकार न होने से 'अतो गुणे' - (६.१.९७.) की प्राप्ति नहीं होती थी परन्तु अब आट् के स्थान पर अट् करने पर वृद्धि का बाध होकर पर रुप हो जाएगा। इस दोष के निवारणार्थ 'नाटः' कहकर पररुप का निषेध बताना होगा। 'नाटः' वार्त्तिकारम्भ करने से 'ओम्, आङ् और उस्' के परे पररुप का निषेध करने वाला 'उस्योमाङ्क्ष्वाटः प्रतिषेधः' - (६.१.१५. - वार्त्तिक - १.) वार्त्तिक अन्यथा सिद्ध हो जाएगा।

कतिपय छान्दस प्रयोगों में जैसे - आदैक्, आयुनक् और आवः में रिच्, युज् और वृ धातु अजादि न होने पर भी आट् आगम - (६.४.७३.) दृष्टिगोचर होता है। इनकी सिद्धि अट् आगम से नहीं हो सकती। इनकी सिद्धि 'अन्येषामपि दृश्यते' - (६.४.१७३.) के द्वारा हो जाएगी।

२. 'चरेष्टः' - (३.२.१६.) में टित्करण की सार्थकता कुरुचरी में 'टिड्ढाणञ्द्वय०' - (४.१.१५.) सूत्र से ङीप् प्रत्यय में कही गई। इसका खण्डन इस आधार पर किया गया कि ट प्रत्यय पर में होने पर ही टित्करण की सार्थकता 'टिड्ढाणञ्द्वय०' में दिखाई जा सकती है। ट प्रत्यय के परत्त्व में ही अभी संदेह है। प्रश्न यह है कि 'टिड्ढाणञ्द्वय०' सूत्र से टित् प्रत्ययान्त को ङीप् प्रत्यय का उदाहरण कौन सा होगा ? इस प्रश्न के समाधान हेतु टक् प्रत्यय

(गापोष्टक् - ३.२.८.) उद्धृत किया गया। टक् प्रत्यय विप्रतिषेधे० न्याय से कित्त्वात् धातु का अन्त्यावयव होगा और स्त्रीत्त्व की विवक्षा में टित्त्वात् टिड्ढाणञ्द्वय० सूत्र से ङीप् होकर सोमपी सामगी रुप सिद्ध होंगे। इस प्रकार 'टिड्ढाणञ्द्वय०' सूत्र चरितार्थ होगा।

३. 'आद्यन्तयोर्वा षष्ठ्यर्थत्त्वात्तदभावे षष्ठ्या अभावे - असंप्रत्ययः स्यात्। आदिरन्तो वा न भविष्यति।' - म.भा. - (१.१.४६.)

४. उद्योतकार नागेश भट्ट के शब्दों में - 'कार्याऽभावेन कारणाभावोऽनुमीयते। यदा नदीपूराऽभावेनोपरिदेशे वृष्ट्यभाव इति भावः। एवं कार्याभावात् कारणाभावानुमाने कारणाऽभावात् कार्यमपि नेति निगमयति।' - म. भा. - (१.१.४६.)

❀❀❀

मिदचोऽन्त्यात्परः
(१.१.४७)

सूत्रार्थ - सूत्र में पठित अचः में निर्धारणार्थ षष्ठी विभक्ति है तथा जाति वाचक होने से एकवचनान्त है। पूर्व सूत्र (आद्यन्तौ टकितौ - १.१.४६.) से अन्त पद की अनुवृत्ति होती है इस प्रकार सम्पूर्ण सूत्र का यह अर्थ निष्पन्न होता है - 'मित् आगम जिस शब्द को कहा गया है वह, उस शब्द में विद्यमान अचों में से अन्तिम अच् के बाद होता है और उसका अवयव बन जाता है। भट्टोजी दीक्षित के शब्दों में - अचां मध्ये योऽन्त्यस्तस्मात्परस्तस्यैवान्तावयवोमित् स्यात्।'

प्रक्रिया कौमुदीकार इस स्थल पर अचः पद में दिग्योग लक्षणा पञ्चमी मानते हैं और 'अन्त्यादच परो मित् स्यात्' ऐसा सूत्रार्थ प्रतिपादित करते हैं। प्रक्रिया कौमुदीकार का यह मत युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता। इसे मानने पर 'शे मुचादीनाम्' - (७.१.५९.) सूत्र से विहित नुमागम (जो मित् है।) मुचादि धातुओं से नहीं हो पाएगा, क्योंकि मुचादि धातुओं में अन्त में अच् नहीं है। ये सभी धातुएं हलन्त हैं।[१] जब इनमें नुमागम नहीं हो पाएगा तब 'शे मुचादीनाम्' सूत्र ही व्यर्थ सिद्ध हो जाएगा। भट्टोजी दीक्षित द्वारा प्रतिपादित अर्थ के अनुसार मुचादि धातुएँ हलन्त होने पर भी उनमें विद्यमान अचों में जो अन्तिम अच् होगा उसके अनन्तर उसका अवयव बनकर नुमागम प्रवृत्त होगा। इस प्रकार मुञ्चति-लुम्पति, लिम्पति-सिञ्चति आदि रुपों की सिद्धि हो जाएगी। अतः प्रक्रिया कौमुदीकार का मत ग्राह्य नहीं है।

सूत्र का प्रयोजन तथा स्वरुप - भाष्यकार ने प्रस्तुत परिभाषा सूत्र के प्रयोजन की चर्चा करते समय यह प्रतिपादित किया है कि इस सूत्र से कौन-कौन से सूत्रों की व्यावृत्ति होती है। भाष्य वचन के अनुसार प्रकृत सूत्र षष्ठी स्थाने योगा - (१.१.४४.) और प्रत्ययः परश्च (३.१.१., २.) इन दोनों सूत्रों का अपवाद है। ('मिदचोऽन्त्यात्पर इति स्थानपरप्रत्ययाऽपवादः') सूत्र षष्ठी स्थाने योगा का अपवाद होने के कारण कुण्डानि, वनानि, पयांसि, यशांसि इत्यादि प्रयोग सिद्ध होते हैं। कुण्डानि-वनानि में कुण्ड और वन शब्दों से जस् प्रत्यय करने पर 'जश्शसोः शि' - (७.१.२०.) सूत्र से जस् को शि आदेश तथा नपुंसकस्य झलचः (७.१.७२.) सूत्र से नुमागम प्राप्त है। यहाँ षष्ठी स्थाने योगा परिभाषा के अनुसार 'अलोऽन्त्यस्य' - (१.१.५२.) की सहायता से अन्तिम अल् अर्थात् कुण्ड और वन के अन्तिम अकार के स्थान पर नुमागम की प्रवृत्ति हो जाती। इसी प्रकार पयस् - यशस् के अन्तिम सकार के स्थान पर नुम् हो जाता किन्तु प्रकृत परिभाषा के द्वारा षष्ठी स्थाने योगा का बाध होने के कारण नुमागम मित् होने से कुण्ड और वन के अन्तिम अच् (अकार) के बाद होता है। वह किसी के स्थान पर नहीं होता अपितु अन्तिम अकार के पश्चात् उसके अवयव के रुप में रहता है। पयांसि और यशांसि में भी पयस् और यशस् शब्दों से जस् और उसे शि होने पर नुमागम (नपुंसकस्य झलचः - ७.१.७२.) प्रकृतिभूत इन शब्दों के अन्तिम अच् (अकार) के बाद होता है और पयनुम्स् + शि, यश + नुम् + स् + शि, पयनस् + इ, यशन्स् + इ नान्त की उपधा को दीर्घ करने पर (सर्वनाम स्थाने चासम्बुद्धौ - ६.४.८.) यशांसि, पयांसि रुप सिद्ध होते हैं। यह नुम् अन्तिम अच् के बाद होने से अब आगम कहा जाएगा, आदेश नहीं।

प्रत्ययः परश्च (३.१.१., २.) का भी यह अपवाद है। इसका उदाहरण भिनति, छिनति

आदि प्रयोगों में दृष्टिगोचर होता ही इन रुपों में 'रुधादिभ्यः श्नम्' - (३.१.७८.) सूत्र से श्नम् का विधान है। प्रत्ययः परश्च सूत्र से यह श्नम्, छिद् और मिद् के पर में प्राप्त है। मित् होने के कारण प्रकृत परिभाषा के अनुसार अन्तिम अच् के बाद प्राप्त होता है। प्रत्यय परत्त्व का बाध होने पर छिद् और मिद् के अन्तिम अच् के अनन्तर इसकी स्थिति होती है तथा भि + श्नम् + द्, छि + श्नम् + द् = भिनद् छिनद् ये अङ्ग प्राप्त होते हैं।

बाध्य - बाधक भाव - इस प्रसंग में उत्सर्ग और अपवाद सूत्रों की बाध्य बाध्यकता पर विचार करना आवश्यक है। कुण्डानि वनानि आदि प्रयोगों में प्रकृत परिभाषा से 'षष्ठी स्थाने योगा' का बाध होना युक्तिसंगत है क्योंकि षष्ठी स्थाने० सूत्र से कुण्ड और वन के अन्तिम अकार को नुम् प्राप्त होता है और मिदचो० सूत्र से अन्तिम अकार के पश्चात् नुम् प्राप्त है। इस प्रकार एक ही नुम्, अकार के स्थान पर और अकार के पश्चात् प्राप्त है। ये दोनों कार्य युगपत् संभव नहीं है। 'असंभवे बाधकत्त्वम्' न्याय से 'मिदचो०' सूत्र को षष्ठी स्थाने० का अपवाद माना जा सकता है किन्तु पयांसि - यशांसि आदि प्रयोगों में यह नुम् पयस् और यशस् के अन्तिम सकार को (षष्ठी स्थाने०) हो सकता है और मिदचो० सूत्र के अनुसार अन्तिम अच् के (अकार के) अनन्तर भी हो सकता है। यहाँ दोनों सूत्रों से युगपत् कार्य करना संभव है। जब दोनों सूत्रों से कार्य करना संभव है तब बाध्य-बाधक भाव की कल्पना उचित नहीं है।

भाष्यकार ने इस शंका का समाधान लौकिक दृष्टान्तों के आधार पर प्रस्तुत किया है। भाष्यकार के अनुसार अपवाद के द्वारा उत्सर्ग या सामान्य शास्त्र का बाध होना - यह नियम अथवा सिद्धान्त धर्मशास्त्र में या श्रुतियों में घोषित नहीं है। इस विषय में लोक ही प्रमाण है।[२] लोक में ऐसे दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं जहाँ अपवाद और उत्सर्ग की युगपत् प्रवृत्ति संभव होने पर भी अपवाद के द्वारा उत्सर्ग का बाध हो जाता है। जैसे - यह कहा जाए कि सभी ब्राह्मणों को दही खिलाओ, परन्तु कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण को तक्र खिलाओ। इस घोषणा में कौण्डिन्य को दही (ब्राह्मण होने के कारण) और तक्र दोनों पदार्थ एक के बाद एक खिलाए जा सकते हैं, किन्तु उसे दही नहीं केवल तक्र ही दिया जाता है। तक्र दान के द्वारा दधि दान का बाध हो जाता है। इस लोक व्यवहार के समान शास्त्र में भी दो कार्य युगपत् संभव होने पर भी अपवाद के द्वारा उत्सर्ग बाधित होता है। इसी लिए पयांसि - यशांसि में अंतिम सकार के स्थान पर नुम् करना (षष्ठी स्थाने०) और अन्तिम अकार के बाद नुम् करना दोनों कार्य युगपत् संभव है, तथापि 'सत्यपि संभवे बाधनं भवति' न्याय से अपवाद सूत्र (मिदचो०) उत्सर्ग सूत्र (षष्ठी स्थाने०) का बाध करता है। इसके फलस्वरुप अन्तिम सकार के स्थान पर नुम् न होकर अन्तिम अकार के बाद नुम् होता है तथा पयांसि - यशांसि आदि रुप सिद्ध होते हैं।

परिभाषा की अतिव्याप्ति - १. मित् आगम, षष्ठी स्थाने० और प्रत्ययपरत्त्व का अपवाद सिद्ध हो जाने के पश्चात् कतिपय प्रयोगों में या विधि सूत्रों में परिभाषा की प्रवृत्ति होने से अभीष्ट सिद्धि नहीं होती अर्थात् परिभाषा में अतिव्याप्ति दोष दृष्टिगोचर होता है। जैसे - 'मस्जिनशोर्झलि नुम्' - (६.१.६०.) सूत्र से मस्ज् धातु को नुम् विहित है। मित् होने के कारण परिभाषा के अनुसार मस्ज् के अन्तिम अकार के बाद होगा, किन्तु अन्तिम अकार के बाद करने से मग्नः, मग्नवान् आदि रुप सिद्ध नहीं हो पाएंगे। मस्ज् धातु से निष्ठा प्रत्यय (३.२.१०२.) करने पर मस्जिनशो० से नुम् प्राप्त है। अन्तिम अकार के बाद नुम् करने पर मनुम्स्ज् + क्त इस स्थिति में धातु की उपधामें नकार नहीं मिलता। उपधा में नकार

न मिलने पर 'अनिदितां०' (६.४.३४.) से उसका लोप नहीं हो पाएगा। इस दोष के निवारणार्थ यह नुमागम (६.१.६०.) अन्तिम वर्ण (जकार) के पूर्व सकार को कहना होगा। तब मस्न्ज् + क्त में नकार का लोप स का संयोगादि लोप (स्को० - ८.२.२९.) जकार को चोः कुः (८.२.३०.) से कुत्त्व, निष्ठा के त को न करने पर मग्नः मग्नवान् रुप सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार मङ्क्ता - मङ्क्तुम् - मङ्क्तव्यम् आदि प्रयोगों में मस्ज् से ण्वुल् तृचौ (३.१.४६.) करने पर, नुम् आगम यदि अकार के बाद करेंगे तो मन्स्ज इस प्रकार संयोग प्राप्त होता है। इसमें सकार संयोगादि न होने से स्को०(८.२.२९.) सूत्र से उसका लोप नहीं हो पाएगा। लोप की सिद्धि के लिए नुमागम को अन्तिम जकार के पूर्व कहना पड़ेगा। इसी आशय को वार्त्तिक में भाष्यकार ने पढ़ा है - 'अन्त्यात्पूर्वो मस्जेरनुषङ्ग[३] संयोगादि लोपार्थम्।'

२. दूसरी अतिव्याप्ति भर्जि और मर्चि धातुओं को विहित मित् आगम के संबंध में है। भर्ज् धातु से अच् प्रत्यय करने पर धातु को ऊम् आगम होता है। (उणादिसूत्र) यह ऊमागम भर्ज् धातु के अन्तिम अच् के बाद होने से (मिदचो० के अनुसार) भरुजा रुप सिद्ध नहीं होगा। इसी प्रकार चुरादि की मर्च् धातु से णिच् प्रत्यय और उणादि सूत्र अच ईः (४.१.४१.) से इ प्रत्यय होता है। यहाँ उणादि सूत्र से ईमागम प्राप्त है, जो अन्तिम अच् के बाद होने से (मिदचो० से) मरीचिः रुप सिद्ध नहीं हो पाएगा। इन दोनों रुपों की सिद्धि के लिए ऊमागम और ईमागम को अन्तिम वर्ण के पूर्व कहना चाहिए। (मर्जिमर्च्योश्च - भा.वा.) तभी भरुजा और मरीचिः रुप सिद्ध हो सकते हैं।

वस्तुतः भर्जि और मर्चि से अभीष्ट रुपों की सिद्धि के लिए वार्त्तिक के द्वारा उपर्युक्त व्यवस्था करना आवश्यक नहीं है। निपातन के द्वारा उपर्युक्त रुपों की सिद्धि की जा सकती है। अङ्गुल्यादि गण में (५.३.१०६.) भरुजा शब्द पठित है तथा बाह्वादि गण में (४.१.९६.) मरीचि शब्द पठित है। इसके अतिरिक्त मृ कणिभ्यामीचिः (उणादिसूत्र - ४.६९.) सूत्र से भी मृ धातु से ईचि प्रत्यय होकर मरीचि रुप सिद्ध हो सकता है। अतः 'मर्जिमच्योश्च' वार्त्तिकारम्भ अनावश्यक है।

मित् आगम का आगमी के साथ संबंध - प्रकृत सूत्र में पूर्व सूत्र (आद्यन्तौ० - १.१.४५.) से आदि शब्द की अनुवृत्ति करने पर मित् के साथ उसका अन्वय होगा और सूत्रार्थ होगा मित् आगम अन्तिम अच् के बाद में होता है तथा पर का आदि अवयव बनता है। यदि अन्त शब्द की अनुवृत्ति करें तो मित् आगम शब्द के अन्तिम अच् के बाद होकर उसका (पूर्व का) अन्तिम अवयव माना जाएगा। यदि पूर्व सूत्र से आदि और अन्त दोनों शब्दों की अनुवृत्ति न करें तो मित् आगम न पूर्वान्त होगा और न परादि, अपितु स्वतंत्र माना जाएगा। आदि और अन्त पदों की अनुवृत्ति पर आधारित इन तीनों पक्षों पर आचार्यो ने पृथक्-पृथक् विचार व्यक्त किए हैं।

भट्टोजी दीक्षित ने - 'अचां मध्ये योऽन्त्यस्तस्मात् परस्तस्यैवान्तावयवो मित् स्यात्' कहकर मित् को पूर्व का अन्तिम अवयव माना है। भाष्यकार ने उपर्युक्त तीनों पक्षों में गुण दोषों की विवेचना की है तथा अन्त में पूर्वान्त पक्ष को निर्दुष्ट सिद्ध किया है। सर्वप्रथम मित् आगम को अभक्त अर्थात् स्वतंत्र मानने पर क्या-क्या अनुपपत्तियां संभावित हैं ? इस पर चर्चा करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि मित् आगम

को अभक्त (अभक्ते दीर्घनलोपस्वरणत्वानुस्वारशीभावाः - म.भा. वार्त्तिक -४) मानने पर :-

१) पहला दोष - कुण्डानि वनानि आदि प्रयोगों की सिद्धि नहीं होना है। इन प्रयोगों में कुण्डन् + शि, वनन् + शि इस स्थिति में 'सर्वनाम स्थाने चासम्बुद्धौ' (६.४.८.) सूत्र से नान्त की उपधा को दीर्घ होता है। यहाँ नुमागम को ('नपुंसकस्य झलचः' - ६.१.६२.) यदि अङ्ग का अवयव नहीं मानेंगे तो नकारान्त अङ्ग न मिलने से नकारान्त की उपधा को दीर्घ नहीं हो पाएगा।

२) दूसरा दोष - न लोप सिद्ध न होना। अग्ने त्री ते वाजिना त्री षधस्था (ऋग्वेद - ३.२०.२.) ता ता पिण्डानाम् (ऋग्वेद - १.१६२.१९.) इन वैदिक प्रयोगों में त्री और ता में 'न लोपः प्रतिपदिकान्तस्य' (८.२.७.) सूत्र से न का लोप नहीं हो पाएगा। त्री और तद् शब्दों से नपुंसक लिङ्ग के बहुवचन में त्रीणि और तानि रुप सिद्ध होते हैं। इनमें प्रत्यय के इ का सुपां सुलुक्० (६.१.३९.) सूत्र से लुक् होता है और उससे पूर्ववर्ती नुमागम के नकार को प्रातिपदिक का अन्तावयव मानकर 'न लोप०' से लोप होता है। अब अभक्त पक्ष में नुमागम किसी का अवयव न होकर अभक्त है अतः 'न लोप०' से उसका लोप संभव नहीं है।[४]

३) सर्वाणि ज्योतिषि में 'सर्वस्य सुपि' - (६.१.१९१.) सूत्र से सर्वाणि को आदि उदात्त स्वर होता है। अब सर्व और सुप् विभक्ति के मध्य नुम् का व्यवधान होने से सर्व के परे सुप् होने पर भी सर्व को विधीयमान स्वर नहीं हो सकता।

४) माषवापाणि ब्रीहिवापाणि आदि प्रयोगों में 'नपुंसकस्य झलचः' - (७.१.७२.) से विहित नुमागम को प्रातिपदिक का अन्तिम अवयव मानकर 'प्रातिपदिकान्त नुम् विभक्तिषु च' (८.४.११.) सूत्र से नुम् के नकार को णत्त्व होता है। नुम् को प्रातिपदिक का अन्तावयव मानने से णत्त्व की सिद्धि हो जाती है। (किन्तु नुम् को अभक्त मानने से णत्त्व नहीं हो सकता।)

वस्तुतः इस स्थल पर नुम् को प्रातिपदिकान्त न मानें तो भी विभक्ति के अन्तर्गत मानकर णत्त्व सिद्ध हो सकता है। प्रातिपदिकान्त या विभक्ति के अन्तर्गत दोनों न मानने पर अर्थात् अभक्त मानने पर भी णत्त्व की सिद्धि निर्बाध है क्योंकि सूत्र में 'नुम्' ग्रहण स्पष्ट रुप से किया गया है।

अतः अभक्त पक्ष में 'णत्त्व' विषयक दोष उपस्थित करना उचित नहीं है।

५) द्विषन्तपः, परन्तपः इत्यादि प्रयोगों में 'मोऽनुस्वारः' - (८.३.२३.) सूत्र से पदान्त के म को विहित अनुस्वार इस पक्ष में सिद्ध नहीं हो पाता। इन प्रयोगों में 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' - (६.३.६७.) सूत्र से द्विषत् और पर उपपदों का मुम् आगम होता है। यह मित् आगम इन उपपदों का अन्तावयव न मानें तो पदान्त म को अनुस्वार करने वाले मोऽनुस्वारः - (८.३.२३.) सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकती तथा अभीष्ट रुप सिद्ध नहीं हो सकता। अनुस्वार की सिद्धि के लिए 'नश्चापदान्तस्य झलि' (८.३.२४.) सूत्र का प्रयोग इन उदाहरणों में संभव है क्योंकि नश्चापदान्तस्य० (८.३.२४.) सूत्र में नकार और मकार का अपदान्त होने पर भी अनुस्वार हो जाता है। केवल झल् पर में होना चाहिए। अब प्रश्न यह है कि जहाँ झल्

पर में न हो ऐसे ('वहंलिहो गौः' 'अभ्रंलिहो वायुः' इत्यादि) स्थलों पर झल् पर में न होने से मुम् के मकार को अनुस्वार नहीं हो पाएगा। पदान्त न होने से माऽनुस्वारः (८.३.२३.) की प्रवृत्ति पहले ही अवरुद्ध हो गई।

६) मित् आगम को अभक्त मानने पर त्रपुणी, जतुनी, प्रभृति प्रयोगों में नपुंसकाच्च (७.१.१९.) सूत्र से औ के स्थान पर विहित शी आदेश भी नहीं हो सकता। त्रपु, जतु शब्दों से औ प्रत्यय करने पर औ को शी का विधान है। (नपुंसकाच्च - ७.१.१९.) इसके पूर्व 'इको ऽचि विभक्तौ' - (७.१.७३.) सूत्र पर और नित्य होने से पहले प्रवृत्त होकर त्रपु, जतु शब्दों को नुमागम होता है। नुमागम करने से त्रपुन् + औ, जतुन् + औ इस स्थिति में नुमागम को अङ्ग का अन्तावयव मानने से यदागम ('यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद् ग्रहणेन गृह्यन्ते' - परिभाषेन्दुशेखर) न्याय से जपुन् - त्रपुन् इन नकारान्त अङ्गों को नपुंसक अङ्ग मानकर औ के स्थान पर शी आदेश हो जाता है। नुमागम को अभक्त मानने से नपुंसक अङ्ग (त्रपु और जतु) और औ विभक्ति प्रत्यय के मध्य में नुमागम व्यवधान स्वरुप होगा तथा 'नपुंसकाच्च' की प्रवृत्ति को अवरुद्ध करेगा।

इस प्रकार मित् आगम को अभक्त मानने पर उपर्युक्त प्रयोगों में दोषों की संभावना है अतः अभक्त पक्ष खण्डित माना जाए।

मित् आगम के संबंध में दूसरा पक्ष मित् को परादि मानने का है। इस पक्ष पर सूक्ष्मता से विचार करने पर कतिपय अनुपपत्तियाँ सामने आती हैं। जैसे - त्रपुणे,जतुने, तुम्बुरुणे इत्यादि उदाहरणों में 'घेर्ङिति' - (७.३.१११.) सूत्र से गुण की प्राप्ति हो जाएगी, जिसका निषेध करना पड़ेगा। त्रपु आदि शब्दों से चतुर्थी एकवचन में ङे प्रत्यय करने पर 'इको ऽचि विभक्तौ' - (७.१.९३.) सूत्र से नुमागम होता है। यह नुमागम मित् होने से ङे प्रत्यय का आद्यवयव मानने पर त्रपु को प्राप्त घि संज्ञा (शेषो घ्यसखि - १.४.६.) यथावत् रहेगी। 'घेर्ङिति' - (७.३.१११.) सूत्र से त्रपु को गुण की प्राप्ति हो जाएगी जिससे अनिष्ट रुप सिद्ध होगा। इस दोष के निवारणार्थ ऐसे उदाहरणों में गुण का प्रतिषेध करना होगा।

दूसरा दोष 'अतिसखीनि ब्राह्मण कुलानि' प्रयोग में अतिसखि शब्द से विहित शि (जश्शसोः शिः - ७.१.२०.) प्रत्यय 'नपुंसकस्य०' (७.१.७८.) सूत्र से नुम् करने पर अतिसखि + नुम् + शि इस स्थिति में सख्युरसम्बुद्धौ - (७.१.९२.) सूत्र से नुमागम विशिष्ट शि को णिद्वत् मानने पर अचोञ्णिति - (७.२.११५.) सूत्र से अतिसखि के अन्तिम इकार को वृद्धि हो सकती है। इस वृद्धि का निषेध करना पड़ेगा।

त्रपु जतु आदि शब्दों के सप्तमी एक वचन के रुपों में त्रपु + नुम् + ङि, जतु + नुम् + ङि इस स्थिति में घि संज्ञक अङ्ग से परे नुम् विशिष्ट ङि प्रत्यय को 'अच्च घेः' - (७.३.११९.) सूत्र से औत्त्व की प्रसक्ति हो सकती है। इस औत्त्व के निषेध हेतु वचनारम्भ करना होगा।

कुण्डानि, वनानि आदि रुपों में नुमागम को परादि मानने पर कुण्ड + नुम् + शि, वन + नुम् + शि इस स्थिति में 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' - (६.४.८.) सूत्र से उपधा को दीर्घ नहीं हो

पाएगा क्योंकि इस सूत्र से नान्त की उपधा को ही दीर्घ होता है। इन प्रयोगों में सुपि च - (७.३.१०२.) सूत्र से दीर्घ हो भी सकता है। नुम् विशिष्ट शि प्रत्यय को यञादि सुप् मानकर 'सुपि च' से दीर्घ कार्य संभव है। किन्तु अस्थीनि, दधीनि, प्रियसखीनि, ब्राह्मण कुलानि आदि रुपों में नुम् को परादि मानने ('सर्वनामस्थाने०') से दीर्घ संभव नहीं है क्योंकि, नान्त उपधा नहीं मिलती। अकारान्त अङ्ग न होने से 'सुपि च' से भी दीर्घ नहीं हो सकता।

उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त मित् आगम को अभक्त या स्वतंत्र मानने पर जो आपत्तियाँ अथवा दोष प्रदर्शित किए गए थे, वे सभी इस परादि पक्ष में भी संभाव्य हैं। जैसे - अग्ने त्री ते वाजिना त्री षधस्था ता ता पिण्डानाम् आदि वाक्यों में त्री और ता रुपों में 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' - (८.२.६.) की प्रवृत्ति नहीं हो पाएगी क्योंकि प्रातिपदिकान्त नकार उपलब्ध नहीं है। द्विषन्तपः, परन्तपः में मुमागम (अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् - ६.३.६७.) को परादि मानने पर मकारान्त पद नहीं मिलेगा और मोऽनुस्वारः (८.३.२३.) से अनुस्वार नहीं हो पाएगा। यहाँ 'नश्चापदान्तस्य०' - (८.३.२०.) से अपदान्त के मकार को झल् परे अनुस्वार हो भी जाए तो 'वहंलिहो गौः' 'अभ्रंलिहो वायुः' इन वाक्यों में लिह् परे रहते अनुस्वार न हो पाएगा क्योंकि लकार झल् नहीं है। इसी प्रकार त्रपुणी, जतुनी इत्यादि उदाहरणों में नुमागम सहित औ को शी आदेश न हो जाए (नपुंसकाच्च - ७.१.१९.) इस हेतु वचनारम्भ करना होगा अन्यथा अभीष्ट रुपों की सिद्धि नहीं होगी। 'निर्दिश्यमानस्यादेशाः भवन्ति' परिभाषा के अनुसार इस स्थल पर निर्दिश्यमान औ विभक्ति के स्थान पर ही शी आदेश कर उक्त दोष का निवारण करना संभव नहीं है क्योंकि इस स्थिति में भी 'नपुंसकाच्च' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि नपुंसक अङ्ग और औ विभक्ति के मध्य नुमागम का व्यवधान हो रहा है।

इस प्रकार सभी दृष्टिकोणों से मित् आगम को पर का अवयव मानना दोष ग्रस्त है। मित् आगम को अभक्त या पर का आदि अवयव मानने पर विभिन्न प्रयोगों में संभाव्य अनुपपत्तियों की चर्चा के पश्चात् मित् आगम के पूर्वान्त पक्ष पर विचार करना आवश्यक है। पूर्वान्त पक्ष के संबंध में भाष्यकार लिखते हैं - 'पूर्वान्ते नपुंसकह्रस्वत्वं द्विगुस्वरश्च' - (म.भा. - १.१.४६. वार्तिक)

पूर्वान्त पक्ष में आराशस्त्रिणी और धानाशष्कुलिनी प्रयोगों पर विचार करें। इन प्रयोगों में समाहार द्वन्द्व है। आरा च शस्त्री च आराशस्त्रि। समुदाय के द्वित्त्व की विवक्षा में द्विवचन का औ प्रत्यय होता है। आराशस्त्री + औ इस स्थिति में नपुंसकह्रस्वत्त्व - (२.४.१७.) की पूर्व तथा नुमागम (इकोऽचि विभक्तौ - ७.१.७३.) की प्राप्ति है। आरा शस्त्री + नुम् + औ, नुमागम नित्य और पर होने के कारण ह्रस्व के पहले हो जाता है और आराशस्त्री + नुम् + औ स्थिति बनती है। इस स्थिति में नुमागम को पूर्वान्त मानने पर आराशस्त्रीन् अजन्त प्रातिपदिक न होने से ह्रस्व नहीं हो सकता। अचश्च - (१.२.२८.) परिभाषा सूत्र के अनुसार जहां कहीं भी सूत्रों में ह्रस्व, दीर्घ या प्लुत का विधान होता है, वहाँ 'अचः' यह षष्ठ्यन्त पद उपस्थित होता है। नुमागम को पूर्वान्त मानने से प्रातिपदिक अजन्त नहीं रह जाता अतः ह्रस्व की प्रवृत्ति नहीं हो पाती। इस प्रकार आराशस्त्रिणी रुप सिद्ध नहीं हो पाता। (धानाशष्कुलिनी की सिद्धि को भी इसी प्रकार समझा जाए। इसमें धानाश्च शष्कुल्यश्च = धानाशष्कुलि विग्रह होता है। धानाशष्कुलि के द्विवचन में धानाशष्कुलि + नुम् + औ, औ को शी आदेश (नपुंसकाच्च) करने पर धानाशष्कुलिनी रुप सिद्ध होता है।

दूसरा दोष निष्कौशाम्बिनी और निर्वाराणसिनी सदृश्य प्रयोगों में संभावित है। इन प्रयोगों में 'निरादयः कान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' - (वार्त्तिक - २.२.१८.) से पञ्चमी तत्पुरुष समास है। 'एक विभक्ति चापूर्वनिपाते' - (१.२.४४.) सूत्र से पञ्चम्यन्त की उपसर्जन संज्ञा होती है। 'गोस्त्रियोरुपसर्जस्य' - (१.२.४८.) सूत्र से भी उपसर्जन संज्ञक को ह्रस्व प्राप्त है। 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' - (१.२.४७.) सूत्र से भी ह्रस्व हो सकता है तथापि परत्त्वात् उपसर्जन ह्रस्वत्त्व करना ही उचित है। प्रदीपकार कैयट ने इस स्थल पर उपसर्जन ह्रस्वत्त्व (१.२.४८.) की परत्त्वात् प्रवृत्ति दर्शायी है। ('नपुंसकह्रस्वत्त्वमुपसर्जनह्रस्त्वेन परत्त्वात् बाध्यते' - कैयट, म.भा. - १.१.४७.)। उद्योतकार नागेश, कैयट के उपर्युक्त वचन से सहमत नहीं हैं। (यद्यपि कार्यैक्ये यौगपद्याऽसम्भवेन विरोधाभावेन परत्त्वादित्यसङ्गतम् - उद्योत) तथापि उपर्युक्त दोनों प्रयोगों में ह्रस्व से पूर्व नुमागम प्राप्त है किन्तु नुमागम नित्य कार्य है अतः नुमागम करने पर निष्कौशाम्बी + नुम् + शी, निर्वाराणसी + नुम् + शी में नुमागम को पूर्वान्त मानने पर निष्कौशाम्बीन् और निर्वाराणसीन् - ये अङ्ग अजन्त अङ्ग नहीं हैं अतः अजन्त न होने से इन्हें ह्रस्व नहीं हो पाएगा। दोनों सूत्रों में (१.२.४७. और १.२.४८.) में ह्रस्व विधि अजन्त को ही होती है। (सूत्र अचश्च - १.२.२८.)।

पूर्वान्त पक्ष में तीसरा दोष - द्विगु स्वर की सिद्धि में अनुपपत्ति की आशंका हो सकती है। जैसे - पञ्चारत्निनी, दशारत्निनी प्रभृति प्रयोगों में इको ऽचि विभक्तौ - (७.१.१७३.) से नुमागम करने पर उस नुम् आगम को पूर्व पद का अन्तावयव मानें तो पञ्चारत्निन्, दशारत्निन् शब्द अजन्त न होने से इगन्तकालकपालभगालशरावेषु द्विगौ - (६.२.२९.) सूत्र से पूर्व पद को प्रकृति स्वर की प्राप्ति नहीं होगी, क्योंकि उत्तर पद अरत्निन् इगन्त नहीं है। नुमागम नित्य कार्य होने से स्वर विधि के पहले होता है। (परान्नित्यं बलवत्) इस प्रकार पूर्वान्त पक्ष में दो स्थलों पर दोष प्रसक्ति है।

उपर्युक्त दोषों का निवारण 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे'[५] परिभाषा से संभव है। नित्य से अन्तरङ्ग बलवान होता है। नुमागम (इको ऽचि०) कार्य अन्तरङ्ग है। इसी प्रकार नुमागम की दृष्टि से स्वर विधि (इगन्तकाल०) भी अन्तरङ्ग है। अन्तरङ्ग की दृष्टि से बहिरङ्ग कार्य असिद्ध होते हैं। अतः ह्रस्व और स्वर विधि की दृष्टि में नुमागम असिद्ध हो जाएगा तथा ह्रस्व और पूर्व पद प्रकृति स्वर की सिद्धि हो जाएगी।

इस प्रकार पूर्वान्त पक्ष के दोषों का निरसन हो जाएगा। द्विगु स्वर की सिद्धि के लिए एक अन्य युक्ति भी दी जा सकती है, जो इस प्रकार है - आगम, समुदाय का अवयव माना जाता है, इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह यदि समुदाय के किसी अवयव के बाद स्थित है तो उस अवयव के स्वरुप का नाश कर देता है। पञ्चारत्नि० इस द्विगु समास में अरत्नि जो उत्तर पद में है, इसमें नुमागम होने पर वह नुमागम संपूर्ण पञ्चारत्नि० का अन्तावयव बनता है। संपूर्ण समास का अन्तिम अवयव बनने पर वह नुमागम सामासिक शब्द 'पञ्चारत्निन्' के इगन्तत्त्व का नाश तो कर सकता है किन्तु उत्तर पद में विद्यमान अरत्नि पद के इगन्तत्त्व का विनाशक नहीं होता। (संघातभक्तोऽसौ नोत्सहतेऽवयवस्येगन्ततां विहन्तुम् - म.भा. - १.१.४६.) अतः सामासिक शब्द पञ्चारत्नि को नुमागम होने पर भी उत्तर पद 'अरत्नि' का इगन्तत्त्व यथावत् रहता है। इगन्त होने से 'इगन्तकाल०' (६.२.२०१.) सूत्र से द्विगुस्वर की प्राप्ति निर्बाध रहती है।

अन्त में सूत्र की सर्वाङ्ग समीक्षा करने पर यह सिद्ध होता है कि मित् आगम के सम्बंध में - १. अभक्त, २. परादि, ३. पूर्वात पक्षों की उद्भावना की गई। उनमें अभक्त और परादि पक्षों में अनेक अनुपपत्तियाँ हैं। पूर्वान्त पक्ष में जो आशंका व्यक्त की गई, उसका समाधान हो गया अतः पूर्वान्त पक्ष ही निर्दुष्ट है और वही भाष्य सम्मत है। प्रदीपकार कैयट स्पष्ट शब्दों में कहते हैं -

'तदत्र निर्दोषत्त्वात्पूर्वान्त पक्षः स्थितः।' - (प्रदीप म. भा. - १.१.४६.)

❀❀❀

शब्द संकेत

१. मुचादि गण में निम्नलिखित धातुएँ पठित हैं :-
मुच्लृ, लुप्लृ, विद्लृ, लिप्, षिच्।

२. "नैवेश्वर आज्ञापयति, नापि धर्मसूत्रकाराः पठन्ति, 'अपवादैरुत्सर्गा बाध्यन्ता' मिति। किं तर्हि। लौकिकोऽयं दृष्टान्तः। लोके हि सत्यपि संभवे बाधनं भवति। तद्यथा दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयतां तक्रं कौण्डिन्यायेति सत्यपि संभवे दधिदानस्य तक्रदानं निवर्तकं भवति। एवमिहापि सत्यपि संभवेऽचामन्त्यात्परत्वं षष्ठी स्थाने योगत्वं बाधिष्यते।" - म. भा.

३. उपधा के नकार की अनुषङ्ग संज्ञा है। तीन अथवा अधिक व्यंजनों का संयोग होने पर उनका समुदायरुप से सभी का संयोग होता है, उनमें से दो-दो व्यञ्जनों का नहीं। इस पक्ष का अवलम्ब कर उपर्युक्त दोष की उद्भावना की गई है। द्रष्टव्य - हलोऽनन्तराः संयोगः - १.१.६.-वार्किक 'समुदाये संयोगादिलोपे मस्जेः')

४. नुम् को अभक्त मानने पर प्रातिपदिकान्त० - (८.४.११.) सूत्र में नुम् ग्रहण आवश्यक सिद्ध हो जाता है। नुम् को पूर्वान्त मानने पर इसकी आवश्यकता नहीं रहती। वस्तुतः यह सिद्धान्त पक्ष नहीं है। 'प्रातिपदिकान्त०' सूत्र में नुम् पद तीनों पक्षों में सर्वथा आवश्यक है। उत्तर पद में नकारान्त प्रातिपदिक होने पर गर्गाणां भगिनी, गर्गभगिनी आदि प्रयोगों में णत्त्व की निवृत्ति के लिए नुम् चरितार्थ है। नुम् अभक्त होने पर भी सूत्र में इसका ग्रहण आवश्यक है, अन्यथा गर्गभगिनी में णत्त्व की प्रसक्ति हो जाएगी। (उत्तर पदस्य प्रातिपदिकस्यान्तस्तत्र नकारो गृह्यते, गर्गाणां भगिनी गर्गभगिनीत्यत्र णत्त्वं मा भूदित्यवश्यं नुमो ग्रहणं कर्त्तव्यम् - कैयट)

उद्योतकार के शब्दों में - 'एवं च सर्वपक्षेष्वपीदमावश्यकमिति भावः'।

५. 'न वा बहिरङ्गलक्षणत्त्वात्' - म.भा. वार्त्तिक - (१.१.४६.) नुमागम सुप् प्रत्यय के परे रहने पर होता है। (इको ऽचि विभक्तौ - ७.१.७३.) अतः वह बहिरङ्ग होता है। ह्रस्व कार्य और स्वर विधि के लिए किसी सुप् प्रत्यय की निमितता आवश्यक नहीं है। (ह्रस्वोनपुंसके० - १.२.४७. और गोस्त्रियो० - १.२.४८.) इस प्रकार ह्रस्व और स्वर विधि अन्तरङ्ग होने से बहिरङ्ग कार्य नुमागम को असिद्ध कर देते हैं। असिद्ध होने से ह्रस्व और स्वर विधि पहले हो जाती है और उसके पश्चात् नुमागम होकर पञ्चारत्निनी रुप सिद्ध होता है। (स्वरह्रस्वौ च विभक्ति निरपेक्षत्त्वादन्तरङ्गौ।)

एच इग्घ्रस्वादेशे
(१.१.४८)

सूत्र का स्वरुप एवं अर्थ - यह नियामक परिभाषा है, इसका अर्थ है कि एच् अर्थात् ए, ओ, ऐ, औ इन चार वर्णों को शास्त्र द्वारा ह्रस्व करने का प्रसंग हो तो इनके स्थान पर इक् अर्थात् इ, उ, ऋ, लृ में से जो स्थानी के सदृश्य हो वही आदेश होता है। इक् के अतिरिक्त अन्य कोई ह्रस्व आदेश नहीं होता।

सूत्र का प्रयोजन - एच् के स्थान पर ह्रस्वादेश की कर्त्तव्यता में सवर्ण एच् अथवा ह्रस्व अकार की निवृत्ति के लिए प्रकृत सूत्रारम्भ है। भाष्यकार के शब्दों में 'एच इग्वचनं सवर्णाकार निवृत्यर्थम्' (म.भा.वा. - १) एच् प्रत्याहार में ए, ओ, ऐ, औ ये चार वर्ण सम्मिलित हैं। ये चारों संध्यक्षर हैं। एकार में अ और इ तथा ओकार में अ और उ मिले हैं। ऐकार में भी अ और इ तथा औकार में अ और उ मिले हैं। इनमें से ए और ओ में अकार ऐसा प्रश्लिष्ट रुप से मिला हुआ है कि पांसूदकवत् उनको विभक्त नहीं किया जा सकता। ऐ और औ में अकार मिला तो है, किन्तु तिलतण्डुलवत् विश्लिष्ट है, अतः उसका विभाग किया जा सकता है। इनके उच्चारण में इ और उ का स्पष्ट अनुभव होता है। इस मूलभूत भेद के कारण एङ् (ए - ओ) के लिए प्रकृत परिभाषा सूत्र का भिन्न प्रयोजन है और ऐच् (ऐ - औ) के लिए भिन्न।

इक् प्रत्याहार में इ, उ, ऋ, लृ ये चार वर्ण आते हैं। इनमें से ह्रस्व विधि में ऋ, लृ का प्रसंग न होने से इस सूत्र में इनका कोई प्रयोजन नहीं है।

एङ् (ए और ओ) को जहाँ ह्रस्वादेश कहा गया है वहाँ द्विमात्रिक एङ् के स्थान पर एकमात्रिक एङ् का आदेश ह्रस्व के रुप में संभाव्य है जिसकी निवृत्ति के लिए प्रकृत परिभाषा सार्थक है। इस परिभाषा के आरम्भ सामर्थ्य से एङ् के स्थान पर इ - उ ही ह्रस्व होते हैं। यद्यपि इन सन्ध्यक्षरों में अकार भी सम्मिलित है किन्तु वह प्रश्लिष्ट होने के कारण ह्रस्वादेश की कर्तव्यता में ह्रस्व अकार की संभावना नहीं है। इसीलिए भाष्यकार ने 'एङो ह्रस्वादेशशासनेषु अर्ध एकारो ऽर्ध ओकारो वा मा भूदिर्ति' कहकर एङ् के स्थान पर अर्ध एकार, अर्ध ओकार की निवृत्ति के लिए सूत्र की सार्थकता स्वीकार की है।

इसी प्रकार ऐच् (ऐ - औ) में ह्रस्वादेश कर्त्तव्यता में कभी अवर्ण हो सकता है और कभी इवर्ण या उवर्ण। ऐच् (ऐ - औ) इन संध्यक्षरों में अकार का विभाग संभव है क्योंकि इनमें अकार पांसूदकवत् संश्लिष्ट नहीं है। प्रकृत सूत्र के बल से इकार या उकार ही ह्रस्व होंगे अकार नहीं। उदाहरणार्थ - शोभना द्योः अस्मिन् दिने तत् सुद्यु दिनम्। गोः समीपम् - उपगु। इन प्रयोगों में द्यो और गो शब्द ओकारान्त हैं। समास होने के पश्चात् ये नपुंसक लिङ्ग में व्यवहृत होते हैं। नपुंसक लिङ्ग की विवक्षा में 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' - (१.२.४७.) सूत्र से ह्रस्व प्राप्त है। प्रकृत नियम के अनुसार उकार ही ह्रस्व होता है क्योंकि उकार रुप इक् को ही ह्रस्व का विधान है। ऐकारान्त और औकारान्त शब्दों के ह्रस्व विधान का उदाहरण प्ररि और सुनु - प्रयोगों में प्राप्त होता है। प्रकृष्टाः रायः यस्मिन् कुले तत् प्ररिकुलम्। शोभना नावः यस्मिन् सरसि तत् सुनु सरः। यहाँ रै और नौ शब्दों को ह्रस्व

(ह्रस्वो नपुंसके०) प्राप्त है जो इस परिभाषा के सामर्थ्य से ऐकार के स्थान पर इकार और औकार के स्थान पर उकार रुप इक् होता है।

एकारान्त को ह्रस्व का उदाहरण प्रयोग में संभव नहीं है तथापि वृत्तिकारों ने कल्पित किए हैं। जैसे - स्मृतः इः (विष्णुः) येन सः स्मृतेः। शोभनः स्मृतेः यस्य कुलस्य तत् सुस्मृतिकुलम् इस प्रयोग में एकार को ह्रस्व की प्राप्ति नपुंसक लिङ्ग में है। प्रकृत सूत्र से इकार रुप ह्रस्व होकर 'सुस्मृति' रुप सिद्ध होता है। न्यासकार ने एकारान्त का उदाहरण अतिहे दिया है। हे शब्दमतिक्रान्तं ब्राह्मणकुलम् अतिहे - ए को ह्रस्व करने पर अतिहि रुप सिद्ध होता है।

विधि नियमयोर्विधिरेव ज्यायान् - कतिपय वैयाकरण इस सूत्र को नियामक न मानकर विधिसूत्र मानने के पक्ष में हैं क्योंकि नियम पक्ष में अनुवाद में दोष प्रसक्ति होती है। इनके मत में स्वतंत्र विधि सूत्र मानकर[१] इसकी अर्थ निष्पत्ति करने पर सूत्रार्थ होगा - एच् को ह्रस्व की प्राप्ति होने पर इक् आदेश होता है। इस स्थिति में 'स्थानेऽन्तरमः' - (१.१.५०.) के अनुसार द्विमात्रिक एच् के स्थान पर द्विमात्रिक इक् (दीर्घ इक्) आदेश होने लगेंगे। इस पक्ष में यह स्वतंत्र विधि सूत्र मानने से इग्विधायक विधिसूत्र के साथ इसकी एकवाक्यता नहीं हो सकती अर्थात् ह्रस्वादेश का आशय ह्रस्व की कर्त्तव्यता में 'एचः इक्' - एच् के स्थान पर इक् आदेश होगा। स्थान सादृश्य से स्थानी यदि दीर्घ है तो आदेश (आदिश्यमान) इक् भी दीर्घ हो जाएंगे।

उक्त संभावना को भाष्यकार ने 'मिदचो०'- (१.१.४६.) सूत्र के भाष्य में स्पष्ट किया था। वस्तुतः परिभाषा सूत्रों में विधिसूत्रों के समान नवीन कार्यों के विधान का सामर्थ्य नहीं होता। वे तो केवल विधि सूत्रों की प्रवृत्ति को नियमित करते हैं और इष्ट रुपों की सिद्धि में सहायता करते हैं। प्रकृत परिभाषा सूत्र भी केवल निवर्तक ही हैं। ('दीर्घप्रसङ्गस्तु निवर्तकत्त्वात् '- म.भा. वा.- २) तत्तत् विधिसूत्रों में जहाँ ह्रस्व का विधान किया गया है वहाँ यह निर्देश नहीं है कि ह्रस्वादेश इक् (इ, उ, ऋ, लृ) किए जाएँ अथवा अनिक्। इस प्रकार अनिक् के संबंध में उत्पन्न अनियमितता या अनिश्चितता का प्रकृत परिभाषा से निवारण होता है। इस प्रकार परिभाषा सूत्र के पूर्वोक्त दो प्रयोजन 'एच इग्वचनं सवर्णाकार निवृत्यर्थम्' सिद्ध होते हैं।

प्रयोजनों की अन्यथा सिद्धि - भाष्यकार और वार्त्तिककार भी सूत्र के इन प्रयोजनों से सहमत नहीं हैं। सवर्ण निवृत्ति रुप प्रथम प्रयोजन् के संबंध में वे कहते हैं - 'सिद्धमेङः सस्थानत्त्वात्' इसका भाव यह है कि एङ् अर्थात् ए, ओ वर्णो के समान स्थान वाले एक मात्रिक ह्रस्व एकार और ओकार 'स्थाने ऽन्तरतमः' की सहायता से प्राप्त होने की संभावना व्यक्त की गई, वह खण्डित है। अर्ध एकार और अर्ध ओकार लोक में प्रचलित नहीं हैं। वैदिक उद्धरणों में[१] जो इनके प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं वह पार्षद कृति है। लोक में किसी भी वेद की शाखा में एकमात्रिक एकार, ओकार या ह्रस्व एकार, ओकार का अस्तित्त्व नहीं है। जब अस्तित्त्व ही नहीं है तब प्राप्त होने की संभावना कैसे हो सकती है ?

दूसरा प्रयोजन - अकार की निवृत्ति प्रतिपादित है। यह भी प्रत्याख्येय है क्योंकि एङ् में अकार प्रश्लिष्ट होने के कारण विभक्त नहीं हो सकता अतः संध्यक्षरों (ए-ओ) में से इकार, उकार ही

ह्रस्व के रुप में आदिष्ट होंगे। इस प्रकार एङ् के लिए प्रकृत सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है। तालव्य एकार के स्थान पर तालव्य इकार और ओष्ठ्य ओकार के स्थान पर ओष्ठ्य उकार स्वयं सिद्ध हैं।

दूसरे प्रयोजन के अन्तर्गत ऐच् अर्थात् ऐकार, औकार के स्थान पर ह्रस्व की कर्त्तव्यता में इक् रुप ह्रस्व अन्यथा सिद्ध है। ऐकार औकार में अकार विश्लिष्ट है अतः इनका आदेश के रुप में होना संभाव्य है यह कथन उचित नहीं, क्योंकि इन संध्यक्षरों में अकार की अपेक्षा इकार, उकार की मात्रा अधिक है। (ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वात् - म. भा. वा. - ४) मात्राधिक्य होने से इकार, उकार ही ह्रस्वादेश होंगे यह स्वाभाविक है। जिस प्रकार किसी गाँव में ब्राह्मण अधिक हों तो वह ब्राह्मणों का गाँव कहलाता है। ब्राह्मणों के बाहुल्य या आधिक्य से उस गाँव का नाम ही ब्राह्मण ग्राम पड़ जाता है। यद्यपि इस गाँव में कम से कम कुम्हार, चमार, बढ़ई, नाई और धोबी ये पाँच शिल्पी तो अवश्य रहते ही हैं। तथापि ब्राह्मणों के आधिक्य से ब्राह्मण-ग्राम संज्ञा हो जाती है। इसी प्रकार ऐ, औ में अकार की मात्रा अल्प और इकार, उकार की मात्रा अधिक होने से अधिक मात्रा वाला वर्ण आदेश होगा और इकार, उकार का ही ह्रस्व कर्त्तव्यता में ग्रहण होगा।

इस प्रकार ए, ओ, ऐ, औ इन चारों संध्यक्षरों को ह्रस्व कर्त्तव्यता में इक् ही होता है। उसकी सिद्धि के लिए सूत्रारम्भ आवश्यक नहीं है।

सूत्र की आवश्यकता - एओङ, ऐऔच् इन माहेश्वर सूत्रों के भाष्य में भाष्यकार ने सन्ध्यक्षरों पर विस्तृत चर्चा की है।[३] संध्यक्षरों के उपदेश के संबंध में दो पक्ष उत्थापित हैं। - १. तपरकरण पक्ष, २. अतपर पक्ष। तपर करण पक्ष में संभाव्य गुण दोषों पर विचार करते हुए सिद्धान्ततः अतपर पक्ष की स्थापना की गई है। 'अतपर एच इग्ह्रस्वादेशे' वार्तिक के द्वारा ए, ओ, ऐ, औ को अतपर उच्चारित (उपदिष्ट) करने पर 'एच इग्ह्रस्वादेशे' सूत्र आवश्यक हो जाता है किन्तु अन्त में यह प्रतीत होता है कि अतपर पक्ष में भी प्रकृत सूत्र अनावश्यक है।

अर्ध एकार, अर्ध ओकार के संबंध में पाणिनि का अभिमत - कतिपय आचार्यो ने ह्रस्व एकार, ह्रस्व ओकार अर्थात् अर्ध एकार, अर्ध ओकार की सत्ता प्रतिपादित की है जिसके प्रमाण स्वरुप वे सामवेद के सात्यमुग्रि और राणायनीय शाखा के अध्ययन करने वाले सामवेदीय मंत्रों को उद्धृत करते हैं। भगवान् भाष्यकार ने इन मंत्रों के लिए 'पार्षदकृतिरेषा' कहकर लोक में इनकी स्वीकृति को अमान्य किया है। आचार्य पाणिनि भी संभवतः इसके पक्ष में न थे। यदि आचार्य पाणिनि को अर्ध एकार, अर्ध ओकार स्वीकार्य होता तो प्रत्याहार सूत्रों में ह्रस्व एकार, ह्रस्व ओकार ही पढ़ा जाता। ये अण् प्रत्याहार के अन्तर्गत आने से 'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः' - (१.१.६९.) इस ग्रहणक शास्त्र के बल से ह्रस्व एकार, ओकार अपने सवर्णी दीर्घ और प्लुतों के ग्राहक हो जाते। जिस प्रकार अ, इ, उ वर्ण ह्रस्व पठित हैं। ग्रहणक शास्त्र के द्वारा अपने-अपने सवर्णियों का ग्रहण कराते हैं। अदेङ गुणः सूत्र में दीर्घ एकार, ओकार का पाठ हो जाता है, जिससे अकार, एकार और ओकार की गुण संज्ञा सिद्ध हो जाती। आचार्य पाणिनि ने इस प्रकार व्यवस्था का संकेत नहीं किया अतः स्पष्ट है कि उन्हें ह्रस्व एकार, ओकार स्वीकार्य नहीं थे। पार्षदों के पाठ में प्रचलित अर्ध एकार, ओकार सर्वमान्य नहीं थे, इसीलिए भाष्यकार लिखते हैं - 'न तौ स्तः। यदि हि तौ स्यातां तावेवायमुपदिशेत्' - म.भा. - (१.१.६९.)।

निष्कर्ष रुप से यह प्रतिपाद्य है कि ए और ओ के स्थान पर इ और उ ही ह्रस्व होंगे। अकार अत्यंत प्रश्लिष्ट होने के कारण अविभाज्य है अतः अकार आदेश की संभावना नहीं है।

एच् के लिए प्रकृत सूत्र की आवश्यकता के संबंध में भाष्यकार स्पष्ट शब्दों में कहते हैं - 'इमावेचौ समाहारवर्णौ मात्रावर्णस्य मात्रेवर्णोवर्णयोः। तयोः ह्रस्व शासनेषु कदाचिदवर्णः स्यात् कदाचिदिवर्णोवर्णौ, मा कदाचिदवर्णो भूदित्येवमर्थमिदमुच्यते।' भाष्यकार सिद्धान्त रुप से इस कथन का भी खण्डन करते हैं। ऐच् के स्थान पर ह्रस्व प्राप्त होने पर अकार आदेश के निवारणार्थ प्रकृत परिभाषा सूत्र की आवश्यकता का प्रतिपादन करना अयुक्तिकर है। 'ऐचोश्चोत्तर भूयस्त्वात्' वार्तिक के द्वारा स्पष्ट होता है कि ऐच् (ऐकार - औकार) में आधि मात्रा अवर्ण की और शेष १.५ (डेढ़ मात्रा) इवर्ण, उवर्ण की है। इस प्रकार ये सन्ध्यक्षर द्विमात्रिक बनते हैं। इनमें इवर्ण, उवर्ण की मात्रा अधिक होने से ब्राह्मण ग्राम एवं मल्ल ग्राम न्याय से इकार, उकार ही ह्रस्व होंगे अकार नहीं।

द्विमात्रिक ऐ और औ में यदि इकार, उकार की एक-एक मात्रा और अकार की एक मात्रा मानते हैं तो 'प्लुतावैच इदुतौ' - (८.२.१०६.) सूत्र से इकार, उकार को प्लुत करने पर इकार और उकार की तीन-तीन मात्राएँ और अकार की एक मात्रा मिलाकर चार मात्रा वाला ऐकार और औकार होगा जो इष्ट ही है। (इष्यत एव चतुर्मात्रः प्लुतः - म. भा. सूत्र - ८.२.१०६.) इस पक्ष में भी 'ऐ, औ' में इकार, उकार ही प्रधानतया श्रुतिगोचर होने से ह्रस्व की प्राप्ति में इकार, उकार ही होंगे अकार नहीं। ऋक् प्रातिशाख्य में इकार चवर्ग इकार, ऐकार, यकार तथा शकार को तालव्य कहा गया है - शेष वर्ण ओष्ठ्य हैं। (तालव्याविकार चवर्गो - इकारैकारौ-यकारः शकारः शेष ओष्ठ्योपपाद्यः। - ऋ. प्राति. - १.१९.) इसके अनुसार ऐकार को केवल तालव्य और औकार को केवल ओष्ठ्य माना गया है। कण्ठतालु या कण्ठोष्ठ्य नहीं माना गया। यद्यपि भट्टोजी दीक्षित, वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी में 'एदैतो कण्ठताल, औदौतो कण्ठोष्ठ्यम्' कहते हैं तथापि इसे सामान्य बुद्धि से ग्रहण कर इसकी उपपत्ति की जा सकती है। ऋक् प्रातिशाख्य के वचनों के आधार पर ऐ-औ के स्थान पर नियमानुसार ह्रस्व कर्त्तव्यता में इकार-उकार ही होंगे।

इस प्रकार प्रकृत परिभाषा सूत्र के प्रयोजन अन्यथा सिद्ध हो जाने से इसकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। आचार्य पाणिनि इस सूत्र का आरम्भ झटिति अर्थ बोध की दृष्टि से तथा स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए अष्टाध्यायी में करते हैं।

न्यास तथा पदमंजरीकार आदि वैयाकरणों ने इसे स्थानि नियमार्था मानकर इसकी आवश्यकता प्रतिपादित की है।

यथासंख्य न्याय तथा इग्ग्रहण का प्रयोजन - प्रकृत सूत्र में एच् के अन्तर्गत ए, ओ, ऐ, औ ये चार वर्ण आते हैं तथा इक् के अन्तर्गत इ, उ, ऋ, लृ ये चार वर्ण हैं। इस प्रकार चार स्थानी और चार आदेश होने से 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम् - (१.३.१०.)' इस नियम के अनुसार संख्यानुसार आदेश होने चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता। इसका कारण यह है कि 'यथासंख्यम्०' यह नियम विधिसूत्रों की सहायता के लिए हैं, परिभाषासूत्रों की सहायता के लिए नहीं। परिभाषासूत्र तो नियामक होते हैं, वे स्वयं

विधिसूत्रों की सहायता के लिए पठित हैं। नियम का आशय है प्राप्त कार्य को नियमित करना। (प्राप्तस्यैव नियमः) पूर्व सूत्र से प्राप्त कार्य का नियमन करना इस सूत्र का उद्देश्य है। एच् के स्थान पर अन्तरतम होने पर जो इक् आदेश के रुप में प्राप्त है उनका इस सूत्र से नियमन होता है। इक् प्रत्याहार में यद्यपि इ, उ, ऋ, लृ ये चार वर्ण हैं, तथापि ऋकार और लृकार तो एच् के स्थान पर प्राप्त ही नहीं हैं, क्योंकि इनसे स्थानी का सादृश्य ही नहीं है। अतः ऋकार, लृकार किसी भी एच् (ए, ओ, ऐ, औ) के स्थान पर नहीं होते। इस प्रकार यथासंख्य न्याय की प्रवृत्ति का यह विषय नहीं।

इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि जब एच् के स्थान पर ऋ, लृ प्राप्त ही नहीं है या केवल इकार, उकार ही एच् के स्थान पर अभीष्ट हैं, तब इक् पद की क्या आवश्यकता ? इकार, उकार के लिए इण् पद का प्रयोग भी किया जा सकता है। 'एच इण् ह्रस्वादेशे' सूत्र हो सकता है। इण् प्रत्याहार में इ और उ वर्णो का अन्तर्भाव होता है अतः इक् न कहकर इण् का ग्रहण किया जा सकता है। इस आशङ्का का समाधान वृत्तिकारों ने इस प्रकार किया है। इण् ग्रहण से यह संदेह उपस्थित हो सकता है। कि इण् प्रत्याहर पूर्ण णकार (अ इ उ ण् के ण तक) तक ग्रहण किया जाए अथवा पर णकार तक ? (लण् सूत्र के णकार तक) यद्यपि ऐसे संदिग्ध स्थलों पर परिभाषाकारों ने और भाष्यकार ने भी 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपर्त्तिन हि सन्देहादलक्षणम्' परिभाषा का आश्रय लिया है और आचार्य के व्याख्यान के आधार पर संदेह निवृत्ति की है। इण् प्रत्याहार के प्रसंग आचार्य पाणिनि इण् को पर णकार तक नहीं स्वीकार करते हैं। इसका प्रमाण 'अचि श्नु धातु भ्रुवां य्वोरियङुवङौ' - (६.४.७७.) सूत्र में य्वोः पद है। य्वोः पद से सूत्रकार को इकार, उकार अभीष्ट है। (य्वोः की निष्पत्ति इ + उ + ओस् = यु + ओस् = य्वोः) इस सूत्र में लाघव की दृष्टि से इकार, उकार के बोध के लिए इण् प्रत्याहार का प्रयोग किया जा सकता था। य्वोः कहने से तीन मात्राओं का उच्चारण होता है - इणः में ढाई मात्राएँ हैं। इसमें सूत्रकार लाघव का आश्रय नहीं करते। यही इसका ज्ञापक है कि इण् प्रत्याहार में उन्हें लण् के णकार तक सभी वर्ण अभीष्ट हैं। इसका उदाहरण 'इणः षीध्वंलुङलिटांधोऽङ्गात्' - (८.३.७८.) सूत्र में इण् प्रत्याहार के अन्तर्गत ऋकार का ग्रहण किया जाता है। एधाञ्चकृ + ध्वे में ऋकारोत्तर ध्वे के धकार को ढत्त्व होता है क्योंकि ऋकार इण् प्रत्याहार में अन्तर्भूत है।

इस प्रकार प्रकृत सूत्र में इक् प्रत्याहार के द्वारा ऋकार, लृकार अभीष्ट नहीं है, तथापि इकार, उकार का बोध कराने के लिए इण् प्रत्याहार का प्रयोग संभव नहीं है। यह पुनः विचारणीय है कि यदि एच् के स्थान पर इकार, उकार ही ह्रस्व के रुप में अभीष्ट हैं तो स्पष्ट रुप से इकार, उकार का ही उच्चारण क्यों नहीं करते ? सूत्रकार इ, उ का शब्दशः उच्चारण कर सकते थे, जिस प्रकार अचि श्नु० सूत्र में किया है। इस स्थिति में सम्पूर्ण सूत्र का स्वरुप 'एच इग्ह्रस्वादेशे' न होकर 'एच यू (इ + उ + औ) ह्रस्वादेशे' हो जाता। सूत्रकार ऐसा सूत्रपाठ नहीं करते। इसका कारण यह है कि यू कहने में गौरव होता है। यू में ढाई मात्राएँ हैं। जबकि इक् कहने से डेढ मात्राओं का ही प्रयोग होता है। इस प्रकार इक् कहने से लाघव की रक्षा भी हो जाती है और अभीष्ट सिद्धि भी हो जाती है।

सूत्र का पदकृत्य, एचः पद पर विचार - इस सूत्र में एचः पद का प्रयोजन यह है कि एच् के स्थान पर ह्रस्व प्राप्त होने पर ही इक् ह्रस्व होते हैं। यदि एच् पद पठित न हों तो सूत्रार्थ होगा। ह्रस्वादेश प्राप्त होने पर इक् ही ह्रस्व होते हैं। इस स्थिति में अतिखट्वः, अतिमालः आदि प्रयोगों में

गोस्त्रियो० - (७.२.४८.) से खट्वा, माला के आकार को ह्रस्व प्राप्त होता है वहाँ इकार या उकार ह्रस्वादेशे हो जाएँगे और विकृत रुप सिद्ध होंगे।

ह्रस्वादेशे का प्रयोजन - सूत्र में ह्रस्वादेशे का प्रयोजन है - एच् के स्थान पर ह्रस्वादेश की प्राप्ति होने पर ही इक् आदेश होते हैं। यदि ह्रस्वादेश पद का ग्रहण न करें तो एच् के स्थान पर कोई भी विधि प्राप्त हो तो इक् ही हो जाएगा। जैसे - दे३वदत्त आदि प्रयोगों में 'आमन्त्रितस्य च' - (६.१.१९२.) सूत्र से आमन्त्रित के आदि स्वर को उदात्त होता है। दे३वदत्त शब्द में आदि स्वर एकार है। इस एकार के स्थान पर उदात्त प्राप्त है वह उदात्त इक् होने लगेगा। इसी प्रयोग में 'गुरोऽनृतोऽनन्तस्याप्यैकैकस्य प्राचाम्' - (८.२.८६.) सूत्र से एकार को प्लुतादेश होता है, वहाँ एकार के स्थान पर इकार प्लुत होने लगेगा। अत: ह्रस्वादेश पद का ग्रहण आवश्यक है।

सिद्धान्तत: सभी अनिष्ट प्रयोगों की निवृत्ति और इष्ट प्रयोगों की सिद्धि के लिए प्रकृत परिभाषा सूत्र को यथावत् स्वीकार करना आवश्यक है।

सूत्र के प्रत्याख्यान पर पुनर्विचार - भगवान् भाष्यकार ने प्रकृत परिभाषा सूत्र के प्रयोजनों को प्रतिपादित कर 'सिद्धमेङः सस्थानत्त्वात्' और 'ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वात्' इन दो वार्त्तिकों द्वारा सूत्र सिद्ध प्रयोगों की अन्यथा सिद्धि की है तथा सूत्र को प्रत्याख्यात किया है। वस्तुत: इस सूत्र को प्रत्याख्येय मानना भाष्यकार का सिद्धान्त मत प्रतीत नहीं होता। इस प्रसंग में वृहच्छब्देन्दुशेखर में नागेश भट्ट के शब्द ध्यातव्य हैं। वे लिखते हैं - 'न च परत्वात् सूत्रं विनापीगेव भविष्यतीति वाच्यम्। अन्तरङ्गत्त्वेन अकारस्यैवापत्तेः। लक्ष्यगत परत्त्वमादाय विप्रतिषेध सूत्रा प्रवृत्तेः -

नित्यः परयणादेशः परश्चासौ व्यवस्थया,
युगपत् संभवो नास्ति, बहिरङ्गेण सिध्यति।'

उपर्युक्त उद्धरण का अभिप्राय यह है कि ए, ओ, ऐ, औ को ह्रस्व प्राप्त होने पर संध्यक्षरों के पूर्व भाग में स्थित अकार ही ह्रस्वादेश के रुप में प्राप्त है। उत्तर भाग में स्थित इकार, उकार की प्राप्ति ही नहीं है। यहाँ विप्रतिषेध सूत्र से परवर्त्ती (इकार-उकार) वर्ण को ह्रस्वादेश की व्यवस्था (परत्त्वात्) संभव नहीं है, क्योंकि पर से अन्तरङ्ग कार्य बली होता है। अ + इ , अ + उ में अकार पूर्व पठित (श्रुत) होने से अन्तरङ्ग होता है और बहिरङ्ग (इ-उ) का बाध कर प्रयोगों में उसकी प्रवृत्ति होती है। तात्पर्य यह हुआ कि इन संध्यक्षरों को ह्रस्व की प्राप्ति होने पर अन्तरङ्गत्त्वात् अकार आदेश प्राप्त होता है, जिसकी निवृत्ति के लिए 'एच इक्०' सूत्र सार्थक है।

'ऐचश्चोत्तरभूयस्त्वात्' अर्थात् ऐ, औ में उत्तरभाग (इ, उ मात्राधिक्य) का बाहुल्य मानने में भाष्यकार ने पूर्ण सम्मति नहीं दी है। 'किम्वहुना प्लुतावैचे इदुतौ' - (८.२.१०६.) सूत्र के भाष्य में वे ऐ-औ में समप्रविभाग पक्ष का समर्थन करते हैं। उत्तर भूयस्त्व पक्ष को सयुक्तिक सिद्ध नहीं करते।[४] ('इमावैचौ समाहार वर्णौ मात्रावर्णस्य मात्रेवर्णोवर्णयोरिति तयोः प्लुतः उच्यमाने उभयविवृद्धिर्प्राप्नोति') इस भाष्यवचन से स्पष्ट है कि ऐ, औ में वे अ की एक मात्रा और इ-उ की एक-एक मात्रा मानते हैं।

निष्कर्षतः यह प्रतिपाद्य है कि एचइग्घ्रस्वादेशे सूत्र एचों को ह्रस्व का विधान होने पर तत्तत् विधि सूत्रों में प्रवृत्त होता है और एकवाक्यता के द्वारा अभीष्ट अर्थबोध कराता है।

यही परिभाषा की प्रवृत्ति का (लिङ्ग) संकेत है।

❀❀❀

शब्द संकेत

१. कैयट के शब्दों में - 'स्वतंत्रमिदं निर्वर्त्तकमिति भावः।'
नागेश कहते हैं - 'नियमत्त्वेऽनुवादादिदोषाद् विधित्वमेव न्याय्यम्।'

२. "ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्द्धमेकारमर्द्धमोकारं चाधीयते - सुजाते एश्वसूनृते। अध्वर्यो ओद्रिभिः सुतम्। शुक्रन्ते एन्यत्, यजतं ते एन्यदिति। पार्षदकृतिरेषा तत्रभवताम्। नैव लोके नाऽन्यास्मिन्वेदे - अर्ध एकारः, अर्ध ओकारो वास्ति।" - म. भा.

३. यद्येवम् इणित्येव वक्तव्यम् - न त्विगिति - सत्यमेतत् - किन्त्वेवमुच्यमाने संदेहः स्यात् - किं पूर्वेण णकारेण प्रत्याहारः? उत परेण? इति, तस्मादसन्देहार्थमिगित्युक्तम् - न्यास - (१.१.४८.)

४. अत्र पूर्वोत्तरभागयोः समप्रविभाग पक्ष एव 'प्लुतावैच' इति सूत्र भाष्यादावुक्तः। उत्तरभूयस्त्वपक्षस्तु तत्रैव विनिगमनाविरहेण भाष्ये दूषितः। - नागेश - वृ.श.शे.

❀❀❀

षष्ठी स्थाने योगा
(१.१.४९)

सूत्र का स्वरुप एवं अर्थ - यह परिभाषा सूत्र है जो सूत्र में उच्चारित षष्ठी विभक्ति के अर्थ सम्बन्ध का निर्धारण करता है। लोक में और शास्त्र में भी षष्ठी के अनेक अर्थ हैं।[१] षष्ठी का उच्चारण होते ही वे सभी अर्थ बुद्धि में उपस्थित होते हैं। प्रकृत सूत्र ऐसे प्रसंग में नियम कर देता है कि शास्त्र में जब षष्ठी विभक्ति से किसी निश्चित अर्थ का बोध नहीं होता तब वह षष्ठी स्थान से संबंधित होती है। जैसे - 'अस्तेर्भूः' - (२.४.५२.) सूत्र में अस्तेः पद की षष्ठी का कोई निश्चित अर्थ सम्बन्ध प्रतीत नहीं हो रहा है अतः उसे स्थान अर्थ की बोधिका माना जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण सूत्र का अर्थ होता है - 'अस् के स्थान पर भू आदेश होता है।' इसी प्रकार 'ब्रुवो वचिः' - (२.४.५३.) सूत्र में 'ब्रुवः' इस षष्ठी के कारण सूत्रार्थ है - 'ब्रू के स्थान पर वचि आदेश होता है।' 'इको यणचि' - (६.१.७७.) में इकः षष्ठ्यन्त है। अतः इक् के स्थान पर यण् आदेश होता है।

इस प्रकार प्रकृत परिभाषा सूत्र नियमार्थ होने के कारण उपर्युक्त सूत्रार्थ निष्पन्न होता है। जहाँ सूत्रों में षष्ठी के अर्थ का सम्बन्ध पहले से निश्चित है वहाँ इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी। अनिश्चित षष्ठी के अर्थ में ही यह सूत्र स्थान संबंध का निर्धारण करता है। यही कारण है कि उदुपधायाः गोहः - (६.४.८९.) और शास इदङ्हलोः - (६.४.३४.) सूत्रों में गोहः और शासः में श्रूयमाण षष्ठी विभक्तियाँ निश्चित अर्थ संबंध वाली हैं अतः इनमें प्रकृत परिभाषा प्रकृत नहीं होती। यदि षष्ठी विभक्ति को देखकर प्रकृत सूत्र की सहायता से उसका सम्बंध स्थान से करें तो गोह के स्थान पर या शास् के स्थान पर क्रमशः उत्त्व और इत्त्व हो जाता। (अलोऽन्त्यस्य - १.१.५२. की सहायता से गोह् के अन्तिम वर्ण हकार को शास् के अन्तिम वर्ण सकार के स्थान पर ये उत्त्व, इत्त्व हो जाएंगे।)

उपर्युक्त दोनों सूत्रों में 'अनिदितां हलउपधाया क्ङिति' - (६.४.२४.) सूत्र से उपधायाः पद की अनुवृत्ति होती है। गोहः और शासः पदों की षष्ठी का अर्थ उपधायाः से सम्बद्ध है। इस प्रकार गोह् की अवयवभूत उपधा के स्थान में अथवा शास् की अवयवभूत उपधा के स्थान पर क्रमशः उत्त्व और इत्त्व होते हैं। इस रुप में गोहः और शासः की षष्ठी का अर्थ अवयव षष्ठी के रुप निर्धारित हो गया, अतः उसका स्थान संबंध नहीं होता। सूत्र में अनुवृत्त 'उपधायाः' की षष्ठी का अर्थ संबंध निर्धारित नहीं है अतः उपधायाः की षष्ठी स्थान संबंध की वाचिका होगी और तब सम्पूर्ण सूत्र का अर्थ होगा - गोह् की उपधा के स्थान पर उत्त्व और शास् की उपधा के स्थान पर इत्त्व आदेश होते हैं।

लोक[२] में भी यही देखा जाता है कि संदेह या अनिश्चितता होने पर ही नियम की आवश्यकता होती है। जैसे - कोई व्यक्ति किसी दूसरे से मार्ग पूछता है तब मार्गदर्शन करने वाला व्यक्ति उसे कहता है कि अमुक स्थान पर दाहिने हाथ की ओर मुडना है और अमुक स्थान पर बाएं हाथ का मार्ग ग्रहण करना है। दाहिने और बाएं मोड़ में संदेह तब उपस्थित होता है जब मार्ग सीधा न हो। यदि मार्ग सरल रेखा में है तो पथिक को मार्ग पूछने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि उसके मन में कोई संदेह उपस्थित नहीं होता। शास्त्र में भी जहाँ संदेह उपस्थित होता है वहाँ संदेह निवृत्ति के लिए नियम की आवश्यकता होती है। प्रकृत परिभाषा सूत्र ऐसे ही संदिग्ध स्थलों पर नियम बताता है।

स्थाने योगा - पदार्थ विचार - 'स्थाने योगा' पद पर दो प्रकार[3] से विचार किया जा सकता है। यदि इसे समस्त पद माने तो इसका विग्रह होगा - १) स्थाने योगोऽस्याः, २) स्थानेन योगोऽस्याः। दोनों विग्रहों में बहुव्रीहि समास है। प्रथम विग्रह में सप्तमी विभक्ति का अलुक् मानना होगा और द्वितीय विग्रह में तृतीया विभक्ति का लुक् होने के पश्चात् (सुपो धातुप्रातिपदिकयोः - २.४.७१.) स्थान के अन्तिम अकार को निपातनात् एत्व करना होगा। स्थाने योगा में समास न मानकर स्थाने और अयोगा ये दो पद भी माने जा सकते हैं। अयोगा का अभिप्राय अव्यक्त योगा है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार जहाँ सूत्र पठित षष्ठी के द्वारा किसी विशेष संबंध (योग) की प्रतीति नहीं होती, वह अव्यक्त योगा (अयोगा) षष्ठी - स्थान षष्ठी कही जाती है।

'स्थाने ऽयोगाः' विग्रह न कर स्थाने योगा पाठ ही मानें तो योगा का तात्पर्य योगवती होगा। इस स्थिति में योगवती में भूमा अर्थ का मतुप् प्रत्यय है अतः योगवती का अर्थ है - अनेक सम्बन्धों की बोधिका षष्ठी विभक्ति है। सूत्र में पठित योगा पद में भी भूमा अर्थ में अ प्रत्यय[4] का विधान मानकर यही अर्थ निष्पन्न होता है। सूत्र पठित षष्ठी के द्वारा अनेक संबंधों में से किस संबंध का बोध कराना अभीष्ट है यह ज्ञात न हो सके तब उस षष्ठी को स्थान मानना चाहिए।

सार रुप में यह सिद्ध हुआ कि अयोगा और योगा दोनों पदों का तात्पर्य अनिर्धारित संबंध विशेषा ही है। भट्टोजी दीक्षित ने वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी में सूत्र की वृत्ति में लिखा है - 'अनिर्धारित सम्बन्ध विशेषा षष्ठी स्थाने योगा बोध्या।'

स्थाने पद का अर्थ - सूत्र पठित स्थान पद पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। स्थान पद यहाँ स्वरुप परक न होकर अर्थ परक है। अतः स्थानेन का अर्थ 'स्थान शब्दार्थेन' होता है। स्थान पद के अर्थ से ज्ञात होने वाला स्थान्यादेश संबंध ही यहाँ षष्ठी का वाच्य है। स्थानेन योगोऽस्याः ऐसा व्यधिकरण बहुव्रीहि मानने का यही अभिप्राय है। अन्यथा स्थानं योगो ऽस्याः ऐसा समानाधिकरण बहुव्रीहि मानने पर स्थानरुप - संबंधः षष्ठ्यर्थः - यह विपरीत अर्थ निष्पन्न हो जाएगा। षष्ठी का अर्थ स्थान नहीं है, अपितु षष्ठी का सम्बंध स्थान से है। शब्देन्दुशेखर की टीका 'ज्योत्स्ना' में ज्योत्स्नाकार लिखते हैं - 'स्थानं योगस्तद्रुपः संबंधो यस्या वाच्य इति समानाधिकरण बहुव्रीहिणा सिद्धे स्थानेन योगो यस्या इति व्यधिकरण बहुव्रीहिप्रदर्शनं षष्ठ्याः वाच्यः स्थानादिरर्थो नास्तीति सूत्रयति।'

सरला नामक टीका में टीकाकार लिखते हैं - 'समानाधिकरण बहुव्रीहौ तु स्थानं योगो यस्या इति विग्रहेण स्थानस्यैव संबंधत्त्वं स्यात् तच्च नेष्यते। एवञ्चानिर्धारितसम्बन्धविशेष षष्ठ्यन्तपदघटित सूत्रे स्थाने पदमुपतिष्ठत इति षष्ठी स्थाने - इत्यस्यार्थः फलति।' स्थान शब्द का अभिप्राय प्रसंग या प्रसक्ति से है। (स्थानं च प्रसङ्गः - सि.कौ.) इसी आधार पर स्थान्यादेशभाव संबंध अथवा निवर्त्य-निवर्तक रुप संबंध का बोध होता है। सूत्र में पठित अनिर्धारित संबंध विशेषा षष्ठी इसी अर्थ की बोधिका है।

यहाँ यह प्रष्टव्य हो सकता है कि समानाधिकरण बहुव्रीहि न कर व्यधिकरण बहुव्रीहि ही क्यों किया गया ? इसका समाधान है कि जिस प्रकार स्थाने योगा इस समस्त पद में निपातनात् एत्व होता है उसी प्रकार निपातनात् व्यधिकरण बहुव्रीहि किया जाता है।

इस प्रसंग में भाष्यकार ने स्थानार्थक षष्ठी को पहचानने के लिए एक अन्य विकल्प प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि स्थानार्थक षष्ठी जहाँ-जहाँ अभीष्ट है वहाँ-वहाँ उस षष्ठी में कोई विशिष्ट चिह्न अंकित कर सकते हैं। उस चिह्न या लिङ्ग से युक्त षष्ठी को स्थानार्थक माना जा सकता है। जिस प्रकार पस्पशाह्निक में शुद्ध अकार के उपदेश हेतु 'निवृत्तकलादिकमवर्णस्य प्रत्यापत्तिं वक्ष्यामि वक्ष्यामि' कहकर कलादि दोषों के चिह्नों को अनुबन्धों के समान उपदिष्ट किया जा सकता है। ये कलादि दोष लिङ्ग या चिह्न का काम करेंगे। (लिङ्गार्था तु प्रत्यापत्तिः) इसी प्रकार वृद्धिरादैच् (१.१.१.) सूत्र के भाष्य में भी "इत्थंलिङ्गा संज्ञा" आदि शब्दों के द्वारा अभीष्ट शब्दों में लिङ्ग या किसी संकेत चिह्न की योजना प्रस्तावित की गई है।

उपर्युक्त विधि से अर्थात् संकेत के द्वारा स्थान योगत्त्व का बोध कराये जाने पर उन सूत्रों में समस्या उत्पन्न हो सकती है जहाँ स्थानी का स्पष्ट निर्देश नहीं है। जैसे - शा हौ (६.४.३५) सूत्र में स्थानी का ग्रहण या उच्चारण नहीं है। चिह्न या किसी लिङ्ग का आसंजन करने के लिए स्थानी का अर्थात् शासः पद का उच्चारण करना पड़ेगा। शब्द के उच्चारण किए बिना चिह्न किसे लगाया जाए ? पूर्व सूत्र 'शास इदङ्हलोः' (६.४.३४.) से शासः की अनुवृत्ति करना युक्ति युक्त नहीं है क्योंकि इस सूत्र में शासः पद में पठित षष्ठी अवयव वाचक है, स्थान वाचक नहीं। अनुवृत्ति के द्वारा शासः पद अवयव षष्ठी का ही बोध कराएगा। शा हौ सूत्र में अनुवृत्त होने पर शास् के अवयव अन्तिम वर्ण को (अलोऽन्त्यस्य) शा आदेश की प्राप्ति हो जाएगी। अतः अनुवृत्ति से इष्ट सिद्धि संभव नहीं है।

उपर्युक्त अनुपपत्ति के निवारणार्थ भाष्यकार कहते हैं कि अधिकार तीन प्रकार के होते हैं।[५] पहला अधिकार एक स्थान पर स्थित होकर सम्पूर्ण शास्त्र को प्रकाशित करता है। जिस प्रकार एक स्थान पर स्थित दीपक सम्पूर्ण प्रकोष्ठ को प्रकाशित करता है। दूसरा अधिकार वह है जो चकार के द्वारा अनुकर्षित होता है। जिस प्रकार रस्सी या तार से बंधा हुआ काष्ठ खींच कर एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाया जाता है। तीसरा अधिकार वह है जो प्रत्येक सूत्र में कोई पद आवश्यक होने पर पुनः-पुनः प्रति सूत्र उसका उच्चारण न कर एक बार उच्चरित किया जाता है। उसमें स्वरितत्व के द्वारा (स्वरितेनाधिकारः - १.३.११.) आगामी सूत्रों में उपस्थित किया जाता है।

प्रकृत प्रसंग में इसी स्वरितत्व के बल से पूर्व सूत्र में पठित शासः पद को शा हौ सूत्र में अनुवृत्त किया जा सकता है। इसे शब्दाधिकार मानकर केवल 'शासः' इस षष्ठ्यन्त पद की अनुवृत्ति ही की जाएगी, उसमें निहित अवयवार्थ का त्याग हो जाएगा।

इस प्रकार अनुवृत्ति के द्वारा षष्ठ्यन्त शासः पद का बोध शा हौ सूत्र में हो सकता है किन्तु स्थाने योगत्व की सिद्धि के लिए षष्ठ्यन्त पद को लिङ्ग या चिह्न लगाया जाना है वह षष्ठ्यन्त पद सूत्र में शब्दशः पठित या उच्चरित होना चाहिए। उच्चरित शब्द में ही तो कोई लिङ्ग या चिह्न अंकित किया जा सकता है। अतः अनुवृत्ति के द्वारा शासः की उपस्थिति का पक्ष दूषित हो जाता है।

शा हौ सूत्र में शब्दशः पठित 'शा' में यदि स्थाने योगत्व का चिह्न आसंजित करें तो यह संभव है कि शा आदेश रुप है इसमें षष्ठी विभक्ति का अभाव है किन्तु षष्ठ्यन्त में लगने वाला लिङ्ग उसमें

आसंजित है अतः स्वभावतः आदेश में लगा हुआ चिह्न स्थानी में (शा के स्थानीभूत शासः में) या उसकी प्रकृति में (शासः में) संक्रमित हो जाएगा। इस प्रकार प्रकृति में (शासः में) स्थाने योगत्व की सिद्धि हो जाएगी।

निष्कर्षतः प्रकृत परिभाषा सूत्र से षष्ठी विभक्ति का अर्थ स्थान संबंध में नियमित होता है।

नियम के कारण अनुपपत्ति - नियम विधायक प्रकृत परिभाषा के कारण कतिपय सूत्रों में अनुपपत्तियाँ संभावित है। जैसे - जहाँ सूत्र में एक षष्ठी है और उसके अनेक विशेष्य होते हैं वहाँ विशेषण विशेष्य भाव किस प्रकार होगा।[६] उदाहरणार्थ हलः (६.४.२.) सूत्र में अङ्गस्य (६.४.१.) अणः (६.३.११०.) और सम्प्रसारणस्य (६.३.१३८.) की अनुवृत्ति आती है। इस प्रकार तीनों षष्ठ्यन्त पद हैं। इनमें सर्वत्र प्रकृत परिभाषा प्रकृत होने पर सभी का स्थान अर्थ हो जाएगा और परिणाम स्वरुप अङ्ग के स्थान पर, हल से परे जो सम्प्रसारण है उसके स्थान पर, अणः का अर्थ - अण् के स्थान पर ऐसा असम्बद्ध अर्थ हो जाएगा। नियम सूत्र या प्रकृत परिभाषा न हो तो सूत्रार्थ होता है - अङ्ग के अवयव हल से परे जो सम्प्रसारणान्त अङ्ग है - उसके अण् को दीर्घ होता है। इसका तात्पर्य यह है कि नियम सूत्र न हो तो इच्छानुसार किसी षष्ठ्यन्त को विशेष्य और किसी को विशेषण माना जा सकता है। इसी प्रकार किसी षष्ठी को अवयव और किसी को स्थान षष्ठी लक्ष्यानुसार माना जा सकता है तथा अभीष्ट अर्थ सिद्ध हो जाता है। जैसे - देवदत्तस्य पुत्रः पाणिः कम्बलः - इस वाक्य में एक ही देवदत्तस्य की षष्ठी पुत्र के प्रति जन्य-जनक भाव संबंध में अन्वित होती है। पाणि (हाथ) के साथ अवयव-अवयवी भाव संबंध रखती है और कम्बल के प्रति स्व-स्वामिभाव संबंध रखती है। इसलिए षष्ठी के अर्थ का कोई संबंध नियमित नहीं किया जा सकता। उसे स्वतंत्र छोड़ देना ही श्रेयस्कर है। प्रकरण के अनुसार मनीषी जन उसका यथोचित अर्थ कर लेते हैं।

यहां यह शङ्का करना ठीक नहीं कि इस नियमसूत्र के अभाव में स्थान अर्थ के साथ-साथ अनन्तर, समीप आदि अर्थ भी प्रसक्त होंगे। "इको यणचि" (पा.-६.१.७७.) का अर्थ इक् के स्थान में यण् होता है, ऐसा न होकर इक् के समीप या अव्यवहित यण् होता है, ऐसा अनिष्ट अर्थ भी होने लगेगा। क्योंकि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्" (पारि.सं.-१.) इस ज्ञापक सिद्ध परिभाषा से सब बातों का निर्णय आचार्यो के व्याख्यान [७] से कर लिया जाएगा, अनिष्ट नहीं होने दिया जाएगा। इस परिभाषा का यही अर्थ है कि प्रत्येक सन्दिग्ध बात का निर्णय प्राचीन आचार्यो के व्याख्यानों से ही होना चाहिए। केवल संदेह करने मात्र से वास्तविक सिद्धान्त को अपसिद्धान्त नहीं बनाना चाहिए। इस प्रकार सभी संदेहों की निवृत्ति होकर मुनित्रय के व्याख्यान से अनिश्चित संबंध वाली षष्ठी का, स्थान अर्थ से योग स्वतः हो जायेगा तो इस सूत्र की आवश्यकता विशेष महत्त्व नहीं रखती।

समीक्षा एवं निष्कर्ष - उपर्युक्त वचनों द्वारा भाष्यकार इस सूत्र का खण्डन करके अन्त में पूछते हैं - "न तर्हीदानीमयं योगो वक्तव्यः। वक्तव्यश्च। कि प्रयोजनम्। षष्ठ्यन्तं स्थानेन यथा युज्येत, यतः षष्ठ्युच्चारिता। किमेतेन कृतं भवति। निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीति परिभाषा न पृथक् कर्तव्या भवति" (महा.भा.-१, प्रकृत सूत्र)। भाष्यकार का आशय यह है कि इस सूत्र की कोई विशेष आवश्यकता न होने पर भी यह सूत्र "निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति"[८] इस परिभाषा का प्रयोजन सिद्ध करने में तात्पर्यग्राहक

हो जाएगा। उससे "पादः पत्" (पा.-६.४.१३०.) इत्यादि षष्ठ्यन्त स्थलों में, जो साक्षात् निर्दिश्यमान या उच्चार्यमाण षष्ठ्यन्त पद हैं, उसे ही आदेश होगा। वही स्थान संबंध से युक्त होगा। सारा षष्ठ्यन्त अङ्ग कार्यभाक् न होगा। उससे सुपात् शब्द में केवल षष्ठ्युच्चारित पाद शब्द को ही पद आदेश होगा। समस्त सुपाद्, शब्द को नहीं होगा तो सुपदः, सुपदा इत्यादि अभीष्ट रुप सिद्ध हो जाएंगे। यह महिमा इस सूत्र की ही है जो इसके द्वारा निर्दिश्यमान शब्द को ही आदेश की सिद्धि हो जाएगी। वही वस्तुतः कार्यभाक् होगा। जिससे षष्ठी उच्चारण की गई है। समस्त पाद शब्दान्त अङ्ग पद् आदेश होने से बच जाएगा। इसलिए या तो इस सूत्र को रखना ठीक है या फिर "निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति" इस परिभाषा को रखना समीचीन है, यह कह कर भाष्यकार चुप हो जाते हैं। स्पष्ट है कि यह सूत्र अत्यन्त उपयोगी है।

इस सूत्र के "निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति" इस परिभाषा में तात्पर्यग्राहक मानने पर भी "अलोऽन्त्यस्य" (पा.-१.१.५२.) तथा "आदेःपरस्य" (पा.-१.१.५४.) ये दो परिभाषा सूत्र तो आरम्भसामर्थ्य से इसके बाधक बन जाते हैं। "अलोऽन्त्यस्य" का उदाहरण जैसे - "त्यदादीनामः" (पा.-७,२.१०२) यह सूत्र है। इसका अर्थ है कि त्यदादि शब्दों के स्थान पर अकार आदेश होता है विभक्ति परे रहते। "सः परमसः"। यहां तद्, पमरतद् शब्दों से सु विभक्ति परे रहते "त्यदादीनाम्" इस षष्ठी के निर्देश से निर्दिश्यमान सम्पूर्ण तद् शब्द के स्थान में अकार आदेश प्राप्त होता है। किन्तु "अलोऽन्त्यस्य" के नियम से तद् के अन्तिम अल् दकार के स्थान में होता है। इसी प्रकार "आदेः परस्य" का उदाहरण जैसे - "ईदासः" (पा.-७.२.८१) सूत्र है। इसका अर्थ है कि आस् धातु से परे शानच् का आन है। आसः इस पञ्चमी के बलवान् होने से "तस्मादित्युत्तरस्य" (पा.-१.१.६७.) के नियम से "आने मुक्" (पा.-७.२.८२.) से अनुवृत्त आने यह सप्तमी, षष्ठी में परिवर्तित हो जाती है। आनः इस षष्ठी के निर्दिश्यमान होने से सम्पूर्ण आन शब्द के स्थान में इकारादेश प्राप्त होता है किन्तु आदेः परस्य इस परिभाषा से आन के आदि अक्षर आकार को इकार होकर आसीनः यह इष्ट रुप बन जाता है। "अनेकाल्शित् सर्वस्य" (पा.-१.१.५५.) के साथ तो इसका बाध्यबाधकभाव नहीं है किन्तु परस्पर सहयोग से दोनों की प्रवृत्ति होती है।[९] अनेकाल्० जैसे - "अस्तेर्भूः" (पा.-२.४.५२.) भविता। भवितुम्। यहां अनेकाल् भू आदेश षष्ठी से निर्दिश्यमान अस्ति के स्थान में ही होता है। शित् जैसे - "इदम इश्" (पा.-५.३.३.)। इतः। इह। यहां शित्, इश् आदेश इदमः इस षष्ठी के स्थान में ही होता है। इस प्रकार निर्दिश्यमान परिभाषा के ज्ञापन की दृष्टि से प्रकृतसूत्र की आवश्यकता बनी रहती है। सम्भवतः इसीलिए पूज्यपाद देवनन्दी ने भी अपने जैनेन्द्र व्याकरण में एतत्सूत्र-प्रतिपाद्यविषयक "ता स्थाने"[१०] यह सूत्र बनाया है।

❀❀❀

शब्द संकेत

१. 'एकशतं षष्ठ्यर्थाः यावन्तो वा ते सर्वे षष्ठ्यामुच्चारितायां प्राप्नुवन्ति।' - म.भा.

२. "लौकिको ऽयं दृष्टान्तः। तद्यथा लोके कश्चित् कंचित् पृच्छति ग्रामान्तरं गमिष्यामि पन्थानं मे भवानुपदिशत्विति। स तस्मायाचष्टे - अमुष्मिन्नवकाशे हस्तदक्षिणो ग्रहीतव्यः, अमुष्मिन्नवकाशे हस्तवाम इति। यस्तत्र तिर्यक् पथो भवति, न तस्मिन् सन्देह इति कृत्वा नासावुपदिश्यते। एवमिहापि सन्देहे नियमो न चावयवषष्ठ्यादिषु सन्देहः" - म. भा.

३. भूम निन्दाप्रशंसासु नित्ययोगे ऽतिशायने। संसर्गे ऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादय॥
- ५.२.९४. वा०

भूमादि अर्थों में मतुप् प्रत्यय होता है। अर्शादि गण पठित शब्दों से इन्हीं अर्थों में 'अर्श आदिभ्यो ऽच्' (५.२.१२७.) सूत्र से अच् प्रत्यय होता है। योग पद में यही अच् प्रत्यय है। स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् (अजाद्यतष्टाप्-४.१.४.) से टाप् करने चर योगा पद सिद्ध होता है।

४. किमिदं स्थाने योगेति ? स्थाने योगोऽस्याः सेयं स्थाने योगा। सप्तम्यलोपो निपातनात्। तृतीयाया वैत्त्वम्। स्थानेन योगोऽस्याः सेयं स्थाने योगा। अथवा स्थाने ऽयोगा स्थाने योगा। किमिदमयोगेति ? अव्यक्तयोगा ऽयोगा। अथवा योगवती योगा। का पुनर्योगवती ? यस्याः बहवो योगाः। कुत एतत् ? भूम्नि हि मतुब् भवति। - म. भा.

५. अधिकारो नाम त्रिप्रकारः। कश्चिदेकदेशस्थः सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति यथा प्रदीपः सुप्रज्वलितः सर्वं वेश्माभिज्वलयति। अपरोऽधिकारो यथा रज्ज्वा ऽयसा वा बद्धं काष्ठमनुकृष्यते तद्वदनुकृष्यते चकारेण। अपरोऽधिकारः प्रतियोगं तस्याऽनिर्देशार्थ इति योगे योगे उपतिष्ठते। तद्यदैष पक्षः - अधिकारः प्रतियोगं तस्यानिर्देशार्थ इति तदा हि यदेवादः परस्तादवयवषष्ठ्यर्थमेतदुत्तरत्रानुवृत्तं सत् स्थाने योगार्थं भविष्यति।
- म.भा. (१.१.४९.)

६. यदि नियमः क्रियते-यत्रैका षष्ठी अनेकं च विशेष्यं तत्र न सिध्यति। अङ्गस्य, हलः अणः सम्प्रसारणस्येति। हलपि विशेष्यः अणपि विशेष्यः सम्प्रसारणमपि विशेष्यम्। असति पुनर्नियमे कामचारः एकया षष्ठ्या अनेकं विशेषयितुम्। - म.भा. (१.१.४९.)

७. 'न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानं वृद्धिः आत् ऐजिति। किं तर्हि। उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार इत्येतत् समुदितं व्याख्यानं भवति।' - पस्पशा०

८. इस परिभाषा का अर्थ है कि जो निर्दिश्यमान है, उच्चार्यमाण है, उसी के स्थान में आदेश होता है। प्रतीयमान के स्थान में आदेश नहीं होता।

९. 'अलोऽन्त्यस्य' आदेः परस्य इति तु योगौ आरम्भसामर्थ्यादस्य बाधकौ 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' इत्यनेन तु सहाविरोधादस्य समुच्चयेन प्रवृत्ति रिति... फलं तु स्फुटप्रत्तिपतिरिति दिक्।

- शब्द-कौस्तुभ।

१०. चन्द्रादि आचार्य इस सूत्र के विषय में मौन धारण किये हुए हैं। इससे उनकी दृष्टि में प्रकृत सूत्र प्रत्याख्यात प्रतीत होता है।

❀❀❀

स्थाने ऽन्तरतमः
(१.१.५०)

सूत्रार्थ एवं उदाहरण - यह आदेश नियामक परिभाषा सूत्र है। सूत्र में स्थान पद के सामर्थ्य से आदेश पद का अध्याहार किया जाता है। सम्पूर्ण सूत्र का अर्थ है कि एक स्थानी को युगपत् अनेक आदेश प्राप्त हो रहे हों तो उन आदेशों में जो आदेश स्थानी से सर्वाधिक समानता रखता हो वही करना चाहिए। जैसे - इको यणचि सूत्र से इक् के स्थान पर यणादेश का विधान है। प्रकृत सूत्र से विहित नियम के अनुसार इकार रुप स्थानी को यकार आदेश होता है क्योंकि इकार और यकार का उच्चारण स्थान तालु है। उच्चारण स्थान की दृष्टि से दोनों में सादृश्य है। इसी प्रकार उकार और वकार ओष्ठ स्थानीय हैं अतः उकार के स्थान पर वकार आदेश हो जाता है। मूर्धास्थानिक ऋकार के स्थान पर मूर्धन्य रेफ और दन्त्य लृकार के स्थान पर दन्त्य लकार आदेश होता है।

तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः (३.४.१०१.) सूत्र से तस् थस् थ और मिप् के स्थान पर ताम् तम् त् अम् आदेश होते हैं। प्रकृत परिभाषा सूत्र के अनुसार अन्तरतम आदेश का विधान किया जाता है। अतः एकवचन के बोधक मिप् के स्थान पर एक वचन का बोधक अम् आदेश होता है। द्विवचन बोधक तस् और थस् के स्थान पर द्वित्त्व बोधक ताम् और तम् आदेश होते हैं तथा बहुत्व के बोधक थ के स्थान पर बहुवचनार्थक त आदेश होता है। यही अर्थकृत आन्तर्य है।[१]

उदाहरणों की समीक्षा - उपर्युक्त उदाहरणों की समीक्षा करने पर यह प्रतीत होता है कि इकोयणचि सूत्र में इक् के अन्तर्गत् चार स्थानी इ, उ, ऋ और लृ हैं और यण् के अन्तर्गत् य, र, ल्, व - ये चार आदेश हैं। इनमें यथासंख्यमनुदेशः समानाम् (१.३.१६.) सूत्र से क्रमशः इ को य, उ को व, ऋ को र और लृ के स्थान पर ल आदेश सिद्ध हो जाते हैं। इनकी सिद्धि के लिए 'स्थाने ऽन्तरतमः' की क्या आवश्यकता है ? इसी प्रकार तस्थस्थमिपाम्० इत्यादि सूत्र में भी चार स्थानी और चार आदेश हैं, अतः यथासंख्य न्याय से इष्ट सिद्धि हो सकती है। यही कारण है कि भाष्यकार ने इस तथ्य पर विचार करते हुए प्रकृत परिभाषा सूत्र के उदाहरण स्वरुप इकोयणचि और तस्थस्थमिपाम्० इन दो विधिसूत्रों के उदाहरण देने के पश्चात् पुनः अकः सवर्णे दीर्घः सूत्र को भी उद्धृत किया है। अकः सवर्णे दीर्घः सूत्र से दण्डाग्रम् - क्षुपाग्रम् इत्यादि उदाहरणों में कंठ स्थानीय दो अकारों के स्थान पर (दण्ड + अग्रम्, क्षुप + अग्रम्) कण्ठ स्थानीय दीर्घ आकार एकादेश होता है। दधीन्द्रः आदि उदाहरणों में (दधि + इन्द्र) तालु स्थानीय दोनों इकारों के स्थान पर तालुस्थानीय दीर्घ ईकार आदेश होता है। मधूष्ट्रः में (मधु + उष्ट्रः) ओष्ठ स्थानीय उकारों के स्थान पर ओष्ठ स्थानीय दीर्घ ऊकार एकादेश होता है। ये समस्त आदेश स्थानकृत आन्तर्य से होते हैं। इनमें यथासंख्य न्याय से कार्य संभव नहीं है।

स्थान ग्रहण का प्रयोजन - षष्ठी स्थाने योगा (१.१.४९.) इस पूर्व सूत्र से यहाँ 'स्थान' पद की अनुवृत्ति होने पर भी प्रकृत सूत्र में पुनः स्थान ग्रहण किया गया है जिसका प्रयोजन यह है कि यहाँ अनेक प्रकार का आन्तर्य या सादृश्य संभव हो वहां स्थानकृत सादृश्य ही बली माना जाए। अन्य सभी सादृश्यों की अपेक्षा स्थानकृत सादृश्य ही पहले विचारणीय होता है। इसी आशय की परिभाषा 'यत्रानेक विधमान्तर्य तत्र स्थानत आन्तर्य बलीयः' पठित की गई है। उदाहरणार्थ - चेता स्तोता आदि प्रयोगों में

चि-स्तु धातुओं को गुण (सार्वधातुकार्धधातुकयोः - ७.३.८४.) की प्राप्ति होने पर चि के इकार के स्थान पर तालु स्थानीय एकार गुण होता है। स्तु के उकार के स्थान पर उकार ओष्ठ्य होने से ओष्ठ स्थानीय ओकार गुण होता है। यदि स्थान कृत आन्तर्य बलवान् न होता तो एकमात्रिक प्रमाण वाले चि और स्तु के इकार-उकार को एकमात्रिक प्रमाण वाला अकार गुण हो जाता और अनिष्ट रुपों की सिद्धि हो जाती। प्रकृत परिभाषा के बल से प्रमाणकृत आन्तर्य का बाध होकर स्थान जन्य आन्तर्य बलवान् सिद्ध होता है और अभीष्ट रुपों की सिद्धि हो जाती है।

चतुर्विध आन्तर्य - आन्तर्य चार प्रकार का होता है - स्थानकृत, अर्थकृत, गुणकृत और प्रमाणकृत। इन चारों आन्तर्यों में स्थानकृत आन्तर्य का उदाहरण इकोयणचि में प्राप्त होता है। अर्थकृत आन्तर्य का उदाहरण 'पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्०' - (६.१.६३.) इत्यादि सूत्र में दृष्टिगोचर होता है। इस सूत्र में पद्-दत्-नस्-मास्-हृद् इत्यादि केवल आदेशों का ही पठन हैं। इनके स्थानियों का निर्देश नहीं है। अर्थकृत साम्य के आधार पर पाद-दन्त-नासिका-मास-हृदय आदि स्थानियों की कल्पना कर ली जाती है। गुणकृत आन्तर्य का उदाहरण पाकः, रागः, त्यागः आदि उदाहरणों में प्राप्त होता है। पच्-रञ्ज्-त्यज् धातुओं से घञ् प्रत्यय (३.३.१८.) चजोः कुघिण्ण्यतोः (७.३.५२.) से कुत्त्व होता है। कुत्त्व करते समय गुणकृत साम्य के आधार पर पच् के चकार के स्थान में उसके समान विवार श्वास अघोष और अल्पप्राण गुण वाले कवर्ग का (कुत्त्व) क वर्ण आदेश होता है। रञ्ज् में जकार के स्थान पर संवार नाद घोष और अल्पप्राण वाला कुत्त्व ग वर्ण आदेश होता है। त्यज् में इसी प्रकार ग वर्ण आदेश होता है। प्रमाणकृत आन्तर्य का उदाहरण अमुम् अमू आदि रुपों की सिद्धि करते समय प्राप्त होता है। अदस् शब्द से अम् विभक्ति परे रहते 'अदसोसेर्दादुदोमः' (८.२.८०.) सूत्र से द को म और दकार के बाद वाले ह्रस्व को उकार आदेश होता है। यहाँ प्रमाण जन्य सादृश्य से ह्रस्व स्वर को ह्रस्व उकार और दीर्घ स्वर को दीर्घ ऊकार होता है।

तमप् ग्रहण का प्रयोजन - सूत्र पठित अन्तरतमः पद में तमप् ग्रहण का यही प्रयोजन है कि स्थानी को होने वाला आदेश सदृशतम हो। जैसे - 'वाग् हसति' प्रयोग में झयो होऽन्यतरस्याम् - (८.४.६२.) सूत्र से गकार से परे हकार होने के कारण हकार को पूर्व सवर्ण कहा गया है हकार के पर्ववर्ती गकार के सवर्णी पाँच वर्ण हैं। पाँचों में से हकार के स्थान पर कौन-सा आदेश होगा इसकी परीक्षा गुणकृत साम्य के आधार पर हो सकती है। हकार सवार नाद और घोष तथा महाप्राण होता है। कवर्ग में छकार ही ऐसा एक वर्ण है जो संवार नाद घोष और महाप्राण है। इस प्रकार हकार का सर्वाधिक सादृश्य घकार के साथ होने से हकार के स्थान पर पूर्व सवर्णी के रुप में घकार आदेश होता है और वाग्घसति रुप सिद्ध होता है। तमप् ग्रहण के अभाव में यत् किञ्चित् सादृश्य के आधार पर संवार-नाद-घोष प्रयत्न वाला गकार आदेश भी प्राप्त हो सकता है या महाप्राण प्रयत्न वाला खकार भी हो सकता है। तमप् ग्रहण के सामर्थ्य से पूर्व सदृश संवार-नाद-घोष और महाप्राण प्रयत्न वाला घकार आदेश ही होता है। इसी प्रकार वाग् + हरि में भी हकार को घकार आदेश होकर वाग्घरिः रुप सिद्ध होता है। त्रिष्टुब् + हसति में हकार को सदृशतम भकार आदेश होकर त्रिष्टुब् भसति प्रयोग सिद्ध होता है।

स्थानेऽन्तरतमः/स्थानेऽन्तरतमे - पाठान्तर विचार - अष्टाध्यायी सूत्र पाठ में स्थानेऽन्तरतमः के बाद उरण् रपरःसूत्र पठित है। इस सूत्र पाठ में स्थानेऽन्तरतम उरण् रपरः इस प्रकार

संधियुक्त पाठ उपलब्ध होता है । इसमें अन्तरतमः ऐसा पद प्रथमान्त माना जा सकता है अथवा 'अन्तरतमे' - इस प्रकार सप्तम्यन्त पद भी माना जा सकता है । दोनों पाठों में वही संधि होती है । (उभयथापि तुल्या संहिता - स्थाने ऽन्तरतम उरण् रपर इति - म.भा.) अन्तरतम पद को प्रथमान्त मानने पर उसका अन्वय आदेश के साथ होता है और इस प्रकार सम्पूर्ण सूत्र का अर्थ होता है - स्थानी को अन्तरतम अर्थात् सदृशतम आदेश होता है। अन्तरतम को सप्तम्यन्त मानने पर 'स्थाने ऽन्तरतमे' सूत्र का अर्थ होगा - अन्तरतम या सदृशतम स्थानी को आदेश होता है। उपर्युक्त दोनों पक्षों में यह विशेष है कि प्रथमान्त पक्ष में आदेश विशिष्ट होता है और स्थानी सामान्य होता है। दूसरे पक्ष में सप्तम्यन्त अन्तरतमे का सम्बन्ध स्थानी के साथ होने से स्थानी विशिष्ट होता है और आदेश सामान्य होता है। इन पक्षों में यदि स्थानिविशिष्ट पक्ष को सिद्धान्त माने तो षष्ठी स्थाने योगा के अनुसार सूत्र में पठित षष्ठ्यन्त पद को स्थानी माना जाता है, वह स्थानी आदेशों की कर्तव्यता में अन्तरतम होना चाहिए। जैसे - इकोयणचि सूत्र से विहित यणादेश ऐसे स्थानिभूत इकों को होंगे जो यणादेश के सर्वाधिक सदृश हों । इस स्थिति में 'दधि + अत्र = दध्यत्र, मधु + अत्र = मध्वत्र' इत्यादि प्रयोगों में इकार और उकार रुप स्थानी ह्रस्व होने से उनके स्थान पर यकार और वकार आदेश तो हो सकते हैं क्योंकि य्, र्, ल्, व् यद्यपि अर्धमात्रिक हैं किन्तु स्थानियों में सर्वाधिक सादृश्य ह्रस्व इकों के साथ है, दीर्घों के साथ नहीं है । इसके फलस्वरुप कुमारी + अर्थम्, ब्रह्मबन्धू + अर्थम् में दीर्घ ईकार, दीर्घ ऊकार के स्थान पर यण् आदेश नहीं हो पाएगा।

दूसरे पक्ष में जब अन्तरतमः ऐसा प्रथमान्त पाठ स्वीकार किया जाता है तब 'स्थाने सति अन्तरतमः आदेशः' ऐसा आदेश विशिष्ट हो जाता है और तब सभी प्रकार के (ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत) इकों के स्थान पर अन्तरतम आदेश की प्राप्ति हो जाती है।

स्थानी को विशिष्ट मानने पर दूसरा दोष 'इको गुण वृद्धी' की प्रवृत्ति में आ सकता है। गुण और वृद्धि आदेश उन्हीं इकों के स्थान पर होंगे जो इनसे सर्वाधिक सादृश्य रखते हैं। इस स्थिति में नेता-लविता आदि प्रयोगों में नी और लू के दीर्घ ईकार-दीर्घ ऊकार के स्थान पर एकार और ओकार गुण तो हो जाएगा किन्तु चेता-स्तोता में चि और स्तु के ह्रस्व इकार और ह्रस्व उकार को एकार और ओकार गुण नहीं हो पाएगा क्योंकि एकार-ओकार रुप गुणादेश से सर्वाधिक सादृश्य दीर्घ ईकार-ऊकार का है, ह्रस्व का नहीं।

इसी प्रकार वृद्धि करते समय दीर्घ ईकार और दीर्घ ऊकार को तो वृद्धि हो जाएगी और नायकः लावकः प्रयोग सिद्ध हो जाएँगे क्योंकि इनमें नी और लू धातुओं में दीर्घ ईकार और दीर्घ ऊकार विद्यमान है। किन्तु चायकः स्तावकः में चि और स्तु धातुओं में ह्रस्व इकार और ह्रस्व उकार है जो वृद्धिरुप ऐ और औ के सर्वाधिक अन्तरतम नहीं हैं। अन्तरतमः पद को प्रथमान्त मानकर आदेश के साथ अन्वित करने पर ह्रस्व और दीर्घ सभी इकों में स्थानित्त्व की योग्यता होने के कारण उनके स्थान पर सदृशतम गुण और सदृशतम वृद्धि हो जाती है । इ और ई तालु स्थानीय हैं। उनसे सादृश्य वाला आदेश तालुस्थानीय एकार (गुण) और ऐकार (वृद्धि) हो जाता है। इसी प्रकार उकार, ऊकार ओष्ठ्य हैं। इनके स्थान पर सदृशतम गुण ओष्ठस्थानीय ओकार और सदृशतम वृद्धि ओष्ठस्थानीय औकार हो जाते हैं। इस प्रकार सभी इष्ट रुपों की सिद्धि हो जाती है।

ऋकार का आन्तर्य - इ और उ के स्थानित्त्व का निर्णय तथा उनके स्थान पर होने वाले (स्थानगत साम्य के आधार पर) आदेशों की चर्चा के पश्चात् ऋकार स्थानिक अन्तरतम आदेश पर विचार करना आवश्यक है। यदि अन्तरतम पद को सप्तम्यन्त मानकर उसका अन्वय स्थानी के साथ करते हैं तो ऋकार के स्थान पर गुण की प्राप्ति होने पर अकार रुप गुण कर्तव्य है तो ह्रस्व ऋकार ही स्थानी माना जा सकता है। क्योंकि तीन गुणों में (अ-ए-ओ) ह्रस्व स्वर अकार ही है। वह आदेश होने पर उसका सादृश्य ह्रस्व ऋकार से ही हो सकता है। इसी प्रकार ऋ को वृद्धि कर्तव्य हो तो आकार रुप वृद्धि आदेश के लिए सदृशतम स्थानी दीर्घ ॠकार ही मानना होगा। इस स्थिति में कर्ता, हर्ता में ह्रस्व ऋकार को अकार गुण होकर अभीष्ट रुप सिद्ध होंगे तथा आस्तारकः-निपारकः में स्तॄ और पॄ धातुएँ दीर्घ ऋकारान्त होने से उन्हें वृद्धि रुप आकार आदेश हो सकता है। किन्तु इसके विपरीत दीर्घ ऋकार को गुण और ह्रस्व ऋकार को यदि वृद्धि प्राप्त है तो वह नहीं हो सकेगी। जैसे - आस्तरिता-निपारिता दीर्घ ऋकारान्त धातु है इनके दीर्घ ऋकार को गुण नहीं हो पाएगा और कारकः-हारकः में कृ और हृ धातु ह्रस्व ऋकारान्त है, अतः इनके ऋकार को वृद्धि नहीं हो पाएगी।

उपर्युक्त दोष अन्तरतम को सप्तम्यन्त मानकर स्थानी से अन्वित करने पर प्राप्त है। इसका निवारण अन्तरतमः ऐसा प्रथमान्त पाठ मानकर उसे आदेश के साथ अन्वित करने पर हो जाता है। इस पक्ष में ह्रस्व और दीर्घ सभी ऋकारों में स्थानित्त्व की योग्यता रहती है।

सिद्धान्तरुप से 'स्थाने ऽन्तरतमः' इस प्रकार प्रथमान्त पाठ ही निर्दुष्ट है।

प्रथमान्त पाठ पक्ष के दोष - सप्तम्यन्त पक्ष में संभाव्य दोषों का निवारण प्रथमान्त पाठ पक्ष मे संभव है। किन्तु इस पक्ष में कतिपय अन्य आपत्तियाँ हैं। जैसे - 'वान्तो यि प्रत्यये' - (६.४.६९.) सूत्र में वान्त आदेश तो निर्दिष्ट है किन्तु स्थानी का निर्देश नहीं है। इस स्थिति में वान्त आदेश ए, ओ, ऐ, औ इन चारों स्थानियों को हो सकते हैं क्योंकि पूर्व सूत्र (एचोयवायावः०) से एचः पद की अनुवृत्ति होती है। सप्तम्यन्त पक्ष में यह दोष नहीं आता। वान्त आदेश अर्थात् अव्-आव् आदेश अपने सदृशतम स्थानी का चयन कर उनके स्थान पर हो जाते हैं। अव् और आव् का सदृशतम स्थानी ओ और औ ही हैं। एचों में (ए, ओ, ऐ, औ) ओ और औ ही कण्ठस्थानीय हैं जो वान्त आदेशों से स्थान सम्बन्ध से सादृश्य रखते हैं। अव् और आव् में वकार ओष्ठ स्थानीय है।

वस्तुतः उपर्युक्त दोष का निवारण एक युक्ति से सम्भव है। 'वान्तो यि प्रत्यये' सूत्र से वान्त पद हटा दिया जाए। केवल यि प्रत्यये इतना ही सूत्र रहे। इस सूत्र का अर्थ होगा - यकारादि प्रत्यय परे रहते एच् को अयादि आदेश होते हैं। इस स्थिति में 'एचो ऽयवायावः' सूत्र के समान यि प्रत्यये से भी ओ और औ के स्थान पर अव् और आव् आदेश ही होंगे। अब रही बात यकारादि प्रत्यय के परे ए-ऐ को अय्-आय् आदेश की। तब चेयम्-जेयम् में एकार को अयादेश हो जाएगा। इस प्रकार क्षय्यम्-जय्यम् आदि प्रयोग भी इसी सूत्र से सिद्ध हो जाएँगे। तब 'क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे' सूत्र व्यर्थ हो जाएगा। 'यि प्रत्यये' सूत्र से ही ये दोनों प्रयोग सिद्ध हो जाएँगे। इस अनुपपत्ति के निवारणार्थ 'क्षय्य जय्यौ शक्यार्थे' सूत्र को विधि सूत्र न मानकर नियमसूत्र मान सकते हैं। नियम का स्वरुप इस प्रकार होगा - यकारादि प्रत्यय परे रहते 'यि प्रत्यये' सूत्र से यदि आदेश कर्तव्य हो तो क्षि और जि धातुओं के एच् को ही अयादेश करना चाहिए।

इस नियम से चेयम् में संभावित दोष स्वतः ही दूर हो जाएगा।

'क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे' सूत्र को नियम सूत्र मानने में एक आपत्ति यह संभावित है कि क्षि और जि धातुओं से शक्य अर्थ में ही अयादेश नियमित होगा। शक्यार्थ से भिन्न अर्थ में नियम की प्रवृत्ति न होगी और तब उत्सर्ग सूत्र 'यि प्रत्यये' प्रवृत्त होकर क्षि और जि को यकारादि प्रत्यय के परे अयादेश होने लगेगा। फलस्वरुप शक्य से भिन्न अर्थ में भी क्षय्यम्-जय्यम् रुपों की सिद्धि हो जाएगी। जबकि शक्य - भिन्न अर्थ में क्षेयम्-जेयम् रुप अभीष्ट हैं। लोक में क्षेयं पापम् का अभिप्राय है पाप क्षय के योग्य है। पाप का क्षय शक्य है इस प्रकार अर्थ 'क्षेयं पापम्' प्रयोग से विवक्षित नहीं है। इसी प्रकार 'जेयम् मनः' का आशय है - मन जीतने योग्य है। मन को जीतना शक्य है। ऐसा अर्थ इस प्रयोग में अभीष्ट नहीं है।

नियम सूत्र की कल्पना में उपर्युक्त दोषापत्ति पर विचार करते हुए यह युक्ति दी जा सकती है कि नियम का स्वरुप दो प्रकार से समझा जाए। प्रथम प्रकार होगा यकारादि प्रत्यय के परे यदि अयादेश करना हो तो केवल क्षि और जि धातुओं के एच् को ही किया जाए। द्वितीय नियम होगा कि क्षि और जि धातुओं के एच् को यदि अयादेश करना हो तो शक्यार्थ में ही करना चाहिए। इस द्विविध नियम की कल्पना से क्षि और जि के एच् को शक्य निम्न अर्थ में अयादेश की प्राप्ति अवरुद्ध हो जाएगी।

इस प्रकार उपर्युक्त नियम की अवधारणा से क्षय्यम्-जय्यम् के दोषों का निवारण तो हो गया किन्तु नियम के प्रभाव से लव्यम्-पव्यम्, अवश्य लाव्यम्-अवश्य पाव्यम् आदि प्रयोगों में वान्त आदेशों के सम्बन्ध में अनुपपत्ति की संभावना है। इन प्रयोगों में लू और पू धातु के ओकार और औकार को 'यि प्रत्यये' सूत्र से आदेश नहीं हो पाएँगे। इस आशंका का समाधान इस रुप में किया जा सकता है कि प्रस्तुत नियम सजातीय एचों के लिए है। सजातीय एच् का तात्पर्य क्षि और जि धातुओं के एच् अर्थात् एकार के सजातीय एच् से है। इस प्रकार उक्त नियम एकार के लिए ही है। ओकार-औकार के लिए नहीं। अतः लव्यम्-पव्यम् आदि उदाहरणों में यि प्रत्यये सूत्र से अवादि आदेश होने से कोई आपत्ति नहीं है।

निष्कर्षतः एकार के संबंध में उपर्युक्त नियम की प्रवृत्ति होती है और समस्त रुपों की सिद्धि हो जाती है। तथापि पुनः यह आशंका उपस्थित होती है कि क्षय्य और जय्य के निपातनों से ज्ञापित नियम मात्र एकार के लिए ही प्रवृत्त होगा तब ऐकार में नियम की प्रवृत्ति कैसे होगी ? ऐकार में यदि नियम की प्रवृत्ति नहीं होगी तो रायमिच्छति-रैयति में यि प्रत्यये सूत्र से आयादेश हो जाएगा। भाष्यकार इस विषय में कोई शास्त्रीय समाधान प्रस्तुत न करते हुए यह कहते हैं - 'रायिश्छान्दसः। दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति।' इसका आशय है कि रैयति प्रयोग वैदिक है। रै शब्द से क्यच् प्रत्यय केवल वेद में दृष्टिगोचर होता है। वैदिक प्रयोगों के लिए यह परम्परा है कि वे जैसे दृष्टिगत होते हैं उसी रुप में उनकी सिद्धि की जाती है।

अन्तरतमः इस प्रकार प्रथमान्त पाठ पक्ष में अर्थात् आदेशों में जो सदृशतम हो उसका ही आदेश होता है - ऐसा सूत्रार्थ मानने पर 'उदुपधाया गोहः' - (६.४.८९.) सूत्र में 'उपधायाः' पद आवश्यक हो जाता है। 'अन्तरतमे' ऐसे सप्तम्यन्तपाठ पक्ष में स्थानियों में जो सदृशतम हो उसे आदेश

किए जाने पर 'उपधाया०' पद की आवश्यकता नहीं होगी। सूत्र विहित उत्त्व आदेश ऐसे ही स्थानी को होगा जो अकार से सर्वाधिक सादृश्य रखता है। अकार और ओकार ओष्ठ्य हैं अतः गोह में से गकार, हकार इन दो वर्णों की अपेक्षा ओकार ही ओष्ठ्य होने से ऊत्त्व का स्थानी होता है। इस प्रकार 'उपधायाः' पद की आवश्यकता नहीं रहती।

वस्तुतः उपर्युक्त दोषापत्ति वास्तविक नहीं है। क्योंकि सूत्रकार ने सूत्र में 'उपधायाः' पद पढ़ा ही है अतः अतिरिक्त यत्न करने की आवश्यकता नहीं है।

इसी प्रकार 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' - (८.४.४२.) सूत्र से तकार के स्थान पर नकार आदेश हो जाए इस हेतु सूत्र में तः इस प्रकार षष्ठ्यन्त स्थानी का निर्देश 'अन्तरतमः' इस प्रथमान्त पक्ष में आवश्यक हो जाता है। 'अन्तरतमे' कहने पर सदृशतम स्थानी को ही आदेश किया जाता है। इस पक्ष में नकार रुप आदेश अपने सदृशतम स्थानी का चयन कर उसके स्थान पर आदिष्ट हो जाता है। नकारादेश दन्त्य है और प्रकृति में तकार भी दन्त्य स्थानीय है। अतः सदृशतम स्थानी तकार होने पर तकार के स्थान पर नकार आदेश सिद्ध हो जाता है। पृथक् रुप से 'तः' कहने की आवश्यकता नहीं रहती। भाष्यकार इस स्थल पर भी पाणिनीय सूत्र न्यास को स्वीकार करते हुए इस आपत्ति का खण्डन करते हैं। (क्रियते एतन्न्यास एव)

इस प्रकार अन्तरतमे और अन्तरतमः ये दोनों पाठ दोष रहित और पाणिनीय हैं।

सूत्र के स्वरुप पर विचार - सूत्र के सम्बन्ध में यह विचार उत्पन्न हो सकता है कि क्या यह सूत्र स्वतंत्र विधि सूत्र या निर्वर्तक सूत्र है अथवा विधिसूत्रों के द्वारा निर्वर्तित कार्य का व्यवस्थापन या अनुमोदन करने वाला परिभाषासूत्र हैं। विधि सूत्र मानने पर इसका अर्थ होगा - स्थानी से सर्वाधिक सादृश्य वाले आदेश स्थानी को होते हैं। व्यवस्थापक मानने पर अर्थ होगा - विधि सूत्रों से विहित सदृशतम आदेश पाणिनि संमत है।

इन दो पक्षों में प्रथम पक्ष के आधार पर यदि इसे विधिसूत्र मानें तो यह अनुपपत्ति होगी कि सभी शब्दों को सदृशतम आदेश हो जाएँगे। सूत्र में पठित स्थान पद का आशय प्रसंग से है। अतः सभी शब्दों के उच्चारण का प्रसंग होने पर उनके स्थान पर सदृशतम आदेशों की प्राप्ति हो जाएगी और इस प्रकार सभी शब्दों की आदेशों के द्वारा निवृत्ति हो जाएगी। उदाहरणार्थ - दधि, मधु आदि शब्दों का उच्चारण प्रसंग होने पर उनके स्थान पर सदृशतम आदेश होंगे और मूल दधि-मधु आदि शब्दों की निवृत्ति हो जाएगी। यद्यपि इस स्थिति में शब्दों के स्वरुप में कोई परिवर्तन दृष्टिगत नहीं होगा क्योंकि दधि-मधु के स्थान पर सदृशतम दधि-मधु आदेश ही होंगे। अन्यत्र कतिपय शब्दों में आदेशता धर्म आ जाने के कारण अनुपपत्ति की संभावना है। जैसे - बिसम् मुसलम् आदि शब्दों को बिसम्-मुसलम् आदेश होने पर आदिष्ट बिसम्-मुसलम् शब्द आदेश कहे जाएँगे। आदेश होने के कारण इन शब्दों में उच्चरित सकार को आदेश प्रत्यययोः - (८.३.५९.) सूत्र से षत्त्व की प्राप्ति हो जाएगी।

दूसरा दोष यह होगा कि शब्दों में अभीष्ट व्यवस्था नहीं हो पाएगी। 'प्रसङ्गे सति सदृशतम

आदेशः स्यात्।' ऐसा सूत्रार्थ करने पर उच्चारण का प्रसंग होने पर सदृशतम आदेश करना है। आदेश होने के पश्चात् पुनः आदिष्ट शब्द का उच्चारण प्रसंग आएगा तब उसे भी वही सदृशतम आदेश होगा। इस प्रकार अनवस्था दोष की प्रसक्ति हो जाएगी। इस प्रक्रिया में साधु शब्दों की स्थिति या स्वरुप निर्धारित करना दुष्कर हो जाएगा। जिस प्रकार गरम भट्टी में तिल डालने पर एक क्षण भी तिल के दाने स्थिर नहीं रह सकते उसी प्रकार शब्दों की अवस्था हो जाएगी। अतः इसे स्वतंत्र विधि सूत्र मानना असंगत है।

दूसरे पक्ष में यदि इस सूत्र को केवल व्यवस्था में संमति या अनुमोदन करने वाला सूत्र मानते हैं तो इस सूत्र का कोई औचित्य ही नहीं रह जाता। तत्तत् विधिसूत्रों से सदृशतम आदेश हो जाने के बाद यदि प्रकृत सूत्र सदृशतम आदेश को मान्यता दे और तद्भिन्न या जो सदृशतम नहीं हैं उन्हें अमान्य करे तो सूत्र की कोई उपयोगिता नहीं है। एक बार विधिसूत्र से कोई आदेश हो चुकने के पश्चात् या कार्य संपन हो जाने के बाद इस सूत्र के द्वारा सदृशतम आदेश को स्वीकृति देना सदृशतम से भिन्न को अस्वीकार करना, इससे कोई अर्थ नहीं रह जाता। जिस प्रकार लोक में कोई व्यक्ति भोजन कर चुका हो उसके पश्चात् उसे 'भोजन मत करो' कहना व्यर्थ है। उसी प्रकार प्रकृत सूत्र भी व्यर्थ है।[२]

परिभाषा सूत्र - इस प्रकार दोनों पक्ष दोषयुक्त प्रतीत होते हैं। अतः यह सूत्र न तो स्वतंत्र निर्वर्तक सूत्र है और न ही विधिसूत्र, क्योंकि इस पक्ष में अनवस्था दोष है। दूसरा यह अनुमोदक सूत्र भी नहीं है क्योंकि इस पक्ष में इसकी व्यर्थता सिद्ध हो जाती है। अतः प्रकृत सूत्र को परिभाषा सूत्र मानना ही सिद्धान्त पक्ष है।

परिभाषा मानने पर षष्ठी के अधिकार में इसकी उपस्थिति होगी। जहाँ-जहाँ विधि सूत्रों में षष्ठ्यन्त निर्देश हो वहाँ-वहाँ यह उपस्थित होगा। उदाहरणार्थ - इको यणचि सूत्र में इकः षष्ठ्यन्त पद पठित है अतः प्रकृत परिभाषा वहाँ उपस्थित होकर 'इकः स्थाने अन्तरतमः यण् अचि' अर्थात् इक के स्थान पर सदृशतम यणादेश होता है, अच् के परे रहते इस प्रकार अर्थ बोध कराएगी। विधि और परिभाषा की इस प्रकार एकवाक्यता होकर अर्थबोध होता है और दधि + अत्र आदि प्रयोगों में इ के स्थान पर सदृशतम यकार आदेश होता है।

लोक व्यवहार के आधार पर सूत्र की गतार्थता - प्रकृत सूत्र के स्वरुप के सम्बंध में सिद्धान्त पक्ष की स्थापना होने के पश्चात् पुनः यह आशंका उपस्थित होती है कि स्थानी को सदृशतम आदेश तो होता है किन्तु जो आदेश जिस स्थानी के सदृशतम है वह आदेश उसी स्थानी को होगा - इसका प्रमाण या नियम क्या है। संभव है कि किसी स्थानी का सदृशतम आदेश किसी दूसरे स्थानी को हो जाए।

इस आशंका को भाष्यकार ने लौकिक उदाहरणों द्वारा निर्मूल सिद्ध कर दिया है। भाष्य के शब्दों का तात्पर्य है - जो जिसके सदृश होता है वह उसके स्थान पर बैठता है। यह स्वाभाविक नियम है अथवा यही लोक व्यवहार है। जिस प्रकार लोक में किसी उत्सव में या सभाओं अथवा सहभोज में भिन्न-भिन्न उद्देश्य से एकत्रित जन अपने-अपने कार्यक्षेत्र में ही बैठते हैं। सभा या संगोष्ठी के लिए आए हुए व्यक्ति संगोष्ठी स्थल पर बैठते हैं। भोजन के लिए निमंत्रित व्यक्ति भोजन स्थल की ओर और जो

कार्यकर्ता होंगे वे अपने समवाय में उपस्थित रहेंगे। इस व्यवस्था के लिए किसी आदेश या नियम के बनाने की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार शास्त्र में भी जो आदेश जिसके सदृश है वह उसके स्थान पर स्वाभाविक रुप से हो जाएगा। उसकी सिद्धि के लिए वचनारम्भ आवश्यक नहीं। इसी आधार पर प्रकृत परिभाषा सूत्र का प्रत्याख्यान किया गया है।[३] यह आवश्यक नहीं कि सभा में जाकर दुर्बल, दुर्बलों के साथ ही बैठें या सबल, सबलों के साथ। यह तो आपसी संबंध या प्रेम की बात है कि जहाँ जिसका कुछ भी छोटा-मोटा संबंध होता है वह उसी के साथ बैठना पसंद करता है। इसी लिए कहा गया है -

यस्य येनार्थ सम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः,
अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम्। - (न्यायदर्शन वात्स्यायन भाष्य - १.२.९.)

संस्कृत का एक सुभाषित भी इसी अर्थ में प्रसिद्ध है।

'मृगाः मृगैः सङ्गमनुव्रजन्ति, गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरङ्गैः।
मूर्खाश्च मूर्खैः सुधियः सुधीभिः, समानशीलव्यसनेषु सख्यम्॥' - (पंचतंत्र)

इसका भाव यह है कि गायें दिन भर जंगल में चरने के लिए जाकर सायंकाल घर आती हुई अपने-अपने बछड़ों के साथ ही जा मिलती हैं। वे दूसरों के बछड़ों को अपना स्तनपान नहीं करातीं। बछड़े-बछियाँ भी अन्य गायों के पास दूध पीने के लिए नहीं जाते वरन् अपनी माताओं के पास ही सानन्द जाकर दुग्धपान करते हैं। इसी प्रकार हल चलाते समय या पानी खींचते समय बैलों का जोड़ा जो गर्दन पर रखे हुए काष्ठ से सम्बद्ध होते हैं, वे बैल एक-दूसरे को कभी नहीं देखते किन्तु फिर भी शब्द करते या रंभाते हैं। जो उनके परस्पर संवाद को सूचित करता है।

उपर्युक्त दृष्टान्त चेतन धर्मियों का है। अचेतनों में भी यही स्वभाव सिद्ध आन्तर्य देखा जाता है। जैसे - मिट्टी का ढेला या पाषाण खण्ड वेग से ऊपर आकाश की ओर फेंकने पर हाथ के वेग से न तिरछा जाता है और न ऊपर ही रहता है अपितु अपनी प्रकृति रुपा पृथ्वी की ओर ही आकर गिरता है। पृथिवी का विकार होने से पृथ्वी पर ही आता है या पृथ्वी की ओर ही आकर्षित होता है। इसी प्रकार जल का विकार धूम है। अन्तरिक्ष में रहने वाले सूक्ष्म जल कणों का विकार धूम, वायुरहित आकाश में न तिरछा उठता है और न नीचे उतरता है। जल का विकार होने से उसी के साथ उसका सादृश्य होता है अतः उन जल कणों में ही मिल जाता है। इसी प्रकार ज्योति या सूर्य का विकार अर्चि या अग्नि की ज्वाला - वायुरहित आकाश देश में प्रज्वलित होती हुई - न तिरछी जाती है और न नीचे उतरती है अपितु ज्योति का विकार होने से सादृश्य के कारण ज्योति में ही मिल जाती है।[४]

इन समस्त दृष्टान्तों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि परस्पर सम्बंध होने में कोई अन्तर्वर्ती अन्तरतम कारण निहित होता है। कोई न कोई अदृश्य साम्य है जिससे दो वस्तुएँ स्वतः ही सम्बद्ध हो जाती है।[५]

इस प्रकार वस्तु स्वभाव और लोक-व्यवहार के आधार पर सदृशतम आदेश स्वतः सिद्ध है अतः प्रकृत सूत्र प्रत्याख्येय प्रतीत होता है।

सूत्रारम्भ पक्ष में संभाव्य दोष एवं उनका समाधान - स्वभाव सिद्ध या लोक व्यवहार सिद्ध होने पर भी शास्त्रीय कार्य की सिद्धि के लिए यदि प्रकृत सूत्रारम्भ आवश्यक माना जाता है। उद्योतकार के शब्दों में 'मन्दमध्यबुद्धयर्थ:' सूत्र को आवश्यक माने तो इस पक्ष में वार्तिकार ने कतिपय अनुपपत्तियों और दोषों की उद्भावना की है जिस पर भाष्यकार ने विस्तृत चर्चा का उन दोषों का निराकरण भी किया है। जैसे - व्यञ्जन और स्वर के व्यतिक्रम में दोषापत्ति होगी।[६] व्यंजन व्यतिक्रम का उदाहरण 'इष्टम्-उप्तम्' में यज् और वप् धातुओं के यकार रुप व्यंजन को इकार (वचिस्वपियजादीनाम्० - ६.१.१५.) और वकार को उकार (वही) सम्प्रसारण प्राप्त है। यहाँ य्-व् अर्धमात्रिक व्यंजन हैं अतः इनके स्थान पर सादृश्य संबंध से अर्धमात्रिक इकार-उकार होना चाहिए।

भाष्यकार ने इस दोष का निराकरण अपनी चिरपरिचित शैली में करते हुए कहा है - अर्धमात्रिक व्यंजनों के स्थान पर अर्धमात्रिक इक् प्राप्त तो है किन्तु अर्धमात्रिक इक् तो न लोक में और न ही वेद में उपलब्ध है। जो उपलब्ध ही नहीं है या जिसका अस्तित्व ही नहीं है उसकी प्रवृत्ति भी कैसे होगी? मात्रिक स्वर का अस्तित्व होता है अतः वही आदेश आन्तर्य संबंध से होगा। (नैव लोके न चं वेदे ऽर्धमात्रिक इगस्ति। कस्तर्हि ? मात्रिक:। योऽस्ति स भविष्यति। - म. भा.)

स्वर व्यतिक्रम में भी यही आपत्ति है। दध्यत्र-मध्वत्र-कुमार्यर्थम्-ब्रह्मबन्ध्वर्थम् इत्यादि उदाहरणों में एक मात्रिक इकार-उकार के स्थान पर एकमात्रिक यकार-वकार किया जाना चाहिए। (इको यणचि) दीर्घ ईकार-ऊकार द्विमात्रिक हैं - उनके स्थान पर (कुमारी + अर्थम्, व ब्रह्मबन्धू + अर्थम् में) द्विमात्रिक य्-व् का आदेश होना चाहिए। यहाँ भी उपर्युक्त नियम के अनुसार द्विमात्रिक यण् की निवृत्ति हो जाती है। (नैव लोके न च वेदे द्विमात्रिको यणस्ति। कस्तर्हि ? अर्धमात्रिक:। योऽस्ति स भविष्यर्ति। - म.भा.)

सूत्रारम्भ पक्ष में दूसरा दोष अनेक वर्णों के स्थान पर एकादेश करते समय उत्पन्न होत है।[७] उदाहरणार्थ - 'इदम इश्' - (५.३.३.) सूत्र से इदम् के स्थान पर इश् आदेश कहा गया है।

यहाँ स्थानी इदम् की ढाई मात्राएँ हैं और आदेश की एक मात्रा। प्रकृत परिभाषा के अनुसार ढाई मात्रा वाले स्थानी को ढाई मात्रा वाला इकार आदेश होना चाहिए। इस आपत्ति का निराकरण भाष्यकार ने 'भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न' परिभाषा के आधार पर किया है। इस् आदेश में ह्रस्व इकार विधीयमान होने से अपने सवर्णो का ग्राहक नहीं है अतः ढाई मात्रिक इदम् के स्थान पर ढाई मात्रिक इकारादेश प्राप्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि पूर्वोक्त से समाधानों के समान इस प्रयोग में भी 'नैव लोके - न च वेदे०' वाला समाधान प्रस्तुत नहीं किया गया। प्रदीपकार कैयट इस विषय में टिप्पणी करते हुए लिखते हैं - 'नैव लोके इत्ययं परिहारो नोक्त:। यदा विशेष विहितत्वादत्त्वमिश्भावेन बाध्यते इति न्यायस्तदा त्रिमात्रस्य त्रिमात्र संभवात्स्यादेव प्लुत:।' इसका आशय यह है कि जब विशेष विहित इश् आदेश से त्यदादीनाम: से विहित अत्त्व का बाध हो जाता है तब तीन मात्रा वाले इदम् के स्थान पर तीन मात्रा वाला इवर्ण (प्लुत इकार) आदेश संभव है।

यद्यपि भाष्य वचन के आधार पर कैयट की उपर्युक्त आशंका व्यर्थ है। भाष्यकार ने स्पष्ट रुप से इदम् की अर्धतृतीय मात्रा अर्थात् ढाई मात्रा मानी है। उनके अनुसार परत्त्वात् 'त्यदादीनामः' से अत्त्व होकर इद अ में अतो गुणे से पररुप करने पर इद की ढाई मात्रा ही होती है। (आन्तर्यतो ऽर्धतृतीयमात्रिकस्येदमः स्थाने अर्धतृतीयमात्रमिवर्ण प्राप्नोति। - म. भा.)

सूत्रारम्भ पक्ष में तृतीय दोष गुण-वृद्धि और एज्भाव में प्राप्त होता है। (गुण वृद्धयेज्भावेषु च - वा. - ११.) जहाँ प्रयोगों में गुण-वृद्धि या एच् आदेश कर्तव्य हो वहाँ स्थानी की मात्रा के समान आदेशों में भी मात्रा साम्य आवश्यक हो जाएगा। उदाहरणार्थ - खट्वा + इन्द्रः = खट्वेन्द्रः, खट्वा + उदकम् = खट्वोदकम्, खट्वा + ईषा = खट्वेषा, खट्वा + ऊढा = खट्वोढा, खट्वा + एलका = खट्वैलका, खट्वा + ओदनः = खट्वौदनः, खट्वा + ऐतिकायनः = खट्वैतिकायनः, खट्वा + औपगवः = खट्वौपवः इन उदाहरणों में से खट्वेन्द्रः, खट्वोदकम् और खट्वेषा में दो स्वरों के स्थान पर गुण एकादेश (६.१.८७.) है। शेष तीन उदाहरणों में वृद्धि एकादेश (६.१.८८.) है। खट्वेन्द्रः और खट्वोदकम् में स्थानी की तीन मात्राएँ (आकार की २ और इकार-उकार की एक-एक) हैं। अवशिष्ट चारों उदाहरणों में स्थानी की चार-चार मात्राएँ हैं। अतः इनके स्थान पर विधीयमान गुण और वृद्धि आदेश भी मात्रा साम्य से तीन और चार मात्राओं वाले होने चाहिए।

यह दोष वृद्धि और गुण संज्ञक सूत्रों के तपरकरण के द्वारा दूर किया जा सकता है। वृद्धिरादैच् और अदेङ्गुणः दोनों सूत्रों में तपरकरण है। तपरस्तत्करणस्य [८] - (१.१.६८.) की सहायता से दीर्घ ऐ, औ को ही वृद्धि संज्ञा होती है। इन उपर्युक्त प्रयोगों में विधीयमान गुण और वृद्धि स्थानी की मात्राओं के अनुसार त्रिमात्रिक, चतुर्मात्रिक हो ही नहीं सकते क्योंकि त्रिमात्रिक, चतुर्मात्रिक करने पर वे गुण या वृद्धि संज्ञक ही नहीं रहते। इस प्रकार गुण-वृद्धि विषयक दोष का निवारण हो जाता है।

एच् आदेश में जो दोषापत्ति की गई है उसका उदाहरण कुर्वाते-कुर्वाथे आदि में दृष्टिगत होता है। इन प्रयोगों में आताम् और आथाम् प्रत्ययों के टिसंज्ञक अंश को एत्त्व का विधान 'टित आत्मनेपदानां टेरे' - (३.४.६९.) सूत्र से किया गया है। यहाँ एत्त्व आदेश का स्थानी आम् है जो ढाई मात्राओं वाला है। मात्रिक साम्य के आधार पर आम् के स्थान पर विधीयमान एत्व भी ढाई मात्रा का होना चाहिए। इस आपत्ति का निवारण उसी युक्ति से होगा जिससे पूर्व में 'नैव लोके च वेदे ऽर्ध तृतीय मात्र एजस्ति' आदि शब्दों के द्वारा किया गया है।

ढाई मात्रा का एकार (एच्) न लोक में और न वेद में पाया जाता है। अतः एच् जैसा उपलब्ध है वही आदेश होगा। एच् द्विमात्रिक है अतः आताम् और आथाम् के टि संज्ञक आम् के स्थान पर द्विमात्रिक एत्त्व ही होता है।

अन्तरतम आदेश के संबंध में उपर्युक्त आशंकाओं के समाधान के पश्चात् ऋकार के विषय में एक आशंका पुनः उत्पन्न होती है। ऋकार के स्थान पर गुण या वृद्धि प्राप्त होने पर गुण संज्ञक या वृद्धि संज्ञक सभी वर्ण आदेश के रुप में प्राप्त हो सकते हैं। इसका कारण यह है कि ऋकार के स्थान पर गुण या वृद्धि का विधान करते समय वर्ण विशेष का उल्लेख नहीं है। अतः सामान्य रुप से सभी गुण [९] या सभी वृद्धि

संज्ञक वर्णो की प्राप्ति हो सकती है।

इस प्रसंग में 'उरण् रपरः' - (१.१.५१.) सूत्र अत्यंत उपयोगी सिद्ध होता है। उरण् रपरः सूत्र से ऋवर्ण के स्थान पर विधीयमान अण् को रपर का विधान है। अर्थात् ऋ को अकार गुण होने पर वह रपर होकर ही प्रवृत्त होता है। ऋ को वृद्धि प्राप्त होने पर आकार रुप वृद्धि रपर होकर प्रवृत्त होती है। इसीलिए 'ऋकारस्य गुण वृद्धी अरारावेवेति' - (१.१.५१. - म. भा.) कहा गया है। इसमें स्थानीभूत ऋकार में रेफ श्रुति और आदेश में (अर्-आर् में) भी रेफ है। यही स्थानी और आदेश का साम्य है।

इस स्थल पर यह संदेह उत्पन्न हो सकता है कि यदि ऋ के स्थान पर विधीयमान अर् और आर् में आदेशता मानें तो ये आदेश अनेकाल् होने से 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' - (१.१.५५.) के अनुसार सर्वादेश हो जाएँगे। इस संदेह का निवारण 'सन्निपातपरिभाषा' की सहायता से हो सकता है। 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद् विघातस्य' के अनुसार जब ऋकार को स्थानी मानकर अर् या आर् आदेश होता है तब वह अर् या आर् आदेश ऋकार के अर्थात् अपने उपजीव्य का विघातक नहीं हो सकता। ('न वानेकाल्त्वस्य तदाश्रयत्वादृवर्णादेशस्याविघातः' - म. भा. वा. - १५.) लोक में भी यह नियम देखा जाता है कि जिस नींव के आधार पर संपूर्ण भवन का निर्माण होता है, उस नींव को भवन निर्माण हो जाने के पश्चात् नष्ट या परिवर्तित नहीं किया जा सकता।

अनान्तर्यमेवैतयोरान्तर्यम् - ऋ वर्ण के स्थान पर गुण या वृद्धि के रुप में अ अथवा आ का विधान सिद्ध होने के लिए भाष्यकार एक अन्य युक्ति प्रस्तुत करते हैं। इसके अनुसार स्थानी और आदेश के सादृश्य को केवल स्थान, अर्थ, गुण और प्रमाणगत सादृश्य के आधार पर ही परिभाषित नहीं किया जाता। स्थानी और आदेश में परस्पर असमानता भी उनका आन्तर्य हो सकता है। ऋ वर्ण को गुण या वृद्धि की प्राप्ति में स्थानीभूत ऋकार में अकार या आकार रुप गुण/वृद्धि से सादृश्य नहीं है अथवा आदेश में (अकार या आकार में) ऋ वर्ण का सादृश्य नहीं है। इस प्रकार एक (अकार-आकार) की सदृशतम प्रकृति नहीं है और दूसरे (ऋ वर्ण) का सदृशतम आदेश नहीं है। यह सादृश्य का न होना ही इन दोनों का (ऋ वर्ण और अ या आ का) सादृश्य है। जिस प्रकार लोक में 'नष्टाश्वदग्धरथन्याय' प्रचलित है। इस न्याय का आशय यह है कि जब दो यात्री अपने-अपने रथ पर सवार होकर यात्रा में निकले। मार्ग में एक यात्री के रथ का घोड़ा नष्ट हो गया अर्थात् मर गया और दूसरे यात्री का रथ दुर्घटनाग्रस्त होकर जल गया। तब वे दोनों परस्पर कहते हैं - 'तेरा अश्व नष्ट हो गया, मेरा भी रथ जल गया हम दोनों साथ संयुक्त हो जाते हैं। अर्थात् तुम्हारे अश्व और मेरे रथ को जोड़कर हम दोनों गन्तव्य तक पहुँच सकते हैं।'

इसी प्रकार अ, आ गुण-वद्धि की अन्तरतमा प्रकृति नहीं है और ऋ वर्ण के लिए अन्तरतम आदेश नहीं है। इसलिए ऋ वर्ण और अ (गुण में) या ऋ वर्ण और आ (वृद्धि करते समय) परस्पर सहभाव को प्राप्त हो जाते हैं।

यहाँ यह प्रष्टव्य हो सकता है कि लोक में मनुष्य अथवा चेतनधर्मी किसी प्रयोजन वश या प्रकरण के आधार पर सहयोगी हो सकते हैं किन्तु वर्ण तो अचेतन है, इनमें सहयोग की भावना कैसे हो सकती है ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि वर्ण अचेतन है तथापि जो प्रयोक्ता उन वर्णो का प्रयोग करता

है वह तो चेतन है। तब उक्त न्याय से कार्य सिद्ध होने में कोई आपत्ति नहीं है।

एकादेश विषयक आपत्ति - जहाँ अवर्ण और एच् इन दोनों के स्थान पर वृद्धि रुप एकादेश (वृद्धिरेचि - ६.१.८८.) प्राप्त है वहाँ आकार एकादेश की प्राप्ति हो सकती है। उदाहरणार्थ - खट्वा + एलका = खट्वैलका, माला + औपगव: = मालौपगव:। यहाँ आ और ए तथा आ और औ इन स्थानियों में अवर्ण का बाहुल्य है क्योंकि प्रथम स्थानी अ वर्ण है और दूसरा स्थानी जो एच् है वह सन्ध्यक्षर है उसमें भी अवर्ण है। इस प्रकार स्थानी में अवर्ण का बाहुल्य होने से अवर्ण आदेश (आकार वृद्धि) प्राप्त हो सकता है। इस आपत्ति के निवारणार्थ पूर्व और पर दोनों स्थानियों में आदेश का आन्तर्य देखना आवश्यक है। भाष्यकार भी 'सिद्धं तूभयान्तर्यात्' वार्तिक के भाष्य में 'उपयोर्योऽन्तरतमस्तेन भवितव्यं न चावर्णमुभयोरन्तरतमम्' कहकर यह स्वीकार करते हैं कि अवर्ण और एच् दोनों स्थानियों से जिस आदेश का सादृश्य हो वही आदेश होगा। इसमें ऐच् ही ऐसा आदेश है जिसका दोनों स्थानियों से सादृश्य है। आ + ऐ, अथवा आ + औ - इन स्थानियों को क्रमश: ऐ और औ आदेश ही हो सकते हैं क्योंकि इन्हीं आदेशों में आ और ऐ तथा आ और औ का सादृश्य है।

परिभाषा सूत्र की आवश्यकता - सिद्धान्तत: लोक व्यवहार से अन्तरतम: आदेश सिद्ध होने पर भी सूत्र को प्रत्याख्येय मानना युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि सूत्र की सत्ता में ही तन्त्र द्वारा 'स्थानेऽन्तरतम:' यह प्रथमान्त पद का सन्धिविच्छेद तथा 'स्थाने ऽन्तरतमे' यह सप्तम्यन्त पद का सन्धिविच्छेद दोनों संभव है। दोनों प्रकार से पद पाठ संभव है। सूत्र के अभाव में यह नहीं हो सकता। भाष्यकार लिखते हैं - 'उभयथापि तुल्यासंहिता। स्थाने ऽन्तरतम उरण्रपर इति' अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी इस परिभाषा सूत्र का समर्थन किया है। जैनेन्द्र ने स्थाने ऽन्तरतम: - (१.१.४७.) ही सूत्र पढ़ा है। शाकटायन और हेमचन्द्र ने इसी अर्थ का आसन्न: - (१.१.७. और ७.४.१२०.) सूत्र पढ़ा है।

❀❀❀

शब्द संकेत

१. तस् थस् थ मिपाम्० में अर्थकृत आन्तर्य के संबंध में भाष्य वचन है - 'एकार्थस्यैकार्थो, द्वयर्थस्य द्वयर्थो, बह्वर्थस्य बह्वर्थो यथा स्यात्।' इस भाष्योक्ति पर उद्योतकार नागेश भट्ट ने टिप्पणी की है जिसका आशय है कि आदेशों में अर्थवत्ता स्वभाव सिद्ध होती है। तत्तत् स्थानों पर आदिष्ट होने के बाद आदेश अर्थवान् होते हैं ऐसा नहीं है। शब्दार्थ संबंध नित्य होता है। अतः स्थानी में विद्यमान अर्थवाचकता आदेशों में पूर्व में ही है जो स्वाभाविक है इसीलिए भाष्यकार एकवचन के मिप् के स्थान पर एकवचन का अम् आदेश आदि करते हैं। 'आदेशानां तत्स्थानापन्नत्वेन न तदर्थत्वम्, किन्तु स्वभावत एव, शब्दार्थ सम्बन्धानां नित्यत्वात् - उद्योत।'

२. "अनर्थकमेतत्स्यात्। यो हि भुक्तवन्तं ब्रूयान्मा भुक्था इति कि तेन कृतं स्यात्।"
- (म. भा. - १.१.८०. वा. - ४.)

३. 'प्रत्यात्मवचनमशिष्यं स्वभाव सिद्धत्वात्।' प्रत्यात्म वचनमशिष्यम् किं कारणम् ? स्वभाव सिद्धत्वात्। स्वभावतः एतत् सिद्धम्। तद्यथा समाजेषु, समाशेषु, समवायेषु चाऽस्यतमित्युक्ते न चोच्यते प्रत्यात्ममिति। प्रत्यात्म चासते।

अन्तरतम वचनं च अन्तरतम वचनं चाशिष्यम्। कुतः ? स्वभावसिद्धत्वादेव। तद्यथा - समाजेषु, समाशेषु, समवायेषु चा स्यतामित्युक्ते नैव कृशाः, कृशैः सहासते न पाण्डवः पाण्डुभिः। येषामेव किञ्चिदर्थ कृतमान्तर्य तैरेव सहासते। तथा गावो दिवसं चरित वत्यो यो यस्याः प्रसवो भवति तेन सह शेरते। तथा यान्येतानि गोयुक्तकानि संघुष्टकानि भवन्ति तान्यन्योन्य पश्यन्ति शब्दं कुर्वन्ति। - (म.भा.)

४. अन्तरतम वचनमशिष्यम्। योगश्चाप्ययमशिष्यः। कुतः ? स्वभावसिद्धत्वादेव। तद्यथा - 'समाजेषु समाशेषु समवायेषु चास्यता' मित्युक्ते नैव कृशाः कृशैः सहासते, न पाण्डवः पाण्डुभिः। येषामेव किंचिदर्थकृतमान्तर्यं तैरेव सहासते। तथा गावो दिवसं चरितवत्यो यो यस्याः प्रसवो भवति तेन सह शेरते। तथा-यान्येतानि गोयुक्तकानि संघुष्टकानि भवन्ति तान्यन्योन्यं पश्यन्ति शब्दं कुर्वन्ति।

एवं तावच्चेतनावत्सु। अचेतनेष्वपि। तद्यथा - लोष्टः क्षिप्तो बाहुवेगं गत्वा नैव तिर्यग्गच्छति नोर्ध्वमारोहति पृथिवीविकारः पृथिवीमेव गच्छत्यान्तर्यतः। तथा या एता आन्तरिक्ष्यः सूक्ष्मा आपस्तासां विकारो धूमः, स आकाशदेशे निवाते नैव तिर्यग्गच्छति नाऽवागवरोहति अब्विकारोऽप एव गच्छत्यान्तर्यतः। तथा ज्योतिषो विकारोऽर्चिराकाशदेशे निवाते सुप्रज्वलितो नैव तिर्यग्गच्छति नावागवरोहति ज्योतिषो विकारो ज्योतिरेव गच्छत्यान्तर्यतः।

शब्द कौस्तुभकार भट्टोजी दीक्षित भाष्योक्त अभिप्राय को अपने शब्दों में इस प्रकार प्रकट करते हैं -

'सभायाभास्यतामित्युक्ते हि पण्डिताः, पण्डितैः, सहासते शूराः, शूरैः, कवयः, कविभिः न तु संकरेष। किं बहुना, गवां संघं प्रति गौश्चरति, अश्वोऽश्वानामित्यादि व्यवस्था तिर्यक्ष्वपि दृश्यते। तस्मात् प्रथम वाक्यार्थस्य लोकत एव लाभान्न तदर्थं सूत्रमारम्भणीयम्। एवं स्थानत आन्तर्यं बलीय इत्यपि लोकत एव सिद्धम्। तथाहि, भूयः सहचरितयोरश्वयोर्गवोर्वा सजातीयान्तरसंवलने सत्यपि कृशत्वपाण्डुत्वादि गुणसदृशानपि हित्वा स्थान साम्य पुरस्कारेणैव परस्परापेक्षा दृश्यते। तदेवं लोकतः सिद्धे किं वचनेनेति।'

५. उत्तररामचरित में महाकवि भवभूति ने इसी आन्तर सादृश्य को परस्पर सम्बंध का हेतु बताया है।

'व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुः
न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः ॥'
- (६.१२.)

६. व्यञ्जन स्वर व्यतिक्रमे च तत्काल प्रसङ्गः - (म.भा. वा. - ९.)

७. अक्षु चानेक वर्णदिशेषु - (म.भा.वा. - १०.)

८. तपरस्तत्कालस्य - (१.१.६०.) सूत्र में तपर के दो अर्थ हैं - १. तः परो यस्मात् स तपरः। २. तात् परः तपरः। तकार जिसके पर में है वह भी तपर कहा जाता है जैसे - अदेङ्गुणः में अकार तपरकृत है।

दूसरे विग्रह के अनुसार तकार के पर में जो है वह भी तपर है जैसे - इसी सूत्र में एङ् पद त के पर में है। अतः तपर है। इसी प्रकार वृद्धिरादैच् को भी माना जाएगा।

९. वस्तुतः ह्रस्व ऋवर्ण के स्थान पर गुण की प्राप्ति होने पर ह्रस्व एकमात्रिक अकार ही होगा और दीर्घ ऋवर्ण के स्थान पर प्रमाण साम्य से ए, ओ की प्राप्ति ही होगी। ये तीनों अभीष्ट ही हैं। तथापि भाष्यकार ने 'ऋवर्णस्य गुण वद्धि प्रसङ्गे सर्वप्रसङ्गोऽविशेषात्' (वा. - १२.) कहकर गुण के लिए दोष की उद्भावना कर दी है जो अयुक्त है। तथापि समुदाय की अपेक्षा से उक्त वचन को समझा जाए। कैयट के शब्दों में - 'अत्र ह्रस्वस्याकार एव गुणः स्यात् स चेष्यत एव। दीर्घस्य त्वेङौ स्याताम् तुल्यप्रमाणत्वात्।' दोष तो केवल वृद्धि की प्राप्ति में है। समुदाय की दृष्टि में 'सर्वप्रसङ्गः' कह दिया गया है।

❀❀❀

उरण् रपरः
(१.१.५१)

सूत्रार्थ - ऋ वर्ण के स्थान पर विधीयमान अण् रपर होकर प्रवृत्त होता है। यहाँ ऋ वर्ण अपने ३० सवर्णियों[1] का बोधक है। रपर पद में र प्रत्याहार है जिसमें र् और ल् वर्ण अन्तर्भूत हैं। स्थान सादृश्य से ऋ वर्ण के स्थान पर होने वाले अण् में रपर और लृ वर्ण के स्थान पर आदिष्ट अण् में लपर हो जाता है। उदाहरणार्थ कृष्ण + ऋद्धिः = कृष्णर्द्धिः तव +लृकारः = तवल्कारः।

भट्टोजी दीक्षित के शब्दों में 'ऋ इति त्रिंशतः संज्ञेत्युक्तम्। तत्स्थाने विधीयमानो ऽण् रपरः सन्नेव प्रवर्तते।'

सूत्र की व्याख्या - भाष्यकार ने सूत्र की व्याख्या में सर्वप्रथम दो पक्ष प्रस्तुत किए हैं। प्रथम पक्ष में सूत्र का अर्थ होगा - ऋ के स्थान पर अण् आदेश ही होता है और वह रपर होता है। इस अर्थ निष्पत्ति से यह प्रतीत होता है कि यह सूत्र आदेशों का नियामक है। इससे ऋ के स्थान पर केवल अण् आदेशों की सिद्धि होती है और उनमें रपरत्व का भी विधान होता है इस प्रकार अण् भिन्न की निवृत्ति हो जाती है। जहाँ-जहाँ विधिसूत्रों में षष्ठ्यन्त ऋ का ग्रहण होगा वहाँ-वहाँ इस सूत्र की प्रवृत्ति होगी। विधि सूत्र के साथ एकवाक्यता होकर ऋ के स्थान पर रपर युक्त अणादेश का विधान होगा।

दूसरे पक्ष में ऋ के स्थान पर अण् का नियमन नहीं होता। वरन् ऋ के स्थान पर 'स्थाने ऽन्तरतमः' की सहायंता से यथाप्राप्त आदेश ही होंगे। केवल उन आदेशों में जो अण् आदेश होगा वह रपर हो जाएगा। इस पक्ष में प्रकृत सूत्र से केवल रपरत्व का विधान है, अण् आदेश पूर्व सूत्र (विधिसूत्र) से विहित है।

दोनों पक्षों में गुण-दोष समीक्षा - प्रथम पक्ष में ऋकार के स्थान पर यदि रपर युक्त अण् का ही आदेश किया जाए तो ऋकार को उदात्तादि स्वरों की प्राप्ति बाधित हो जाएगी।[2] जैसे - कृतिः-हृतिः आदि प्रयोगों में कृ और हृ को क्तिन् प्रत्यय करने पर (३.२.९४.) 'ञ्निर्नित्यादिर्नित्यम्' - (६.१.१९७.) सूत्र से ऋकार को उदात्त स्वर प्राप्त होता है। 'स्थाने ऽन्तरतमः' सूत्र की सहायता से ऋकार के स्थान पर उदात्त ऋकार आदेश होता है। परन्तु अब प्रकृत परिभाषा को आदेश नियामिका मानने पर ऋकार के स्थान पर अण् ही करना पड़ेगा अर्थात् अ, इ, उ में से कोई एक वर्ण आदेश होगा और वह उदात्त हो जाएगा। अण् प्रत्याहार में ऋकार न आने के कारण उदात्त ऋकार नहीं हो पाएगा।

इसी प्रकार कृतम्-हृतम् में क्त प्रत्यय को आद्युदात्तश्च - (३.१.३.) से उदात्त करने पर 'अनुदात्तं पदमेक वर्जम्' - (६.१.५२.) सूत्र से ऋकार को अनुदात्त ऋकार आदेश होता है। किन्तु प्रकृत परिभाषा के नियमन से अण् प्रत्याहार के अन्तर्गत अ, इ, उ ही अनुदात्त हो सकेंगे। अर्थात् ऋकार के स्थान पर अनुदात्त अ, इ अथवा उ आदेश हो सकेगा।

प्रकृतम्-प्रहृतम् प्रयोगों में 'गतिरनन्तरः' - (६.२.४९.) सूत्र से प्र को उदात्त होकर 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' - (८.४.६६.) सूत्र से उदात्त प्र के (अ के) बाद वाले अनुदात्त ऋकार को स्वरित की प्राप्ति है। अब परिभाषा के बल से ऋकार के स्थान पर स्वरित तो होगा किन्तु वह स्वरित अण् ही हो सकता है ऋकार तो नहीं होगा।

'नॄँः पाहि' प्रयोग में नृन् के नकार को नृन् पे - (८.३.१०.) सूत्र से रुत्व करने के पश्चात् 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' - (८.३.२.) से ऋकार को अनुनासिक ऋ आदेश होता है। अब सूत्र के नियामक होने के कारण ऋ के स्थान पर अनुनासिक अण् आदेश होगा। उपर्युक्त सभी प्रयोगों में ऋकार के स्थान पर अनिष्ट अण् आदेश होकर उन्हें रपर भी हो जाएगा। इस प्रकार नियामक पक्ष में अनेक अनुपपत्तियाँ हैं। अतः सूत्र को विधि परक माना जाए और सम्पूर्ण सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया जाए - ऋकार के स्थान पर कोई भी आदेश हो (स्थाने ऽन्तरतमः के अनुसार) उनमें यदि अण् आदेश भी है तो उस अण् को रपर किया जाए।

द्वितीय पक्ष में दोष सम्भावना - विधि सूत्र से विधीयमान अण् को प्रकृत सूत्र से रपर किया जाए तो भी ऋकार को गुण या वृद्धि प्राप्त होने पर दोष की सम्भावना है। जैसे - कर्ता-हर्ता प्रयोगों में कृ और हृ को गुण (सार्वधातुकार्धधातुकयोः - ७.३.८४.) प्राप्त है। वार्षगण्यः आदि प्रयोगों में वृषगान के ऋकार को वृद्धि (तद्धितेष्वचामादेः - ७.२.११७.) प्राप्त है। इस स्थल पर यह संदेह उपस्थित होता है कि ऋ को गुण की प्राप्ति होने पर गुण संज्ञक अ, ए, ओ इन तीन वर्णों में से अकार गुण ही क्यों किया जाए ? इसी प्रकार वृद्धि संज्ञक आ, ऐ, औ में से ऋकार के स्थान पर आकार रुप वृद्धि ही क्यों ? ऐकार, औकार क्यों नहीं होते ? इस संदेह का समाधान होने पर ही निर्वर्त्यमान या विधीयमान अण् को रपर करना संभव है। कैयट के शब्दों में - 'भूतस्य चेदणो रपरत्वं क्रियते, तदा तु गुण वृद्धिविधावणेव दुर्लभः इति दोषः।' ह्रस्व ऋकार गुणविधि में 'यथाकथं चित्' प्रमाण साम्य से अकार गुण प्राप्त हो जाए तो दीर्घ ऋकार को अ-गुण प्राप्त नहीं हो सकता।

वस्तुतः यह दोष केवल इसी पक्ष में नहीं है। प्रथम पक्ष में भी इस दोष की संभावना है क्योंकि इस पक्ष में ऋकार के स्थान पर अण् का विधान किया जाता है। वह अण् इकार-उकार भी तो हो सकता है। अन्तरतम नियम के अनुसार एच् की निवृत्ति तो सम्भव है किन्तु अण् के अन्तर्गत इकार-उकार भी हो सकते हैं।

प्रथम पक्ष में जब प्रकृत सूत्र से ऋकार के स्थान पर अण् का ही विधान किया गया और उसे रपर किया गया तब यद्यपि अण् के अन्तर्गत इकार-उकार का अन्तर्भाव है तथापि गुण-वृद्धि विधायक सूत्रों से इकार-उकार की प्राप्ति नहीं है क्योंकि इकार-उकार गुण-वृद्धि संज्ञक नहीं हैं। अतः द्वितीय पक्ष में संभावित दोष प्रथम पक्ष में नहीं होता। किम्बहुना प्रथम पक्ष का दोष (उरण् रपर वचनमन्यनिवृत्यर्थ चेदुदात्तादिषु दोषः) इस द्वितीय पक्ष में भी आ सकता है। वह इस प्रकार है कि कृतिः, हृतिः इत्यादि उदाहरणों में 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' - (६.१.१९७.) सूत्र से ऋ को उदात्त प्राप्त है वह उदात्त अ, इ, उ भी तो हो सकते हैं। इनमें भी उदात्त धर्म होता है।

द्वितीय पक्ष में प्रकृत सूत्र केवल विधीयमान अण् में रपर आदेश ही करता है तब उपर्युक्त दोष की उद्भावना असंगत प्रतीत होती है। उदात्तादि स्वरों का विधान करने वाले सूत्रों (६.१.१९७, ३.१.३.) में अन्तरतम परिभाषा प्रवृत्त होती है और स्थानकृत आन्तर्य से ऋ के स्थान पर ऋ आदेश ही उदात्त के रुप में प्राप्त होता है। इन प्रयोगों में उरण् रपरः की प्रवृत्ति ही नहीं है।

इस प्रसंग में पुनः यह आशंका उत्पन्न होती है कि कृतिः, कृतम् इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि में अन्तरतम परिभाषा (१.१.५०.) और उरण् रपरः ये दोनों परिभाषाएँ युगपत् प्रवृत्त होती हैं। दोनों अपने-अपने विषय में चरितार्थ या सावकाश हैं। जैसे - स्थाने ऽन्तरतमः की अकः सवर्णे दीर्घः में चरितार्थता है और उरण् रपरः को कर्ता-हर्ता में अवकाश है। कृति-कृतम् आदि में दोनों की युगपत् उपस्थिति होती है। परत्वात् उरण् रपरः ही प्रवृत्त होना चाहिए। अतः स्थाने ऽन्तरतमः के आधार पर दोष का निवारण करना अनुचित है। जब उरण् रपरः प्रवृत्त होगा तब ऋ के स्थान पर प्राप्त उदात्त आदेश अण् को भी होगा। यह दोष दोनों पक्षों में संभावित है। इसी प्रकार 'ऋत इद् धातोः' (६.१.१००.) और 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (६.१.१०२.) सूत्रों से जो इत् और उत् आदेश होते हैं उनमें रपरत्व की प्रसक्ति नहीं हो पाएगी। क्योंकि आदेशों का प्रतिपद विधान है। तत्तत् वर्णो का उच्चारण करते हुए इनका विधान है। यहाँ ऋ के स्थान पर अण् अथवा अण् भिन्न आदेशों की प्राप्ति ही नहीं है।[१] तब विधीयमान अण् को रपर करने का प्रश्न ही नहीं है। परिभाषा तो 'अनियमे नियम कारिणी' होती है। जहाँ अनियम हो वहाँ प्रवृत्त होती है। प्रकृत स्थल पर आदेश स्पष्ट है अतः परिभाषा की आवश्यकता नहीं है।

सिद्धान्त पक्ष - उपर्युक्त दोनों पक्षों के परिप्रेक्ष में दोषों की समीक्षा करने के पश्चात् भाष्यकार ने अपना सिद्धान्त मत 'सिद्धं तु प्रसङ्गे रपरत्वात्' शब्दों में प्रकट किया है। इसका आशय है कि प्रकृत सूत्र से न तो आदेशान्तरों का बाध होकर अण् का विधान और रपर किया जाता है, न नियम बनाया गया है और न ही पूर्व में विहित अण् को रपर की प्रसक्ति बताई गई है। सूत्र का वास्तविक अर्थ है - तत्तत् विधिसूत्रों के द्वारा ऋकार के स्थान पर अण् आदेश का प्रसंग होने पर उसी समय, विधान काल में ही वह अण् रपर होकर प्रवृत्त होता है। उदाहरणार्थ - 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७.३.८४.) सूत्र सार्वधातुक अथवा आर्धधातुक प्रत्यय के परे इगन्त अङ्ग को गुण होता है। इगन्त अङ्ग में यदि ऋकार हो तो उसे गुण करते समय विधान काल में ही वह गुण (अकार) रपर हो जाता है। 'उरण् रपरः' में पूर्व सूत्र से स्थान पद की अनुवृत्ति होती है। दूसरा एक और स्थान पद षष्ठी स्थाने योगा से भी अनुवृत्त होता है। इस प्रकार सूत्र में दो स्थान पद प्राप्त होते हैं। जिनमें पहले पद का आशय प्रसङ्ग से है। दूसरा 'षष्ठी स्थाने०' से अनुवृत्त होने वाला सप्तम्यन्त स्थाने पद 'प्रथमान्त' में परिवर्तित होकर आदेश का विशेषण बनता है। इस प्रकार सम्पूर्ण परिभाषा सूत्र का यह अर्थ निष्पन्न होता है - ऋकार के उच्चारण प्रसंग में उसके स्थान पर अण् आदेश और अण् आदेश के प्रसंग में उसे रपर युक्त उच्चरित किया जाए। भाष्य के शब्दों में 'उः स्थाने अण् स्थान इति। अर्थात् उः प्रसङ्गे ऽण् प्रसज्यमान एव रपरो भवति।'

उपर्युक्त सिद्धान्त समाधान को स्वीकार करने पर पूर्वोक्त दो पक्षों में संभावित अतिव्याप्ति दोषों की प्रसक्ति नहीं होती। आदेश नियमन पक्ष में कृतिः, हृतिः इत्यादि प्रयोगों में ऋ के स्थान पर उदात्त अण् की प्राप्ति की आशंका थी। अब सिद्धान्त मत में यह आशंका उत्पन्न नहीं होती क्योंकि स्थाने ऽन्तरतमः की सहायता से ऋकार के स्थान पर प्रमाण रुप आन्तर्य से ऋकार का ही प्रसङ्ग है, अण् का नहीं

है। अतः उरण् रपरः की प्रवृत्ति नहीं होती। दूसरे पक्ष में तो अव्याप्ति दोष की संभावना ही नहीं क्योंकि कर्ता, हर्ता में गुण से (७.३.८४.) अकार रुप अण् का प्रसङ्ग है अतः वह अण् रपर होकर ही प्रवृत्त होता है।[४]

अण् ग्रहण का प्रयोजन - प्रकृत सूत्र में अण् ग्रहण के प्रयोजन पर विचार किया जाना आवश्यक है क्योंकि कतिपय प्रयोगों में ऋ के स्थान पर अण् गुण आदेश होते हैं किन्तु रपर नहीं होता। ऐसे प्रयोगों की समीक्षा हेतु अण् के प्रयोजन पर चर्चा की जाती है। सूत्र में अण् पद का ग्रहण न करें तो सूत्र का स्वरुप होगा - 'ऊ रपरः' इसका अर्थ होगा - ऋ के स्थान पर या ऋ के उच्चारण प्रसङ्ग में होने वाला आदेश रपर होता है। इस स्थिति में सौधातकिः आदि प्रयोगों में जहाँ 'सुधातुरकङ् च' (४.१.९७.) सूत्र से ऋ के स्थान पर अकङ् आदेश और इञ् प्रत्यय होता है वहाँ भी अकङ् को रपर की प्राप्ति हो जाएगी। (अकङ् आदेश ङित् होने से (ङिच्च - १.१.५२.) अन्तिम ऋकार के स्थान पर होता है।) परिभाषासूत्र में अण् ग्रहण के अभाव में अकङ् में भी रपर की प्रसक्ति हो जाएगी। इसी प्रकार पैतृष्वसेयः आदि प्रयोगों में ढकि लोपः (४.१.१३३.) से ढक् प्रत्यय और ढक् के परे पितृस्वसृ के अन्तिम ऋ का लोप विहित है। यह लोप भी ऋ के स्थान पर होने वाला आदेश ही हैं अतः लोप को रपर की प्रसक्ति हो जाएगी। 'होतापोतारौ' में 'आनङ् ऋतो द्वन्द्वे' - (६.३.२५.) से पूर्व पद होतृ के ऋकार को आनङ् आदेश विहित है। यह आनङ् ऋकार स्थानिक होने से उसे भी रपर की प्राप्ति हो जाएगी। कर्ता, हर्ता में 'ऋदुशनस् पुरुदंसोऽनेहसांच'- (७.१.९४.) सूत्र से कर्तृ, हर्तृ के ऋकार को सु विभक्ति के परे अनङ् आदेश होता है उसे रपरत्व की प्रसक्ति हो जाएगी। मात्रीयति, पित्रीयति में 'रीङ् ऋतः' - (७.४.२७.) सूत्र से मातृ, पितृ शब्दों को वयच् परे रहते रीङ् आदेश होता है। यह रीङ् भी रपर हो जाएगा। क्रियते, ह्रियते में कृ और हृ धातुओं के ऋकार को रिङ् शयग् लिङ्क्षु' - (७.४.२८.) से रिङ् आदेश होता है यह रिङ् ऋकार स्थानिक होने के कारण इसमें रपरत्व की प्राप्ति हो जाएगी।

इस प्रकार सूत्र में अण् ग्रहण के अभाव में उपर्युक्त अनुपपत्तियाँ संभावित हैं। अण् ग्रहण के बल से उक्त प्रयोगों में ऋकार स्थानिक होने पर भी अकङ् आदि आदेशों को रपर की निवृत्ति हो जाती है क्योंकि अकङ् आदि अण् नहीं हैं। रपर केवल अण् को ही प्राप्त है। भाष्यकार ने उपर्युक्त दोषों का परिगणन **'आदेशो रपर इति चेद्रीरिविधिषु रपर प्रतिषेधः'** वार्तिक के द्वारा किया है। इस पक्ष में दूसरा दोष कृतिः, हृतिः, कृतम्, हृतम्, प्रकृतम्, प्रहृतम्, नॄँः पाहि आदि उदाहरणों में ऋकार के स्थान पर विधीयमान उदात्तादि स्वर (नॄँः पाहि में अनुनासिक) को रपर की प्रसक्ति हो जाएगी।

उपर्युक्त अतिप्रसक्तियों की संभावना में उरण् रपरः सूत्र में अण् ग्रहण आवश्यक सिद्ध हो जाता है।

सूत्रारम्भ पक्ष में अव्याप्ति दोष - ऋकार के स्थान पर अण् आदेश के प्रसङ्ग में वह अण् रपर होता है। इस प्रकार सूत्रार्थ निष्पन्न होने से कतिपय प्रयोगों में सूत्र की प्रवृत्ति बाधित हो जाती है। जैसे - एकादेश प्रसङ्ग में खट्वा + ऋश्यः = खट्वर्श्यः, माला + ऋश्यः = मालर्श्यः प्रयोगों में आ और ऋ के स्थान पर अकार एकादेश (आद् गुणः - ६.१.८७.) होता है। इस एकादेश में रपरत्व की सिद्धि के लिए 'एकादेशस्योपसंख्यानम्' वार्तिकारम्भ करना होगा। उरण् रपरः सूत्र यहां रपर करने में पर्याप्त नहीं

है क्योंकि सूत्र से ऋकार स्थानिक अण् ही रपर होता है। प्रकृत प्रयोग में अकार रुप अण् आदेश ऋकार और आकार उभय स्थानिक हैं।

भाष्यकार ने उक्त वार्तिक को अन्यथा सिद्ध करते हुए कहा है कि माला + ऋश्यः आदि प्रयोगों में आकार और ऋकार दोनों स्थानी हैं। इन स्थानियों के समुदाय में ऋकार एक अवयव है। समुदाय के अन्तर्गत रहने वाले अवयव का ग्रहण भी स्वतंत्र अवयव वाचक के द्वारा हो जाता है। जिस प्रकार लोक में कहा जाता है कि - उड़द न खाएँ। ऐसा कहने पर उड़द और मूँग का मिश्रण भी नहीं खाया जाता क्योंकि मिश्रण में उड़द है। इसी न्याय से आ + ऋ के स्थान पर होने वाले एकादेश को रपर होने में कोई आपत्ति नहीं है।

'अवयव ग्रहणात् सिद्धम' वचन के द्वारा आ और ऋ इन दो स्थानियों में से एक ऋकार होने के कारण उरण् रपरः की प्रवृत्ति की जाती है, तो इसी आधार पर अण् और अण् भिन्न आदेशों के समुदाय में अण् एक अवयव होने के कारण ऐसे आदेशों में रपरत्व की प्रसक्ति संभावित है। जैसे - होता पोतारौ में होतृ के ऋकार के स्थान पर आनङ् आदेश (६.३.२५.) विहित है। इस आदेश में अण् भी अन्तर्भूत है। तब इस आनङ् को रपरत्व की प्रसक्ति हो जाएगी और अनिष्ट रुप की सिद्धि हो जाएगी। इस अति प्रसक्ति के निवारणार्थ यदि यह नियम बनाएँ कि ऋ वर्णान्त स्थानी को होने वाला अण् आदेश ही रपर होता है, तब खट्वर्श्यः, मालर्श्यः में आ + ऋ में स्थानी है जो ऋवर्णान्त है - इनमें तो रपर की योग्यता होगी। होता पोतारौ में स्थानी मात्र ऋ वर्ण है ऋवर्णान्त नहीं है, अतः इसमें रपर नहीं होगा। इस प्रकार होता पोतारौ की दोष निवृत्ति हो जाएगी। यहाँ व्यपदेशिवद्भाव से ऋ मात्र को ऋ वर्णान्त मानना संभव नहीं क्योंकि 'अर्थवता व्यपदेशिवद्भावः' नियम के अनुसार जहाँ एक वर्ण अर्थवान् होता है वहीं व्यपदेशिवद्भाव होता है। होतृ का ऋ अर्थवान नहीं है, अतः उसे ऋ वर्णान्त नहीं माना जा सकता।

उक्त व्यवस्था से खट्वर्श्यः और होता पोतारौ में तो अभीष्ट सिद्ध हो जाता है किन्तु कर्ता-हर्ता में भी कर्तृ-हर्तृ का ऋकार अर्थवान् नहीं होने से यहाँ भी अण् का रपर नहीं हो पाएगा, जिसके फलस्वरुप कर्ता-हर्ता की सिद्धि नहीं हो पाएगी। निष्कर्षतः खट्वर्श्यः, मालर्श्यः की सिद्धि के लिए अर्थात् स्थानियों के (आ + ऋ) एक अवयव ऋ होने पर उसके स्थान पर विधीयमान अण् को रपरत्व की सिद्धि के लिए वचनारम्भ 'एकादेशस्योपसंख्यानम्' आवश्यक है।

वार्तिकारम्भ पक्ष में दोष की संभावना - खट्वर्श्यः आदि प्रयोगों की सिद्धि के लिए एकादेश में रपर विधान हेतु स्वतंत्र वार्तिकारम्भ करने पर मातुः, पितुः आदि प्रयोगों में दोष संभावित है। मातुः और पितुः में मातृ + अस्, पितृ + अस् की स्थिति में 'ऋत उत्' - (६.१.१११.) सूत्र से ऋ और उ को उकार एकादेश होता है और उसे रपर होता है। अस् के सकार को रुत्व (८.२.६६.) रोरि (८.३.१४.) से पूर्व रेफ का लोप और 'ढ्रलोपे०' - (६.३.११७.) से पूर्व अण् को दीर्घ करने पर मातूः, पितूः ये अनिष्ट रुप सिद्ध हो जाएँगे। इस प्रसङ्ग में दुविधा उत्पन्न होती है कि खट्वर्श्यः की सिद्धि के लिए यदि एकादेश में रपर का उपसंख्यान किया जाता है तो मातुः, पितुः में रपरत्व का प्रतिषेध करना पड़ता है। यदि एकादेश में रपर का उपसंख्यान न करें तो खट्वर्श्यः की सिद्धि नहीं होगी अतः भाष्यकार कहते हैं - 'उभयं न वक्तव्यं' अर्थात् दोनों वचनों की कोई आवश्यकता नहीं है। जो कार्य दो षष्ठी निर्दिष्ट

स्थानियों को होता है वही कार्य किसी एक स्थानी से सम्बद्ध भी कहा जा सकता है। जैसे लोक में देवदत्त और देवदत्ता के पुत्र को देवदत्त का पुत्र कह सकते हैं अथवा देवदत्ता का पुत्र भी कह सकते हैं। इसी प्रकार 'एकः पूर्वपरयोः' - (६.१.८१.) में पूर्व और पर दोनों स्थानी हैं उनका एक आदेश है। खट्वा + ऋश्यः में होने वाला अकार आदेश (आद् गुणः - ६.१.८७.) का स्थानी ऋकार भी है, अतः ऋकार स्थानिक होने से उसमें रपर होने में कोई बाधा नहीं है। इस प्रकार मातुः, पितुः में भी ऋकार स्थानिक उकार एकादेश को रपर हो जाएगा। तथापि रपर होने से कोई अनुपपत्ति न होगी। रपर होने पर 'रात्सस्य' - (८.२.२४.) से अगले सकार का लोप हो जाएगा और रेफ को विसर्ग होकर मातुः, पितुः रुप सिद्ध हो जाएँगे। (सौधातकिः आदि प्रयोगों में अकङ् आदेश में रपरत्व की आशंका भी इस युक्ति से दूर हो जाती है क्योंकि अकङ् में समुदाय में आदेशता है, अण् मात्र में नहीं है।)

उपर्युक्त रीति से मातुः और पितुः की सिद्धि करने पर मातुः करोति, पितुः करोति में 'इदुदुपधस्यचाप्रत्ययस्य' - (८.३.४१.) सूत्र से विसर्ग को षत्व प्राप्त हो सकता है। यह विसर्ग रपर का विसर्ग है, अतः इसे प्रत्यय का विसर्ग भी नहीं कह सकते। इस आपत्ति का निवारण करने के लिए वृत्तिकारों ने ज्ञापक का आश्रय लिया है। कस्कादिगण में पठित भ्रातुष्पुत्रः शब्द का पाठ इसका ज्ञापक है कि एकादेश शास्त्र द्वारा निष्पन्न रेफजन्य विसर्ग को षत्व नहीं होता। जैसे - मातुः कृपा आदि। एकमात्र भ्रातुष्पुत्रः प्रयोग ऐसा है जिसमें एकादेश से उत्पन्न विसर्ग को षत्त्व किया गया है। इसकी सिद्धि के लिए सूत्रकार ने कस्कादिगण में इसका निपातन किया है। इसके निपातन सामर्थ्य से अन्यत्र एकादेश निमित्तक विसर्ग को षत्त्व की निवृत्ति हो जाती है। (एकादेश शास्त्र निमित्तकस्य न षत्त्वं कस्कादिगणे भ्रातुष्पुत्र शब्दस्य पाठात्। - सि.कौ.)

भाष्य के शब्दों में 'एवं तर्हि, भ्रातुष्पुत्रग्रहणं ज्ञापकमेकादेश निमित्तात् षत्त्वप्रतिषेधस्य। यदयं कस्कादिषु भ्रातुष्पुत्रशब्दं पठति तज्ज्ञापयत्याचार्यो - नैकादेश निमित्तात् षत्त्व भवतीति।'

रपरः पद का विग्रह एवं विवेचन - रपरः पद में अवयव वाचक पर शब्द के साथ र का षष्ठ्यर्थक बहुव्रीहि समास है। प्रकृत सूत्र में पूर्व सूत्र (आद्यन्तौ० - १.१.४५.) से आदि और अन्त शब्दों की अनुवृत्ति को स्वीकार करने पर सूत्र से विधीयमान अवयव वाची रेफ पर का आदि अवयव होगा। यदि अन्त शब्द की अनुवृत्ति मानते हैं तो रेफ को पूर्वान्त माना जाएगा। यदि आदि और अन्त दोनों शब्दों की अनुवृत्ति न करें तो रेफ की स्थिति अभक्त या अनवयव की होगी वह केवल अण् के पर होगा किन्तु किसी का अवयव नहीं रहेगा। इस प्रकार रपर के संबंध में तीन पक्षों की उद्भावना की गई है।

प्रथम पक्ष में रेफ को अभक्त मानने पर भाष्यकार ने कतिपय अनुपपत्तियाँ प्रकट की हैं। (अभक्ते-दीर्घलत्वयगभ्यस्तस्वरहलादिशेषविसर्जनीयप्रतिषेधः प्रत्ययाव्यवस्था च - म.भा. वा. - ८.) जैसे - गीः और पूः प्रयोगों में निगरणार्थक गृ धातु से क्विप् ऋतइत् - (७.१.१०६.) से इत्व उरण रपरः से रपर करने पर गिर् - यह विवबन्त धातु निष्पन्न होता है। इसी प्रकार पृ-पूरणे धातु से क्विप् उदोष्ठ्यपूर्वस्य - (७.१.१०२.) से उत्व और उरण० से रपर करने पर पूर धातु निष्पन्न होता है। इन धातुओं में उरण् रपरः से विहित रेफ को यदि अभक्त मानें अर्थात् धातु का अवयव न मानें तो 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' - (८.२.७६.) सूत्र से रेफान्त धातु की उपधा को होने वाला दीर्घ नहीं हो पाएगा, क्योंकि गिर् और पुर्

रेफान्त तो हैं किन्तु धातु संज्ञक नहीं हैं। धातु तो केवल गृ और पृ थे। रेफ, धातु का अवयव नही है अतः रेफ युक्त गिर्, पुर् को धातु नहीं कहा जा सकता। इस सूत्र में (र्वोरुपधाया०) धातु की अनुवृत्ति न कर पद की अनुवृत्ति करें तो गिर्,पुर् में सु विभक्ति, सु लोप (हल्ड्याब्भ्यो० - ६.१.६८.) प्रत्यय लक्षण कर (१.१.६२. से) पदत्व की प्राप्ति हो सकती है और तब पद की उपधा को दीर्घ सिद्ध हो सकता है। किन्तु इस स्थिति में अग्निः, वायुः आदि प्रयोगों में अग्नि + सु, वायु + सु में सु को रुत्व (८.२.६६.) करने पर रेफान्त अग्निर्, वायुर् पदों की उपधा को दीर्घ की प्रसक्ति हो जाएगी। रेफ और वकार को पद का विशेषण और इक् को धातु का विशेषण मानने पर इस दोष की निवृत्ति हो सकती है। क्योंकि तब अग्निर्, वायुर् ये रेफान्त पद तो हैं किन्तु इनकी उपधा का जो इक् है वह धातु का नहीं है। अतः इसे दीर्घ नहीं होगा।

उपर्युक्त विशेषण-विशेष्य भाव की कल्पना में प्रिय ग्रामणीः, प्रिय सेनानीः आदि प्रयोगों में दोष प्रसक्ति हो सकती है। इन प्रयोगों में उपधाभूत इकार धातु (नी धातु) का है और रेफ पदान्त है। अतः प्रस्तुत विशेषण-विशेष्य भाव की कल्पना दोष ग्रस्त है। निष्कर्ष रुप में अभक्त पक्ष में गीः, पूः आदि में दीर्घ विधान संबंधी दोष की संभावना है।

दूसरा दोष - निजेगिल्यते में लत्त्व की प्राप्ति नहीं होगी। यह गृ निगरणे धातु का यङन्त रुप है। 'ग्रोयङि' - (८.२.२०.) सूत्र से गिर् के रेफ को लत्त्व का विधान है। यहाँ भी रेफ धातु का अवयव न मानने से धातु के अवयवभूत रेफ को होने वाला लत्त्व यहाँ नहीं हो पाएगा। ग्रोयङि में ग्रः यह षष्ठी अव्यवहित संबंध की वाचिका मानें तो 'स्वर्जेगिल्यते' में स्वर् के रेफ को लत्त्व की प्राप्ति हो जाएगी, क्योंकि वह रेफ भी गृ धातु से अव्यवहित पूर्व में है। यह दोष उस स्थिति में दूर हो सकता है जब गृ धातु के समीपवर्ती रेफ को यङि विशेषण से युक्त करें। स्वर् जेगिल्यते में स्वर् का रेफ् गृ धातु के समीप है किन्तु उसके पर में यङ् नहीं। लत्वं विषयक दोष को 'ग्रोयङि' में ग्रः को षष्ठ्यन्त न मानकर पञ्चम्यन्त मानने से दूर किया जा सकता है। तब सूत्रार्थ होगा - गृ के अव्यवहित पर के रेफ को ही यङ् के परे लत्व होता है। (तस्मादित्युत्तरस्य - १.१.६७.)

तीसरा दोष - गीर्यते स्वयमेव, पूर्यते स्वयमेव, प्रयोगों में 'अचः कर्तृयकि' - (६.१.१९५.) से यक् के परे धातु को विहित उदात्त स्वर नहीं हो पाएगा क्योंकि धातु और यक् प्रत्यय के मध्य रेफ का व्यवधान है। 'स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्' के अनुसार स्वर विधि की कर्तव्यता में व्यंजन को अविद्यमानवत् मानें तो रेफ का व्यवधान दूर हो सकता है। तथापि मा हि स्म ते पिपरुः, मा हि स्म ते बिभरुः - प्रयोगों में 'अभ्यस्तानामादिः' - (६.१.१८९.) सूत्र से अभ्यस्त को अजादि ल सार्वधातुक के परे होने वाला आद्युदात्त नहीं हो पाएगा क्योंकि अभ्यस्त संज्ञक और अजादि ल सार्वधातुक के मध्य रेफ का व्यवधान है। यहाँ भी 'स्वरविधौव्यञ्जनमविद्यमानवत्' परिभाषा के अनुसार रेफ का व्यवधान होने पर भी स्वर कार्य करने में कोई दोष नहीं है।

चौथा दोष - ववृते, ववृधे आदि में हलादि शेषः - (७.४.६०.) से अभ्यास का आदि हल् शेष रहकर अन्य हलों (रेफ) का लोप होना है वह नहीं हो पाएगा। वृत्, वृध् धातुओं में लिटि धातो० - (६.१.८.) से द्वित्व करने पर वृत् वृत् और वृध् वृध् में हलादि शेषः से अभ्यास के अवयव अनादि हल् की निवृत्ति में रेफ के अभक्त होने से रेफ की निवृत्ति नहीं होगी।

पाँचवा दोष - नार्कुटः, नार्पत्यः में खरवसानयोः० - (८.३.१८.) से रेफ को विसर्ग हो जाएगा। यहाँ नृ शब्द का कुटी शब्द से षष्ठी तत्पुरुष समास और तत्र भवः से अण्, तद्धितेष्वचामादेः - (७.२.११७.) से आदि वृद्धि है। नार्पत्यः में नृ शब्द का पति के साथ समास, अपत्यार्थक ण्य प्रत्यय (दित्यदित्यादित्य० - ४.१.८५.) और आदि वृद्धि होती है। इसमें पूर्व पद नार् की प्रत्यय लक्षण के द्वारा पद संज्ञा (१.४.१४.) होती है। यहाँ रेफ यद्यपि अभक्त है तथापि तदादिन्याय' से नार् को पर संज्ञा हो जाती है और रेफ को पदान्त मानकर खरवसानयो० से उसे विसर्ग की प्रप्ति हो जाती है। इसी प्रकार रेफ को अभक्त मानने पर किरतः, गिरतः आदि प्रयोगों में प्रत्यय व्यवस्था नहीं हो पाएगी। इन प्रयोगों में रेफ को अभक्त मानें और श विकरण - (३.१.७७.) भी धातु से पर में विहित है अतः अभक्त ही है। दोनों अभक्त हैं। इस स्थिति में धातु से पर किसे कहा जाए ? कृ + तस्, गृ + तस् में ऋ को इत्व (७.१.१००.) होता है। अब इस इत्व को उरण् रपरः से रपर करना है उसी समय श विकरण भी प्राप्त है यह श भी धातु से पर में करना है। प्रश्न है कि पहले रपर करते हैं तब श विकरण के लिए धातु के बाद रेफ का व्यवधान है और यदि पहले श करते हैं तब रपर नहीं हो पाता क्योंकि तब श का व्यवधान है। इस प्रकार श और रपर के परत्व की व्याख्या नहीं हो पाती।

पूर्वान्त पक्ष - उपर्युक्त दोषों की संभावना में अभक्त पक्ष अस्वीकार्य माना जाता है और रेफ को पूर्व का अन्तावयव मानकर अभीष्ट सिद्धि की जाती है। किन्तु अन्तावयव पक्ष में भी कतिपय अनुपपत्तियाँ परिलक्षित हैं। जैसे - गीर्षु, पूर्षु आदि प्रयोगों में रेफ को विसर्ग (८.३.१५.) की प्रसक्ति हो जाएगी। इसकी निवृत्ति के लिए यदि रोऽसुपि - (८.३.१६.) को नियमार्थ मानकर यह अर्थ निष्पन्न करें कि सप्तमी बहुवचन में सुप् के परे यदि रेफ को विसर्ग प्राप्त हो तो रु संबंधी रेफ को ही किया जाए अन्य रेफ को नहीं। जैसे सर्पिःषु, धनुःषु आदि प्रकृत उदाहरणों में (गीर्षु, पूर्षु) रु का रेफ नहीं है अतः विसर्ग की प्राप्ति नहीं है।

वस्तुतः उपर्युक्त आपत्ति, रेफ को परादि मानने पर भी संभव है क्योंकि परादि पक्ष में गीर्षु,पूर्षु का दोष तो दूर हो जाएगा किन्तु चतुर्षु आदि प्रयोगों में रेफ को विसर्ग की प्राप्ति हो जाएगी। चतुर् + सु में प्रातिपदिक के रेफ को सु के परे विसर्ग (८.३.१५.) की प्राप्ति है जिसके निवारणार्थ रोऽपि में अवधारण या नियम (रोरेव सुपि) बनाना आवश्यक है। पूर्वान्त पक्ष में नार्कुटः, नार्पत्यः आदि प्रयोगों में भी रेफ को विसर्ग प्राप्त हो जाता है, जिसका निषेध करना आवश्यक है। यह निषेध परादि पक्ष में भी आवश्यक है। रेफ को परादि मानने पर नार्कुटः, नार्पत्यः में विसर्ग की निवृत्ति तो हो जाती है किन्तु नार्कल्पिः में रेफ को विसर्ग प्राप्त है। यह दोष परादि मानने पर भी प्रसक्त होता है। रेफ को परादि मानने से वह कल्पि समुदाय का आदि अवयव तो कहा जाएगा किन्तु कल्प प्रत्यय का आदि अवयव नहीं कहा जा सकता। (कल्पि पद संधात भक्तोऽसौ नोत्सहते ऽवयवस्य पदान्ततां विहन्तुमिति कृत्वा विसर्जनीयः प्राप्नोति - म. भा.)। अतः कल्प प्रत्यय निमित्तक पूर्व भाग (नार्) को प्राप्त पद संज्ञा (स्वादिष्व सर्वनाम स्थाने - १.४.१७.) का अन्तिम अवयव तो माना ही जाएगा। (पूर्वान्ते र्वधारणं विसर्जनीयप्रतिषेधो यक्स्वरश्च - म.भा.वा. - ९.) इस प्रकार दोनों पक्षों में (पूर्वान्त और परादि) रेफ को विसर्ग की प्राप्ति है जिसका प्रतिषेध करना होगा।

पूर्वान्त पक्ष मानने पर गीर्यते स्वयमेव, पूर्यते स्वयमेव में अचः कर्तृयकि - (६.१.१९५.) से

अजन्त धातु को विहित उदात्त स्वर नहीं हो पाएगा क्योंकि गीर् और पूर् का रेफ पूर्वान्त है, अतः धातु रेफान्त कहा जाएगा, अजन्त नहीं। तब अजन्त धातु को विहित स्वर नहीं हो पाएगा। इस दोष के निवारणार्थ अचः कर्तृयकि सूत्र में 'तास्यनुदात्तेन्' - (६.१.१८६.) से उपदेश पद की अनुवृत्ति करनी होगी। इससे गीर्, पूर् धातुओं में अन्त में अच् न होने पर उपदेशावस्था में गृ, पृ - इस प्रकार अजन्त धातु होने के कारण स्वर विधान में कोई अनुपपत्ति न होगी।

इस प्रकार रेफ को पूर्वान्त मानने पर समस्त दोषों की निवृत्ति हो जाती है अतः यही सिद्धान्त पक्ष[१] माना जाता है।

परादि पक्ष - यदि रेफ को परादि मानते हैं तब निम्नानुसार आपत्तियाँ संभावित हैं - कर्ता, हर्ता में रेफ परादि होने पर क और ह के अ का लोप (अतो लोप० - ६.४.४८.) प्राप्त है। यदि इस दोष का निवारण उपदेश पद की अनुवृत्ति 'अनुदात्ता०' - (६.४.३७.) से करें तो उपदेशावस्था में कृ औत हृ ऋकारान्त है अकारान्त नहीं, अतः कृ और हृ में गुण (७.३.८४.) के द्वारा प्राप्त अकार उपदेशावस्था न होने से उसका लोप नहीं होगा।

अतो लोपः में उपदेश पद की अनुवृत्ति करने से धिनुतः, कृणुतः प्रयोगों में अ लोप नहीं हो पाएगा। धिनुतः और कृणुतः प्रयोगों में धिवि और कृवि धातुओं को इदित् होने से नुमागम (इदितो नुम० - ७.१.५८., धिन्विकृण्व्योरच - ३.१.८०.) से धिन्व्, कृण्व् के वकार को अकार आदेश और उ विकरण होता है, वह वकार स्थानिक अकारादेश उपदेशावस्था का नहीं है तब उ आर्धधातुक विकरण के परे उसका लोप नहीं हो सकता। इस दोष की निवृत्ति के लिए उपदेश पद का संबंध धातु से न होकर आर्धधातुक के साथ करें तो अतो लोपः का अर्थ होगा - आर्धधातुक प्रत्यय के उपदेशकाल में जो अकारान्त अङ्ग है उसके अकार का लोप होता है। इस प्रकार अर्थ निष्पत्ति करने पर धिनुतः, कृणुतः में धिन्व् और कृण्व् धातुओं का अकार अन्तादेश और आर्धधातुक उ प्रत्यय समकालिक हैं। इस प्रकार उ आर्धधातुक के उपदेश काल में ही धिन और कृण - ये अकारान्त अङ्ग प्राप्त हो जाते हैं। अतः अ लोप - (६.४.४८.) होने में कोई बाधा नहीं है।

परादि पक्ष में चकार जहार आदि प्रयोगों में रेफ को णल् का आदि अवयव मानने पर आत औ णलः - (७.१.३४.) सूत्र से का और हा इन आकारान्त धातुओं को पुगागम हो जाएगा। अचीकरत्, अजीहरत् आदि में चङ् परे उपधा को ह्रस्व - (७.४.१.) नहीं हो पाएगा। 'णौचङ्युपधाया०' - (७.४.१.) से कार और हार की उपधा को चङ् के परे ह्रस्व हो जाता है, जो अब रेफ णिच् का आद्यवयव मानने पर अर्थात् परादि पक्ष में धातु को आकार उपधा नहीं मिलेगी अतः ह्रस्व नहीं हो पाएगा। आस्तरिता, निपरिता में इडागम की व्यवस्था नहीं हो पाएगी। आ + स्तृ + तृच् तथा नि + पृ + तृच् में ऋ को गुण और रपर करने पर आ + स्तर् + त् तथा नि + पर् + त् - इस स्थिति में रेफ को तृच् का आदि अवयव मानने पर उसे वलादि लक्षण इट् - (७.२.३५.) करते हैं। तब वह इट्, टित् होने से 'आद्यन्तौ टकितौ' - (१.१.४६.) के अनुसार परादि होगा और रेफ भी परादि है। ये दोनों परादि होने से तृ प्रत्यय के समीप कौन होगा ? और दूरवर्ती कौन होगा ? इसकी निश्चित व्यवस्था नहीं हो सकती।

कैयट ने इस स्थल पर इडागम की अव्यवस्था को भिन्न रुप से प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार रेफ को परादि मानने पर नेड् वशि कृति - (७.२.२८.) से इट् का प्रतिषेध हो जाएगा। यदि किसी प्रकार नेड् वशि० में उपदेश की अनुवृत्ति कर इडागम प्राप्त भी हो जाए तो रेफ से पूर्व इडागम होने लगेगा। इस प्रकार इडागम की व्यवस्था निश्चित नहीं हो पाती। ('नित्यत्वाद् गुणे रपरत्वे च कृते नेड् वशि कृतीति प्रतिषेधादप्रवृत्तिलक्षणेटोऽव्यवस्था। प्रवृत्तौ वा रेफात् पूर्व इडित्यनिष्टा व्यवस्था प्राप्नोति' - प्रदीप)

ववृते, ववृधे आदि प्रयोगों में अभ्यास में स्थित रेफ का लोप करना पड़ेगा, क्योंकि रेफ परादि होने से अभ्यास के अन्तर्गत नहीं आएगा। तब 'हलादि शेषः' - (७.४.६०.) से उसका लोप नहीं हो पाएगा। इसी प्रकार पिपरुः, बिभरुः इत्यादि प्रयोगों में 'अभ्यस्तानामादि०' - (६.१.८९.) से अजादि ल सार्वधातुक के परे अभ्यस्त के आदि स्वर को उदात्त होता है। अब रेफ परादि होने से उस् प्रत्यय अब र् + उस् = रुस् हो जाएगा और अजादि सार्वधातुक प्रत्यय नहीं मिलेगा। अतः उसके अभाव में अभ्यस्त के आदि स्वर को उदात्त नहीं हो पाएगा।

प्रकर्ता, प्रकर्तुम् में कृ और हृ के ऋकार को गुण होने पर प्राप्त रेफ यदि तकारादि कृत् प्रत्यय का आदि माना जाए तो कृत् तकारादि नहीं रह जाएगा और इसके फलस्वरुप 'तादौ च निति कृत्यतौ' - (६.१.५०.) से तकारादि कृत् प्रत्यय के परे प्राप्त होने वाला पूर्वपदप्रकृतिस्वर नहीं हो पाएगा। वार्तिककार ने इस दोष के निवारणार्थ 'कृदुपदेशे वा ताद्यर्थ मिडर्थम्' वार्तिक का आरम्भ किया है। इसका आशय है कि यहाँ कृत् प्रत्यय रेफादि होने पर भी उपदेशावस्था में तकारादि होने से अभीष्ट स्वर की सिद्धि हो सकती है।

इसी प्रकार परादि पक्ष में गीः, पूः आदि प्रयोगों में भी 'वोरुपधाया दीर्घ इकः' - (८.२.७६.) से रेफान्त और वकारान्त धातु की उपधा में रहने वाले इक् को दीर्घ होता है किन्तु अब परादि पक्ष में धातु रेफान्त नहीं मिलता। रेफ तो परवर्ती सु विभक्ति का आदि माना गया है। इस प्रकार परादि पक्ष में भूयसी अनुपपत्ति है।

सिद्धान्त रुप में यह स्थित है कि रेफ को अभक्त और परादि मानने पर अनेक दोषों की संभावना है।[७] पूर्वान्ति पक्ष में मात्र तीन अनुपपत्तियाँ हैं, जो परादि पक्ष में भी संभाव्य हैं, अतः उनके निवारणार्थ यत्न करना आवश्यक है।[८] इस प्रकार पूर्वान्त पक्ष ही निर्दुष्ट और स्वीकार्य प्रतीत होता है।

सूत्र में न्यास भेद विचार - वैयाकरणों ने सूत्रों के न्यास पर विविध दृष्टिकोणों से विचार कर, उनमें शंका समाधान प्रस्तुत किये हैं। प्रकृत सूत्र के विषय में भी आचार्यों ने यह विचार व्यक्त किया है कि उरण् रपरः के स्थान पर 'उरणोरक्' सूत्रारम्भ किया जाए। इस न्यासान्तर में सूत्र का अर्थ होगा - ऋ के स्थान पर विधीयमान अण् को रक् का आगम होता है। रक्, कित् होने से अ के पर में ही होगा (आद्यन्तौ० - १.१.४५.) इस पक्ष में यह आक्षेप हो सकता है कि कृ, तृ धातुओं के यङ्लुगन्त रुपों में (चाकर्ति, तातर्ति में) अभ्यास के ऋ को उरत् (७.४.६६.) से अत्त्व और उसे रक् आगम होने पर अभ्यास कित् हो जाएगा और तब अभ्यास को होने वाले दीर्घ का (दीर्घोऽकितः) निषेध हो जाएगा। इस

आक्षेप का समाधान इस रुप में किया जा सकता है कि दीर्घोऽकितः में अकित पद अभ्यास के अवयव का विशेषण नहीं है अपितु वास्तविक अभ्यास का विशेषण है। इस स्थिति में अकित् अभ्यास को दीर्घ होगा। चाकर्ति, तातर्ति में रगागम और हलादि शेषः के बाद च और त अभ्यास में अवशिष्ट है। वे कित् हैं तथापि वे अभ्यास के रुप में विवक्षित अभ्यास नहीं हैं। संपूर्ण अभ्यास तो कृ और तृ हैं। इस प्रकार आक्षेप का समाधान हो जाता है। इसीलिए ओहाक् धातु के जाहाति रुप में दीर्घ सिद्ध हो जाता है। यद्यपि धातु कित् है किन्तु अभ्यास के रुप में विवक्षित ह, हा ति में ह, कित् नहीं है।

वादरत्नकार पं. सूर्यनारायण शुक्ल ने सूत्र की अन्यथा सिद्धि पर भी विचार किया है। वे कहते हैं कि - 'उरण रपरः' सूत्र अनावश्यक है - गुण वृद्धि संज्ञा विधायक सूत्रों में ही अदेङ्गुणः और वृद्धिरादैच् इस प्रकार रपर युक्त न्यास किया जाए। इससे कृष्णर्धिः आदि प्रयोगों की सिद्धि हो जाएगी।

गुण-वृद्धि विधायक सूत्रों में रपर युक्त अ और आ को (अर् और आर्) गुण-वृद्धि संज्ञक मानने से मात्र अकार और मात्र आकार की गुण-वृद्धि संज्ञा नहीं हो पाएगी। इसके फलस्वरुप त्यदादीनामः से विहित अ के परे अतो गुणे से पररुप नहीं हो पाएगा। शाला, माला आदि में आ की वृद्धि संज्ञा नहीं होने से 'वृद्धिर्यस्याचा०' - (१.१.७३.) से शाला, माला की वृद्धि संज्ञा नहीं होगी और वृद्धाच्छः - (४.२.११४.) की प्रवृत्ति न होगी तथा शालीय, मालीय रुप सिद्ध नहीं हो पाएँगे। इसकी सिद्धि के लिए अररेङ्गुणः और वृद्धिरारादैच् इस प्रकार न्यास किया जाएगा।

ऋत् इद्धातोः, ऋत् उत् इत्यादि सूत्रों में इकार और उकार को रपर विशिष्ट उच्चारित करना पड़ेगा। ऋत इर् धातोः, ऋत उर् इस प्रकार सूत्र न्यास करने पर इत्, उत् के तपरकरण से जो परिभाषा ज्ञापित हो रही थी (भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न) उसे दिव उत् के तपरकरण से ज्ञापित करना पड़ेगा। भृञामित् के स्थान पर भृञामिर् कहना पड़ेगा।

इसी प्रकार तवल्कारः प्राल्कारीयति आदि प्रयोगों की सिद्धि के लिए लृकार को गुण और वृद्धि के रुप में क्रमशः अल् और आल् का विधान करना पड़ेगा।

निष्कर्षतः पाणिनीय सूत्र न्यास में परिवर्तन करने पर अनेक क्लिष्ट कल्पनाएँ करनी पड़ेगी। अतः **'यथा श्रुतन्यासस्यैवौचित्यात्'** को स्वीकार करना होगा।

❀❀❀

शब्द संकेत

१. ऋ के १८ भेद हैं और लृ के १२ भेद होते हैं क्योंकि लृ में दीर्घ भेद नहीं है। ऋ और लृ परस्पर सवर्णी हैं। (ऋलृवर्णयोः सावर्ण्य वाच्यम्) इस प्रकार दोनों के भेद मिलाकर कुल (१८ + १२ = ३०) तीस प्रकार का ऋवर्ण होता है।

२. "उरण् रपर वचनमन्यनिवृत्यर्थं चेदुदात्तादिषु दोषः" - (म. भा. वा. - १.)

३. 'य उः स्थानेऽण् स रपर इति चेद् गुणवृद्ध्योरवर्णाप्रतिपत्तिः' - (म.भा. वा. - २.)

४. यद्यपि ऋतइत् - (६.१.१००.) और उदोष्ठ्यपूर्वस्य - (६.१.१०२.) सूत्रों से ऋ के स्थान पर इत्त्व और उत्त्व विहित हैं जो अण् प्रत्याहार के अन्तर्गत आते हैं अतः उरण् रपरः सूत्र से उन्हें रपरत्व की प्रसक्ति में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए। तथापि ये प्रतिपद आदेश हैं इनमें व्यवस्था की आवश्यकता नहीं होती। कैयट के शब्दों में 'यत्र ह्यनियमप्रसङ्गस्तत्रानेन नियमः क्रियते। तत्र तच्छेषभूतं रपरत्वं भवति न त्वन्यत्र प्रतिपदविधाविति दोषः।'

५. प्रत्यय ग्रहणें यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम् (परिभाषेन्दु०)

६. उद्योतकार ने इस स्थल पर किसी आचार्य का मत उद्धृत करते हुए पूर्वादि और परादि पक्षों में समानता बताई है क्योंकि दोनों पक्षों में रोऽसुपि का अवधारणार्थक अर्थ (नियम) और विसर्जनीय प्रतिषेध करना ही पड़ता है, तब पूर्वान्त पक्ष ही सिद्धान्त क्यों माना जाए ? इस आशंका के समाधान हेतु परादि पक्ष की समीक्षा करते हैं। 'र्ववधारणविसर्जनीय प्रतिषेधयोः कर्तव्यतायाः पूर्वान्त परादि पक्षयोः समत्वात् परादि पक्षो वा वक्तव्यः पूर्वान्तो वेत्यत्र न विशेष इति चेत् कश्चिद्ब्रूयात्तत्राह वार्तिककारः, परादावकारलोपौत्वपुक् प्रतिषेधश्चङ्युपधाह्रस्वत्वमिटोऽव्यवस्थाऽभ्यासलोपोऽभ्यस्ततादिस्वरो दीर्घत्वं च।'
- (वा. - १०.)

७. अभक्ते दीर्घलत्वयगभ्यस्तस्वरहलादिशेषविसर्जनीयप्रतिषेधः प्रत्ययाऽव्यवस्था च।
- (म.भा. वा. - ८.)
परादावकारलोपौत्व पुक् प्रतिषेधश्चऽयुपधा ह्रस्वत्वमिटोऽव्यवस्थाऽभ्यासलोपोऽभ्यस्तनादि स्वरो दीर्घत्वं च। - (म. भा. वा. - १०.)

८. पूर्वान्ते र्वधारणं विसर्जनीयप्रतिषेधो यक् स्वरश्च। - (म. भा. वा. - ९.)

अलोऽन्त्यस्य
(१.१.५२)

सूत्रार्थ - षष्ठी निर्देश के द्वारा विहित कार्य - जिस शब्द को कहा गया है उस सम्पूर्ण शब्द के स्थान पर न होकर उस शब्द के अन्तिम अल् के स्थान पर होता है। जैसे - त्यदादीनामः सूत्र से त्यदादियों के स्थान पर अकार आदेश विहित है वह त्यद् आदि शब्दों के अन्तिम वर्ण के स्थान पर होता है। उदाहरणार्थ - तद् + सु - तअ + सु - अतोगुणे - तदोः सः० तथा स् को रुत्व विसर्ग करने पर सः रुप सिद्ध होता है। इस सूत्र में षष्ठी स्थाने योगा से स्थान षष्ठी की प्राप्ति है।

अलः पद की व्याख्या - इसमें पठित अलः पद के विषय में दो प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है। अल् का षष्ठी एकवचन और प्रथमा बहुवचन में अलः रुप निष्पन्न होता है। अतः इस स्थल पर यह संदेह उपस्थित होता है कि इसे षष्ठ्यन्त माना जाए अथवा प्रथमान्त ? षष्ठ्यन्त मानने पर वह अन्त्यस्य का विशेषण होगा और तब सूत्रार्थ होगा - अन्तिम अल् के स्थान पर आदेश होता है।

प्रथमान्त पक्ष में सूत्र का अर्थ होगा - अलादेश या अलात्मक आदेश अन्तिम को होता हैं।

प्रथम पक्ष में अल् पद स्थानी का विशेषण होने से आदेश में कोई विशेषण नहीं रह जाता। इसके परिणाम स्वरुप अनेक अल् वाला आदेश भी अन्तिम वर्ण को हो जाएगा।

द्वितीय पक्ष में अलः का बहुवचन अविवक्षित है। 'अलन्त्यस्य' सूत्रपाठ होना चाहिए किन्तु ऐसा करने से अपाणिनीयत्व दोष आएगा, अतः यथापठित सूत्र को मानते हुए अलः के बहुवचन को अविवक्षित माना जाता है। इस पक्ष में 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' सूत्र में अनेकाल् ग्रहण निरर्थक हो जाता है, क्योंकि जब अलात्मक आदेश अन्तिम को होता है तो अर्थापत्ति द्वारा सिद्ध हो जाता है कि अनेकाल् आदेश अन्तिम को नहीं होते वरन् सम्पूर्ण स्थानी को होते हैं। भाष्यकार के शब्दों में - 'इदं नियमार्थ भविष्यति - अलेवान्त्यस्य भवति नान्य इति।'

प्रदीपकार कैयट ने इस स्थल पर विरजीकरोति आदि प्रयोगों में दोष की संभावना की है। '०रहो रजसां लोपश्च' - (५.४.५१.) सूत्र से जहाँ लोप प्राप्त है वहाँ लोप तो अभाव रुप है अतः वह अलात्मक नहीं है, तब सम्पूर्ण स्थानी का लोप प्रसक्त हो जाएगा और विरजीकरोति आदि रुपों की सिद्धि नहीं हो पाएगी।

वस्तुतः 'अलन्त्यास्य' ऐसा सूत्र-न्यास मानने पर यह सूत्रार्थ निष्पन्न होता है कि अलात्मक आदेश ही अन्तिम वर्ण को होते हैं। जो अलादेश नहीं है अर्थात् जो अनल् है वे सवदिश ही होंगे। यहा अनल् पद में प्रसज्य प्रतिषेध मानकर कैयट ने लोप में सवदिश की कल्पना की है। अनल् में यदि पर्युदास मानते हैं तो अनल् का तात्पर्य अल् भिन्न किन्तु अल् सदृश अनेकाल् का आक्षेप होता है और तब लोप आदेश अनेकाल् नहीं हो सकता। इस प्रकार विरजीकरोति आदि में संभावित दोष निवृत्त हो जाता है।

अल् पद को स्थानी का विशेषण (अन्त्यस्य का) मानने पर भी अनेकाल्० सूत्र का प्रत्याख्यान संभव है। इस पक्ष में ङिच्च सूत्र को नियमार्थ माना जा सकता है। ङिच्च के द्वारा यह नियम प्रतिपादित होता है कि अनेकाल् आदेशों में ङित् आदेश ही अन्तिम वर्ण के स्थान पर होते हैं, जो अङित् हैं वे सर्वादेश ही होंगे - इस प्रकार अनेकाल्० सूत्र की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होगी।

वस्तुतः अल् पद को प्रथमान्त मानकर आदेश का विशेषण मानने पर यद्यपि अनेकाल्० सूत्र में अनेकाल् ग्रहण व्यर्थ हो जाता है तथापि इस पक्ष में अन्त्यस्य पद अर्थात् स्थानी अविशेषित रहने के कारण वाक्य में अथवा समास में भी अन्तिम पद को अलादेश की प्रसक्ति हो जाएगी। जैसे - 'परमानडुद्भ्याम्' प्रयोग में अन्तिम पद अनुडुह् को 'वसुस्रंसु' - (८.२.७२.) सूत्र से दत्त्व आदेश हो जाएगा और अनिष्ट रुप की सिद्धि होने लगेगी।

अन्तिम वाक्य में अलादेश की प्रसक्ति का उदाहरण टीकाकारों ने नहीं दिया है। कैयट का कथन है कि वाक्य षष्ठी निर्दिष्ट नहीं होता, अतः उसे आदेश की प्राप्ति नहीं होती। (दोषपरत्वादेवमुक्तम्, न तु वाक्यं षष्ठी निर्दिष्टमस्ति। - प्रदीप)

अनेकाल् शित्सर्वस्य में अनेकाल् पद की निरर्थकता - अल् पद को आदेश का विशेषण मानने पर 'अनेकाल्' सूत्र अन्यथा सिद्ध होता है, उसी प्रकार अल् पद को अन्त्यस्य अर्थात् स्थानी का विशेषण मानने पर भी अनेकाल्० पद की अन्यथा सिद्धि हो सकती है। इस पक्ष में आदेश के साथ अल् विशेषण न होने से अनेक अल् वाला आदेश भी अन्तिम वर्ण को होने की संभावना है। इस स्थिति में अनेकाल् आदेश ङित् होने पर ङिच्च सूत्र से अन्तिम वर्ण को विहित है वह ङिच्च सूत्र नियम का कार्य कर सकता है। नियम का स्वरुप होगा - अनेक अल् वाले आदेशों में जो ङित् आदेश हैं वे ही अन्तिम वर्ण को किए जाएँ। ङित् भिन्न अन्य अनेकाल् आदेश अन्त्य को नहीं होंगे, इससे स्पष्ट है कि ये आदेश संपूर्ण स्थानी को होंगे। इस प्रकार अर्थ निष्पत्ति से 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' सूत्र का अनेकाल् ग्रहण अन्यथा सिद्ध [१] हो जाता है।

वृहच्छब्देन्दुशेखर में नागेश भट्ट ने उपर्युक्त दोनों पाठों (प्रथमान्त और षष्ठ्यन्त) का अनुमोदन नहीं किया है। उनके अनुसार अन्त्यस्य पद के साहचर्य से अलः को भी षष्ठ्यन्त मानना चाहिए। 'अन्त्यस्येति षष्ठी साहचर्याच्चाल इति षष्ठ्यन्तमेव।' परिभाषा सूत्र में अलः के साथ और अन्त्यस्य के साथ भी अवधारणार्थक एव पद का अध्याहार कर दो प्रकार से नियम का ज्ञापन होता है। - १. अल एव, २. अन्त्यस्यैव।

अलः पद को अन्त्य का विशेषण मानने पर आदेश अविशेषित हो जाएगा और तब अनेकाल् आदेश भी अन्तिम अल् के स्थान पर हो जाएंगे। जैसे - अतो भिस ऐस् (७.१.९.) सूत्र से भिस् प्रत्यय को ऐस् आदेश कहा गया है वह भिस् के अन्तिम सकार के स्थान पर हो जाएगा और रामैः रुप की सिद्धि नहीं हो पाएगी।

सूत्र का प्रयोजन - अलोऽन्त्यस्य सूत्र में पठित षष्ठी विभक्ति की भी दो प्रकार से व्याख्या

की जा सकती है। सूत्र में अन्तिम अल् को कार्य करने के सम्बन्ध में कहा गया है। यह कार्य षष्ठी स्थाने योगा सूत्र से जिस षष्ठी का स्थान से संबंध जोड़ा गया है उसे ही स्थानी मानकर उसके अन्तिम अल् को कार्य विहित है अथवा विधि सूत्र में जहाँ कहीं षष्ठी हो वहाँ प्रकृत परिभाषा की प्रवृत्ति होती है। इनमें प्रथम पक्ष को भाष्यकार ने 'विज्ञातस्यानुसंहार' कहा है और द्वितीय पक्ष को परिशेष कहा है।

प्रथम पक्ष में षष्ठी स्थाने योगा इस परिभाषा के द्वारा षष्ठी का स्थान के साथ संबंध स्थापित होने पर यदि उसे कोई आदेश प्राप्त है तो वह आदेश उस स्थानी के अन्तिम अल् को होता है। यह अर्थ मानना आवश्यक है, अन्यथा टित्, कित्, मित् आगमों में प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति हो जाएगी। परिणाम स्वरुप लविता में लू धातु से तृच् करने पर लू + तृ में 'आर्धधातुकस्येड्०' - (७.२.३५.) से होने वाला इडागम टित् होने से आर्धधातुक के अन्तिम अल् ऋ के आदि में (आद्यन्तौ० - १.१.४६.) हो जाएगा। इसी प्रकार दापयति में दा धातु से अन्तिम अल् आकार के अन्त में होगा और यदागम० न्याय से दा धातु के द्वारा पुगागम युक्त दाप् का ग्रहण नहीं हो पाएगा। दा के द्वारा दाप् का ग्रहण न होने से प्रणिदापयति में न को ण नहीं हो पाएगा। सूत्र उपसर्गात्० इसी दोष की संभावना से प्रथम पक्ष में षष्ठी स्थाने योगा के द्वारा स्थान संबंध वाली षष्ठी में ही इसकी प्रवृत्ति होती है।

द्वितीय पक्ष में यदि इस सूत्र को षष्ठी स्थाने० का परिशिष्ट मानते हैं तब टित्, कित्, मित् आगमों के विषय में उपर्युक्त दोष की प्रसक्ति हो जाती है।[1]

योग शेष का तात्पर्य है - षष्ठी स्थाने योगा सूत्र का यह शेष है अतः दोनों सूत्रों में एकवाक्यता होकर अर्थ बोध होगा - अनिर्धारित संबंध वाली जो षष्ठी होती है वह अन्तिम अल् के साथ स्थान संबंध वाली होती है। (अनिर्धारित संबंध विशेषा षष्ठी अन्त्यस्य अलः स्थाने योगा बोध्या) इस अर्थ निष्पत्ति से विधि सूत्रों में जहाँ षष्ठी उच्चरित है वहाँ इसकी प्रवृत्ति हो जाएगी और सूत्र विहित कार्य अन्तिम अल् को होने लगेगा तथा टित्, कित् और मित् आगम विधायक सूत्रों (आर्धधातुकस्येड् - अर्तिह्रीब्ली० और रुधादिभ्यः श्नम्० आदि) में इसकी प्रवृत्ति होकर टित् आगम अन्तिम अल् के आदि में, कित् आगम अन्तिम अल् के पर में तथा मित् आगम अन्तिम अल् के बाद हो जाएँगे और लविता, दापयति, रुणद्धि जैसे प्रयोगों में दोषापत्ति हो जाएगी। इसीलिए परिभाषा सूत्र का लिङ्ग (प्रवृत्ति स्थल) षष्ठी मात्र नहीं है वरन् स्थान षष्ठी है। नागेश भट्ट के शब्दों में - 'एवं चाल्समुदायोत्तरं स्थानषष्ठी अस्या लिङ्गमिति बोध्यम्' - (वृहच्छब्देन्दुशेखर)

परिभाषा की प्रवृत्ति - स्थान षष्ठी ही इस परिभाषा प्रवृत्ति का लिङ्ग है इसीलिए 'इतोऽत्सर्वनाम स्थाने' - (७.१.८६.) में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती। इतोऽत्० में स्थान षष्ठी (इतः) तो है किन्तु अल् समुदायोत्तर षष्ठी नहीं है। 'पथिमथि०' - (७.१.८५.) इत्यादि सूत्र में अवयव षष्ठी होने के कारण परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती।

सिद्धान्ततः प्रकृत परिभाषा में षष्ठी स्थाने योगा की अनुवृत्ति कर सम्पूर्ण सूत्र का यह अर्थ निष्पन्न होता है - सूत्र पठित षष्ठी जो स्थान संबंध की वाचिका है वह अन्तिम अल् में ही नियमित होती है। (तस्माच्छास्त्रे या षष्ठी सा स्थाने योगैवान्त्येऽलि एव चेति वाक्यार्थः - उद्योत) भाष्यकार ने इसी

आशय को इन शब्दों में व्यक्त किया है - 'अलोऽन्त्यस्येति स्थाने विज्ञातस्यानुसंहार इतरधा ह्यनिष्टप्रसङ्ग इति।'

उपर्युक्त प्रक्रिया में टित् किदादि आगमों में अनिष्ट की संभावना नहीं होती। अर्थात् अभूत् आदि प्रयोगों में विहित अट् आगम - (६.४.७१.) या आर्धधातुकस्येड् - (७.२.३५.) से विहित अट् आगम भू धातु का आद्यवयव या आर्धधातुक प्रत्यय का आदि अवयव नहीं होता। क्योंकि इन सूत्रों में अङ्गस्य - (६.४.१.) या आर्धधातुकस्य की षष्ठी में स्थानेयोगत्व (षष्ठी स्थाने योगा) प्राप्त हुआ था जिसका 'आद्यन्तौ टकितौ' - (१.१.४६.) से बाध हुआ। इसी प्रकार रुणद्धि में श्नम् आगम - (३.१.७८.) रुध् के स्थान पर प्राप्त हुआ जिसका 'मिदचोन्त्यात् परः' - (१.१.४५.) से बाध हुआ। इसका अभिप्राय यह है कि एक संबंध का दूसरे संबंध से बाध होता है। अलोऽन्त्यस्य को योगशेष मानने पर आद्यन्तौ० आदि सूत्र उसके बाधक नहीं हो सकते, उसके पूरक हो सकते हैं।

अनुसंहार पक्ष में टित्, कित्, मित् आगम अलोऽन्त्यस्य की कक्षा में नहीं आते क्योंकि 'स्थाने विज्ञातस्यैवानुसंहारः' नियम के अनुसार टित् आदि आगम विधायक सूत्रों में षष्ठी स्थाने की प्रवृत्ति नहीं है - वहाँ आद्यन्तौ० आदि परिभाषाएँ प्रवृत्त होती हैं। अलोऽन्त्यस्य का बाध आदेः परस्य और अनेकाल् शित्सर्वस्य के द्वारा अवश्य हो सकता है क्योंकि 'अनुसंहारः अनुसंहारान्तरेण बाध्यते' न्याय से आदेः परस्य, अनेकाल्शित्सर्वस्य ये दोनों सूत्र भी षष्ठी स्थाने० के अनुसंहार हैं।

कैयट के शब्दों में - 'अनुसंहारः पुनरनुसंहारान्तरेण आदिः परस्यअनेकाल् शित्सर्वस्येत्यनेन बाध्यते।' '

❀❀❀

शब्द संकेत

१. इस प्रसङ्ग में व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधिकार लिखते हैं - 'अनेकाल् ग्रहणं च पक्षद्वयेऽप्यावश्यकम्।' संभवतः ग्रन्थकार को अलोऽन्त्यस्य और ङिच्च सूत्रों को नियमार्थ मानकर उसके आधार पर अनेकाल् ग्रहण का प्रत्याख्यान करना स्वीकार्य नहीं है।

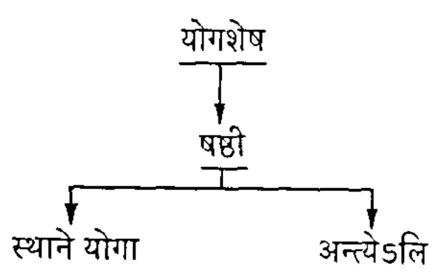
२. **अनुसंहार एवं योगशेष** - इन दोनों पक्षों को टीकाकारों ने इस प्रकार परिभाषित किया है -

अनुसंहार - षष्ठी स्थाने योगेत्यनुवर्तते। तेन या षष्ठी स्थाने योगत्वेन विज्ञाता साऽन्त्यमलमनुसंह्रियते। आदेशो वा यो निश्चितः सोऽन्त्यस्यालः स्थाने इत्यनुसंह्रियते।

योग शेष - षष्ठी स्थाने योगेत्यनेनास्यैक वाक्यता। तत्रायमर्थो भवति शास्त्रे या षष्ठी साऽन्त्ये अलि - सा च स्थाने योगैवेति। न तु स्थाने विज्ञातस्य पश्चादनुसंहारः, प्रतिपत्तिगौरवप्रसङ्गादिति भावः। - (प्रदीप - १.१.५२.)

इसको संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं कि षष्ठी के विषय में जब दो अर्थो का प्रतिपादन होता है - १. स्थाने योग (षष्ठी स्थाने योगा), २. षष्ठ्यन्त निर्देश द्वारा विहित कार्य अन्तिम अल् को होता है। (अलोऽन्त्यस्य) तब यह योग शेष कहा जाता है। इस पक्ष में टित् किदादि आगम अन्तिम अल् को होने की आशंका है क्योंकि उनके विधिसूत्रों में षष्ठ्यन्त निर्देश है।

अनुसंहार पक्ष में षष्ठी का एक ही अर्थ है - स्थान और स्थान का अर्थ है - अन्तिम अल्।





❀❀❀

ङिच्च
(१.१.५३)

सूत्रार्थ - षष्ठी निर्देश के द्वारा जहाँ ङित् आदेश का विधान है वहाँ ङित् आदेश उस स्थानी के अन्तिम वर्ण को होता है। जैसे - 'अस्थिदधि०' - (७.१.७५.) इत्यादि सूत्र से अस्थि आदि शब्दों को विहित अनङ् आदेश ङित् है अत: अस्थि आदि शब्दों के अन्तिम वर्ण के स्थान पर होता है और अस्थ्ना, दध्ना आदि रुप सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार होतापोतारौ, मातापितरौ आदि में (६.३.२५.) आनङ् आदेश ङित् है, अतः होतृ और मातृ के अन्तिम ऋकार के स्थान पर होता है।

प्रयोजन - पूर्व सूत्र में अलात्मक आदेश भी अन्तिम अल् के स्थान पर कहा गया। सम्प्रति ङित् आदेश भी अन्तिम अल् के स्थान पर किया जाना है। आगामी सूत्र 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' - (१.१.५४.) में अनेक अल् वाला आदेश और शित् आदेश सम्पूर्ण स्थानी को बताया गया है। ङित् आदेशों को अनेकाल् होने पर भी सर्वादेश न हो जाए इस हेतु सूत्रारम्भ आवश्यक है।

सूत्र की अव्याप्ति - इस प्रसङ्ग में यह आशङ्का उपस्थित होती है कि 'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्' - (७.१.३५.) सूत्र से विहित तातङ् आदेश ङित् है, तब प्रकृत परिभाषा सूत्र के अनुसार उसे अन्तिम वर्ण के स्थान पर होना चाहिए किन्तु वह सम्पूर्ण तु और हि के स्थान पर होता है। इस आशंका का निवारण भाष्यकार ने 'विप्रतिषेधे परंकार्यम्' - (१.४.२.) के आधार पर किया है। 'तातङि ङित्करणस्य सावकाशत्वाद् विप्रतिषेधात्सर्वादेश:' इसका अभिप्राय है कि तातङ् आदेश ङित् भी है और अनेकाल् भी है, तब ङित्वात् 'ङिच्च' के बल से अन्तिम के स्थान पर किया जाए अथवा अनेकाल्० सूत्र के बल पर सर्वादेश किया जाए ? दोनों सूत्रों की युगपत् प्रवृत्ति होने पर विप्रतिषेध० न्याय से परत्वात अनेकाल्० की प्रवृत्ति होती है और तातङ् आदेश सर्वादेश हो जाता है। यहाँ पुनः यह शंका उपस्थित होती है कि तातङ् को अनेकाल्त्वात् सर्वादेश करेंगे तो उसका ङित्करण निरर्थक हो जाएगा। इस शङ्का का समाधान स्वयं भाष्यकार ने किया है। वे कहते हैं - तातङ् का ङित्करण अन्यत्र चरितार्थ है। 'क्ङिति च' - (१.१.५.) से गुण वृद्धि के निषेध के लिए ङित्व की चरितार्थता है। उदाहरणार्थ चिनुतात् में चिनु के उकार को सार्वधातुक लक्षण गुण (सार्वधातुकार्ध० - ७.३.८४.) की प्राप्ति है। मृष्टात् में 'मृजेर्वृद्धिः' - (७.२.११४.) से मृज् को वृद्धि प्राप्त होती है। तातङ ङित् होने से क्ङिति च से गुण और वृद्धि का निषेध हो जाता है। इस प्रकार तातङ् का ङित्करण सावकाश है। अनेकाल्० सूत्र की चरितार्थता अस्तेर्भू: आदि में है। (जहाँ आदेश ङित् नहीं है।) जीवतात् आदि में दोनों की युगपत् प्राप्ति होने पर परत्त्वात् अनेकाल्त्वात् तातङ् आदेश सर्वादेश हो जाता है और अभीष्ट रुप की सिद्धि हो जाती है।

कैयट आदि टीकाकारों ने इस स्थल पर विप्रतिषेध की भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। कैयट के अनुसार ङिच्च और अनेकाल् शित्सर्वस्य सूत्रों में विप्रतिषेध नहीं हो सकता, क्योंकि विप्रतिषेध तुल्य में होता है। यहां अनेकाल्० उत्सर्ग सूत्र है और ङिच्च उसका अपवाद है। तब उत्सर्ग अपवाद में विप्रतिषेध मानना असंगत है। (ङिच्च नन्वयमपवाद: अनेकाल् शिदित्युत्सर्ग:। उत्सर्गापवादयोश्चायुक्तो विप्रतिषेध:) कैयट पुनः यह भी कहते हैं कि ङिच्च को अपवाद मानना अयुक्तिकर है। तातङ् के ङित्करण का अन्य

प्रयोजन [१] है (गुण-वृद्धि प्रतिषेधार्थो ङकारः) अतः ङित्करम सावकाश होने से उसमें अपवादत्व नहीं हो सकता।

इस प्रकार यहाँ विप्रतिषेध मानना उचित है।

उपर्युक्त विवेचन में एक विरोधाभास की प्रतीति हो रही है। वस्तुतः ङित्करण का प्रयोजन जो गुण वृद्धि विषेध बताया जा रहा है वह मूलतः अनुपपन्न है। तातङ् आदेश सर्वादेश होने के पश्चात् ही उसमें प्रत्ययत्व धर्म आता है। प्रत्यय संज्ञक होने के पश्चात् तातङ् के ङित्व में गुण वृद्धि निषेध का सामर्थ्य आता है। प्रश्न यह है कि सर्वादेश किस आधार पर होगा, इसी का निश्चय अभी नहीं है। प्रकृत परिभाषा से तातङ् अन्त्य को भी तो हो सकता है।[२] इससे सिद्ध है कि तातङ् का ङित्करण गुण-वृद्धि निषेधार्थ नहीं है। वरन् ङिच्च सूत्र की प्रवृत्ति में ही उसकी सार्थकता है। इस प्रकार ङिच्च सूत्र को अनेकाल० का अपवाद माना जा सकता है। अपवाद होने पर दोनों में विप्रतिषेध नहीं हो सकता। अतः तातङ् आदेश को सर्वादेश सिद्ध करने हेतु अन्य कोई युक्ति प्रदर्शित करनी होगी। भाष्यकार ने इस स्थल पर तातङ् के ङित्करण से यह ज्ञापित [३] किया है कि तातङ् अन्तिम वर्ण को नहीं होता वरन् सर्वादेश ही होता है। यदि ङित् करने के बल से तातङ् को अन्तिम वर्ण के स्थान पर करना सूत्रकार को अभीष्ट होता तो मात्र तात् आदेश के द्वारा ही काम सिद्ध हो जाता। ङकार अनुबंध का कोई प्रयोजन न था। जैसे लोट् प्रत्यय के इकार के स्थान पर उकार आदेश करने वाले एरुः - (३.४.८६.) सूत्र के प्रकरण में ही एरुः के पश्चात् 'तिह्योस्तादाशिष्यन्यतरस्याम्' सूत्रारम्भ किया जा सकता है। इस सूत्र में एः पद की अनुवृत्ति होगी जिससे ति और हि के इकार को तात् आदेश होगा। चूँकि सूत्रकार ने तातङ् आदेश में ङित्करण किया है जो इसका ज्ञापक है कि तातङ् का ङित्करण अन्त्यादेश (ङिच्च से) के लिए नहीं है वरन् गुण-वृद्धि प्रतिषेध के लिए है।

निष्कर्ष रुप से यह सिद्ध है कि तातङ् स्वदिश होता है, क्योंकि सर्वादेश करने वाला सूत्र अनेकाल्० ङिच्च से पर में है। परत्वात् वह ङिच्च से बली है।

❀❀❀

शब्द संकेत

१. तातङ् का ङित्करण गुण वृद्धि प्रतिषेध के लिए है। ङिच्च की प्रवृत्ति के लिए या अन्त्यादेश के लिए नहीं है। यदि तातङ् को अन्त्यादेश ही करना अभीष्ट होता तो 'एरुः' - (३.४.८६.) सूत्र के पास ही तिह्योस्तादा० सूत्र बना देते किन्तु तातङ् आदेश के पृथक् वचन सामर्थ्य से वह सर्वादेश हो ही जाएगा।

२. न च सर्वादेशत्वं विना प्रत्ययत्वाभावात् गुणवृद्धि प्रतिषेधार्थत्वमेव दुर्लभम् तथा चान्योन्याश्रय इति वाच्यम्। एरुः इत्यनन्तर तादित्यादेशे कर्तव्ये ङित्करणस्य गुणवृद्धि प्रतिषेधार्थत्वनिर्णयात्। - व्याकरण सिद्धान्त- सुधानिधि - १.१.५२.

३. एवं तह्यर्थेतदेव ज्ञापयति न तातङन्त्यस्य स्थाने भवतीति यदेतं ङितं करोति। इतरथा हि लोट एरु प्रकरण एव ब्रूयात्तिह्योस्तादाशिष्यन्यतरस्यमिति। - म. भा. - १.१.५२.

❀❀❀

आदेः परस्य
(१.१.५४)

सूत्रार्थ - पर को विहित कार्य उसके आदि वर्ण को होता है। (परस्य यद्विहितं तत्तस्यादेर्बोध्यम् - सि. कौ.) उदाहरणार्थ - आसीनः प्रयोग में आस् धातु से लट् - आत्मने पद (१.३.१२.), शानच् (३.२.१२४.), शप् (३.१६८.) तथा शब्लुक् (२.४.७२.) करने पर 'आस् आन' इस स्थिति में ईदासः - (७.२.८३.) सूत्र से आस् परक आन को ईत्त्व प्राप्त है। प्रकृत परिभाषा के बल से यह ईत्त्व आन के आदि वर्ण आकार के स्थान पर होता है तथा आसीन प्रयोग सिद्ध होता है।

परिभाषा का प्रवृत्ति विषय या लिङ्ग - जिन विधि सूत्रों में पर को कार्य विहित होता है वहीं यह परिभाषा प्रवृत्त होती है और पर को विहित कार्य उसके आदि को करती है। किन्तु प्रश्न यह है कि विधि सूत्रों में कहीं भी पर का उच्चारण कर कार्य का विधान नहीं है तब परिभाषा की प्रवृत्ति किन विधि सूत्रों में निर्धारित की जाए ? शेखरकार कहते हैं - 'पर बोधक शब्देन यत्र परस्य स्थाने विधानं तत्रैवेदं परिभाषा' - (वृहच्छब्देन्दुशेखर) इस प्रश्न का समाधान करते हुए काशिकाकार कहते हैं - 'क्व च परस्य कार्य शिष्यते यत्र पञ्चमीनिर्देशः।' इसका आशय है कि जहाँ विधि सूत्रों में पञ्चमी निर्देश हो वहाँ 'तस्मादित्युत्तरस्य' - (१.१.६७.) के अनुसार पञ्चमी निर्देश द्वारा विहित कार्य पर को किया जाता है। इस प्रकार तस्मादिति ० सूत्र से पर शब्द का अध्याहार होता है। धातोः - (३.१.४१.) सूत्र में धातोः पञ्चम्यन्त है किन्तु उससे पर में विद्यमान को कार्य विहित नहीं है अतः धातोः सूत्र में भी परिभाषा की प्रवृत्ति की आशंका नहीं करनी चाहिए।

सूत्र का स्वरुप और न्यासान्तर कल्पना - वृत्तिकारों ने प्रकृत सूत्र पर 'तस्मादित्युत्तरस्य' - (१.१.६७.) के परिप्रेक्ष में विचार करते हुए कहा है कि तस्मादिति० सूत्र में उत्तर शब्द का ग्रहण किया गया है तथा प्रकृत सूत्र में परस्य का ग्रहण है, इन दोनों समानार्थक शब्दों का पाठ होने से गौरव की प्रतीति होती है। 'तस्मादित्युत्तरस्यादेः' यही सूत्र न्यास किया जा सकता है। इस सूत्र का योगभेद कर तस्मादित्युत्तरस्य आदेः इस प्रकार पाठ माना जाए। आदेः० में उत्तरस्य की अनुवृत्ति की जाए। इस प्रकार दोनों सूत्रों में एक वाक्यता करने पर वाक्यार्थ बोध होगा - पञ्चमी निर्देश के द्वारा विधीयमान कार्य उत्तर को होता है और उत्तरवर्ती को होने वाला यह कार्य उसके आदि को होता है। इस प्रकार योगभेद या वाक्यभेद के सामर्थ्य से कहीं तस्मादित्युत्तरस्य इस प्रथम अंश की प्रवृत्ति होगी और कहीं द्वितीय अंश आदेः की प्रवृत्ति होगी। अतिदेश, विधायक और आगम विधायक सूत्रों में स्थान षष्ठी का निर्देश नहीं रहता अतः उन सूत्रों में 'तस्मादित्युत्तरस्य' यह प्रथम वाक्य प्रवृत्त होता है। जैसे 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' - (१.२.१.) इस अतिदेश सूत्र के अनुसार गाङ् आदेश और कुटादिगण पठित धातु से परे ञित्-णित् प्रत्ययों को छोडकर अन्य कोई प्रत्यय आने पर वह प्रत्यय ङित् हो जाता है। इसके फलस्वरुप 'क्ङिति च' - (१.१.५.) सूत्र से वहां गुण-वृद्धि का निषेध हो जाता है। इस स्थल पर 'उत्तरस्यादेः' इस अंश की प्रवृत्ति का कोई उद्देश्य नहीं है क्योंकि ञित्-णित् भिन्न प्रत्ययके आदि वर्ण को ङित्व का अतिदेश करने का कोई उपयोग नहीं है सम्पूर्ण प्रत्यय में ङित्व का अतिदेश करने पर ही क्ङिति च की प्रवृत्ति हो सकती है। सारांश यह हुआ कि आदेः परस्य यह पृथक् सूत्र न वनाकर तस्मादित्युत्तरस्यादेः इस प्रकार एक ही सूत्र बनाने पर इष्ट सिद्धि हो सकती है।

इस प्रसंग में यह शङ्का उपस्थित होती है कि वाक्य भेद सामर्थ्य से जिस प्रकार क्वचित् स्थलों पर प्रथम वाक्य की प्रवृत्ति होती है - द्वितीय की नहीं जैसे गाङ्कुटादि० । उसी प्रकार कहीं मात्र द्वितीय वाक्य की भी प्रवृत्ति हो सकती है । उस स्थिति में 'नित्यं ङितः' - (३.४.९९.) में दोष की उद्भावना की जा सकती है । नित्यं ङितः सूत्र से ङित् लकारों में उत्तम पुरुष के सकारान्त प्रत्यय का नित्य लोप प्राप्त है । 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा की सहायता से वाक्यभेद पक्ष में प्रत्यय के अन्तिम सकार का नित्य लोप हो जाता है । यदि द्वितीय सूत्र उत्तरस्यादेः की प्रवृत्ति होगी तो उससे 'उत्तरस्य स्थाने विधीयमानं चादेर्बोध्यम्' ऐसा वाक्यार्थ बोध होगा और उत्तम पुरुष के सकारान्त वस् मस् प्रत्ययों के अन्तिम सकार का लोप न होकर उसके आदि वर्ण वकार-मकार का लोप हो जाएगा । शब्दरत्नकार[1] ने इस आशंका का समाधान करते हुए कहा है कि द्वितीय सूत्र उत्तरस्यादेः में उत्तरस्य यह अनुवृत्त पद की दो बार अनुवृत्ति की जाएगी । शब्दाधिकार का आशय कर प्रथम अनुवृत्त उत्तरस्य पद का 'परत्वबोधकस्य' अर्थ किया जाएगा तथा द्वितीय उच्चरित उत्तरस्य पद परस्य का वाचक होगा । इस प्रकार सम्पूर्ण सूत्र का अर्थ होगा - जिन सूत्रों में परत्व बोधक पञ्चम्यन्त पद का उच्चारण करके पर को कार्य विहित है वही पर उत्तरस्यादेः की प्रवृत्ति होती है । नित्यं ङितः सूत्र में धातोः इस पञ्चम्यन्त अधिकार की अनुवृत्ति है तथापि धातोः पद में श्रूयमाण पञ्चमी परत्व बोधिका पञ्चमी नहीं अपितु दिग्योग लक्षणा पञ्चमी है । इसीलिए नित्यं ङितः सूत्र का अर्थ करते समय 'धातोः परस्य ङित् लकारस्य नित्यं लोपः' ऐसा अर्थ निष्पन्न नहीं होता । दिग्योग लक्षणा पञ्चमी मानकर 'धातोः विहितस्य ङितःनित्यं लोपः' ऐसी अर्थ निष्पत्ति की जाती है । इस प्रकार नित्यं ङितः में परत्व बोधक पञ्चमी का निर्देश करते हुए पर को कार्य विहित नहीं है अतः वहाँ 'उत्तरस्यादेः' परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती । सिद्धान्ततः यह स्पष्ट है कि योग विभाग पक्ष में दो वाक्यार्थों के द्वारा अर्थ निष्पत्ति करने पर कोई दोष संभावित नहीं है । नित्यं ङितः में अलोऽन्त्यस्य की ही प्रवृत्ति होगी और इष्ट रुप सिद्ध होंगे ।

इस प्रकार 'तस्मादित्युत्तरस्यादेः' सूत्रारम्भ करने पर लाघव भी सिद्ध होता है । तथापि भट्टोजी दीक्षित आदि ग्रन्थकारों ने इसका समर्थन नहीं किया । वे कहते हैं - 'तस्मादित्युत्तरस्यादेरिति न सूत्रितम्, आदेरित्यंशस्य सवदिशबाधकत्वापत्तेः । सिद्धान्ते तु परत्वात् सवदिशत्वं बाधकमित्यनुपदमेव वक्ष्यति । (प्रौढ मनोरमा)' शब्दरत्नकार पं. हरिदीक्षित ने इन शब्दों का आशय स्पष्ट किया है[2] कि यद्यपि उक्त न्यास करने से लाघव होता है तथापि इस पक्ष में इष्टरुप सिद्धि के लिए प्रक्रिया गौरव का आश्रय लेना पड़ता है । जैसे आदेः परस्य को हटाकर तस्मादित्युत्तरस्यादेः सूत्रारम्भ करना - इसके पश्चात् इस सूत्र को दो भागों में विभक्त करना - प्रथम भाग में पठित उत्तरस्य पद की अनुवृत्ति, द्वितीय भाग में (आदेः में) करना - अनुवृत्ति करने के बाद उस अनुवृत्त पद की पुनः आवृत्ति करना - शब्दाधिकार का आश्रय कर द्वितीय सूत्र का अर्थ - 'परत्वबोधक शब्देन उत्तरस्य यद् विहितं तत्तस्यादेर्बोध्यम्' निष्पन्न करना - यह महान् प्रपञ्च करना पड़ता । इसमें अधिक गौरव है । अतः पाणिनि ने जैसा सूत्र पाठ किया है, वैसा ही स्वीकार करना चाहिए । आदेः परस्य को यथान्यास मानने पर ही अनेकाल्० सूत्र के द्वारा उसका बाध संभव है तथा भाष्योक्त वार्तिक - 'अलोऽन्त्यस्यादेः परस्यानेकाल् शित्सर्वस्येत्यपवादविप्रतिषेधात् सवदिशः' की उपपत्ति भी हो जाती है ।

उपर्युक्त वार्तिक का अभिप्राय है कि अलोऽन्त्यस्य-आदेः परस्य और अनेकाल् शित्सर्वस्य इन तीनों परिभाषा सूत्रों में परस्पर उत्सर्गापवाद भाव है इसे स्पष्ट करते हुए भाष्यकार कहते हैं -

'अलोऽन्त्यस्य' उत्सर्ग सूत्र है। इसके दो अपवाद सूत्रों में परस्पर विप्रतिषेध होने पर परत्वात् अनेकाल्० सूत्र बली होता है और अनेकाल् तथा शित् आदेश सर्वादेश होते हैं। उदाहरणार्थ - **१. अनेकाल् त्वात् सर्वादेशः** - अतो भिस ऐस् - (७.१.९.) सूत्र से रामैः आदि प्रयोगों में भिस् के स्थान पर ऐस् आदेश प्राप्त हैं। 'अतः' इस पञ्चम्यन्त पद से पर में विहित होने से आदेः परस्य की प्रवृत्ति होती है। ऐस् आदेश अनेकाल् होने से अनेकाल्० सूत्र भी प्रवृत्त होता है। इस प्रकार युगपत् दोनों सूत्रों की प्रवृत्ति होती है। इनमें विप्रतिषेध होने के कारण विप्रतिषेधे परं कार्यम् - (१.४.२.) सूत्र से परवर्ती सूत्र में कार्य की योग्यता अथवा बलीयस्त्व प्राप्त है। अतः अनेकाल्० सूत्र पर होने के कारण ऐस् आदेश सम्पूर्ण भिस् के स्थान पर हो जाता है तथा अभीष्ट रुप सिद्ध होता है। इस विप्रतिषेध में आदेः परस्य परिभाषा को द्वीपम् अन्तरीपम् आदि प्रयोगों में स्वतंत्र अवकाश है। इनमें 'द्वयन्तरुपसर्गेभ्योऽपईत्' - (६.३.९७.) सूत्र से द्वि-अन्तर् और उपसर्ग से परे अप् शब्द को ईकार प्राप्त है। आदेः परस्य के अनुसार यह ईकार अप् के आदि वर्ण अ के स्थान पर होता है।

अनेकाल् शित्सर्वस्य परिभाषा भी भविता-भवितुम् आदि प्रयोगों की सिद्धि में सावकाश है। यहाँ भू धातु के स्थान पर अस्तेर्भूः - (२.४.५२.) सूत्र से अस् धातु के स्थान पर भू आदेश होता है। यह भू आदेश अनेकाल् होने से सम्पूर्ण अस् के स्थान पर होता है।

रामैः प्रयोग में भिस् के स्थान पर ऐस् आदेश करते समय (अतो भिस ऐस्) दोनों परिभाषाओं की युगपत् प्रवृत्ति होती है। परत्वात् अनेकाल० परिभाषा आदेः परस्य का बाध करती है और ऐस् आदेश सर्वादेश होता है।

२. शित्वात् सर्वादेशः - इसी प्रकार शित् आदेश सम्पूर्ण स्थानी को होते हैं। यह भी अनेकाल् शित्सर्वस्य परिभाषा के द्वारा सिद्ध है। इस सूत्र के शिद्ग्रहण को इतः इह आदि उदाहरणों में स्वतंत्र अवकाश है। यहाँ इदम इश् - (५.३.३.) सूत्र से इदम् शब्द को इश् आदेश होता है। यह इश् आदेश शित् होने से सम्पूर्ण इदम् के स्थान पर होता है। आदेः परस्य की स्वतंत्र चरितार्थता द्वीपम् अन्तरीपम् में स्पष्ट की गई। अष्टौ उदाहरण में अष्टाभ्य औश् - (७.१.२१.) सूत्र से जस् और शस् को औश् आदेश प्राप्त है। इस स्थिति में दोनों परिभाषाओं की प्रवृत्ति होती है। इनमें आदेः परस्य परिभाषा का ०शित्सर्वस्य परिभाषा के द्वारा परत्वात् बाध हो जाता है और औश् आदेश शित्वात् सर्वादेश होता है न कि जस् और शस् के आदि को।

उपर्युक्त बाध्य-बाधक भाव की रक्षा के लिए वृत्तिकारों ने एक यह भी विचार व्यक्त किया है कि तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य - (१.१.६६.) और तस्मादित्युत्तरस्यादेः - (१.१.६७.) इन दोनों सूत्रों को अनेकाल्० सूत्र के पूर्व में पढ़ा जाए। इस सूत्र पाठ में अनेकाल्० सूत्र पर होने से दोनों का बाधक हो जाता और अतो भिस ऐस् तथा अष्टाभ्य औश् में परत्वात् सर्वादेश सिद्ध हो जाता।

इस प्रकार की सूत्र-योजना में यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि 'षष्ठी स्थाने योगा' सूत्र उत्तरस्यादेः सूत्र से सम्बद्ध होगा अथवा नहीं ?[1] यदि षष्ठी स्थाने योगा को इससे सम्बद्ध नहीं करते तो 'आङ्सेरसुक्' - (७.१.५०.) इस आगम विधायक सूत्र में तस्मादिति० सूत्र का उत्तरस्यादेः अंश प्रवृत्त

होगा क्योंकि इसमें आत् परत्वबोधक पञ्चम्यन्त पद है और असेः यह अवयव षष्ठी है। 'उत्तरस्यादेः' प्रवृत्त होने पर जस्-अस् के आदि अवयव अकार को असुक् आगम हो जाएगा और इस प्रकार देवासः - मनुष्यासः आदि वैदिक प्रयोगों की सिद्धि न हो पाएगी। (देव + जस्, देव + अस्, देव + अ + अस् + स) इस स्थिति में अतो गुणे से पररुप और प्रथमयोः पूर्वसवर्णः - (६.१.१६२.) से पूर्व सवर्ण दीर्घ होकर देवास्स् रुप बनता। इसमें स्कोः संयोगाद्योः० - (८.२.२९.) से संयोगादि स् का लोप और उसके अनन्तर पठित स् को रुत्व विसर्ग करने पर देवाः यह लौकिक रुप सिद्ध हो जाता। इस में यह भी अनुपपत्ति होती है कि असुक् आगम के अ का अतो गुणे से अपहार और स् का स्कोः० सूत्र से लोप कर देने पर असुक् आगम व्यर्थ हो जाता। इस दोष के निवारणार्थ असुक् आगम को अस् के आदि को न कर अस् को ही करना उचित होगा।

द्वितीय पक्ष में षष्ठी स्थाने योगा को उत्तरस्यादेः से सम्बद्ध करते हैं तब तस्मिन्निति० और तस्मादिति इन दोनों सूत्रों से स्थान षष्ठी का संबंध होगा और तब आगम विधायक सूत्रों में इन परिभाषाओं की प्रवृत्ति नहीं हो पाएगी, क्योंकि आगमविधायक सूत्रों में स्थान षष्ठी नहीं होती अवयव षष्ठी होती है। परिणामस्वरुप छे च - (६.१.७३.), ङः सि धुट् - (८.३.२९.) आदि सूत्रों से इष्ट रुप सिद्ध न हो पाएँगे। छे च या आने मुक् - (७.२.८२.) आदि आगम विधायक सूत्रों में ह्रस्वस्य या अदन्ताङ्गस्य ये अनुवृत्त होने वाले पद स्थान षष्ठी के नहीं अवयव षष्ठी के बोधक हैं, अतः इन दोनों सूत्रों में तस्मिन्निति० परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती। ङः सि धुट् - (८.३.२९.) सूत्र में ङः पद परत्वबोधक पञ्चम्यन्त होने पर भी यहाँ तस्मादित्युत्तरस्य परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती, क्योंकि सि = सस्य (सि का आशय सस्य से है।) पद में स्थान षष्ठी नहीं है।

निष्कर्ष रुप से यह प्रतिपाद्य है कि आदेः परस्य सूत्र अष्टाध्यायी में जिस स्थान पर जिस क्रम से पठित है उसी प्रकार उसे पढ़ना चाहिए।

❀❀❀

शब्द संकेत

१. तत्र 'आदेः' इति पृथग् वाक्यम् तत्र 'उत्तरस्य' इत्यनुवर्तते स्थान षष्ठी चेयम् पञ्चमीनिर्देशेन यत्कार्यं तदुत्तर सम्बन्धि उत्तरस्य स्थाने विधीयमानं चादेर्बोध्यमिति वाक्यार्थद्वयम्। वाक्यभेद सामर्थ्याच्च 'आदेः' इत्यंशं विनापि क्वचिदशान्तर प्रवृत्तिः। आदेः इत्यंशस्त्वनुवृत्तोत्तरस्येत्यस्यावृत्या परत्वबोधक शब्देन यत्र विधानं तत्रैवेति नित्यं ङितः। इत्यादौ न प्रवर्तते। - **शब्दरत्न - (१.१.५४.) ।**

२. स्वं रुपमित्यतः प्रागिति तस्मादित्युत्तरस्यादेः इति न सूत्रितम्। - **शब्दरत्न**

३. न चानेकाल् इत्यतः पूर्वमेव 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' 'तस्मादित्युत्तरस्यादेः' इति सूत्रे कुतो न पठिते इति वाच्यम्। 'आदेः' इत्यंशे 'षष्ठी स्थाने' इत्थस्यासम्बन्धे 'आज्जसेरसुक्' इत्यादावपि तस्य प्रवृत्यापत्तेः। सम्बन्धे मध्यं 'तस्मिन्निति', 'तस्मादिति' अनयोरपि तत्सम्बन्धे तयोरप्यागम विषयेऽप्रवृत्यापत्तेरिति दिक्। - **शब्दरत्न - (१.१.५४.)**

❀❀❀

अनेकाल् शित्सर्वस्य
(१.१.५५)

सूत्रार्थ - अनेक अलों वाला आदेश तथा शित् आदेश सम्पूर्ण स्थानी को होता है। यही सर्वादेश है। इसमें अनेकाल् का उदाहरण-अस्तेर्भूः में प्राप्त होता है। अस् धातु के स्थान पर भू आदेश विहित है। भू आदेश अनेकाल् है अतः सम्पूर्ण अस् के स्थान पर हो जाता है। इसी प्रकार अतो भिस एस् सूत्र से अकारान्त अङ्ग से परे भिस् को होने वाला ऐस् आदेश सम्पूर्ण भिस् के स्थान पर हो जाता है क्योंकि वह अनेकाल् है। इतः इत्यादि उदाहरणों में इदम इश् सूत्र से होने वाला इश् आदेश शित्वात् सर्वादेश है।

शित्वात् सर्वादेश - काशिकाकार ने शित् सर्वादेश के उदाहरण में जशशसोः शि सूत्र को उद्धृत किया है। उदाहरण स्वरुप कुण्डानि तिष्ठन्ति - कुण्डानि पश्य प्रयोगों को प्रस्तुत किया है। वस्तुतः जश्शसोः शि सूत्र से विधीयमान शि आदेश को शित् मानकर सर्वादेश करना अयुक्तिकर है। शि को शित् तब मान सकते हैं जब श की इत् संज्ञा हो। इत् संज्ञा (लशक्वतद्धिते[1] - १.३.८.) तभी होगी जब उसमें प्रत्ययत्व धर्म होगा। जश्शसोः शि सूत्र में पठित शि आदेश जब जस् और शस् के स्थान पर विहित होगा तब स्थानिवद् भाव (१.१.५६.) से उसमें प्रत्ययत्व धर्म आएगा। उसके पूर्व शि को अनेकाल् ही मानना पड़ेगा। अनेकाल्त्वात् सर्वादेश होकर शि में प्रत्ययत्व आएगा और तब लशक्वतकिते से श् की इत्संज्ञा होकर कुण्डानि आदि प्रयोग सिद्ध होंगे। अतः इस सूत्र में पठित शि को भी अनेकाल् मानकर ही सर्वादेश करना चाहिए।

अब प्रश्न है कि शित्वात् सर्वादेश का क्या उदाहरण होगा ? भाष्यकार ने इस स्थल पर इदम इश् - (५.३.३.) और अष्टाभ्य औश्[2] - (७.१.२१.) सूत्रों में पठित इश् और औश् को शित् के उदाहरणस्वरुप प्रस्तुत किया है। इदंम इश् में इदम् के स्थान पर इश् होता है। यह इश् आदेश यद्यपि अनेकाल् दिख रहा है किन्तु उसे अनेकाल् मानकर सर्वादेश नहीं कर सकते, क्योंकि हलन्त्यम् - (१.३.३.) सूत्र से अन्तिम श की इत् संज्ञा होकर इकार यह एकाल् ही शेष बचता है। 'नानुबन्धकृतमनेकालत्वम्' इस ज्ञापक सिद्ध परिभाषा के अनुसार सानुबन्धक इश् आदेश को अनेकाल् नहीं माना जा सकता। अतः इश् आदेश अनेकाल् नहीं है। सम्पूर्ण इदम् के स्थान पर इश् आदेश होना अभीष्ट है जिसके लिए शित् ग्रहण करना आवश्यक है यही शित्वात् सर्वादेश का उदाहरण है। इसी प्रकार अष्टाभ्यः औश् में अष्टन् शब्द से परे जस् और शस् के स्थान पर औश् विहित है, यह औश् भी शित् ग्रहण के सामर्थ्य से शित्वात् सर्वादेश अर्थात् सम्पूर्ण जस् और शस् के स्थान पर हो जाता है और अष्टौ रुप सिद्ध होता है।

मनोरमा एवं शब्दरत्न की टिप्पणी - मनोरमा एवं शब्दरत्न में भी जश्शसोः से विहित शि आदेश को शित् न मानकर अनेकाल्त्वात् सर्वादेश करने की स्वीकृति दी है। "यत्तु वृत्तिकृतो जश्शसोः शिः इत्युदाहृतम्, तन्न। सर्वादेशतायाः प्राक् शित्वस्यैवालाभात्।" - मनोरमा। इसके पश्चात् मनोरमाकार लिखते हैं - "तत्र हि डाणलोरिवानुपूर्व्यादनेकाल्त्वे सर्वादेशत्वमिति सिद्धान्तः।" इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार लुटः प्रथमस्य डारौ रसः - (२.४.८५.) या परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः - (३.४.८२.) सूत्रों से विहित डा और णल् आदेश अनेकाल् होने के कारण सर्वादेश होते हैं, उसी प्रकार जश्शसोः शि से होने वाला शि आदेश भी सर्वादेश है। लुटः प्रथमस्य० सूत्र से लुट् लकार प्रथम पुरुष

एकवचन के तिप् प्रत्यय के स्थान पर डा आदेश विहित है। परस्मैपदानाम्० सूत्र से लिट् लकार में तिप् और मिप् प्रत्ययों के स्थान पर णल् आदेश होता है। उपर्युक्त दोनों सूत्रों में डा और णल् आदेश अनेकाल होने के कारण सर्वादेश होते हैं। सर्वादेश होने के पश्चात् स्थानित्व धर्म से (स्थानिवद भाव - १.१.५६.) प्रत्यय संज्ञा होती है और चुटू - (१.३.७.) सूत्र से प्रत्यय के आदि भूत ड् और ण् की इत संज्ञा तथा तस्य लोपः - (१.३.९.) से लोप होता है। आदिष्ट होने के पूर्व उपदेश अवस्था में डा और णल् में प्रत्ययत्व न होने से उनमें चुटू सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता और इस प्रकार उनकी इत् संज्ञा भी नहीं होती। यही नियम जश्शसोः शि में शि आदेश के सम्बंध में भी लागू होता है। अतः डा-णल् या शि आदेश अनेकाल् होने के कारण सर्वादेश होते हैं।

शिद्ग्रहण का प्रयोजन - इस प्रसङ्ग में आशंका उपस्थित हो सकती है कि जश्शसोः शि में शि आदेश को अनेकाल् मानकर यदि सर्वादेश किया जाता है तब इदम इश् जसः शी आदि सूत्रों में इश् शी आदेश को अनेकाल् मानकर सम्पूर्ण स्थानी को किया जा सकता है, शिद् ग्रहण की क्या आवश्यकता ?[३] इन आदेशों में शकार अनुणन्धों का अन्यत्र कोई प्रयोजन नहीं है, अतः प्रयोजन के अभाव में उनकी सार्थकता अनेकालता के सम्पादन में हो जाती है। प्रकृत सूत्र में शित् ग्रहण के द्वारा सर्वादेशत्व की सिद्धि व्यर्थ है। इस आशंका का समाधान भाष्यकार करते हैं कि प्रकृत सूत्र में शिद् ग्रहण को व्यर्थ नहीं मानना चाहिए। सूत्रकार द्वारा पठित कोई शब्द व्यर्थ नहीं होता। यदि व्यर्थ होता हुआ प्रतीत हो रहा है तब यह मानना होगा कि सूत्रकार कुछ न कुछ उस पद के सामर्थ्य से ज्ञापित करना चाहते हैं। इस प्रसंग में भी शिद् ग्रहण से सूत्रकार यह ज्ञापित करते हैं कि कि प्रत्यय आदेश धातु इत्यदियों का स्वरुप निर्धारण करते समय इत् संज्ञक वर्णों का उपयोग या सहायता नहीं ली जाती। (नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्) अर्थात् अनुबन्धों के कारण किसी प्रत्यय आदि में अनेकालता नहीं आ सकती। इदम इश् या अष्टाभ्य औश् आदि सूत्रों में इश् और औश् आदेश शकार रुप के कारण अनेकाल् प्रतीत होते हैं तो उन्हें अनेकाल् नहीं मानना चाहिए।

दिव उत् - (६.१.१३१.) आदि सूत्रों में विहित उत् आदेश सम्पूर्ण दिव के स्थान पर न होकर दिव् के अन्तिम वकार के स्थान पर होता है क्योंकि उत् में तकार अनुबन्ध है उस की सहायता से आदेश को (उत् को) अनेकाल् नहीं माना जा सकता।

अर्वणस्त्रसावनञः - (६.४.१२७.) सूत्र से अर्वन् को तृ आदेश होता है जिसमें ऋकार अनुबन्ध होने से अनेकाल् की कोटि में नहीं आता और इसके फलस्वरुप तृ आदेश अर्वन् के अन्तिम नकार के स्थान पर होता है।

"अनेकान्ता अनुबन्धा" पक्ष में अर्थात् अनुबन्धों को अवयव न मानने पर नानुबन्धकृतमनेकालवम् परिभाषा का कोई औचित्य या प्रयोजन नहीं रह जाता, क्योंकि जब अनुबन्ध अवयव ही नहीं है तब अलों की गणना में उनका सहयोग या गणना करने का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होगा। इसी आधार पर लोपादेश को सर्वादेश सिद्ध करने के लिए ध्वसोरेद्धावमयासलोपस्च सूत्र में लोप शब्द को शकार अनुबन्ध की कल्पना की गई है। ०लोपः श इस प्रकार पदच्छेद किया गया है। (द्रष्टव्य शब्द कौस्तुभः)[४]

अनुबन्धों को अवयव मानने पर (एकान्ता अनुबन्धा) अनेकाल० सूत्र में शिद् ग्रहण के द्वारा नानुबन्धकृतम्० परिभाषा को ज्ञापित करना उचित है। इस पक्ष में घ्वसो० सूत्र में लोप में शकार अनुबन्ध की कोई आवश्यकता नहीं है और तब सूत्र में ०लोप: च इस प्रकार पदच्छेद किया जा सकता है। इस पक्ष में लोपादेश को सर्वादेश की सिद्धि सूत्र में पुन: लोप ग्रहण के सामर्थ्य से संभव है। पूर्व सूत्र लोपो यि - (६.४.११८.) से लोप पद की अनुवृत्ति होने पर भी प्रकृत सूत्र में (घ्वसो०) पुन: लोप पद का ग्रहण किया गया जिसके सामर्थ्य से लोप सर्वादेश हो जाता है। ("लोपो यि" इति प्रकृते पुनर्लोपग्रहण सामर्थ्यात् सर्वादेश: - शब्द कौस्तुभ)

वार्तिककार के मतानुसार "नानर्थके ऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यास विकारे" परिभाषा के आधार पर अभीष्ट सिद्धि हो जाती है। अर्थात् अनर्थक वर्ण समुदाय को आदेश रुप कार्य का विधान होने पर अलोऽन्त्यस्य परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती किन्तु अभ्यास विकार रुप कार्य कर्तव्य हो तो अलोऽन्त्यस्य से अन्तिम को ही कार्य होता है। इस परिभाषा से घ्वसो० सूत्र से लोप रुप कार्य अनर्थक अभ्यास को विहित है अत: उसके अन्तिम अल् को न होकर सर्वादेश ही होगा। लोप के सर्वादेश की सिद्धि के लिए शित्करण आदि की आवश्यकता नहीं है। यहाँ यह आशंका हो सकती है कि घ्वसो० सूत्र में अभ्यास का लोप विहित है और परिभाषा तो अभ्यास विकार में प्रवृत्त नहीं होती। तब इसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि यद्यपि लोप कार्य अभ्यास विहित है तथापि लोप विकार [१] नहीं होता। परिभाषा में अनभ्यास विकारे कहकर अभ्यास के विकार में पर्युदास किया गया है। इस प्रकार वार्तिककार के मत में परिभाषा (नानर्थके०) की सहायता से इष्ट सिद्धि हो जाती है और लोप विधि सर्वादेश हो जाती है।

वस्तुत: अनुबन्धों को अवयव मानें अथवा अनवयव मानें दोनों पक्षों में "नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्" परिभाषा की कोई भी उपयोगिता नहीं है, क्योंकि अनुबन्धों की उपदेशावस्था में ही इत् संज्ञा (अन्तरङ्ग होने से) हो जाती है और इत्संज्ञा होने के बाद लोप हो जाता है। (तस्यलोप:) अनुबन्धों में उच्चरित-प्रध्वंसित्व है। अत: कार्य करते समय उनका स्मरण ही किया जाता है और कार्य का निर्वाह होता है। इस प्रकार दिव उत् और अर्वणस्त्रसाव० इत्यादि सूत्रों में उत् और तृ आदेश इत्संज्ञकों के लोप होने पर एकाल् ही बचते हैं तब उनमें सर्वादेशता की प्रसक्ति ही नहीं है। नानुबन्धकृतम्० परिभाषा के उदाहरणस्वरुप उपर्युक्त सूत्रों को उद्धृत करना अयुक्तिकर है।

नानुबन्धकृतम्० परिभाषा के खण्डन पक्ष में दिव उत् या अर्वणस्त्रसा० सूत्रों में उत् और तृ आदेश एकाल् होने से उनमें सर्वादेश की प्रसक्ति ही नहीं उसी प्रकार इदम इश् या इदं किमोरीश्की सूत्रों में भी इश् और ईश् आदेशों में एकाल्त्व के आधार पर सर्वादेशता का निषेध होगा, इस स्थिति में शिद्ग्रहण का सामर्थ्य से या शकारोच्चारण सामर्थ्य से इशादि आदेश सर्वादेश होते हैं। (अनेकालशित्० - १.१.५५. सूत्र से) यहाँ पुन: प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि शकार अनुबन्ध का क्या प्रयोजन है ? इसका समाधान है कि तस्य लोप: से लोप ही इसका प्रयोजन है। पुन: यह विचारणीय है कि जब लोप होना ही शकार अनुबंध का प्रयोजन है तब उसका उच्चारण ही क्यों किया जाए ? इसका उत्तर है कि सर्वादेश होना ही उसके उच्चारण का प्रयोजन है।

उपर्युक्त समग्र विवेचन शब्दकौस्तुभकार के मतानुसार ग्राह्य है। परवर्ती आचार्यो ने इसका

खण्डन किया है। सिद्धान्तसुधानिधिकार [६] ने इसे तच्चिन्त्यम् कहकर अस्वीकार किया है। उनके मतानुसार एकान्त पक्ष में नानुबन्धकृतम्० परिभाषा का खण्डन जिस आधार पर किया गया है वह अनुचित है। अनुबन्धों में उच्चरित प्रध्वंसित्व होने से उनका स्मरण होकर वे कार्य का निर्वहन करते हैं। इस कार्य निर्वहन में अनेकालता भी प्रसक्त हो सकती है। भूतपूर्व मति से अनुबंधों की गणना कर आदेशों में अनेकालता आ सकती है और तब दिव औत् या अर्वणस्त्रसा० इत्यादि सूत्रों से विहित औत् और तृ आदेशों में सर्वादेशत्व की प्रसक्ति संभव है। इसका तात्पर्य है कि एकान्त पक्ष में भी नानुबन्धकृतम्० परिभाषा आवश्यक है।

न्यासान्तर कल्पना - अनेकाल्शित्सर्वस्य के स्थान पर यदि नानेकाल्शित् सूत्रारम्भ किया जाए और अलोऽन्त्यस्य सूत्र से अन्त्यस्य और आदेः परस्य से आदेः पद की अनुवृत्ति इसमें की जाए तब सम्पूर्ण सूत्र का अर्थ होगा - अनेक अल् वाले तथा शित् आदेश अन्त्य को नहीं होते तथा आदि को भी नहीं होते अर्थात् वे सम्पूर्ण स्थानी को होंगे और इस प्रकार अभीष्ट अर्थ की सिद्धि हो जाएगी। (इह नानेकाल् शिदिति पठित्वा अन्त्यस्यादेरिति चानुवर्त्या नुसंहारद्वयनिषेधे सर्वस्येति शक्यमकर्तुम्। - शब्दकौस्तुभ)

वस्तुतः शब्दकौस्तुभकार के उपर्युक्त मत में प्रतिपत्ति गौरव दोष है, इसलिए सिद्धान्तसुधानिधिकार ने इसे अस्वीकार किया है। (यद्यपि नानेकाल्शिदिति पठित्वा अन्त्यस्यादेः इति चानुवर्त्यानुसंहारद्वयनिषेधे सर्वस्य इति शक्यमकर्तुमिति तदपि चिन्त्यम्। प्रतिपत्तौ गौरवस्य दुर्वारत्वात् - व्या. सि. सुधानिधि - १.१.५५.)

❀❀❀

शब्द संकेत

१. लशक्वतद्धिते - (१.३.८.) सूत्र से प्रत्यय के आदि में रहने वाले ल, श और क की इत् संज्ञा होती है तद्धित प्रत्ययों को छोड़कर।

२. अष्टाभ्यः औश् और इदम् इश् आदि सूत्रों से विहित औश् और इश् आदेश में हलन्त्यम् - (१.३.३.) सूत्र से शकार की इत् संज्ञा और तस्य लोपः - (१.३.९.) से लोप हो जाता है और इस प्रकार औकार और इकार एक ही अल् वाले आदेश शेष रहते हैं इसे शित् मानकर ही सवदिश किया जा सकता है तथा इतः आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं। इतः में इदम् + तस् (पञ्चम्यास्तसिल्) स्थिति में 'इदम् इश्' सूत्र से सम्पूर्ण इदम् के स्थान पर इश् आदेश होता है - इश् + तस् में शकार की इत् संज्ञा - (१.३.३.) और लोप - (१.३.९.) करने पर इ + तस्, इतः रुप सिद्ध होता है।

अष्टाभ्य औश् सूत्र की प्रवृत्ति अष्टौ प्रयोग में होती है। अष्टन् + जस् स्थिति में अष्टन आ विभक्तौ - (७.२.८४.) से ग् को आत्त्व - (अष्ट + आ + जस्) सवर्णदीर्घ - (६.१.१०१.) अष्टाभ्य औश् से जस् को औश् श् की इत्संज्ञा और लोप करने पर अष्ट + औ = अष्टौ (वृद्धिरेचि) रुप सिद्ध होता है।

३. जसः शी अथवा जश्शसोः शि सूत्रों में शी और शि आदेश वस्तुतः अनेकाल् होने से सवदिश होते हैं। यदि ये सवदिश न होते तो अलोऽन्त्यस्य से अन्तिम अल् को होते। अन्तिम अल् के स्थान पर अर्थात् जस् के सकार के स्थान पर होने से उनकी प्रत्यय संज्ञा नहीं होती और प्रत्यय संज्ञा न होने से शकार की इत् संज्ञा - (१.३.८.) न हो पाती। इत् संज्ञा न होने से लोप न होता। इस प्रकार इन आदेशों में श्रूयमाण शकार अनुबन्ध या इत् संज्ञक नहीं है। वे मात्र अल् हैं अतः उनसे युक्त शी-शि आदि आदेश अनेकाल् होते हैं।

शेखरकार और पदमंजरीकार के अनुसार (०लोपश्च - ६.४.११९.) सूत्र में लोपादेश सम्पूर्ण स्थानी को हो जाए एतदर्थ लोप शब्द में शकार अनुबन्ध की योजना की गई है।

४. अनेकान्ता अनुबन्ध इति पक्षे नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम् इत्यस्य प्रयोजना भावात् तदभिप्रायको लोपश्शितिच्छेद इति सिद्धान्तः। एकान्ता इति पक्षे तृक्तरीतथा ज्ञापकमावश्यकम्। घ्वसोरित्यम तु लोप इत्येव छेदः। (शब्दकौस्तुभ)

५. विकार का तात्पर्य रुपान्तरापत्ति है। इसीलिए भाष्यकार ने पस्पशा में लोप और विकार का पृथक् उपादान किया है - 'लोपागमवर्ण विकारज्ञो हि सम्यग्वेदान् परिपालयिष्यति' कैयट भी पृषोदरादीनि० - (७.४.७१.) सूत्र पर लिखते हैं - 'द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ'

६. यत्तु एकान्तपक्षेऽपि उपदेशावस्थायामेवान्तरङ्गत्वात् संज्ञा उच्चरितप्रध्वंसिनां स्मर्यमाणानामेवानुबन्धानां कार्यनिर्वाहिकत्वमिति सिद्धान्तात्। तथा च तृ औत् इत्यादेरादेशस्य प्रवृत्ति वेलायामेकाल्त्वान्नात्र सर्वादेशत्व प्रसङ्ग इत्युक्तज्ञापनस्य वैयर्थ्यसुतरां शिद्ग्रहणस्य। न च इश्-ईश् इत्यादीनामपि सर्वादेशत्वानापत्तिः । तत्र पूर्वलोपप्रवृत्तेः शकारोच्चारणसामर्थ्यात्। न च सर्वादेश कृतेऽपि ....तच्चिन्त्यम् स्मर्यमाणैरवानुबन्धैः कार्यान्तिरस्येवानेकाल्त्वस्यापि प्रसक्तेर्दुर्वारत्वात्। - व्या. सि. सु. नि. - १.१.५५.

❀❀❀

तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य
(१.१.६६)

सूत्रार्थ - विधि सूत्र में सप्तम्यन्त निर्देश के द्वारा कोई कार्य विहित हो तो वह कार्य उस सप्तम्यन्त निर्देश के तत्काल पूर्ववर्ती वर्ण को किया जाता है। जैसे इको यणचि - (६.१.७७.) सूत्र में अचि सप्तम्यन्त पद का उच्चारण करते हुए इक् के स्थान पर यण् आदेश का विधान है वह यणादेश अच् के अव्यवहित पूर्ववर्ती इक् के स्थान पर होता है। (सप्तमी निर्देशेन विधीयमानं कार्य वर्णान्तरेण अव्यवहितस्य पूर्वस्य ज्ञेयम् - सि. कौ.)

"तस्मिन्" पदार्थ विचार - सूत्र में पठित 'तस्मिन्' पद का अभिप्राय शब्दपरक नहीं है। तस्मिन् सर्वनाम होने से सामान्य रुप से सप्तम्यन्त का बोधक है। सर्वनाम का तात्पर्य - सर्वेषां यानि नामानि तानि सर्वनामानि अर्थात् सर्वनाम संज्ञक शब्द सामान्य शब्द के वाचक होते हैं। इसीलिए सूत्र पठित तस्मिन् पद से अचि, हलि का बोध होता है और तस्मिन् पद का भी बोध होता है। इस के फलस्वरुप जिस प्रकार इको यणचि में अचि पद में परिभाषा प्रवृत्त होती है उसी प्रकार तस्मिन् पदयुक्त 'तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ' - (४.३.२.) सूत्र में भी परिभाषा प्रवृत्त होती है।

इस विषय में आचार्यों ने यह विचार व्यक्त किया है कि किसी भी शब्द का इति के द्वारा निर्देश होने पर वह शब्द अपने स्वरुप का बोध कराता है। जिस प्रकार लोक में गवित्ययमाह कहने पर गो शब्द का बोध होता है, उसके अर्थ का नहीं। प्रस्तुत सूत्र में भी 'तस्मिन्निति' के द्वारा 'तस्मिन्' शब्द का ही ग्रहण होगा क्योंकि इति के द्वारा वह निर्दिष्ट है। इस स्थिति में सम्पूर्ण परिभाषा सूत्र का अर्थ होगा - विधि सूत्र में तस्मिन् शब्द के निर्देश के द्वारा कोई कार्य विहित हो तो वह कार्य उसके अव्यवहित पूर्व को होता है। इस अर्थ निष्पत्ति से परिभाषासूत्र 'तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ' में ही प्रवृत्त होगा क्योंकि इसमें तस्मिन् पद का निर्देश है। इस स्थल पर यह आशंका उत्पन्न हो सकती है कि तस्मिन्नणि० सूत्र में परिभाषा प्रवृत्ति का कोई प्रयोजन ही नहीं।

तस्मिन्नणि० में भी परिभाषा सूत्र की प्रवृत्ति का फल दृष्टिगत होता है। उदाहरणार्थ - हे यौष्माकीण अस्मभ्यं देहि, हे आस्माक युष्मभ्यं ददामि प्रयोगों में खञ् (यौष्माकीण का) और अण् (आस्माक का) के परवर्ती अस्मद्-युष्मद् के स्थान पर तस्मिन्नणि० सूत्र से युष्माक-अस्माक आदेश प्रसक्त हो जाएँगे।

'इति' शब्द के द्वारा तस्मिन् का निर्देश होने से सम्भावित उपर्युक्त आपत्ति का निवारण इस प्रकार संभव है। लोक में सामान्यत: शब्द से अर्थ का बोध होता है किन्तु जब शब्द का निर्देश इति के द्वारा होता है तब वह शब्द अपने स्वरुप या वर्णानुपूर्वी का बोधक होता है। शास्त्र में ऐसा नहीं है। व्याकरण शास्त्र में शब्द स्वरुप परक ही होते हैं इसीलिए व्याकरण शास्त्र को शब्द शास्त्र भी कहा जाता है। जब इति के द्वारा शब्द का निर्देश होता है तब वह शब्द अर्थ का बोधक समझना चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि इति पद पदार्थ विपर्यास करता है। इस प्रकार तस्मिन्-सर्वनाम के द्वारा अचि हलि इत्यादि सप्तम्यन्त पदों का ग्रहण होता है जैसे - तस्यापत्यम् - (४.१.९२.) में तस्य सर्वनाम के द्वारा षष्ठ्यन्तों का ग्रहण होता है।[1]

तस्मिन् सर्वनाम की उपर्युक्त व्याख्या से यह सिद्ध होता है कि प्रकृत सूत्र 'स्वं रुपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' का अपवाद है। क्योंकि इस सूत्र में तस्मिन् पद स्वरुप का ही बोधक नहीं है - वरन् सामान्य सप्तम्यन्त पद का वाचक है। यदि तस्मिन् पद से केवल स्वरुप का ग्रहण होता तो इस सूत्र की प्रवृत्ति मात्र तस्मिन्नणि० सूत्र में ही हो पाती, इको यणचि में नहीं होती क्योंकि वहाँ तस्मिन् पद उच्चरित नहीं है।

तस्मिन् पद सामान्य (सप्तम्यन्त) और विशेष दोनों का बोधक - सर्वनामों को सामान्य अर्थ का वाचक कहा गया है।[२] जैसे - गौः पद को यदि सामान्य वाचक मानें तो कृष्णो गौः कहने पर कृष्ण पद विशेषवाचक होता है। यदि कृष्णत्व की सामान्य रुप से विवक्षा हो तो कृष्ण पद सामान्य पशु वाचक होगा और कृष्णो गौः प्रयोग में गौ पद विशेष पशु का बोधक हो जाएगा। अतः विवक्षा के अनुसार कभी सामान्य भी विशेष हो जाता है या विशेष भी सामान्य हो जाता है। जिस प्रकार न्याय शास्त्र में किसी वस्तु का प्रथम ज्ञान सामान्य या निर्विकल्प रुप से होता है। जब वस्तु सन्निकट आती है तब उसकी विशेषताओं का बोध होता है। ज्ञान की इस प्रक्रिया में जब किसी व्यक्ति को दूर से आता हुआ बैल नामक पशु दृष्टिगोचर हो और समीप में आने पर उसका कृष्णत्वादि वर्ण प्रतीत हो तो उस व्यक्ति के लिए गौः का ज्ञान सामान्य ज्ञान हुआ और कृष्णत्व का ज्ञान विशेष हुआ। इसके विपरीत यदि किसी को दूर से कोई कृष्ण वर्ण पशु आता हुआ दिखाई पड़े और समीप आने पर उस पशु में गोत्व की स्पष्ट प्रतीति हो तो यहाँ कृष्णत्व सामान्य ज्ञान और गोत्व विशेष ज्ञान कहा जाएगा।[३]

उपर्युक्त दृष्टान्त के आधार पर तस्मिन् पद की अवधारणा समझनी चाहिए। परिणाम स्वरुप तस्मिन् सर्वनाम से सप्तम्यन्त पदों का सामान्य रुप से निर्देश होता है और अचि-हलि आदि सप्तम्यन्त पदों का बोध होता है। विशेष का बोध होने पर तस्मिन् पद, तस्मिन् का भी वाचक है अतः तस्मिन्नणि० सूत्र में प्रवृत्त होकर अभीष्ट अर्थ का बोध कराता है। परिभाषा की प्रवृत्ति का यही लिङ्ग है।

सर्वनामों के द्वारा निर्देश युक्तिसंगत है - भाष्यकार ने सर्वनामों द्वारा किए गए निर्देश को युक्तिसंगत माना है। क्योंकि सर्वनामों की व्याप्ति विस्तृत होती है। (एते खल्वपि नैर्देशिकानां वार्ततरकाः भवन्ति ये सर्वनाम्ना निर्देशाः क्रियन्ते - एतै र्हि बहुतरकं व्याप्यते - म.भा.)

(तस्मिन्नणिच० सूत्र में तस्मिन् का तात्पर्य पूर्व सूत्र (४.३.१.) में पठित खञ् प्रत्यय से है। सप्तम्यन्त तद् सर्वनाम से इसी खञ् का परामर्श होता है। यह तद् का सप्तम्यन्त निर्देश है जो तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य में पठित तस्मिन् पद के द्वारा गृहीत होता है। तत्त्वबोधिनीकार के शब्दों में - 'सप्तम्यन्तानुकरणमिदम्')

यदि सूत्र पठित तस्मिन् पद को स्वरुप का वाचक नहीं मानते और मात्र सप्तम्यन्त निर्देश का बोधक माने तो 'नेड् वशि कृति' - (७.२.८.) सूत्र मे भी 'वशि' सप्तम्यन्त निर्देश में प्रकृत परिभाषा की प्रसक्ति हो जाएगी जो कि अभीष्ट नहीं है।

०इति पद का प्रयोजन - सूत्र में तस्मिन्निति० में इति शब्द के सामर्थ्य से तस्मिन् पद का

उपर्युक्त अर्थ प्रतीत होता है। यदि यह विवक्षा न होती तो तस्मिन्निति० के स्थान पर 'सप्तमी निर्दिष्टे पूर्वस्य' सूत्र का निर्माण किया जाता [४] और तब सूत्रार्थ होता - 'सप्तम्यन्ते पदे अव्यवहितोच्चारिते पूर्वस्य कार्य बोध्यम्।' यथा न्यास होने पर तद् तद् सर्वनाम से बुद्धिस्थ अर्थों का परामर्श होता है और जिसे अर्थ में सप्तमी का विधान है उस अर्थ के सप्तम्यन्त का ग्रहण सूत्र से होता है।

निर्दिष्टे पद की व्याख्या - सूत्र में पठित निर्दिष्टे पद के प्रयोजन पर विचार आवश्यक है। निर्दिष्टे पद न पढ़कर केवल 'तस्मिन्निति पूर्वस्य' कहने पर क्या अनुपपत्ति हो सकती है ? इस आशंका का समाधान करते हुए आचार्यों ने निर्दिष्ट पद की व्युत्पत्ति की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। निर् उपसर्ग पूर्वक दिश् धातु का यह निष्ठाप्रत्ययान्त रुप है। दिश् धातु का अर्थ उच्चारण करना है। (दिशि उच्चारणक्रिय:) निर् उपसर्ग नैरन्तर्य का वाचक है। इस प्रकार निर्दिष्टे का आशय 'निरन्तरोच्चारिते' है। तस्मिन् और निर्दिष्टे पदों का समानाधिकरण्य होकर सम्पूर्ण परिभाषासूत्र का यह अर्थ निष्पन्न होता है - सप्तम्यन्त निर्देश के द्वारा यदि विधि सूत्रों में किसी कार्य का विधान हो तो वह कार्य अव्यवहित पूर्व को ही होता है।

परिभाषा सूत्र की व्याप्ति - विधि सूत्रों में उच्चरित निमित्त बोधक सप्तम्यन्त पद का अनुकरण तस्मिन् पद के द्वारा किया गया है। यहाँ अनुकरण और अनुकार्य दोनों स्वरुपत: भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं अथवा दोनों की वर्णानुपूर्वी भिन्न-भिन्न है तथापि यहाँ शब्दानुकरण विवक्षित न होकर केवल अर्थानुकरण विवक्षित है। सूत्र पठित तस्मिन् पद विधिसूत्र में निर्दिष्ट निमित्त बोधक सप्तम्यन्त पद के अर्थ का अनुकरण है। शब्दरत्नकार के शब्दों में - 'अचीत्यादिसप्तम्यन्तार्थकस्य स्वतन्त्रतच्छब्दस्य निर्देशो न स्वरुपपरम् व्याख्यानाद् बहुलक्ष्यसंस्कारानुरोधाच्च। सप्तमी तु सप्तम्यन्तानामेव तच्छब्दार्थत्वमिति बोधनाय, तद् बोध्यार्थस्य निर्दिष्टे इत्यनेन सामानाधिकरण्याय चेति भाव:। शब्दार्थकत्वेन त्वनुकरणत्व व्यवहार इति बोध्यम्।'

शेखरादि ग्रन्थों में 'दिशिरुच्चारण क्रिय:' कहकर दिश् धातु का अर्थ 'उच्चारण करना' लिखा है। जबकि धातु पाठ में दिश् अतिसर्जने धातु तुदादिगण में पठित है। अत: दानार्थक या त्यागार्थक दिश् धातु का अर्थ उच्चारण करना कैसे हो सकता है ? इस शंका का यह समाधान यह हो सकता है कि धातु पाठ में पठित धातुओं के अर्थ उपलक्षणात्मक हैं। इसीलिए धातूनामनेकार्थत्वात् कहा गया है। इस वचन के अनुसार दिश् धातु का अर्थ उच्चारण करना भी हो सकता है।

निर्दिष्ट पद का उपर्युक्त अर्थ बोध होने के कारण ही जनपदे लुप् - (४.२.८१.) या अतिशायने तमबिष्ठनौ - (५.३.३५.) आदि सूत्रों में जनपदे और अतिशायने इन सप्तम्यन्त प्रयोगों की उपस्थिति में प्रकृत परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती। इसका कारण यह है कि इन सूत्रों में जनपदे, अतिशायने ये सप्तम्यन्त पद शब्दों के वाचक न होकर अपने-अपने अर्थो के वाचक हैं। जनपद पद, जनपद शब्द का बोधक नहीं है, किन्तु जनपद के अर्थ का वाचक है। इसीलिए जनपदे लुप् सूत्र का अर्थ है - जनपदरुपेऽर्थे वाच्ये सति लुप्। यदि प्रकृत विधि सूत्र का अर्थ 'जनपद शब्दे परे सति लुप्' ऐसा विवक्षित होता तो निश्चित रुप से प्रकृत परिभाषा प्रवृत्त हो जाती।

निष्कर्षत: जहाँ विधिसूत्रों में सप्तम्यन्त पद से शब्द वाच्य हो अर्थ वाच्य न हो वहाँ दो शब्दों

में नैरन्तर्य संभव है, अतः वही प्रकृत परिभाषा प्रवृत्त होती है और प्रवृत्त होकर सप्तम्यन्त पद के अव्यवहित पूर्व को कार्य का विधान कराती है। जब विधि सूत्रों में सप्तम्यन्त पद के द्वारा अर्थ वाच्य होता है वहाँ पूर्व शब्द और पर अर्थ में नैरन्तर्य संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि शब्द और अर्थ में नैरन्तर्य संबंध नहीं होता। अर्थ तो शब्द में ही अभिन्न रुप से विद्यमान रहता है। शब्द से बाह्य देश में अर्थ नहीं रहता। यह अर्थ निर्दिष्ट पद से व्यक्त होता है। निर् उपसर्ग का तात्पर्य बाहर निकलना है। इसीलिए देश से बाहर निकलने वाले को निर्देश कहते हैं। शब्द शास्त्र में यण्-गुणादि कार्यो का उद्देश्य या क्षेत्र शब्द ही है। शब्द से बाहर शब्द ही रह सकता है अर्थ नहीं। अर्थ तो शब्द से अविनाभूत है। प्रकृत सूत्र के भाष्य में भाष्यकार इसी आशय को स्पष्ट करते हैं। (अथ किमर्थमुपसर्गेण निर्देशः क्रियते ! शब्दे सप्तम्या निर्दिष्टे पूर्वस्य कार्य यथा स्यादर्थे मा भूत् । जनपदे अतिशायने इति । किं गतमेतदुपसर्गेणाहास्विच्छब्दाधिक्यादर्थाधिक्यम् । गतमित्याह । कथम् ? निरयं बहिर्भावे वर्तते । तद्यथा निष्क्रान्तो देशान्निर्देशः । बहिर्देश इति गम्यते । शब्दश्च शब्दाद् बहिर्भूतो ऽर्थोऽबहिर्भूतः ।)[५]

निर्दिष्ट पद का प्रयोजन - सूत्र में निर्दिष्ट पद के सामर्थ्य से दो प्रकार के नियमों की प्राप्ति होती है। इको यणचि कहने पर यह संदेह उपस्थित हो सकता है कि इक् के स्थान पर यणादेश होता है अच् के परे किन्तु वह अच् इक् से व्यवहित भी हो सकता है और अव्यवहित भी। इसी प्रकार अच् के परे पूर्ववर्ती इक् के स्थान पर यण् करना है वह इक् अच् से पूर्व में होगा अथवा पर में यह निश्चय कैसे किया जाए ? इस संदेह का निवारण प्रकृत परिभाषा सूत्र से इस प्रकार होता है - १. इक् के अव्यवहित पर में अच् होने पर ही इक् को यणादेश होगा । २. अच् के पूर्व में रहने वाले इक् को ही यण् होगा । (एवं च नियमद्वयं फलितम् - अव्यवहित एव, पूर्वस्यैवेति - वृहच्छब्देन्दुशेखर - १.१.६६.)

उपर्युक्त नियम में अच् के अव्यवहित होनेपर इकोयणचि की प्रवृत्ति होगी। यदि अव्यवहित पर अर्थ निष्पन्न नहीं होता तो अग्निचिदत्र-सोमसुदत्र आदि प्रयोगों में इको यणचि से व्यवहित अच् के परे रहते इकार-उकार को यण् की प्रसक्ति हो जाएगी। 'पूर्वस्यैव' अर्थ न मानने पर समिधौ-समिधः में अच् के परे परवर्ती इकार को यण् की प्रसक्ति हो जाएगी। परिभाषा के बल से यहाँ यणादेश नहीं होता क्योंकि अभिजिदत्र या अग्निचिदत्र आदि में इक् के परे अच् तो है किन्तु उनके मध्य व्यंजन का व्यवधान है। इसी प्रकार समिधौ में भी अच् के पूर्व में अव्यवहित इक् नहीं है।

भाष्यकार ने भी निर्दिष्ट पद का यही प्रयोजन बताया है - 'निर्दिष्टग्रहणमानन्तर्यार्थम्' । निर्दिष्टग्रहणं क्रियते, आनन्तर्यार्थम् । आनन्तर्य मात्रे कार्य यथा स्यात् - इको यणचि-दध्यत्र-मध्वत्र । इह मा भूत् - समिधौ - समिधः । दृषदौ दृषदः ।

परिभाषासूत्र का प्रयोजन - प्रकृत सूत्र में तस्मिन् पद के द्वारा वाच्य सप्तम्यन्त पद निमित्त सप्तमी का वाचक है। निमित्त को नैमित्तिक की आकांक्षा होती है। लोक में जिस प्रकार आधार-आधेय के प्रति सापेक्ष होता है। जैसे - गङ्गायाम् कहने पर आकांक्षा उत्पन्न होती है जो गङ्गायां घोषः कहने पर शांत हो जाती है। इसी प्रकार निमित्त सप्तमी भी साकांक्ष होती है। इको यणचि में अचि यह निमित्त सप्तमी है। इसका उच्चारण करने पर उद्देश्य के साथ इसके सम्बन्ध की आकांक्षा उत्पन्न होती है। अर्थात् अच् निमित्त के परे रहते उद्देश्य उसके पूर्व में ही होगा। इसके विपरीत निमित्त पूर्व में रहने पर उद्देश्य पर

में भी रह सकता है। (तस्मादिति० - १.१.६७. परिभाषा के अनुसार) इसका आशय यह है कि निमित्त चाहे सप्तम्यन्त हो अथवा पञ्चम्यन्त उसका उद्देश्य के साथ संबंध बोध कराना ही विधिसूत्रों का लक्ष्य है। लोक में ग्रामे देवदत्तः कहने पर - देवदत्त ग्राम के पूर्व में है अथवा पर में यह संदेह उपस्थित होता है। व्याकरण शास्त्र में भी 'अचि' कहने पर संदेह उपस्थित हो सकता है कि अच् के पूर्ववर्ती इक् को कार्य करे अथवा अच् के परवर्ती इक् को ? इस संदेह की निवृत्ति के लिए वचनारम्भ आवश्यक है। प्रकृत परिभाषा के द्वारा अच् के पूर्ववर्ती इक् को ही यणादेश सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ दध्युदकम् - पचत्योदनम् आदि प्रयोगों में (दधि + उदकम्, पचति + ओदनम्) दोनों स्थितियाँ हैं। अच् के पूर्व में इक् है और अच् के पर में भी इक् है। कौन से इक् को यण कर्तव्य है ? इसका निर्धारण इस परिभाषा सूत्र से होता है और फलस्वरुप अच् के पूर्ववर्ती इक् को यणादेश हो जाता है।

शब्दकौस्तुभकार ने इस सूत्र को नियमार्थ माना है। इकोयणचि में अचि पद में यस्य च भावेन भावलक्षणम् - (२.३.३७.) सूत्र से सप्तमी होती है। सूत्र में क्रिया अश्रूयमाण है अतः अन्तरङ्ग अस्ति अर्थ का अध्याहार होता है और सम्पूर्ण सूत्र का अर्थ 'अचि सति यण् भवति' निष्पन्न होता है।

सति सप्तमी न मानकर गङ्गायां घोषः के समान औपश्लेषिक अधिकरण अर्थ की सप्तमी भी मानी जा सकती है। इस पक्ष में 'अच्युपश्लिष्टस्य इको यण्' यह सूत्रार्थ निष्पन्न होता है। इस स्थिति में अच् के साथ इक् का उपश्लेषात्मक संयोग सम्बन्ध अच् के पूर्व में भी हो सकता है और अच् के पर में भी हो सकता है। जैसे - दधि + उदकम्, मधु + इदम् उदाहरणों में अच् के पूर्व वर्ती इक् में भी यण् हो सकता है और अच् के परवर्ती इक् को भी। युगपत् दोनों में कार्य तो संभव नहीं है तब पर्याय से एक बार पूर्व को और एक बार पर को यण् की प्रसक्ति हो जाएगी और इस प्रकार वैकल्पिक रुपों की आपत्ति हो जाएगी। इस अनुपपत्ति के निवारणार्थ प्रकृत परिभाषा से नियमारम्भ से किया जाता है तथा अच् से उपश्लिष्ट पूर्व इक् को ही यण् होता है। दूसरा नियम यह भी है कि अच् से उपश्लिष्ट अव्यवहित पूर्व को ही यण् होता है। अव्यवहित न कहें तो व्यवहित पूर्व में यणादेश की प्रसक्ति हो जाएगी और अग्निचिदत्र आदि प्रयोगों में व्यवहित पूर्व को यण् होकर अनिष्ट रुप सिद्ध हो जाएगा।

वस्तुतः तस्मिन्निति० परिभाषा को उसी पक्ष में नियामक माना जा सकता है जब तस्मिन् पद औपश्लेषिक सप्तमी का वाचक होता है। सति सप्तमी पक्ष में इस सूत्र को नियामक मानना अनुचित है क्योंकि इस पक्ष में पौर्वापर्य विषयक संदेह उपस्थित नहीं होता। जैसे - कर्तृकर्मणोः कृति - (२.३.६५.) सूत्र में कृति सति कहने से कर्ता और कर्म का अध्याहार हो ही जाता है। भाष्यकार श्नान्नलोपः - (६.३.२३.) सूत्र के भाष्य में क्ङिति च - (१.१.५.) में सति सप्तमी मानकर तस्मिन्निति० परिभाषा की क्ङिति च में अप्रवृति मानते हैं। औपश्लेषिक अधिकरण या पर सप्तमी मानने पर पूर्वस्य वा परस्य वा इस प्रकार संदेह उपस्थित होता है, जिसके निवारणार्थ तस्मिन्निति० की प्रवृत्ति आवश्यक होती है।

सति सप्तमी मानने पर पूर्वस्य परस्य वा इस प्रकार संदेह की उपस्थिति मानना नितान्त अयुक्तिकर है। इस प्रसङ्ग में कैयट और नागेश [१] के शब्द उपयुक्त प्रतीत होते हैं। कैयट लिखते हैं - 'कथं पुनः सम्भवन्त्यां पर सप्तम्यां सत्सप्तमी शक्या विज्ञातुम् ? यथेष्टं वाक्यशेषाध्याहाराददोषः। क्ङिति

सतीत्येव हि विज्ञायमाने पौर्वापर्यानाश्रयणान्नास्ति तस्मिन्नित्यस्याः परिभाषाया उपस्थानम् । यदा त्वौपश्लेषिकेऽधिकरणे सप्तमी तदा किं पूर्वस्य कार्यमथपरस्येत्यनियमप्रसङ्गे नियमाय परिभाषोपस्थापनम् ।' - प्रदीप - (६.४.२३.)

परिभाषा सूत्र में निर्दिष्ट पद का औचित्य - प्रस्तुत सूत्र के निष्कृष्टार्थ के रुप में यह प्रतिपाद्य है कि सप्तमी निर्देश के द्वारा विहित कार्य अव्यवहित पूर्व को ही होते हैं। इस अर्थ में अव्यवहित पद के द्वारा व्यवहित में कार्य की निवृत्ति होती है । वस्तुतः संधि सूत्र इको यणचि आदि संहितायाम् - (६.१.७२.) के अधिकार में पठित है। अतः सन्निकर्ष होने पर ही संहिता (परः सन्निकर्षः संहिता - १.४.१०९.) होती है। यदि व्यवहित में भी यणादि कार्य की प्रसक्ति हो तो संहिताधिकार व्यर्थ हो जाएगा। अतः व्यवहित में तो यणादि कार्य प्राप्त ही नहीं है, तब निर्दिष्ट पद वाच्य अव्यवहित अर्थ का कोई प्रयोजन नहीं। इस शंका का समाधान यह है कि जो कार्य संहिताधिकार में नहीं आते उनमें प्रकृत परिभाषा प्रवृत्त होती है और अव्यवहित पूर्व को कार्य की सिद्धि कराती है। व्यवधान का तात्पर्य वर्ण के उच्चारण काल से है। जिस स्थल पर वर्णशून्यकाल का व्यवधान नहीं है वहाँ 'संहितायाम्' से इष्ट सिद्ध हो सकता है अर्थात् वहाँ निर्दिष्ट पद निरर्थक प्रतीत हो सकता है। किन्तु जहाँ वर्णोच्चारणकालकृत व्यवधान है तथापि कार्य अभीष्ट है वहाँ प्रकृत परिभाषा का निर्दिष्ट पद सार्थक है। जैसे - अवग्रह होने पर भी अग्नाविष्णु में आनङादि आदेश हो जाते हैं। (देवताद्वन्द्वे च - ६.३.२६.)

निर्दिष्ट पद का दूसरा प्रयोजन पूर्व शब्द के लिए है । पूर्व पद का प्रयोग लोक में कभी व्यवहित में या कभी अव्यवहित में भी होता है। जिस प्रकार औपश्लेषिक संबंध व्यवहित में भी होता है। जैसे - चटाई पर सोये व्यक्ति को भूमि पर सोया है - ऐसा कह दिया जाता है। शास्त्र में इस प्रकार की अतिव्यवाप्ति के निवारणार्थ नैरन्तर्य वाचक निर्दिष्ट पद आवश्यक है।

सिद्धान्ततः निर्दिष्ट पद और संहिताधिकार दोनों ही निष्प्रयोजन प्रतीत होते हैं। अवग्रह आदि में अर्धमात्रा से अधिक काल का व्यवधान होने पर जो आनङादि कार्यों की सिद्धि हो जाती है उसके लिए ग्रन्थकारों[७] ने 'सम्प्रदाय एव शरणम्' कहकर निर्दिष्ट पद का प्रत्याख्यान कर दिया है। इसी प्रकार अचि आदि में औपश्लेषिक सप्तमी मानने पर व्यवहित पूर्व से उसका उपश्लेषात्मक संबंध ही नहीं हो सकता। इसी उपश्लेष के आधार पर स्वयं भाष्यकार ने 'संहितायाम्[८]' - (६.१.७२.) सूत्र का प्रत्याख्यान किया है।

न्यासकार का मत[९] - निर्दिष्टग्रहण के प्रत्याख्यान की कल्पना को न्यासकार असत् मानते हैं क्योंकि तस्मिन् पद वाच्य अचि (इको यणचि में) औपश्लेषिक अधिकरण का आधार निर्दिष्ट पद ही है। निर्दिष्ट पद के सामर्थ्य से ही अचि आदि अधिकरणों में औपश्लेषिक सम्बन्ध माना जाता है। सूत्र पठित पूर्व शब्द तो व्यवहित में भी प्रयुक्त हो सकता है। पूर्व के बल से पर की निवृत्ति तो संभव है, किन्तु व्यवहित की निवृत्ति तो निर्दिष्ट के कारण ही होती है। निर्दिष्ट पद का दूसरा प्रयोजन उत्तर सूत्र में (तस्मादित्युत्तरस्य - १.१.६७.) में अनुवृत्ति के लिए सार्थक है।

इस प्रकार तस्मिन्निति परिभाषा यथान्यास ही स्वीकार्य होनी चाहिए।

शब्द संकेत

१. ननु तस्मिन्निति शब्दो यत्र निर्दिश्यते-यथा-तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ: तत्रैवायं प्रवर्तेत। गवित्ययमाह इत्यादौ इति शब्देन शब्दस्वरुपस्यैव बोधात्। न च तत्र प्रयोजनाभाव:। हे यौष्माकीण अस्मभ्यं देहि। हे आस्माक युष्मभ्यं ददामि - इत्यादौ खञणभ्यां परस्यादेश-व्यावृत्तेः फलत्वात्। मैवम्। लोके शब्दस्यार्थ परत्वात् इतिना शब्दपरत्व कल्पनात्, व्याकरणे तु शब्दपरत्वात् इतिनाऽर्थ परत्व सिद्धेः। इति करणस्य पदार्थ विपर्यास करत्वात्। तस्मात् सप्तम्यन्तानुकरणमेव तस्मिन्निति। सर्वनाम्ना अचि हलीति विशेषाणां सङ्ग्रहात् तस्यापत्यमितिवत् - सि. सुधानिधि - (१.१.६६.)

२. सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्। - वैशेषिक दर्शन - (१.२.३.)

३. भाष्यकार ने इस प्रसङ्ग में पितापुत्र का दृष्टान्त दिया है। जिस प्रकार एक ही व्यक्ति में जन्य और जनक दो शक्तियों का योग होता है। वही व्यक्ति पुत्र की दृष्टि से पिता और पिता की दृष्टि से पुत्र होता है। उसी प्रकार सामान्य विशेष भाव विवक्षा से उपपन्न होते हैं। 'पिता पुत्रवत्। तद्यथा स एव कंचित् प्रति पिता भवति, कंचित् प्रति पुत्रो भवति। एवमिहापि स एव कंचित प्रति सामान्यम्, कंचित् प्रति विशेषः।' - म. भा. - (१.१.६६.)

४. इस प्रसङ्ग में,न्यासकार के शब्द महत्वपूर्ण हैं - इह सप्तमीनिर्दिष्टे पूर्वस्य तावत् सूत्रं कर्तव्यम् इयतैवाभिलषितार्थ सिद्धेः।........। न हि क्वचिच्छास्त्रे सप्तमी निर्दिष्टः शब्दः श्रूयते, येन स्वरुप ग्रहणमाशङ्क्येत्। सोऽयमल्पेन सूत्रेण सिद्धे यन्महत् सूत्रं करोति तन्महाविषयेयं परिभाषेति सूचनार्थम्।

५. शेखरकार के शब्दों में 'अतएव जनपदे लुप् इत्यादौ न दोषः। न ह्यर्थ उच्चारितो नापि शब्दस्य निरन्तरः। अव्यवहितपूर्वपरान्यतरस्थत्त्वं हि निरन्तरत्त्वम्। अवध्यवधिमतो साजात्यस्यैवौचित्यात्।' - (वृहच्छब्देन्दुशेखर - १.१.६६.)

६. अत एवं कर्तृकर्मणोः कृती ति सूत्रे नैतत्परिभाषाप्रवृत्तिः। कृतीत्यस्य सत्सप्तमीत्वात्। कृति सति प्रत्यासत्या तत्प्रकृत्यर्थ कर्तृकर्मणोः षष्ठीति तदर्थः। इको यणचि इत्यादौ तूपश्लिष्टस्ये त्यध्याहृत्याचि उपश्लिष्येक इत्यन्वयेन न दोष संहितायामिति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। एतेन सत्सप्तम्यामपि किं पूर्वा सत्ता उत परेति सन्देहोऽस्त्येव। परिभाषाया अप्रवृत्तावनियमप्राप्तेश्चेति परास्तम्। - उद्योत - (६.४.२३.)

७. वस्तुतोऽवग्रहे सम्प्रदाय एव शरणम्। संहिताधिकारो निर्दिष्टपदं च विफलमेव, अर्धमात्रकालाधिकव्यवधाने उपश्लेषाभावात्। - वृ. श. शे. - (१.१.६६.)

८. अयं योगः शक्यो ऽवक्तुम् । कथम् ? अधिकरणं नाम त्रिप्रकारं व्यापकमौपश्लेषिकं वैषयिकमिति । शब्दस्य शब्देन कोऽन्योऽभिसम्बन्धो भवितुमर्हत्यन्यदत उपश्लेषात् । इको यणचि - (६.१.७७.) अच्युपश्लिष्टस्येति । तत्रान्तरेण संहिताग्रहणं संहितायामेव भविष्यति। - म. भा. - (६.१.७२.)

९. ननु च अचि इत्यौपश्लेषिकमाधिकरणं विज्ञायते, न च व्यवहितमुपश्लिष्टम् भवति, तत् किमानन्तयर्थिन निर्दिष्ट ग्रहणेन। असदेतत्। असतिं हि निर्दिष्टग्रहण औपश्लेषिकमधिकरणमेव न शक्यं विज्ञातुम् । यस्मात् पूर्वशब्दो व्यवहिते ऽपि वर्तमानः परस्यैव निवृत्तिं करोति न व्यवहितपूर्वस्यापि । निर्दिष्टग्रहणे तु सति सप्तम्या औपश्लेषिकाधिकरणाभिधायिन्याः प्रत्यासतिरुपादीयते । सा च पूर्व शब्देन न निवर्त्त्यते पर निवृत्तिरेव क्रियत इत्येषोऽर्थो लभ्यते। तेन व्यवहितस्य कार्य न भवति। उत्तरार्थश्च निर्दिष्ट ग्रहणं कर्तव्यमेव।

- न्यास - (१.१.६६.)

❀❀❀

तस्मादित्युत्तरस्य
(१.१.६७)

सूत्रार्थ - पञ्चमी निर्देश के द्वारा विधीयमान कार्य वर्णान्तर से अव्यवहित पर को होता है। (पञ्चमी निर्देशेन क्रियमाणं कार्य वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम् - सि.कौ.) उदाहरणार्थ तिङतिङः - (८.१.२८.) सूत्र अतिङ् पञ्चम्यन्त निर्देश है अतः अतिङ् के परे तिङ्को निघात होता है और 'अग्निमीळे' रुप सिद्ध होता है। अतिङन्त के पूर्व में तिङन्त हो तो उसे निघात नहीं होगा। जैसे - ईळेऽग्निम्।

तस्मात् पद की व्याख्या - तस्मात् सर्वनाम के द्वारा पञ्चम्यर्थ का अनुकरण विवक्षित है जिस प्रकार पूर्व सूत्र में तस्मिन्० के द्वारा अभीष्ट था। यह पञ्चमी दिग्योग लक्षणा पञ्चमी है, कारक पञ्चमी नहीं है। दिशा वाचक उत्तर शब्द के द्वारा पूर्व शब्द का अध्याहार होता है। यह पूर्व व्यवहित भी हो सकता है जिसके नियमन हेतु परिभाषारम्भ है। पूर्व सूत्र से निर्दिष्ट पद की अनुवृत्ति होती है, जो तस्मात् के साहचर्य से पञ्चम्यन्त 'निर्दिष्टात्' में विपरिणमित होकर सूत्रार्थ निष्पन्न करती है। निर्दिष्ट पद से अव्यवहित पूर्व का बोध होता है। यदि केवल पूर्व में पञ्चमी निर्दिष्ट कार्य होते तो उदस्थात् या उत्संस्थाता आदि प्रयोगों में 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्यः' - (८.४.६१.) सूत्र की प्रवृत्ति हो जाती और विकृत रुप सिद्ध हो जाते।

तस्मात् पद से पञ्चम्यर्थ का ही बोध होता है। यदि यहाँ 'स्वं रूपं०' के अनुसार 'तस्मात्' इस वर्णानुपूर्वी का ही ग्रहण करें अथवा शब्दानुकरण पक्ष माने तो यह परिभाषा मात्र 'तस्मान्नुडचि' - (६.३.७४.) या 'तस्मान्नुड् द्विहलः' - (७.४.७१.) में ही प्रवृत्त होती। अन्यत्र जहाँ पञ्चम्यन्त निर्देश है, जैसे - 'द्वयन्त रुपसर्गेभ्यो अपईत्' - (६.३.९७.) या 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' - (८.४.६१.) में प्रवृत्त न हो पाती। तस्मात् पद को पञ्चम्यर्थ का बोधक मानने पर सर्वत्र परिभाषा सूत्र की प्रवृत्ति हो जाती है और अभीष्ट अर्थ की निष्पत्ति होकर लक्ष्य सिद्धि हो जाती है।

सूत्र का प्रयोजन - इको यणचि आदि सूत्रों में जिस प्रकार 'अचि' सप्तम्यन्त निमित्त का उच्चारण करते ही यह सन्देह उपस्थित होता है कि अच् से पूर्व में कार्य हो अथवा पर में। उसी प्रकार विधि सूत्रों में उच्चरित पञ्चम्यन्त पद से भी सन्देह उपस्थित हो सकता है। लोक में जिस प्रकार ग्रामाद् देवदत्तः कहने पर यह सन्देह उपस्थित होता है कि ग्राम से पूर्व में देवदत्त है या ग्राम से पर में ? शास्त्र में इसी प्रकार उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य में पञ्चम्यन्त उदः पद से यह संदेह उपस्थित हो सकता है कि उद् के परवर्ती स्था और स्तम्भ का पूर्वसवर्ण करना है अथवा उद् के पूर्ववर्ती स्था और स्तम्भ को पूर्व सवर्ण करना है ? इसी प्रकार तिङ तिङ सूत्र में भी तिङन्त भिन्न पद से सम्बद्ध तिङन्त पर को अनुदात्त कहा गया है। इसमें अतिङन्त पद के पूर्ववर्ती तिङन्त को अनुदात्त हो अथवा परवर्ती तिङन्त को, यह निश्चय नहीं होता। इस अनिश्चय या अनियम के निवारणार्थ प्रकृत परिभाषारम्भ है। परिभाषा के अनुसार अतिङन्त पद के पर में रहने वाले तिङन्त को ही अनुदात्त होता है। इस प्रकार यह भी नियमार्थक परिभाषा है।

विप्रतिषेध - तस्मिन्निति० और तस्मादिति० सूत्र के पृथक्-पृथक् उदाहरण स्पष्ट करने के पश्चात् - कतिपय स्थलों पर दोनों परिभाषा सूत्रों की युगपत् प्राप्ति दृष्टिगत होती है। ऐसे स्थलों पर सप्तम्यन्त निर्देश को निमित्त मानकर उससे पूर्व में कार्य किया जाए अथवा पञ्चम्यन्त को निमित्त मानकर उससे पर को कार्य किया जाए यह सन्देह उपस्थित होता है। इस संदेहयुक्त विप्रतिषेध की स्थिति में 'विप्रतिषेधे परम् कार्यम्' - (१.४.२.) इस नियम सूत्र के अनुसार पर सूत्र से अर्थात् 'तस्मादिति०' - (१.१.६७.) से ही कार्य करना चाहिए।

उभय निर्देश पञ्चमी निर्देशो बलीयान् - उपर्युक्त विप्रतिषेध में पञ्चमी निर्देश को बली मानकर भाष्यकार उसके प्रयोजनों को वार्तिको के द्वारा भाष्य में उद्धृत करते हैं, जो इस प्रकार हैं -

१. प्रयोजनमतो ल सार्वधातुकानुदात्तत्वे - तास्यनुदात्तेत् - (६.१.१८६.) सूत्र में 'ल सार्वधातुके' इस सप्तम्यन्त पद का उपसंख्यान किया गया है। इसके फलस्वरुप दो प्रकार से सूत्रार्थ निष्पन्न होता है - (क) तस्मादिति० के अनुसार तासि आदि प्रत्ययों से परे ल सार्वधातु को अनुदात्त होता है। (ख) तस्मिन्निति० के अनुसार ल सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते तासि आदि प्रत्ययों को अनुदात्त होता है।

इनमें पञ्चमी निर्देश को बली मानने पर तस्मादिति० के अनुसार तासि आदि प्रत्ययों के परे ल सार्वधातुक को अनुदात्त होकर इष्ट सिद्धि होती है।

२. बहोरिष्ठादीनामादि लोपे - 'बहोर्लोपोभू च बहो' - (६.४.१५८.) सूत्र में बहोः पञ्चम्यन्त है। पूर्व सूत्र से अनुवृत्त 'इष्ठेमेयस्सु' सप्तम्यन्त है। पञ्चम्यन्त निमित्त मानने पर बहु शब्द से परे 'इष्ठन्, इमनिच्' और 'ईयसन्' का लोप होगा। सप्तम्यन्त पद को निमित्त मानने पर इष्ठन् आदि के परे रहते पूर्ववर्ती 'बहु' का लोप प्राप्त है। विप्रतिषेध में पञ्चमी को बली मानने पर बहु से परे ईष्ठन् के आदि का लोप (आदेः परस्य - १.१.५४.) हो जाता है और इष्ट रुपों की सिद्धि हो जाती है।

३. गोतो णित् - (७.१.९७.) सूत्र में गोतः पञ्चमी है और अनुवृत्त पद सर्वनाम स्थाने - (७.१.८६. से अनुवृत्त) सप्तम्यन्त है। सप्तम्यन्त सर्वनाम स्थाने को निमित्त मानने पर गो शब्द को णिद्वद् भाव होता है और पञ्चमी को निमित्त मानते हैं, तब सर्वनाम स्थान संज्ञक प्रत्यय को णिद्वद् भाव होता है। पञ्चमी निर्देश बली होने से सर्वनाम स्थान संज्ञक प्रत्यय ही णिदवत् हो जाता है।

४. रुदादिभ्यः सार्वधातुके - (७.२.७६.) सूत्र में पठित 'रुदादिभ्यः' इस पञ्चमी के आधार पर रुदादि धातुओं से परे सार्वधातुक प्रत्यय को इडागम प्राप्त होता है। 'सार्वधातुके' के सप्तमी निर्देश के अनुसार उसके परे रहते पूर्ववर्ती रुदादि धातुओं को इडागम प्राप्त है। पञ्चमी निर्देश बली होने से सार्वधातुक प्रत्यय को इडागम होकर अभीष्ट रुप सिद्ध होते हैं और रोदिति आदि रुप सिद्ध होते हैं।

५. ईदासः - (७.२.८३.) - सूत्र में आसः पञ्चम्यन्त है और इसी सूत्र में आने मुक् - (७.३.८२.) से अनुवृत्त आने सप्तम्यन्त पद है। दोनों में पञ्चमी निर्देश के बली होने से आस् धातु से पर

आन प्रत्यय को ईत्त्व हो जाता है और आसीनः रुप सिद्ध होता है।

६. आमि सर्वनाम्नः सुट् - (७.१.७२.) सूत्र में सप्तम्यन्त आमि को निमित्त मानकर उसके पूर्व सर्वनाम को सुट् आगम प्राप्त है अथवा पञ्चम्यन्त सर्वनाम को निमित्त मानकर उससे परवर्ती आम् प्रत्यय को सुट् प्राप्त है। दोनों निमित्तों में से पञ्चमी निमित्त बली होने से सर्वनाम से परे आम् प्रत्यय को सुट् होकर सर्वेषाम् रुप सिद्ध होता है।

७. आण्नद्याः - (७.३.११२.) सूत्र में नद्याः पञ्चम्यन्त निमित्त है और घेर्ङिति - (७.३.१११.) से अनुवृत्त ङिति सप्तम्यन्त निमित्त है। पञ्चम्यन्त निमित्त बली मानने से नदी संज्ञक से परे ङित् प्रत्यय को आडागम होता है तथा नद्यै आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं।

८. याडापः - (७.३.११३.) सूत्र में पञ्चम्यन्त आपः को निमित्त माना जाए अथवा सप्तम्यन्त ङिति को निमित्त माना जाए ? इस सन्देह की स्थिति में पञ्चमी निर्देश बली मानने पर रमायै आदि अभीष्ट रुप सिद्ध होते हैं।

९. ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् - (८.३.३२१.) इस सूत्र में ङमः पञ्चम्यन्त पद है और अचि सप्तम्यन्त है। पञ्चम्यन्त पद को निमित्त मानने पर तस्मादिति० परिभाषा उपस्थित होगी और यदि सप्तम्यन्त निमित्त मानते हैं तब तस्मिन्निति० की प्रसक्ति होगी। दोनों पभिाषा सूत्रों की युगपत् उपस्थिति होने पर विप्रतिषेधे० न्याय से पञ्चमी निर्देश बली होता है तथा ङमन्त से परे अच् को ङमुट् आगम सिद्ध होता है।

पञ्चमी निर्देश की निरवकाशता - उपर्युक्त सूत्रों में पञ्चमी और सप्तमी का युगपत् निर्देश होने से विप्रतिषेध का प्रसङ्ग उपस्थित है। वस्तुतः विप्रतिषेध तब उपस्थित होता है जब दो सूत्रों में तुल्य बल विरोध होता है। पूर्वोक्त समस्त सूत्रों में तुल्य बल विरोध दृष्टिगत नहीं होता। इन सभी सूत्रों में पठित सप्तम्यन्त पद निरवकाश नहीं है, उसे अन्यत्र चरितार्थता है। जैसे - 'ल सार्वधातुके' में निर्दिष्ट सप्तमी का उपयोग 'आदि सिचोऽन्यतरस्याम्' - (६.१.१८७.) में होता है। इस सूत्र में सिजन्त के आदि को ल सार्वधातुक के परे उदात्त होता है।

तुरिष्ठेमेयस्सु - (६.४.१५४.) में 'इष्ठेमेयःसु' इस सप्तमी का उपयोग हो जाता है। 'गोतोणित्' सूत्र में अनुवृत्त सर्वनाम स्थाने की उपयोगिता 'इतोऽत् सर्वनाम स्थाने' - (७.१.८६.) इस पूर्व सूत्र में है। 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' - (७.२.७६.) में पठित सप्तम्यन्त सार्वधातुके का प्रयोजन 'लिङः स लोपो ऽनन्त्यस्यं' - (७.२.२९.) सूत्र में सिद्ध हो जाता है। ईदासः सूत्र में अनुवृत्त आने पद को 'आनेमुक्' - (७.२.८२.) सूत्र में चरितार्थता है। आमि सर्वनाम्नः सुट् सूत्र में सप्तम्मयन्त आने पद आगामी सूत्र 'त्रेस्त्रयः' - (७.१.७३.) में सार्थक होता है। 'ङिति' इस सप्तम्यन्त पद की उपयोगिता घेर्ङिति में सिद्ध ही है। 'ङमो ह्रस्वादचि०' सूत्र में पठित अचि पद 'मय उञो वो वा' - (८.३.३३.) में अनुवृत्त होता है और अच् के परे मय् परक उञ् को व होता है।

इस प्रकार भाष्य वार्तिक में निर्दिष्ट सभी सूत्रों में सप्तम्यन्त पद को पृथक्-पृथक् चरितार्थता है। जबकि उन सूत्रों में पठित पञ्चम्यन्त पद को अन्यत्र कहीं भी चरितार्थता नहीं है अतः सप्तमी निर्देश और पञ्चमी निर्देश दोनों को तुल्य बल नहीं माना जा सकता। इस प्रकार पञ्चमी निर्देश को परत्त्वात् बाधक कहना अयुक्त है। हाँ अनवकाशत्वात् पञ्चमी निर्देश को सप्तमी का बाधक अवश्य कहा जा सकता है। भाष्यकार के शब्दों में **'विभक्तिविशेष निर्देशानवकाशत्वादविप्रतिषेधः' - (भा. वा. - १३.)**

इस वार्तिक का आशय भाष्य के शब्दों में इस प्रकार है - विभक्तिविशेष निर्देशस्यानवकाशत्वादयुक्तोऽयं विप्रतिषेधः। सर्वत्रैवात्र कृत सामर्थ्या सप्तम्यकृतसामर्थ्या पञ्चमीति कृत्वा पञ्चमी निर्देशो भविष्यति।

एकदेशी भाष्य - इस प्रसङ्ग में भाष्यकार ने किसी अन्य आचार्य का मत उद्धृत किया है जिसे टीकाकारों ने एकदेशी का प्रौढ़िवाद कहा है। "भाष्ये एकदेशी प्रौढ्याह यथार्थ वा षष्ठी निर्देशः" - (प्रदीप) एकदेशी के कथन का तात्पर्य है कि विधि सूत्रों में ऐसी व्यवस्था की जाए जिससे वास्तविक स्थानी का बोध हो जाए। अभीष्ट सिद्धि के लिए सप्तमी और पञ्चमी निर्देश की युगपत् प्रवृत्ति में विप्रतिषेध मानना अथवा अनवकाशकृत सामर्थ्य से पञ्चमी निर्देश को सप्तमी का बाधक मानना - ये दोनों युक्तियाँ समीचीन नहीं हैं। विधि सूत्रों में जहाँ सप्तमी निर्देश हो वहाँ उस सप्तमी निर्देश के पूर्ववर्ती को कार्य अभीष्ट होता है अतः उस पूववर्ती में षष्ठी विभक्ति का निर्देश करना चाहिए। जहाँ विधि सूत्रों में पञ्चम्यन्त निमित्त हो वहाँ पञ्चम्यन्त से परवर्ती में षष्ठी विभक्ति का निर्देश करना चाहिए। इस प्रकार सप्तम्यन्त निमित्त होने से उससे पूर्व में स्थानित्व होगा और पञ्चम्यन्त निमित्त होने पर उससे पर में स्थानित्व का बोध हो जाएगा। इस व्यवस्था से स्थानित्व का सन्देह ही उपस्थित नहीं होगा।

इस स्थिति में दोनों परिभाषा सूत्रों का स्वरुप कुछ इस प्रकार होगा - तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य षष्ठी और तस्मादित्युत्तरस्य षष्ठी। दोनों सूत्रों में षष्ठी पद के उच्चारण से गौरव की आपत्ति होगी, ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए। सूत्रों में पृथक् से षष्ठी ग्रहण की आवश्यकता नहीं है। पूर्व सूत्र "षष्ठी स्थाने योगा" से षष्ठी पद की अनुवृत्ति कर उक्त अर्थ की सिद्धि हो सकती है।

संक्षेप में दोनों परिभाषा सूत्र षष्ठी प्रक्लृप्ति कारक सूत्र कहे जाएँगे।

षष्ठी प्रक्लृप्ति पक्ष में दोष - उपर्युक्त व्यवस्था के अनुसार दोनों परिभाषा सूत्र षष्ठी विभक्ति की कल्पना करने वाले सूत्र कहे जाएँगे और उस स्थिति में इन परिभाषासूत्रों का नियामकत्व या परिभाषात्व बाधित हो जाएगा।

षष्ठी प्रक्लृप्ति पक्ष में दूसरा दोष यह आ सकता है कि "गुप् तिज्किद्भ्यः सन्" - (३.१.५.) इत्यादि सन् प्रत्यय विधायक सूत्रों में "गुप् तिज्किद्भ्यः" इस पञ्चमी निर्देश के कारण प्रकृत नियम प्रसक्त हो जाएगा। इसके परिणाम स्वरुप सम्पूर्ण सूत्र का अर्थ होगा - गुप्-तिज् और कित् धातुओं से विहित सन् के स्थान पर कार्य होता है। इस प्रकार सन् में षष्ठी प्रक्लृप्ति हो जाएगी। अब प्रश्न यह है कि सन् के स्थान पर आदेश होता है कहने मात्र से किसी भी आदेश की प्रतीति नहीं होती क्योंकि अन्य कोई आदेश यहां

दृष्टिगत नहीं हो रहा है। स्थाने ऽन्तरतमः - (१.१.५०.) की सहायता से सन् के स्थान पर सन् आदेश ही प्राप्त होगा। यहाँ सन् के स्थान सन् आदेश होने पर कोई विकृति या अनुपपत्ति नहीं है तथापि आदिष्ट सन् के नकार की इत् संज्ञा नहीं हो पाएगी क्योंकि इत् संज्ञा उपदेशावस्था के अन्तिम हल् की ही (हलन्त्यम् - १.३.३. सूत्र से) होती है। यह विधीयमान अथवा आदिश्यमान सन् औपदेशिक नहीं है।

इसी प्रकार इको यणचि सूत्र में सप्तम्यन्त अचि के पूववर्ती यण् में षष्ठी प्रक्लृप्ति हो जाएगी और प्रथमान्त यण् के स्थान पर षष्ठ्यन्त यणः का पाठ हो जाएगा। इकः पद सूत्र में षष्ठ्यन्त उच्चरित है ही अब यणः भी षष्ठ्यन्त हो गया। ये दोनों षष्ठ्यन्त होने से इनमें स्थानी कौन और आदेश कौन ? इसका निर्धारण नहीं हो पाएगा।

तीसरा दोष ऐसे विधि सूत्रों में उपस्थित होगा जहाँ सप्तम्यन्त और पञ्चम्यन्त दोनों निर्देश युगपत् हैं। इन सूत्रों में सप्तमी निर्देश के बल पर पूर्व में षष्ठी की कल्पना होगी और पञ्चमी निर्देश के सामर्थ्य से पर में षष्ठी कल्पित होगी। उदाहरणार्थ - तास्यनुदात्तेङ्दिदुपदेशात् - (६.१.८६.) सूत्र में "अदुपदेशात्" पञ्चम्यन्त है। तस्मादिति० के सामर्थ्य से "ल सार्वधातु" इस सप्तम्यन्त में षष्ठी की कल्पना करनी पड़ेगी। दूसरी ओर "ल सार्वधातुके" सप्तम्यन्त है। तस्मिन्निति० के अनुसार "अदुपदेशात्" इस पञ्चम्यन्त पद को षष्ठ्यन्त मानना पड़ेगा तथा "तास्यनुदात्तेन्ङिदुपदेशस्य" इस प्रकार सूत्र पाठ हो जाएगा। दोनों में षष्ठी की प्रकल्पना होने से दोनों कार्यी (स्थानी) हो जाएँगे और सूत्र विहित कार्य दोनों को हो जाएगा।[१]

एकदेशी द्वारा दोषों का निवारण - षष्ठी प्रकल्पना पक्ष में सर्व प्रथम यह अनुपपत्ति प्रदर्शित की गई थी कि इस पक्ष में दोनों परिभाषाओं का नियामकत्व बाधित हो जाएगा। वस्तुतः सप्तमी निर्देश होने पर पूर्व में षष्ठी की कल्पना करने से यह निश्चित हो जाता है कि पर में षष्ठी नहीं होगी। इसी प्रकार पञ्चमी निर्देश में पर में षष्ठी की कल्पना होने से यह सिद्ध है कि पूर्व में षष्ठी कल्पना नहीं होगी। यही इन सूत्रों की नियम रूपता है।

दूसरा दोष प्रत्यय विधि विषय में प्रदर्शित किया गया है। इसके अनुसार "गुप् तिज् किद्भ्यः" में पञ्चमी निर्देश होने से प्रथमान्त सन् में षष्ठी की कल्पना होगी। षष्ठ्यन्त सन् के स्थान पर आन्तर्य से सन् आदेश होगा। इस आदिष्ट सन् में नकार की इत् संज्ञा न हो पाएगी यह औपदेशिक नकार नहीं है। इस दोष के निवारणार्थ भाष्यकार की यह युक्ति है कि सन् प्रत्यय में अन्तिम नकार को प्राप्त इत् संज्ञा (हलन्त्यम्) किसी आदेश की प्रतीक्षा किये बिना तत्काल सम्पन्न हो जाती है। इत् संज्ञा अन्तरङ्ग होने के कारण पहले इत् संज्ञा और लोप होता है तथा मात्र सकार के स्थान पर सकार आदेश होता है। इस प्रकार षष्ठी प्रक्लृप्ति पक्ष में दोष का निरसन हो जाता है।

वस्तुतः "गुप् तिज् किद्भ्यः०" सूत्र में सन् प्रत्यय में षष्ठी की कल्पना करना ही असंगत है। सन् प्रत्यय में षष्ठी प्रक्लृप्ति तब संभव है जब सन् का अस्तित्त्व हो गुपतिज्० सूत्र से गुप् तिज् और कित् धातुओं में सन् प्रत्यय का विधान होता है। प्रत्यय का विधान गुप्तिज्० की पञ्चमी के सामर्थ्य से ही सिद्ध होता है। पञ्चम्यन्त के बल पर सन् प्रत्यय की उत्पत्ति होती है, अतः पञ्चमी का समर्थ्य सन् प्रत्यय की

उत्पत्ति में समाप्त हो जाता है। पुनः उसी पञ्चमी के बल पर प्रथमान्त सन् में षष्ठी की कल्पना कहाँ तक न्याय संगत है ?

इको यणचि इत्यादि आदेश विधायक सूत्रों में षष्ठ्यन्त इकः पद पठित है। सप्तम्यन्त अचि के कारण यण् में षष्ठी की कल्पना से यणः भी षष्ठ्यन्त हो जाएगा। इस प्रकार इकः और यणः दोनों षष्ठ्यन्त होने से स्थानी बन जाएँगे और स्थानी तथा आदेश भाव में अव्यवस्था हो जाएगी - यह आशंका भी निर्मूल है। सूत्रकार ने मूलरुप से षष्ठ्यन्त इकः पद का उच्चारण किया है जो स्थानी का बोधक है। (षष्ठी स्थाने०) प्रथमान्त यण् पद के उच्चारण से आदेश का भी स्पष्ट संकेत है अतः इस सूत्र में किसी प्रकार का अनिश्चय अथवा संदेह विद्यमान नहीं है तब परिभाषा प्रवृत्ति का कोई औचित्य नहीं है। विधि सूत्र में जब षष्ठी दृष्टिगोचर नहीं होती तब स्थानी का निर्धारण न होने से षष्ठी प्रक्लृप्ति के लिए प्रकृत परिभाषा की आवश्यकता होती है। इकोयणचि में इसकी आवश्यकता नहीं है। सूत्र पठित षष्ठ्यन्त इकः पद का अव्यवहित पूर्व के साथ संबंध स्थापित करने का कार्य अवश्य परिभाषा के द्वारा किया जाता है।

यदि इको यणचि सूत्र सप्तम्यन्त अचि पद के आधार पर षष्ठी प्रक्लृप्ति हो भी गई तो भी कोई अनुपपत्ति न होगी। इकः तो षष्ठ्यन्त है ही - यण् में षष्ठी की कल्पना होने पर यण् के स्थान पर आन्तर्य नियम से यण् ही आदेश होगा और इस प्रकार किसी दोष की संभावना नहीं होगी।

षष्ठी प्रक्लृप्ति पक्ष में अन्तिम अनुपपत्ति उस स्थल पर प्रस्तुत की गई जहाँ विधि सूत्रों में सप्तमी और पञ्चमी दोनों निर्देश हैं। ऐसे स्थल पर सप्तमी के बल पर पञ्चमी में षष्ठी प्रकल्पना होगी और पञ्चमी निमित्त के आधार पर सप्तमी में षष्ठी प्रकल्पना होगी। इस प्रकार अनिष्ट की आपत्ति होगी। इस आशंका का समाधान आचार्य पाणिनि के एक सूत्र द्वारा संभव है। "एकः पूर्वरयोः" - (६.१.८४.) सूत्र में पूर्व और पर को युगपत् एकादेश की सिद्धि के उद्देश्य से षष्ठ्यन्त "पूर्वपरयोः" शब्द पठित है। यदि एक ही सूत्र में पञ्चम्यन्त और सप्तम्यन्त निर्देश होने पर दोनों को युगपत् षष्ठी की प्रक्लृप्ति संभव होती तो सूत्रकार एकः पूर्वपरयोः में पूर्वपरयोः शब्द का उच्चारण नहीं करते। आद्गुणः - (६.१.८७.) सूत्र में पञ्चम्यन्त आत् पद के सामर्थ्य से अचि में षष्ठी की कल्पना हो जाती और अचि के बल से आत् में षष्ठी होगी। इस प्रकार पूर्व (आत्) और पर (अचि) दोनों षष्ठ्यन्त होने से स्थानी होते और दोनों के स्थान पर एकादेश सिद्ध हो जाता। इस स्थिति में पूर्वपरयोः पद व्यर्थ हो जाता। अतः व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि सप्तमी और पञ्चमी को एक साथ षष्ठी प्रक्लृप्ति नहीं होती।[२] (कार्यित्व निमित्तत्वयोर्युगपदेकस्मिन्नसंभवात् - व्या. सि. सु. नि.। इसी अर्थ में नागेश भट्ट ने - कार्यमनुभवन् हि कार्यी निमित्ततया नाश्रीयते परिभाषा कही है।)

निष्कर्षतः यह सिद्ध होता है कि उभय निर्देश में उभय को षष्ठी प्रक्लृप्ति नहीं होती किन्तु जो निर्देश अनवकाश है वह अपने अनवकाशत्व रुप सामर्थ्य से इतर में षष्ठी की कल्पना करता है। जैसे[३] "आनेमुक्" सूत्र में पठित "आने" यह सप्तमी निरवकाश है। इसी सूत्र में अनुवृत्त अतः पञ्चमी अतो येयः - (७.२.८०.) सूत्र में सावकाश है। निरवकाशत्वात् आने - सप्तमी अपने पूर्ववर्ती अतः में षष्ठी की कल्पना करती है, जिसके फलस्वरुप अकार को स्थानी मानकर मुमागम की सिद्धि हो जाती है। इसी अनवकाशता के आधार पर पूर्वोक्त सभी सूत्रों में षष्ठी प्रक्लृप्ति कर इष्ट व्यवस्था की जा सकती है।

क्वचित् स्थलों पर निरवकाश होने पर भी षष्ठी प्रक्लृप्ति के उदाहरण प्राप्त होते हैं। जैसे "छे च" सूत्र की सप्तमी (छे पद में) आगामी सूत्रों में (दीर्घात् पदान्ताद्वा में) अनुवृत्त है और छे च में सावकाश है तथापि दीर्घात् पदान्ताद्वा सूत्रों में आकर वह षष्ठी की प्रकल्पना करती है और दीर्घ को तुक् तथा पदान्त के दीर्घ को विकल्प से तुक् करती है। इसका कारण यह है कि इस सप्तमी में स्वरितत्त्व है। स्वरितत्त्व के बल से उसमें निरवकाशत्व मानकर उससे पूर्व में षष्ठी की कल्पना की जाती है। न्यासकार के शब्दों में - "इह तु दीर्घात्, पदान्ताद्वा इति यद्यपि छे च इति सप्तमी पूर्वसूत्रे सावकाशा तथापि तस्याः स्वरितत्त्वात् पूर्वयोगादनुवृत्ताया निरवकाशत्वम्। अतः सा च सप्तमी पञ्चम्याः षष्ठीत्वं प्रकल्पयिष्यति। पञ्चमी तु पौर्वापर्य प्रकल्प्य सावकाशा निवर्तते।"

व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधिकार इस स्थल पर छादसव्यत्ययात् कहकर दीर्घात् को षष्ठी स्थानीय पञ्चमी मानते हैं।

सार्वधातुके यक् - (३.१.६७.) सूत्र में सप्तमी निरवकाश होने पर भी सावकाश रहने वाली "धातोः" की पञ्चमी को षष्ठी की प्रक्लृप्ति नहीं करती। यदि धातोः में षष्ठी की प्रकल्पना करते हैं तब यणादेश धातु के स्थान पर हो जाएँगे और इस स्थिति में परश्च - (३.१.२.) का अधिकार व्यर्थ हो जाएगा। धातु से विहित ये प्रत्यय धातु से पर अभीष्ट हैं, धातु के स्थान पर अभीष्ट नहीं। इसी प्रकार यक् प्रत्यय का कित्करण भी व्यर्थ हो जाएगा। अतः सार्वधातुके यक् सूत्र की सप्तमी से धातोः में षष्ठी की प्रकल्पना नहीं होती, वरन् परश्च के अधिकार में होने से यगादि आदेश धातु से पर ही होंगे।

❀❀❀

शब्द संकेत

१. तास्यनुदात्तेत्० - (६.१.१८६.) सूत्र में वार्तिककार ने तास्यादिभ्योऽनुदात्तत्वे सप्तमी निर्देशोऽभ्यस्तसिजर्थः वार्तिकारम्भ किया है। इस वार्तिक के अनुसार सूत्र पठित "लसार्वधातुकम्" इस प्रथमान्त पद के स्थान पर "ल सार्वधातुके" इस सप्तम्यन्त पाठ का उपसंख्यान किया है। इस सप्तम्य पाठ से उपर्युक्त सन्देह उपस्थित होता है।

२. महाभाष्य के टीकाकार कैयट के शब्दों में -
"सूत्रद्वय प्रमाणत्वात् द्वे भवेतां प्रकल्पिके,
षष्ठ्या विभक्ती तेनात्र ज्ञापनार्थत्वमाश्रितम्। - एकः पूर्वपरयोः - ६.१.८४."

३. ईदासः सूत्र में आसः की पञ्चमी निरवकाश है। इसी सूत्र में अनुवृत्त सप्तम्यन्त आने पद सावकाश है, अतः "निरवकाशत्वात्" पञ्चम्यन्त आसः के द्वारा आने में षष्ठी प्रक्लृप्ति होगी। तास्यनुदात्तेत्० सूत्र में सार्वधातुके की सप्तमी सावकाश है और तासः की पञ्चमी से षष्ठी प्रक्लृप्त होगी। आमि सर्वनाम्नः सुप् में पञ्चमी (सर्वनाम्नः) सावकाश है क्योंकि आज्ञसेरसुक् सूत्र में उसकी अनुवृत्ति होती है। अतः निरवकाश सर्वनाम्नः इस पञ्चमी के द्वारा षष्ठी प्रक्लृप्ति होती है और सर्वनाम के परे आम् प्रत्यय को सुट् का आगम होकर सर्वेषाम् आदि रूप सिद्ध होते हैं।

अचश्च
(१.२.२८.)

सूत्रार्थ - ह्रस्व, दीर्घ या प्लुत शब्दों के द्वारा जहाँ विधि सूत्रों में क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ या प्लुत का विधान किया जाता है उन विधि सूत्रों में षष्ठ्यन्त अचः पद की उपस्थिति होती है। अर्थात् ह्रस्व, दीर्घ या प्लुत शब्दों के द्वारा विहित ह्रस्वादि आदेश अच् के स्थान पर होते हैं। उदाहरणार्थ - ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य - (१.२.४७.) सूत्र से विहित ह्रस्व, अच् के स्थान पर होकर शोभना नौर्यस्मिंस् तत् सुनु कुलम्, गोः समीपम् उपगु आदि रुप सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार अकृत् सार्वधातुकयोर्दीर्घः - (७.४.२५.) सूत्र से विहित दीर्घ, अच् के स्थान पर होता है और क्षीयात् रुप सिद्ध होता है। "प्रत्यभिवादेऽशूद्रे" - (८.२.८३.) सूत्र से शूद्र भिन्न का प्रत्यभिवादन करते समय वाक्य की टि को प्लुत किया गया है। यह प्लुत आदेश टि में विद्यमान अच् के स्थान पर होता है और आयुष्मान् भव इन्द्रवर्मद्रन् प्रयोग सिद्ध होता है।

स्थानी नियमार्था परिभाषा - इको गुणवृद्धी परिभाषा के समान यह परिभाषा भी स्थानी विषयक नियम का प्रतिपादन करती है। (परिभाषेयं स्थानि नियमार्था - काशिका) स्थानि नियामक होने के कारण यह परिभाषा तत्तत् विधि प्रदेशों में प्रवृत्त होती है। जैसे - "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य" सूत्र में उपस्थित होकर सूत्र पठित षष्ठ्यन्त स्थानी (प्रातिपदिकस्य) के साथ अन्वित होती है। विधिसूत्र के साथ अन्वित होते समय दो पक्षों की उद्भावना होती है। जिस प्रकार इको गुणवृद्धी परिभाषा भी स्थानिनियामक होने से उसके संबंध में दो पक्ष उपस्थापित किये गए थे, उसी प्रकार अचश्च के सम्बन्ध में भी दो पक्ष उपस्थित होते हैं। प्रथम् पक्ष तच्छेष है जिसमें अचश्च को अलोऽन्त्यस्य का शेषांश माना जाता है। दूसरे पक्ष में अचश्च को अलोऽन्त्यस्य का अपवाद माना जाता है, यह तदपवाद पक्ष है।

तच्छेष और तदपवाद - तच्छेष पक्ष में अलोऽन्त्यस्य और अचश्च दोनों सूत्रों में एकवाक्यता होती है और तब अर्थ बोध होता है कि सभी विधियाँ अन्तिम अल् को होती हैं, ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत कार्य भी अन्तिम अच् के स्थान पर होते हैं। तदपवाद पक्ष में अचश्च सूत्र अलोऽन्त्यस्य का अपवाद माना जाएगा और दोनों सूत्रों से पृथक्-पृथक् अर्थ बोध होगा। जैसे - अलोऽन्त्यस्य सूत्र के अनुसार सभी कार्य अन्तिम अल् के स्थान पर होते हैं, किन्तु ह्रस्व, दीर्घ या प्लुत कार्य अच् के स्थान पर ही होते हैं, यह अच् चाहे अन्त्य हो अथवा अनन्त्य।

उपर्युक्त दोनों पक्षों में से यदि तच्छेष पक्ष को स्वीकार करते हैं तब कतिपय अनुपपत्तियाँ दृष्टिगत होती हैं। उदाहरणार्थ - वच्, प्रच्छ धातुओं से क्विप् प्रत्यय (वचिप्रच्छ्यायतस्तुकट्प्रु जुश्रीणां दीर्घश्च - २.१.७८., वार्तिक - २) और धातु के अच् को दीर्घ होकर वाक्, प्राट् रुप सिद्ध होते हैं। तच्छेष पक्ष में (दीर्घ किया जाने वाला) धातु का अच् अन्त में नहीं है अतः उसे दीर्घ प्राप्त नहीं होता। यदि दीर्घ अभीष्ट है तो वार्तिक में स्वतंत्र रुप से "अचः" पद का उच्चारण करना होगा। इसी प्रकार शाम्यति आदि उदाहरणों में "शमामष्टानाम्०" - (७.३.३४.) सूत्र से दीर्घ होता है किन्तु यहाँ भी शम् आदि धातुओं में अन्तिम अच् नहीं होने के कारण "अचश्च" की प्रवृत्ति नहीं होगी और धातु को दीर्घ नहीं हो पाएगा। दीर्घ की सिद्धि के लिए शमामष्टानाम्० सूत्र में भी अचः पद का उच्चारण करना पडेगा।

हन्, गम् धातुओं को "अञ्झनगमाम्" - (६.४.१६.) सूत्र से दीर्घ विहित है किन्तु धातुओं के अन्तिम अच् को सन् के परे दीर्घ विधान (तच्छेष पक्ष में) प्रस्तावित होने से हन्,गम् में दीर्घ नहीं हो सकता क्योंकि इनमें अन्त में अच् नहीं है। ये हलन्त धातुएँ हैं। इन उदाहरणों में दीर्घ की सिद्धि के लिए अच: पद का उच्चारण करना होगा। तभी जिघांसति, जिगांस्यते रुपों की सिद्धि हो सकती है। (ह्रस्वादि विधिरलोन्त्यस्येति चेद्वचि प्रच्छिशमादिप्रभृतिहनिगमिदीर्घेष्वज्ग्रहणम् - १.२.२८., वा. - १.)

तच्छेष पक्ष में उपर्युक्त दोषों की सम्भावना के कारण यदि तदपवाद पक्ष को स्वीकार करें तो अचश्च का अर्थ होगा - ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत कार्य अच् के स्थान पर ही होते हैं, वह अच्, अन्त्य हो या अनन्त्य। इस पक्ष में वाक्, प्राट्, शाम्यति, जिघांसति आदि प्रयोगों में इष्ट सिद्धि हो जाएगी किन्तु अन्यत्र दोष की प्रसक्ति होगी, जैसा कि भाष्यकार लिखते हैं -

"अचश्चेन्नपुंसकह्रस्वाकृत् सार्वधातुक नामि दीर्घष्वनन्त्य प्रतिषेधः" - (वा. - २.)

इसका आशय है कि ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य - (१.२.४७.) सूत्र से विहित ह्रस्वकार्य जो अजन्त नपुंसक लिङ्ग के प्रातिपदिक को ही होता है और अतिरै से अतिरि तथा अतिनौ से अतिनु रुप सिद्ध होते हैं। किन्तु अब तदपवाद पक्ष में यह ह्रस्व अन्त्य या अनन्त्य किसी भी अच् को होगा और सुवाक् ब्राह्मणकुलम् में सुवाक् के उपधाभूत अच् को भी ह्रस्व की प्रसक्ति हो जाएगी।

दूसरा दोष - छिद्यते भिद्यते में दीर्घ की प्रसक्ति होना है। अकृत्सार्वधातुकयोः दीर्घः - (७.४.२५.) सूत्र से चीयते स्तूयते आदि प्रयोगों में धातु के अन्तिम अच् को दीर्घ होना अभीष्ट है किन्तु अब धातु के किसी भी अच् को चाहे वह अन्त्य हो अथवा अनन्त्य हो, दीर्घ हो जाएगा और छिद् भिद् धातुओं के उपधाभूत अच् को दीर्घ होने से विकृत रुपों की सिद्धि हो जाएगी।

इसी प्रकार नामि - (६.४.३.) सूत्र से अजन्त अङ्ग को नाम् परे रहते दीर्घ होता है और अग्नीनाम्, वायूनाम् आदि रुपों की सिद्धि होती है। तदपवाद पक्ष में षण्णाम् की उपधा में दीर्घ प्रसक्ति हो जाएगी।

षण्णाम् की उपधा में संभावित दीर्घ प्रसक्ति को 'नोपधायाः' सूत्र को नियमार्थ मानकर निवृत्त किया जा सकता है। 'नोपधायाः' सूत्र को नियमार्थ मानकर यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि यदि किसी अङ्ग की उपधा को दीर्घ प्राप्त हो तो केवल नकारान्त अङ्ग को ही दीर्घ किया जाए। इस स्थिति में षण्णाम् में दीर्घ की निवृत्ति हो जाएगी क्योंकि षण्णाम् में नकारान्त प्रकृति नहीं है। इस व्यवस्था में षण्णाम् में प्रसक्त दोष का निवारण तो हो जाता है किन्तु नोपधायाः के नियमार्थ मानने से तन्यते अन्यते आदि प्रयोगों में नकारान्त की उपधा को दीर्घ की प्रसक्ति हो जाएगी। इस दोष के निवारणार्थ नोपधायाः को दो प्रकार से नियमित कर सकते हैं कि नकारान्त की उपधा को ही नाम् के परे दीर्घ होता है तथा नाम् के परे ही नकारान्त की उपधा को दीर्घ होता है। (अथोभयतोऽयं नियमः स्यात् - नोपधाया एव नामि नाम्येव नोपधाया इति) इस द्विविध नियम की कल्पना में षण्णाम् और अन्यते-तन्यते दोनों स्थलों पर दीर्घ की निवृत्ति हो जाएगी।

उपर्युक्त उभयथा नियम की परिकल्पना में षण्णाम् और अन्यते-तन्यते में दीर्घ निवृत्ति हो जाने पर भी भिद्यते, छिद्यते और सुवाक् ब्राह्मणकुलम् में संभावित दोष यथावत् विद्यमान रहते हैं।

सिद्धान्त मत - तच्छेष और तदपवाद - दोनों पक्षों में दोष की सम्भावना से भाष्यकार ने इकोगुणवृद्धी के समान यहाँ भी पदोपस्थिति पक्ष की स्थापना की है। भाष्य के शब्दों में - 'एवं तर्हि ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति यत्र ब्रूयादच इत्येतत् तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यम्।' इस पक्ष में परिभाषा का अर्थ होगा - जिन विधि सूत्रों में ह्रस्व, दीर्घ या प्लुत का विधान होता है वहाँ षष्ठ्यन्त अचः पद की उपस्थिति होती है। इस प्रकार विधिसूत्र पठित षष्ठ्यन्त पद और परिभाषा सूत्रोक्त षष्ठ्यन्त अचः पद का परस्पर अन्वय होता है। यह अन्वय विशेषण-विशेष्य भाव से होकर सम्पूर्ण सूत्र का अर्थ निष्पन्न होता है। चूँकि विशेषण-विशेष्य भाव में कामचार या यथेच्छ अन्वय होता है अतः वचि प्रच्छि शमादि धातु तथा हन्-गम् धातुओं के साथ अचः पद विशेष्य और वच्यादि धातुएँ विशेषण भाव से अन्वित होंगी और तब वचिपृच्छयोर्दीर्घः में अचः का अन्वय होकर अर्थ होगा - वचि और पृच्छि धातुओं के अच् के स्थान पर दीर्घ होता है। इसी प्रकार शमादीनामचः दीर्घः और हनिगम्योरचः दीर्घः इस प्रकार अर्थ निष्पत्ति होगी।

तदपवाद पक्ष में ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य सूत्र में अचः यह षष्ठ्यन्त पद विशेषणतया अन्वित होगा और सूत्रार्थ होगा - अजन्त नपुंसक लिङ्ग के प्रतिपदिक को ह्रस्व होता है। इस स्थिति में सुवाक् ब्राह्मणकुलम् में ह्रस्व की प्रसक्ति न होगी क्योंकि सुवाक् अजन्त विशेषण होकर अन्वित होगा और तब अजन्त अङ्ग को कृद् भिन्न सार्वधातुक के परे दीर्घ प्राप्त होगा। छिद्यते - भिद्यते में अजन्त अङ्ग न होने से दीर्घ की निवृत्ति स्वयमेव हो जाएगी। नामि सूत्र में अचः का अन्वय करने पर अजन्त को नाम् के परे दीर्घ प्राप्त है। षण्णाम् में अजन्त अङ्ग नहीं है अतः दीर्घ की निवृत्ति हो जाती है।

संज्ञया विधानै नियमः - परिभाषा सूत्र की व्याप्ति के सम्बन्ध में यह शंका उपस्थित हो सकती है कि दिव औत् (७.१.८४.) पथि मथिऋभुक्षामात् (७.१.८५.) आदि सूत्रों में दीर्घ औकार और आकार का विधान है। त्यदादीनामः (७.२.१०२.) सूत्र में ह्रस्व अकार का विधान है। इन विधि सूत्रों में ह्रस्व, दीर्घ का विधान देखकर यदि प्रकृत परिभाषा सूत्र प्रवृत्त करें तो अनिष्ट हो सकता है। दिव औत् सूत्र से औत्व दिव् के वकार के स्थान पर होता है। परिभाषा की प्रवृत्ति होने पर वह दिव् के अच् के स्थान पर प्रसक्त हो जाएगा। इसी प्रकार पथि मथि० आदि सूत्र से विहित आकार 'अचः' सूत्र की प्रवृत्ति होने पर पथ्यादि शब्दों अच् के स्थान पर प्राप्त होगा जिससे अनिष्ट रुपों की आपत्ति हो सकती है। त्यदादीना० से विहित अकार भी परिभाषा सूत्र की प्रवृत्ति होने पर त्यदादियों के अच् के स्थान पर हो जाएगा। इस अनुपपत्ति के निवारणार्थ भाष्यकार 'संज्ञया विधाने नियमः' वार्तिक उद्धृत करते हैं। इसका आशय है कि पूर्व सूत्र 'ऊकालोऽज्ह्रस्वदीर्घप्लुतः' - (१.१.२७.) से अच् पद की अनुवृत्ति अचः सूत्र में होती है और सम्पूर्ण सूत्र का अर्थ - 'अचः अच् भवति ह्रस्वोदीर्घःप्लुत इत्येव भाव्यमान इति।' अर्थात् अच् के स्थान पर विधिसूत्र विहित अच् आदेश होता है जो ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत शब्दों के द्वारा विहित है। इस पद्धति में द्यौः पन्थाः सः इत्यादि प्रयोगों में दिव और पथिमथि०, त्यदादि० इत्यादि सूत्रों से जो औ, आ और अ आदेश विहित हैं वे दीर्घ और ह्रस्व संज्ञाओं के द्वारा विहित नहीं हैं।

पूर्व सूत्र के अज्ग्रहण का प्रयोजन - पूर्व सूत्र (अकालो०) में पठित अज्ग्रहण का उपयोग प्रकृत परिभाषासूत्र में हो रहा है, तब यह आशंका उपस्थित हो सकती है कि पूर्व सूत्र में पठित अच् पद को इसी सूत्र में पढ़ना चाहिए, पूर्व सूत्र में उसका क्या प्रयोजन ? 'ऊकालोह्रस्वदीर्घप्लुतः' यह सूत्रारम्भ होने पर भी एकमात्रिक को ह्रस्व, द्विमात्रिक को दीर्घ और त्रिमात्रिक को प्लुत का बोध हो ही जाएगा। इस आशङ्का का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं - 'अज्ग्रहणं संयोगाऽच्समुदाय निवृत्यर्थम्' अर्थात् पूर्व सूत्र में भी अच् का ग्रहण सार्थक है। वहाँ अच् ग्रहण के सामर्थ्य से संयोग में और अचों के समुदाय में ह्रस्वादि संज्ञाओं की निवृत्ति हो जाती है। जैसे - प्रतक्ष्य प्ररक्ष्य में क् ष् का संयोग है। यहाँ दो अर्धमात्रिक व्यंजनों का संयोग होकर एकमात्रिक की ह्रस्व संज्ञा प्रसक्त हो सकती है। ह्रस्व संज्ञा होने पर ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् - (६.१.७१.) से तुगागम होकर अनिष्ट रुप की आपत्ति हो सकती है।

अच् समुदाय में ह्रस्वादि संज्ञा की निवृत्ति का उदाहरण ततउच्छत्रम्-ततउच्छाया में प्राप्त होता है। इन प्रयोगों में तकारोत्तर अकार और उकार की दो मात्राएँ होती हैं। इनकी यदि दीर्घ संज्ञा हो जाए तो दीर्घात् पदान्ताद्वा - (६.१.७५-७६.) के द्वारा विकल्प से तुगागम की प्रसक्ति हो जाएगी। इस दोष के निवारणार्थ 'ऊकालोच्०' सूत्र में अच् ग्रहण आवश्यक है। अच् ग्रहण के सामर्थ्य से अच् प्रत्याहार में पठित और सवर्ण ग्रहण (अणुदित्) से उपस्थापित एक मात्रिक, द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक वर्णो की ही ह्रस्व-दीर्घ और प्लुत संज्ञा होती है। उपर्युक्त प्रयोगों में (प्रतक्ष्य, प्ररक्ष्य, ततउच्छत्रम् आदि में) व्यंजन और अच् समुदाय अच् प्रत्याहार के अन्तर्गत नहीं हैं अतः इनकी ह्रस्व, दीर्घ या प्लुत संज्ञा नहीं हो सकती।

कैयट के विचार - ततउच्छत्रम् आदि स्वरसमुदाय में जो वैकल्पिक तुगागम की प्रसक्ति (दीर्घात् पदान्ताद्वा) कही गई है इस प्रसङ्ग में टीकाकार कैयट ने यह स्पष्ट किया है कि स्वर समुदाय में दीर्घ की प्रसक्ति से जो वैकल्पिक तुगागम रुप दोष की सम्भावना व्यक्त की है वहाँ एक बार तकारोत्तर अकार और उकार में केवल उकार को ह्रस्व मानकर 'छे च' - (६.१.७३.) से तुगागम भी तो प्राप्त हो सकता है। इसका समाधान 'सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव' परिभाषा से किया जा सकता है।

पुनः प्रसङ्ग विज्ञानात् सिद्धम् परिभाषा यहाँ प्रवृत्त नहीं होती। जहाँ पूर्व और पर विधियों में विरोध नही होता वहीं 'पुनः प्रसङ्ग विज्ञानम्' प्रवृत्त होता है। इस स्थल पर तो पूर्व और पर विधि में अर्थात् नित्य तुगागम (छे च) और दीर्घात् (पदान्ताद्वा) का वैकल्पिक तुगागम में विरोध है अतः पुनः प्रसङ्ग० का प्रश्न ही नहीं है।[1]

दूसरी युक्ति यह भी है कि अकार और उकार रुप दो अच् समुदाय के अवयव हैं। समुदाय के अन्तर्गत अवयव समुदाय के प्रति परतन्त्र होते हैं अतः पृथक् रुप से अवयव को मानकर कोई कार्य नहीं होता।

❀❀❀

शब्द संकेत

१. वस्तुतः कैयट युक्तियाँ जाति पक्ष में निरर्थक हैं क्योंकि अच् पद अच् जाति का वाचक है तब अच् समुदाय की दीर्घ संज्ञा अनिवार्य है। इस आक्षेप का समाधान करते हुए कैयट का कथन है कि अकालोज्० सूत्र में ऊकाल पद के द्वारा व्यक्ति पक्ष का ही उपादान किया है। जाति का कोई परिमाण नहीं होता। व्यक्ति के द्वारा ही जाति-परिमाण का आश्रय लिया जाता है। एक-एक व्यक्ति से अथवा प्रत्येक व्यक्ति से जाति की व्यञ्जना होती है - व्यक्ति समुदाय से जाति व्यङ्ग्य नहीं होती। तात्पर्य यह है कि यद्यपि अच् पद जाति का वाचक है किन्तु ऊकालोऽच्० सूत्र से एक ह्रस्व व्यक्ति से या अच् से ह्रस्वत्व जाति, दीर्घ अच् से दीर्घत्व जाति का बोध होता है। दो ह्रस्व अज्व्यक्ति के समुदाय से दीर्घत्व का बोध करना उचित नहीं है।

❀❀❀

स्वरितेनाधिकारः
(१.३.११.)

सूत्रार्थ विचार - इस परिभाषासूत्र में पठित 'स्वरितेन' पद में इत्थंभूत लक्षण [१] अर्थ में तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है। स्वरित चिह्न के द्वारा अधिकार उपलक्षित होता है। यहाँ स्वरित पद से परिभाषिक स्वरित ("समाहारः स्वरितः" - १.२.३१.) का बोध नहीं होता क्योंकि परिभाषिक स्वरितत्त्व केवल अच् का धर्म है, व्यञ्जन का नहीं। जहाँ व्यञ्जनों में भी अधिकारता दृष्टिगोचर होती है वहां उनमें स्वरितधर्म न होने से उनकी अधिकारता बाधित हो जाएगी। जैसे - रषाभ्यां नो णः समानपदे - (८.४.१.) सूत्र में पठित णकार व्यञ्जन होने के कारण स्वरितयुक्त नहीं हो सकता और स्वरितत्त्व के अभाव में उसे अधिकार नहीं माना जा सकता। इस स्थिति में "अट् कुप्वाङ्नुम्व्यावाये ऽपि [२] " - (८.४.२.) सूत्र में उस णकार की उपस्थिति न होगी। परिणाम स्वरुप अट्कुप्वाङ्० सूत्र से अभीष्ट अर्थ की प्रतीति नहीं होगी।

निष्कर्षतः समस्त अचों और हलों में स्वरित नामक जो धर्म अथवा गुण है वही प्रकृत सूत्र में स्वरित पद से अभिप्रेत है। इसीलिए आचार्यों ने यह सूत्रार्थ निष्पन्न किया है - "स्वरितत्त्वयुक्तं शब्दस्वरुपमधिकृतं वेदितव्यम्" - (सि. कौ.) इसका आशय है - स्वरित नामक वर्ण धर्म से युक्त शब्दस्वरुप को अधिकृत मानना चाहिए। अधिकार का तात्पर्य विनियोग या व्यापार से है।

अधिकार - स्वरितत्त्व युक्त शब्द स्वरुप को अधिकृत अथवा विनियुक्त माना जाता है। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि शब्द से किस प्रकार का व्यापार या विनियोग अपेक्षित है ? इसका समाधान यह है कि अधिकृत शब्द उत्तर सूत्र में उपस्थित होता है - यही उसका विनियोग या अधिकार है। जिस प्रकार लोक में नगर आदि के लिए अधिकृत व्यक्ति नगर में उपस्थित रहकर अपना अधिकार व्यक्त करता है, उसी प्रकार शब्द भी अधिकृत होने पर उत्तरवर्ती सूत्रों में उपस्थित होता है। शब्द की उपस्थिति का अधिकार क्षेत्र भी स्वरित धर्म से ही अभिव्यक्त होता है। उदाहरणार्थ - प्रत्ययः - (३.१.१.) का अधिकार आगामी सूत्रों में पञ्चमाध्याय की परिसमाप्ति तक व्याप्त है। कभी-कभी पूर्व सूत्रों में भी अधिकार की उपस्थिति हो जाती है। अधिकार की अवधि का निर्धारण आचार्यों के व्याख्यान से होता है। धातोः - (३.१.९१.) का अधिकार तृतीय अध्याय की समप्ति तक होता है। लस्य - (३.४.७७.) सूत्र तक इसका अधिकार नहीं माना जाता। अङ्गस्य - (६.४.१.) का अधिकार भी सप्तमाध्याय की समाप्ति तक होता है, अभ्यास विकार के पूर्व तक नहीं। इससे प्रतीत होता है कि अधिकार की अवधि का निर्धारण आचार्यों के व्याख्यान से होता है।

सूत्र का प्रयोजन - प्रकृत सूत्र के प्रयोजन की चर्चा करते हुए भाष्यकार, लौकिक दृष्टान्त के आधार पर सूत्र के अन्यथा सिद्ध होने की संभावना व्यक्त करते हैं। (न वा निर्दिश्यमानाधिकृतत्वाद्यथा लोके - वा.-२) एक बार उच्चरित शब्द आगामी सूत्रों में अनुवृत्त हो सकता है यह तथ्य लोक व्यवहार से सिद्ध होता है। लोक में निर्दिश्यमान को अधिकृत माना जाता है जैसे - "देवदत्त को गाय दी जाए।" यह कहकर आगे "यज्ञदत्त और विष्णुमित्र को भी" इतना ही कहा जाता है। इतना कहने पर भी यज्ञदत्त और विष्णुमित्र को भी गाय दी जाए यह अर्थबोध सहज ही हो जाता है। उसी प्रकार शास्त्र में भी "पदरुज विश

स्पृशो घञ्" - (३.३.१६.) सूत्र से घञ् प्रत्यय का विधान कर आगे "सृ स्थिरे" - (३.३.१७.) और "भावे" - (३.३.१८.) सूत्र पठित हैं। इन सूत्रों में घञ् का विधान स्वाभाविक रुप से सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार लोक न्याय के आधार पर परिभाषा अन्यथा सिद्ध प्रतीत होती है किन्तु लोक में अन्य शब्द का निर्देश होने पर पूर्वोक्त निर्दिश्यमान शब्द की निवृत्ति भी हो जाती है। जैसे - देवदत्त को गाय दो; कहने के पश्चात् यज्ञदत्त और विष्णुमित्र को कम्बल दिया जाए कहें तो यहाँ कम्बल शब्द, गौ का निवर्तक है अर्थात् यज्ञदत्त और विष्णुमित्र को गौ नहीं, कम्बल दिया जाए - ऐसा बोध होता है। इसी न्याय का अनुसरण करते हुए शास्त्र में भी "अभिविधौ भावे इनुण्" - (३.३.४४.) सूत्र में पठित इनुण् प्रत्यय "पदरुज विश०" सूत्र में पठित घञ् का निवर्तक होगा। इसके फलस्वरुप आगामी सूत्र "आक्रोशे वन्योर्ग्रहः" - (३.३.४५.) में इनुण् की अनुवृत्ति तो होगी किन्तु घञ् की निवृत्ति हो जाएगी और इस प्रकार ग्रह धातु से आक्रोश अर्थ में (अव् और नि उपसर्ग होने पर) घञ् न होकर इनुण् की प्रसक्ति हो जाएगी। यह इनुण् न हो जाए एतदर्थ स्वरितेनधिकारः यह परिभाषासूत्र आवश्यक है। परिभाषा के कारण स्वरितत्त्वयुक्त घञ् पद यद्यपि आक्रोशे० पद के समीप नहीं है तथापि अनुवृत्त हो जाता है। इनुण् में स्वरितत्त्व न होने से उसकी अनुवृत्ति नहीं होगी।

अधिकार की अवधि - उपर्युक्त परिभाषा सूत्र की आवश्यकता या प्रयोजन सिद्ध होने पर भी यह प्रश्न बना ही रहता है कि स्वरितत्त्व युक्त अधिकार की अवधि कहाँ तक मानी जाए ? इस प्रश्न का समाधान इस सूत्र में अन्तर्निहित है। सूत्र का दो प्रकार से अर्थ बोध किया जा सकता है -

(अ) स्वरितेन अधिकारः - अर्थात् स्वरितत्त्वयुक्त शब्द स्वरुप अधिकृत होता है।

(ब) स्वरिते न अधिकारः - अर्थात् स्वरित धर्म दृष्टिगत होने पर अधिकार नहीं होगा। इस पक्ष में स्वरितत्त्व अधिकार का निवर्तक माना जाएगा। वस्तुतः भाष्यकार इस प्रसङ्ग में स्वरितेनाधिकारः संहितापाठ को स्वरिते न अधिकारः - ऐसा पदच्छेद कर अधिकार के परिमाण का बोध कराने के पक्ष में नहीं हैं। उनके मत में यह परिभाषा अधिकार की निवृत्ति के लिए नहीं वरन् अधिकृत शब्द स्वरुप के ज्ञान के लिए ही आवश्यक है। यदि इसे अधिकार की निवृत्ति का द्योतक मानते हैं तब ज्ञान किससे होगा ? पूर्वोक्त लोक दृष्टान्त से तो सूत्र अन्यथा सिद्ध नहीं होता।

सिद्धान्ततः प्रस्तुत परिभाषा से अधिकार का ही बोध होता है और इस पक्ष में अधिकार की अवधि के ज्ञान के लिए "यावतिथो ऽलनुबन्धस्तावतो योगानिति वचनात् सिद्धम्" वार्तिकारम्भ किया जाए। वार्तिक का अभिप्राय है कि अइउण् इत्यादि चौदह माहेश्वर सूत्रों में से जिस क्रमांक का अल् अनुबन्ध के रुप में आसञ्जित किया जाए उतने सूत्रों में अधिकार की प्रवृत्ति मानी जाए। इस आशय का वचनारम्भ करने पर अधिकार का परिमाण या अवधि का ज्ञान होगा। उदाहरणार्थ - "द्वित्रिपूर्वान्निष्कात्" - (५.१.३०.) सूत्र पठित द्वि त्रि पूर्वात् की अनुवृत्ति अगले "बिस्ताच्च" - (५.१.३१.) सूत्र तक अभीष्ट है अर्थात् आगामी दो सूत्रों तक उसका विनियोग किया जाना है। अतः प्रत्याहार सूत्र पठित द्वितीय वर्ण इ को "द्वि-त्रिपूर्वात्" के साथ अनुबन्ध के रुप में आसञ्जित किया जाए। द्वित्रिपूर्वादिः - ऐसा करने से अनुबन्धित पद कितने सूत्रों तक सम्बद्ध हैं - व्यक्त हो जाएगा। (ऋक् तंत्र में इसी आशय का एक वचन उद्धृत है - "प्रत्याहारार्थो वर्णो ऽनुबन्धो व्यञ्जनम् यावति स्तावतां तदादीनां ततः प्राणाम्।" - प्रपा-१, खण्ड-३)

इस व्यवस्था में एक आशंका यह हो सकती है कि यहाँ प्रत्याहार सूत्रों में उपदिष्ट वर्णों से अधिक संख्या के सूत्रों में अनुवृत्त या अधिकार अभीष्ट है वहाँ परिमाण का ज्ञान कैसे होगा ? प्रत्याहार सूत्रों में अनुबन्धों को छोड़कर केवल ४३ अल् पठित हैं इनमें भी हकार दो बार पठित है, अतः अधिकतम् कुल ४२ सूत्रों तक ही अधिकार का परिमाण अनुबध्यमान ४२ वें अल् से हो सकता है। परन्तु जो अधिकार ४२ सूत्रों से अधिक सूत्रों में अनुवर्तमान होगा वहाँ परिमाण का ज्ञान नहीं हो सकता।

ऐसे स्थलों के लिए भाष्यकार कहते हैं कि प्राक् वचन कहना पड़ेगा। जैसे - प्रत्ययः - (३.१.१.) का अधिकार "एकाचो द्वे प्रथमस्य" - (६.१.१.) तक अभीष्ट है तो कहना होगा प्राग् एकाचः प्रत्ययः।

निष्कर्षतः "यावतिथो ऽलनुबन्धः" और प्राग् वचन का आरम्भ कर अधिकार की अवधि का बोध किया जा सकता है।

सिद्धान्ती उपर्युक्त वचानारम्भ करने के पक्ष में नहीं हैं क्योंकि अधिकार के परिमाण के विषय में संदेह है। इस संदेह को "व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तिर्न हि संदेहादलक्षणम्" परिभाषा के अनुसार आचार्यों के व्याख्यान से दूर किया जा सकता है। आचार्यों के व्याख्यान से विशेष का परिज्ञान हो जाता है - संदेह मात्र से शास्त्र को अलक्षण नहीं मानना चाहिए। जिस स्थल पर अधिकार की अवधि के विषय में संदेह होगा वहाँ आचार्य स्वयं प्रागमुतः कहकर संदेह का निवारण कर देंगे।

परिभाषासूत्र,का औचित्य - उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह प्रष्टव्य है कि यदि आचार्यों के व्याख्यान के द्वारा संदेह का निवारण हो सकता है तो प्रकृत सूत्र का भी कोई प्रयोजन नहीं है। पूर्व में लौकिक दृष्टान्त के आधार पर अन्य निर्देश पूर्व निर्दिश्यमान का निवर्तक होता है किन्तु शास्त्र में वह पूर्व का निवर्तक है या नहीं यह संदेह उपस्थित होता है। सब संदेहों में "व्याख्यानतो०" परिभाषा उपस्थित होती है, तब यहाँ भी परिभाषा उपस्थित होगी और "अभिविधौ भावे इनुण्" - (३.३.४४.) और "आक्रोशे ऽवन्योर्ग्रहः" - (३.३.४५.) सूत्र पाठ में आक्रोशे० सूत्र में इनुण् का विधान माना जाए या घञ् का ? यह संदेह है - इसे व्याख्यान के द्वारा प्रतिपादित कर दिया जाएगा कि आक्रोशे० सूत्र से घञ् का ही विधान होता है।

इस प्रकार आचार्यों के व्याख्यान के द्वारा अधिकार की निवृत्ति के समान अधिकार की अनुवृत्ति का भी निश्चय हो जाता है और तब सूत्र निष्प्रयोजन प्रतीत होता है।

अर्थान्तर संग्रह के लिए सूत्र की आवश्यकता - अधिकार के ज्ञान के लिए प्रकृत सूत्र आवश्यक है। अधिकार-ज्ञान से तात्पर्य (अ) अधिकार गति, (ब) अधिक कार, (स) अधिक कार्य। अधिकार गति का उदाहरण - "गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य" - (१.२.४८.) सूत्र में गोस्त्रियोः के स्थान पर गोटाङ् शब्द का उपसंख्यान [१] किया गया। प्रकृत परिभाषा के सामर्थ्य से इसका उपसंख्यान आवश्यक नहीं होगा, क्योंकि गोस्त्रियोः० सूत्र में स्त्री शब्द में स्वरितत्त्व मानकर उस स्वरितत्त्व के बल से अधिकार की प्रतीति हो जाएगी और स्त्रियाम् के अधिकार में पठित प्रत्ययों का स्त्रीपद से ग्रहण हो जाएगा और

कृत्प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग के शब्दों को उपसर्जन ह्रस्व की निवृत्ति हो जाएगी। इस प्रकार स्वरितेनाधिकारः का प्रथम प्रयोजन "अधिकार गति" की सिद्धि होगी। दूसरा प्रयोजन अधिक कार्य है। आचार्य पाणिनि के अनुसार "ध्रुवमपायेऽपादानम्" - (१.४.२४.) सूत्र में संयोग पूर्वक विभाग को अपादान कहा जाता है। अतः ग्रामाद् आगच्छति नगराद् आगच्छति आदि प्रयोगों में ग्रामाद् नगरात् की अपादान संज्ञा होती है। यहाँ व्यक्ति का ग्राम या नगर से संयोगपूर्वक विभाग व्यक्त हो रहा है। यह मुख्य अपादान है। "सांकाश्येभ्यः पाटलिपुत्रका अभिरुपतराः" वाक्य में संकाश में रहने वाले सांकाश्यकों से और पाटलिपुत्र में रहने वाले पाटलिपुत्रकों का संयोग पूर्वक विभाग दृश्यमान नहीं है। क्योंकि दोनों परस्पर एकत्रित नहीं हैं जहाँ से पाटलिपुत्रकों को पृथक् किया जाए , तथापि सांकाश्यक में उपादानत्व की विवक्षा होकर पञ्चमी होती है। यहाँ केवल बुद्धि में इकट्ठा होकर पार्थक्य दर्शाया गया है। यह बुद्धिस्थ पार्थक्य अपाय को स्वरित करने से सिद्ध होता है। यही स्वरितत्त्व से अधिक कार्य का होना है। इसी प्रकार आचार्य के अनुसार न्याय्य अधिकरण-आधार ही है। (आधारो ऽधिकरणम् - १४.४.४५.) अर्थात् सम्पूर्ण आधार, आधेय के द्वारा व्याप्त होता है, वही अधिकरण होता है। जैसे - तिलेषु तैलम् - दध्नि सर्पिः वाक्यों में तेल एवं तिल से क्रमशः तिल और दधि का प्रत्येक अवयव व्याप्त है। यदि यही अधिकरण न्याय्य है, तो गङ्गायां गावः, कूपे गर्गकुलम् आदि प्रयोगों में गाएँ अथवा गर्ग रुप आधेय तो गङ्गा के या कूप के तट पर स्थित हैं - गङ्गा या कूप का एक भी अवयव इनसे व्याप्त नहीं है, फिर गङ्गा या कूप की अधिकरण संज्ञा नहीं हो सकती और अधिकरण न होने पर उनसे सप्तमी भी नहीं हो सकती। अधिकरण को स्वरित करने पर उसके बल से गौण आधार की भी अधिकरण संज्ञा सिद्ध हो जाती है। यही स्वरितत्व का अधिक कार्य रुप प्रयोजन है। इसके कारण ही आधार में आधेय की सर्वात्मना व्याप्ति न होने पर भी औपश्लेषिक आधारत्व मानकर अधिकरण संज्ञा सिद्ध हो जाती है।

अधिक कार का उदाहरण - अधिक कार का तात्पर्य अधिक पराक्रम है। स्वरितत्व के बल से वह विशिष्ट पद या शब्द अपनी शक्ति से अधिक कार्य करता है। इसका उदाहरण पूर्वविप्रतिषेध में दृष्टिगोचर होता है। गुण, वृद्धि, औत्व और तृज्वद्भाव की अपेक्षा नुमागम बली होता है। पूर्व विप्रतिषेध न्याय से "गुण वृद्धयौत्वतृज्वद् भावेभ्यो नुम् पूर्व विप्रतिषेधेन" - (७१.१६., वा.-१६.)। इसी प्रकार "अचि र ऋतः" से होने वाला रेफादेश और तृज्वद्भाव की अपेक्षा पूर्व विप्रतिषेधन्याय से नुडागम् पहले हो जाता है। (नुमचिर् तृज्वद्भावेभ्यो नुड् पूर्व विप्रतिषेधेन - ७.१.११., वा.-11.) यह पूर्व विप्रतिषेध वार्तिकों द्वारा उपसंख्यात है। आचार्य ने केवल पर विप्रतिषेध (विप्रतिषेधे परं कार्यम् - १.४.२.) का ही विधान किया है। पूर्व विप्रतिषेध की सिद्धि के लिए नुम् - नुट् विधायक सूत्रों में नुम् और नुट् को स्वरित का कवच पहनाने से वे अधिक कार्यक्षम होंगे और गुण - वृद्धि आदि का बाध करके पहले प्रवृत्त होंगे। स्वरितत्व के बल से उनकी व्याप्ति अधिक हो जाएगी और पर कार्य भी उन्हें नहीं बाध सकेंगे।

स्वरितत्व और पूर्व विप्रतिषेध का समन्वय - स्वरितत्व के बल से कोई शब्द अधिक कार्य कर सकता है। यह कथन तो युक्तिसंगत है, किन्तु अधिक कार्य क्षमता से पूर्व विप्रतिषेध की सिद्धि कैसे हो सकती है ? यह आशंका उत्पन्न हो सकती है। लौकिक दृष्टान्त के आधार पर इसको सिद्ध किया जा सकता है। लोक में यह देखा जाता है कि जब कोई दुर्बल व्यक्ति दुर्बल होने पर भी बलवानों के साथ बोझ उठाता है, तब उसे कहा जाता है कि यह अधिक कार्य करता है। उसी प्रकार इस व्याकरण शास्त्र में भी जो विधि सूत्र पूर्व पठित होने पर भी पर पठित विधिसूत्रों का बाध करता है, तो उस विधिसूत्र को यह

कहा जा सकता है कि वह अपनी शक्ति से अधिक कार्य करता है। यह अधिक कार्यक्षमता स्वरितत्व के कारण ही प्राप्त होती है।

संक्षेप में स्वरितेनाधिकारः सूत्र के तीन प्रयोजन [४] हैं - १. अधिकार गति - यह प्रयोजन स्त्री शब्द के लिए है। स्वरितत्व के कारण "स्त्री" के अधिकार की अवगति (ज्ञान) होती है। २. अधिक-कार्य - यह प्रयोजन स्वरितयुक्त शब्द से विशेष अर्थ की प्रतीति के लिए है। जैसे - अपादान शब्द से गौण अपादान का भी बोध होना। इससे सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रकाः शोपनतराः में अपादान की सिद्धि होती है। ३. अधिक कार - अर्थात् शक्ति से अधिक कार्य करना। यह प्रयोजन पूर्व विप्रतिषेध के प्रत्याख्यान के लिए है।

शब्द संकेत

१. इत्थंभूतलक्षणे - (२.३.२१.) सूत्र से लक्षण अर्थ में तृतीया होती है। जैसे - जटाभिस्तापसः प्रयोग में तपस्वी का लक्षण उसकी जटाएँ हैं। जटाओं के द्वारा उसका तापसत्व लक्षित होता है। प्रकृत सूत्र में भी स्वरित के द्वारा शब्द विशेष का अधिकार होना ज्ञात होता है।

२. अट्कुप्वाङ्० सूत्र में रषाभ्यां नो णः समानपदे - (८.४.१.) सूत्र से ण की अनुवृत्ति होती है।

३. गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य - (१.२.४८.) सूत्र में गोटाङ्ग्रहणं कृन्निवृत्यर्थम् वार्तिक का उपसंख्यान किया गया है। गोस्त्रियो० सूत्र का अर्थ है - उपसर्जन संज्ञक गो शब्द, अथवा स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द, जिसके अन्त में हो ऐसे प्रातिपदिक को ह्रस्व होता है - जैसे चित्रगुः - निष्कौशाम्बिः। गोस्त्रियो० सूत्र में स्त्रियोः पद के स्थान पर टाङ् पढ़ने से अजाद्यतष्टाप् - (४.१.४.) के टा से लेकर अणिञो० - ४.१.७८. सूत्र के ङ तक टाङ् प्रत्याहार के अन्तर्गत आने वाले सभी प्रत्ययों का ग्रहण होगा और कृदन्त स्त्रीलिङ्ग शब्द में ह्रस्व की निवृत्ति हो जाएगी क्योंकि कृत प्रत्यय टाङ् प्रत्याहार में नहीं आते। उदाहरणार्थ - अतितन्त्रीः, अतिश्रीः, अतिलक्ष्मीः इत्यादि।

४. अधिकारगतिःस्त्र्यर्थाः विशेषायाधिकं कार्यम्।
अथ योऽन्योऽधिकः कारः पूर्वविप्रतिषेधार्थः सः। - भा. वा. - (१.३.११.)

❀❀❀

समर्थ: पदविधि:
(२.१.१.)

सूत्रार्थ - व्याकरण शास्त्र में पदसम्बन्धी सभी कार्य समर्थ को होते हैं। काशिकाकार के शब्दों में - "य: कश्चिदिह शास्त्रे पदविधि: श्रूयते स सर्व: समर्थो वेदितव्य: ।" कौमुदीकार ने भी स्पष्ट शब्दों में ऐसा ही सूत्रार्थ प्रतिपादित किया है। (पदसंबंधी यो विधि: स समर्थाश्रितो बोध्य: ।)

पदविधि - इस पद में विधि की दो प्रकार से व्युत्पत्ति की जा सकती है। १. वि उपसर्ग पूर्वक धा धातु (डुधाञ् धारणपोषणयो:) से उपसर्गे घो: कि: - (३.३.९२.) सूत्र से कर्मार्थक कि प्रत्यय होकर विधि शब्द निष्पन्न होता है। इस निष्पत्ति में विधि का अर्थ है - विधीयते इति विधि: । अर्थात् जिसका विधान किया जाता है, वह (कार्य) विधि है। पद के साथ इसका समास करने पर पदानां विधि: पदविधि: अर्थबोध होगा। २. भाव अर्थ में कि प्रत्यय (सूत्र वही - ३.३.९२.) करने पर विधि का अर्थ होगा - विधानं विधि: । पद के साथ समास करने पर पदानां विधि: (पदानां विधानम्) पद विधि सिद्ध होता है।

इस स्थल पर यह विचारणीय है कि प्रकृत सूत्र में विधि पद से ऐसा कौन-सा कार्य विवक्षित है जिसका विधान किया जाना है। भाष्यकार एक वाक्य में इन कार्यो का संकेत करते हैं - **"समासो विभक्तिविधानं पराङ्गवद्भावश्च"** - इसका आशय यह है कि समास (प्राक्कडारात् समास: - २.१.३.) विभक्ति विधान (अनभिहिते - २.३.१.) और पराङ्गवद्भाव (सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे - २.१.२.) ये तीन कार्य पद विधि के अन्तर्गत आते हैं।

सूत्र का प्रकार - प्रस्तुत सूत्र के सम्बन्ध में यह संदेह उपस्थित हो सकता है कि यह अधिकार सूत्र है अथवा परिभाषा सूत्र ? भाष्यकार ने इस सूत्र के दोनों पक्षों पर पर्याप्त विचार किया है। इसी प्रसङ्ग में अधिकार और परिभाषा का अन्तर भी स्पष्ट कर दिया है। अधिकार सूत्र वह होता है जो प्रारम्भ में एक बार पढ़ दिया जाता है, आगामी प्रत्येक सूत्र में उसकी अनुवृत्ति हो जाती है और उसके साथ मिलकर वाक्यार्थ बोध हो जाता है। अधिकार सूत्र अपने सामर्थ्य से आगामी सूत्रों में स्वत: उपस्थित हो जाता है। परिभाषा वह होती है जो एक स्थान पर स्थिर रहकर अपने चिह्नो से (लिङ्ग से) युक्त विधिसूत्रों में सहायक होकर अभीष्ट अर्थ का बोध कराती है। जिस प्रकार प्रज्वलित दीपक किसी कक्ष में एक स्थान पर स्थित होकर सम्पूर्ण कक्ष को प्रकाशित कर देता है, उसी प्रकार परिभाषाएँ भी एकत्र अवस्थित होकर सम्बद्ध विधिसूत्रों का अर्थबोध कराती हैं।[1]

अब विचारणीय यह है कि प्रकृत सूत्र को अधिकार मानने में लाघव है अथवा परिभाषा मानने में ? जो पक्ष अल्प प्रयत्न साध्य है उसे स्वीकार करना युक्ति संगत है। अधिकार पक्ष में "स्वरितेनाधिकार" - (१.३.११.) के अनुसार समर्थ पद में स्वरितत्वकरना पड़ेगा। क्योंकि स्वरितत्व युक्त शब्द स्वरूप ही अधिकृत होता है। स्वरितत्व के बल से आगामी समास विभक्ति और पराङ्ग वद् भाव विधायक सूत्रों में स्वत: ही समर्थ पद उपस्थित हो सकता है। इस स्थिति में "पद विधि" पद सूत्र में अनावश्यक सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार अधिकार पक्ष में लाघव प्रतीत होता है। परिभाषा पक्ष में सूत्र

यथावत् (समर्थ: पदविधि:) आवश्यक और सार्थक होता है, क्योंकि पद सम्बन्धी यावत् कार्यों (समास विभक्ति और पराङ्गवद्भाव) के संग्रह हेतु पदविधि शब्द आवश्यक होता है।

समर्थ पद की व्याख्या - समर्थ पद के सम्बन्ध में भी संदेह उपस्थित होता है कि सूत्र पठित समर्थ पद एकार्थीभाव रूप सामर्थ्य का वाचक है अथवा व्यपेक्षा रूप सामर्थ्य का ? सामर्थ्य दो प्रकार के होते हैं, अत: यह संदेह उपस्थित होना युक्ति संगत है। एकार्थी भाव का आशय है, जब पदार्थ उपसर्जनीभूत होता है अथवा पद अपने अर्थो का त्याग कर देता है और प्रधानीभूत अर्थ के प्रति उत्तरदायी होने के कारण व्यर्थ प्रतीत होते हैं अर्थात् स्वकीय अर्थ से भिन्न अर्थ का अभिधान करते हैं - वह एकार्थीभाव सामर्थ्य कहलाता है। व्यपेक्षा में पद साकांक्ष होकर अन्वित होते हैं। (यत्र पदान्युपसर्जनीभूत स्वार्थानि निवृत्तस्वार्थानि वा प्रधानार्थोपादानाद् व्यर्थानि अर्थान्तराभिधायीनि वा स एकार्थीभाव:। परस्पराकांक्षा रूपा व्यपेक्षा। - कैयट)[२]

इन द्विविध सामर्थ्य में से प्रस्तुत सूत्र में एकार्थीभाव रूप सामर्थ्य स्वीकार करते हैं तथा समर्थ: पदविधि: को अधिकार सूत्र मानते हैं तब पदविधि से केवल समास का ही संग्रह होगा - पराङ्गवद्भाव और विभक्ति विधान का नहीं होगा, क्योंकि एकार्थीभाव रूप सामर्थ्य मात्र समास में ही होता है।[३]

एकार्थीभाव सामर्थ्य पक्ष में उपर्युक्त अव्याप्ति होने से यदि व्यपेक्षा सामर्थ्य का स्वीकार करते हैं और सूत्र को अधिकार सूत्र ही मानते हैं तो विभक्ति विधान और पराङ्गवद्भाव का संग्रह तो हो जाएगा, किन्तु समास का संग्रह न हो पाएगा, क्योंकि व्यपेक्षा केवल वाक्य में ही होती है। अधिकार पक्ष में दूसरा दोष यह भी प्रसक्त होता है कि अष्टमाध्याय में विहित पद कार्यो में समर्थ ग्रहण करना पड़ेगा। जैसे - "इसुसो: सामर्थ्ये" - (८.३.४४.) "न च वाहाहैव युक्ते" - (८.१.२४.) सूत्रों में पद कार्य ही होते हैं। वह पदकार्य समर्थ को ही हो, इसके लिए सूत्र में समर्थ ग्रहण करना होगा। समर्थ: पदविधि: को यदि परिभाषा सूत्र के रूप में स्वीकार करें तो इन सूत्रों में समर्थ ग्रहण की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि पदविधि को देखकर परिभाषा स्वयमेव प्रवृत्त हो जाती है। (पदविधि परिभाषा प्रवृत्ति का लिङ्ग है।) अधिकार पक्ष में समर्थ पद की अनुवृत्ति अष्टम अध्याय तक संभव नहीं है।

अधिकार पक्ष में दोनों प्रकार के सामर्थ्य की कल्पना दोष ग्रस्त - इस प्रकार अधिकार में दोषापत्ति है। अत: प्रकृत सूत्र परिभाषा मानना ही श्रेयष्कर प्रतीत होता है। परिभाषा पक्ष में भी व्यपेक्षा सामर्थ्य मानने पर पुन: एक दोष अवस्थित रह जाता है। परिभाषा पक्ष में सभी प्रकार के पद कार्यो का संग्रह तो हो जाता है, किन्तु व्यपेक्षा सामर्थ्य मानने से समास का संग्रह नहीं हो पाता। अत: सभी दृष्टिकोणों से एकार्थीभाव रूप सामर्थ्य और परिभाषा पक्ष निर्दुष्ट है। इसीलिए भाष्यकार कहते हैं - "तत्रैकार्थीभाव: सामर्थ्य परिभाषा चेत्येव सूत्रमभिन्नतरकं भवति।"

सिद्धान्त पक्ष - परिभाषा पक्ष में एकार्थीभाव रूप सामर्थ्य को सिद्धान्त पक्ष के रूप में स्वीकार करने पर भी दो स्थलों पर परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती। १. विभक्ति विधान २. पराङ्गवद्भाव। विभक्ति विधायक सूत्रों में जैसे कर्मणि द्वितीया आदि में समर्थ कर्म से द्वितीया विभक्ति अभीष्ट होती है, किन्तु परिभाषा की अनुपस्थिति से असमर्थ कर्म में भी द्वितीया प्रसक्ति संभव है। विभक्ति

विधान में एकार्थीभाव नहीं रहता अपितु क्रियाकारक भाव रूप व्यपेक्षा होती है। इसी प्रकार उपपद विभक्ति में भी यही व्यपेक्षा होती है। अतः यहाँ परिभाषा की प्रसक्ति नहीं होगी। पराङ्गवद्भाव में "सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे" - (२.१.२.) सूत्र से सुबन्त के परे आमन्त्रित संज्ञक पद आने पर - स्वर की कर्तव्यता में वह सुबन्त आमन्त्रित के समान ही माना जाता है। उदाहरणार्थ - मद्राणां राजन् में राजन् आमन्त्रित संज्ञक - (८.१.७२.) है उसे आमन्त्रितस्य च - (६.१.१९८.) सूत्र से आद्युदात्त प्राप्त है। सुबामन्त्रिते० इस अतिदेश से मद्राणां को पराङ्गवद् भाव होता है और आद्युदात स्वर का विधान होता है। "समर्थः पदविधिः" यह परिभाषा सूत्र यदि एकार्थीभाव में ही प्रवृत्त होती हो तो इस स्थल पर एकार्थीभाव न होने से परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होगी और इसके फलस्वरूप असमर्थ सुबन्त को भी पराङ्गवद्भाव की प्रसक्ति हो जाएगी।

उपर्युक्त दोनों अव्याप्ति रूप दोषों का निवारण होने पर ही परिभाषा पक्ष और एकार्थीभाव को निर्दुष्ट माना जा सकता है।

अव्याप्ति दोष का निवारण - विभक्ति विधान में परिभाषा की अप्रसक्ति से जो दोष की सम्भावना की गई है वह वास्तविक नहीं है, क्योंकि विभक्ति विधान में व्यपेक्षा सामर्थ्य के कारण परिभाषा की प्रवृत्ति न होने से भी कोई हानि नहीं है। क्योंकि क्रिया कारकों के मध्य अविनाभाव संबंध होता है। परिभाषा सूत्र की उपस्थिति न होने पर भी उनमें परस्पर अपेक्षा रूप सामर्थ्य अथवा व्यपेक्षा विद्यमान होने से अनिष्ट की आशंका नहीं हो सकती। उपपद विभक्तियों में तो दोष की संभावना ही नहीं है, क्योंकि वहाँ सर्वत्र सूत्रकार ने युक्ते आदि आवश्यक शब्दों का ग्रहण कर दिया है - जैसे "सहयुक्ते प्रधाने"- (२.३.१९.) "अन्तरान्तरेण युक्ते" - (२.३.४.) आदि। इन युक्त-सह आदि शब्दों के सामर्थ्य से असमर्थ में पदविधि की सम्भावना नहीं है।

पराङ्गवद् भाव में जो दोष प्रदर्शित किया गया है, उसका निवारण भाष्य पठित वार्तिक "तन्निमित्तग्रहणम्" से सम्भव है। इस वार्तिक का यह अभिप्राय है कि आमन्त्रित पद के अर्थ का जो निमित्त है उसे ही पराङ्गवद् भाव करना चाहिए। जैसे - मद्राणां राजन्, प्रयोग में मद्रों के राजा अर्थ में "राजन्" सम्बोधन का निमित्त मद्र देश है। अर्थात् मद्राणाम् पद में आमन्त्रित संज्ञक राजन् पद का निमित्तत्त्व विद्यमान है। (मद्रों के कारण ही राजा में राजत्व है, अतः मद्र पद राजा का निमित्त हुआ।)

समर्थ ग्रहण का औचित्य - सूत्रों में समर्थ ग्रहण के विषय में कोई निश्चित नियम की प्रतीति नहीं होती। कहीं सूत्रों में आवश्यक न होने पर भी सूत्रकार ने समर्थ ग्रहण किया है और कहीं-कहीं समर्थ पद की आवश्यकता होने पर भी उसका प्रयोग नहीं करते। उदाहरणार्थ - समर्थानां प्रथमाद् वा - (४.१.८२.) सूत्र में समर्थ पद आवश्यक प्रतीत नहीं होता फिर भी पठित है। "घकाल तनेषु०" - (६.३.१७.) सूत्र से ज्ञापित होता है कि तद्धित भी पद विधि है। इस सूत्र में काल वाचक शब्द से घ-काल और तन परे रहते सप्तमी का अलुक् कहा गया है और पूर्वाह्णेतरे - पूर्णाह्णेतरे आदि रूपों की सिद्धि की गई है। इससे सिद्ध होता है कि तद्धित अधिकार में विहित तरप्-तमप् (५.३.९२-९३.) प्रत्यय सुबन्त से होते हैं और इस प्रकार समास के समान ही तद्धित भी पद विधि ही है। तद्धित पद विधि होने से "समर्थः पदविधिः" सूत्र से तद्धितों में इष्ट व्यवस्था हो सकती है, उसके लिए "समर्थानाम्" पद आवश्यक

नहीं है।[४]

इसी प्रकार "कर्मण्यण्" - (३.२.१.) सूत्र में समर्थ ग्रहण की आवश्यकता है किन्तु सूत्रकार ने वहाँ समर्थ ग्रहण नहीं किया है। "समर्थः पद विधिः" परिभाषा यहाँ प्रवृत्त नहीं हो सकती क्योंकि "कर्म" उपपद पूर्वक कृ धातु से विहित अण् प्रत्यय, यह पद विधि नहीं कही जा सकती। "पञ्चकं प्रातिपदिकार्थः" नियम के अनुसार प्रातिपदिक से ही कर्मादि अर्थों का अभिधान होता है। अतः कर्मार्थक प्रातिपदिक उपपद होने पर धातु से अण् पत्यय (सूत्र कर्मण्यण् - ३.२.१.) का विधान यह पदविधि नहीं हो सकती। पद विधि न होने से नियमतः समर्थः पदविधिः परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। समर्थ ग्रहण के अभाव में देवदत्तस्य कुम्भं करोति, अर्थ में भी कुम्भ उपपद पूर्वक कृ धातु से अण् होकर देवदत्तस्य कुम्भकार - ऐसा अनिष्ट प्रयोग निष्पन्न हो जाएगा। देवदत्तस्य कुम्भकारः प्रयोग से वह अर्थ अभिव्यक्त नहीं होगा जो वक्ता को देवदत्तस्य कुम्भं करोति वाक्य में अभीष्ट है।

समाधान - उपर्युक्त विसंगतियों का समाधान इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है - 'समर्थानां प्रथमाद् वा' सूत्र में पठित समर्थ पद का वह आशय नहीं है जो आक्षेपवादी समझ रहा है। यहाँ सामर्थ्य का अभिप्राय - परिनिष्ठितत्त्व या कृतसन्धिकार्यत्व है। भाष्यकार के शब्दों में "किं पुनः सामर्थ्यम् ? कृत वर्णानुपूर्वाकं पदम् - सौत्थितिः।"

इस प्रकार आक्षेप कर्ता का यह कथन कि समर्थानाम्० सूत्र में समर्थ पद व्यर्थ है, अनुचित है।

कर्मण्यण् के सम्बन्ध में आक्षेप कर्ता यह मानकर आक्षेप करते हैं कि यह पदविधि नहीं है और इसलिए इस सूत्र में समर्थ पद की उपस्थिति नहीं हो सकती। कर्मण्यण् सूत्र में कर्म उपपद पूर्वक धातु से अण् विहित है अतः यह पदोद्देश्यक विधि के अन्तर्गत नहीं है और पदत्व सम्पादक विधि के अन्तर्गत है। इसका कारण है कि प्रत्ययोत्पत्ति के पश्चात् यह प्रातिपदिकत्व की निष्पत्ति करता है। (कृत् तद्धित समासाश्च - १.२.४६ से प्रातिपदिक संज्ञा सिद्ध होती है।)

वस्तुतः यह आक्षेप निर्मूल है। कर्मण्यण् सूत्र से कर्म, उपपद पूर्वक धातु से अण् विहित है। इसमें उपपद संज्ञा अन्वर्थ संज्ञा है जिसके सामर्थ्य से यह पदकार्य माना जा सकता है। कैयट के शब्दों में - "यतः उपपदमिति महत्याः संज्ञायाः करणं प्रत्ययस्य पदाश्रयत्वे सति समर्थ परिभाषा व्यापाराश्रयार्थम्" - (प्रदीप)

इसीलिए भाष्यकार कहते हैं कि - कर्मण्यण् आदि सूत्रों में समर्थ शब्द पठित न होने पर भी कुम्भकारः, नगरकारः आदि प्रयोगों में सामर्थ्य की नियमतः प्रतीति होती ही है। यहाँ सिद्धान्ततः भाष्यकार यह स्वीकार करते हैं कि यद्यपि इन प्रयोगों में सामर्थ्य की प्रतीति होती ही है तथापि यह प्रतीति प्रत्ययोत्पत्ति के पश्चात् होती है। प्रत्ययोत्पत्ति के पूर्व समर्थ शब्द से प्रत्यय विधान हेतु विधि सूत्र में समर्थ पद आवश्यक ही है। (ननु च गम्यते तत्र सामर्थ्यम् कुम्भकारः नगरकारः सत्यं गम्यत उत्पन्ने हि प्रत्यये। स एव तावत्समर्थादुत्पाद्यः। - म.भा.)

समर्थग्रहण का प्रयोजन - प्रकृत परिभाषा सूत्र में समर्थ ग्रहण के बल से असमर्थ में पदविधि नहीं होती। जैसे - पश्य देवदत्त ! कष्टम् श्रितो विष्णुमित्रो गुरुकुलम् - वाक्य में परस्पर असम्बद्ध कष्ट और श्रित शब्दों को द्वितीयाश्रितातीत० - (२.१.२४.) सूत्र से समास नहीं होता। इसी प्रकार तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन - (२.१.३०.) सूत्र से तृतीयान्त का उसके द्वारा किया गया जो गुण या तद्वाचक शब्द तथा अर्थ के साथ समास विहित है, जैसे - "शङ्कुलया खण्ड:" अर्थ में शङ्कुलाखण्ड:, किरिणा काण:, किरिकाण: आदि। यह समास "त्वं तिष्ठ शङ्कुलया खण्डो धावति मूसलेन" वाक्य में पठित शङ्कुलया खण्ड: शब्दों का समास नहीं होगा क्योंकि इनमें परस्पर सामर्थ्य नहीं। "चतुर्थी तदर्थार्थबलिहित सुख रक्षितै:" - (२.६.३६.) सूत्र से विहित चतुर्थी तत्पुरुष - समास, गवे हितम् अर्थ में गो और हित का समास होकर गोहितम् रूप निष्पन्न होता है, किन्तु "सुखं गोभ्य: हितं देवदत्तस्य" वाक्य में गोभ्य:-हितम् शब्दों का समास नहीं होता, क्योंकि इनमें सामर्थ्य नहीं है। "पञ्चमी भयेन" - (२.१.३७.) सूत्र से पञ्चम्यन्तों का भय शब्द के साथ समास होता है और वृकाद्भयम् अर्थ में वृकभयम् या दस्यो: भयम् , दस्युभयम्, चौराद्भयम्, चौरभयम् - ये समास सिद्ध होते हैं। किन्तु गच्छ त्वं मा वृकेभ्य:, भयं देवदत्ताद् यज्ञदत्तस्तस्य - वाक्यों में वृकेभ्य: और भयम् का समास नहीं होता क्योंकि इनमें परस्पर अन्वय का सामर्थ्य नहीं है। षष्ठी - (२.१.८.) सूत्र से षष्ठ्यन्तसुबन्त का समर्थ से समास होता है और राज्ञ: पुरुष: = राजपुरुष:, ब्राह्मणस्य कम्बल: = ब्रह्मणकम्बल: समास सिद्ध होते हैं। भार्या राज्ञ: पुरषो देवदत्तस्य - वाक्यों में राज्ञ: पुरुष: शब्दों में समास की योग्यता नहीं है, क्योंकि इनमें परस्पर अन्वय की योग्यता नहीं है। यही सूत्र में समर्थ ग्रहण का प्रयोजन है। "सप्तमी शौण्डै:" - (२.१.४०.) सूत्र से अक्षेषु शौण्ड: = अक्षशौण्ड:, स्त्रीषु शौण्ड: = स्त्रीशौण्ड: आदि समास सिद्ध होते हैं, क्योंकि इन शब्दों में सामर्थ्य है।

"कुशले देवदत्तोऽक्षेषु: शौण्ड: पिबति पानागारे" आदि वाक्यों में अक्षेषु और शौण्ड: शब्द परस्पर असमर्थ होने से समास योग्य नहीं हैं।

सापेक्षमसमर्थम् - पदों में विद्यमान सामर्थ्य उस समय क्षीण हो जाता है जब वे किसी अन्य विशेषण से अन्वय की अपेक्षा रखते हैं। जैसे - "महत् कष्टं श्रित:" - वाक्य में कष्टं पद महत् विशेषण के प्रति सापेक्ष है अत: श्रित: सुबन्त के साथ उसकी समास योग्यता नहीं है। इसी आधार पर आचार्यो ने "सविशेषणानां वृत्तिर्न, वृत्तस्य विशेषण योगो न" यह नियम प्रतिपादित किया है। सापेक्षमसमर्थम् का भी यही आशय है। इसी प्रकार शोभनस्य राज्ञ: पुरुष: आदि वाक्यावस्था में प्रयुक्त राज्ञ: पुरुष: पदों में समास नहीं होता क्योंकि राज्ञ: पद शोभनस्य के प्रति सापेक्ष है। भाष्यकार इस प्रसङ्ग में कहते हैं कि इन वाक्यों में राज्ञ: पुरुष: सुबन्तों के मध्य में एकार्थीभाव [५] रूप सामर्थ्य नहीं है अत: इनमें समास नहीं हो सकता। वस्तुत: विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध के कारण साकांक्ष रहने वाले पद सामर्थ्यहीन [६] होते हैं।

सापेक्ष पद की व्याख्या - पूर्व में सापेक्ष पद को असमर्थ कहकर शोभनस्य राज्ञ: पुरुष: में समास की निवृत्ति की गई क्योंकि राज्ञ: पद शोभनस्य के प्रति सापेक्ष है किन्तु राज्ञ: पुरुष: अभिरूप: प्रयोग में पुरुष: पद अभिरूप के प्रति सापेक्ष होने पर भी यहाँ राज्ञ:-पुरुष: में समास होकर राजपुरुष: अभिरूप: प्रयोग निष्पन्न हो जाता है - यह कैसे युक्तिसंगत हो सकता है ? यहाँ पुरुष: पद सापेक्ष होने से असमर्थ क्यों नहीं है ? यह आशङ्का उपस्थित हो सकती है। भाष्यकार ने इस आशंका का स्पष्ट शब्दों में

निवारण करते हुए कहा है कि "नैष दोषः । प्रधानमत्र सापेक्षम् । भवति च प्रधानस्य सापेक्षस्यापि समासः ।" इसका तात्पर्य यह है कि समास में प्रधान पद सापेक्ष होने पर भी वह असमर्थ नहीं होता। अप्रधान या उपसर्जनीभूत पद में ही सापेक्षता के कारण असमर्थता आती है। राजपुरुषः में पुरुषः पद प्रधान है, अतः वह अभिरूपः के प्रति सापेक्ष होने पर भी समास में बाधक नहीं बनता।

अपवाद - उपर्युक्त नियमों के प्रतिपादन के पश्चात् भी लोक में कतिपय अपवादात्मक प्रयोग उपलब्ध होते हैं, जिनमें उपर्युक्त नियमों का उल्लंघन दृष्टिगत होता है। जैसे - "देवदत्तस्य गुरुकुलम्", "देवदत्तस्य गुरुपुत्रः" तथा "देवदत्तस्य दासभार्या " इत्यादि प्रयोगों में पूर्वपद अप्रधान है एवं देवदत्त के प्रति साकांक्ष भी है। जब सापेक्ष अप्रधान पद सामर्थ्यहीन होते हैं तब इन प्रयोगों में समास कैसे हो सकता है ?

लोक व्यवहार - उपर्युक्त अनियमित प्रयोगों की शुद्धता के लिए भाष्यकार मुख्यरूप से लोक-व्यवहार को ही प्रमाण मानते हैं। देवदत्तस्य गुरुकुलम् प्रयोग में देवदत्त की षष्ठी विभक्ति का सम्बन्ध सम्पूर्ण गुरुकुल शब्द के साथ मानना चाहिए। इस षष्ठी विभक्ति के द्वारा देवदत्त का सम्बन्ध सम्पूर्ण गुरुकुल के साथ प्रतिपादित किया जाता है। वस्तुतः देवदत्त का प्रत्यक्ष सम्बन्ध गुरु के साथ है, जो गुरुकुल इस समुदाय का एक अंश है। इस रूप में देवदत्त समुदाय के एक अंश से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है - उसी माध्यम से वह सम्पूर्ण समुदाय से भी सम्बन्ध की योग्यता रखता है अर्थात् देवदत्त का गुरु के साथ रहने वाला सम्बन्ध, गुरु + कुल - इन पदों में वृत्ति (समास) करने मात्र से विच्छिन्न नहीं हो जाता। इसीलिए गुरु शब्द देवदत्त के प्रति साकांक्ष होने पर भी कुल के साथ समस्त होने में उसका सामर्थ्य बाधित नहीं होता। सामान्यतः समुदाय के साथ होने वाला सम्बन्ध अवयव के माध्यम से ही होता है उसी प्रकार प्रकृत प्रयोगों में देवदत्त का सम्बन्ध गुरु के माध्यम से गुरुकुल के साथ माना जा सकता है। न्यासकार के शब्दों में "अवयवद्वारकश्च देवदत्तस्य समुदायेन सम्बन्ध इति सामर्थ्यादवयवमपि विशेषणं स्पृशति - तदुक्तम्।

समुदायेन साम्बन्धौ येषां गुरुकुलादिना
संस्पृश्यावयवास्ते तु युज्यन्ते तद्वता सह।"

इस के समर्थन में वृत्तिकार ने शिवस्य भगवतो भक्तः अर्थ में शिव भागवतः उदाहरण उद्धृत किया है। "अयः शूल०" - (५.२.७६.) आदि सूत्र में भाष्यकार ने शिवस्य भागवतः अर्थ में षष्ठी समास कर "शिव भागवतः" प्रयोग किया है। भागवतः इस तद्धित प्रयोग में भगवत् शब्द से भक्तिः - (४.३.४५.) अर्थ में अण् होता है। यह भगवत् शब्द स्वयं शिव के प्रति (शिवस्य भगवतः) सापेक्ष है तथापि भक्ति अर्थ में तद्धित वृत्ति होती है और भागवत शब्द निष्पन्न होता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि समुदायापेक्षा षष्ठी मानकर देवदत्तस्य गुरुकुलम् जैसे प्रयोगों की सिद्धि की जा सकती है।

अव्याप्ति - समुदायापेक्षा षष्ठी मानने पर देवदत्तस्य गुरुकुलम् की उपपत्ति तो हो जाती है किन्तु जिन प्रयोगों में षष्ठी के द्वारा समुदाय के साथ सम्बन्ध प्रदर्शित नहीं होता, ऐसे स्थलों पर

समास की सिद्धि सम्भव नहीं होगी। जैसे - "किमोदनः शालीनाम् ?", "सक्त्वाढकवापणीयानाम् कुतो भवान् पाटलिपुत्रकः?" इत्यादि वाक्यों में षष्ठी का सम्बन्ध समुदाय से नहीं वरन् उसके अवयव से है। किमोदनः शालीनाम् ? का आशय है - किस चाँवल का भात है ? राजभोग अथवा दूबराज ? इस पृच्छा में किम् का सम्बन्ध शालि के साथ है - इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में सक्तू का सम्बन्ध आपणियों से है और कुतः का सम्बन्ध पाटलिपुत्र से है। तीनों प्रयोगों में षष्ठी विभक्ति समुदाय के साथ सम्बन्ध की वाचिका नहीं है अपितु समुदाय के एक अंश के साथ सम्बन्ध बता रहीं है। यदि समुदायापेक्षा षष्ठी मानते हैं तो शालीनाम् की षष्ठी शालि समुदाय के साथ सम्बद्ध माननी होगी, जो कि असम्भव है। समस्त शालियों का भात यहाँ विवक्षित नहीं है किन्तु उसके कुछ अंश की विवक्षा है।

देवदत्तस्य गुरुकुलम् प्रयोग में उक्त आधार पर देवदत्त की षष्ठी को समुदाय (गुरुकुल) के साथ सम्बन्ध की वाचिका मानने पर अभीष्ट अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। देवदत्तस्य गुरुकुलम् - या देवदत्तस्य गुरुपुत्रः आदि प्रयोगों में वक्ता की देवदत्त के गुरु का पुत्र या देवदत्त के गुरु का कुल यह अर्थ विवक्षित है। किन्तु अब षष्ठी को समुदाय के साथ सम्बद्ध करते हैं तब किसी भी गुरु का पुत्र, जो देवदत्त का सम्बन्धी है। (अन्यस्यापि गुरुपुत्रो देवदत्तस्य किञ्चिदित्येषोऽर्थो गम्येत - म. भा.)

चूँकि देवदत्त का जो गुरु इसी गुरु का पुत्र देवदत्तस्य गुरुपुत्रः वाक्य से ज्ञात होता है अतः देवदत्तस्य यह षष्ठी निश्चित रूप से गुरुपुत्र - इस समुदाय के साथ सम्बन्ध की वाचिका नहीं हो सकती। इससे सिद्ध है कि "सापेक्षमसमर्थवत्" यह कथन अर्थात् साकांक्ष शब्द सामर्थ्यहीन होता है - यह मत अयुक्त है। अन्यत्र भी समर्थ को कहा गया कार्य साकांक्ष हो जाता है, जैसे - इसुसोः सामर्थ्ये सूत्र से ब्राह्मणस्य सर्पिष्करोति में इस् के स् को षत्त्व की सिद्धि हो जाती है। यदि सापेक्षमसमर्थवत् होता तो इस वाक्य में सर्पिस् शब्द ब्राह्मणस्य के प्रति सापेक्ष होने से असमर्थ होता और असामर्थ्यात् इसुसोः० से षत्व की प्राप्ति नहीं होगी। जिस प्रकार तिष्ठतु सर्पिः पिब त्वमुदकम् में सर्पिः के विसर्ग को षत्व नहीं होता क्योंकि वही तिष्ठतु के प्रति साकांक्ष है। इसी आधार पर महत् कष्टं श्रितः इत्यादि प्रयोगों में भी कष्टं श्रितः में परस्पर समास (द्वितीया श्रितातीत० - २.१.२४.) से समास हो जाना चाहिए। यदि यहाँ समास अभीष्ट नहीं है, क्योंकि कष्टं शब्द महत् विशेषण के साथ साकांक्ष है और विशेषण युक्त शब्द की दूसरे सुबन्त के साथ वृत्ति अभीष्ट नहीं है तो तदाशय का वचनारम्भ "सविशेषणानां वृत्तिर्न" और "वृत्तस्य विशेषणयोगो न" इस प्रकार करना आवश्यक है।

विशेषणयुक्त शब्द की वृत्ति नहीं होगी और वृत्ति में स्थित विशेषण शब्द के साथ दूसरा विशेषण नहीं आ सकता, इस प्रकार नियमारम्भ करते हैं तब देवदत्तस्य गुरुकुलम्, देवदत्तस्य दासभार्या इत्यादि वृत्तियाँ उपपन्न नहीं होंगी। इस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ भाष्यकार ऐसा उपक्रम करते हैं कि गुरुपुत्रादि प्रयोगों को अपवाद मान लिया जाए और **"सविशेषणानां वृत्तिर्न वृत्तस्य विशेषणयोगोन अगुरुपुत्रादीनाम्"** इस प्रकार वचनारम्भ किया जाए।

लोक न्याय से अभीष्ट सिद्धि - सिद्धान्ततः भाष्यकार उपर्युक्त वचनारम्भ के पक्ष में नहीं हैं। यदि वचनारम्भ नहीं करते तो देवदत्तस्य गुरुपुत्र की सिद्धि तो हो जाती है किन्तु महत् कष्टं श्रितः में समास की अतिव्याप्ति हो जाती है। इस आपत्ति के निवारणार्थ आचार्य, लोक प्रमाण को सर्वतोपरि

मानकर यह प्रतिपादित करते हैं कि शास्त्र के द्वारा लोक प्रमाण का उल्लंघन नहीं होना चाहिए। "महत् कष्टं श्रितः" वाक्य में समास वृत्ति करने पर अभीष्ट अर्थ का बोध नहीं होता। विग्रह वाक्य और समास से तुल्य अर्थ का बोध होना चाहिए।[७] महत् कष्टं श्रितः इस वाक्यावस्था में जिस अर्थ का बोध होता है, वही अर्थ कष्टं श्रितः में समास करने पर महत् कष्टश्रितः कहने से नहीं हो सकता। अतः इष्टार्थ बोध न होने से यहाँ वृत्ति नहीं होती। इसके विपरीत देवदत्तस्य गुरोः पुत्रः या देवदत्तस्य गुरोः कुलम् में समास करने पर देवदत्तस्य गुरुकुलम् या देवदत्तस्य गुरुपुत्रः में अभीष्ट अर्थ प्रतीत हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जहाँ समास कर देने पर भी वाक्यार्थ सुरक्षित रहता है, वहाँ समास करने में कोई दोष नहीं है। गुरु-दास आदि भाषा में प्रचलित शब्द नित्य सापेक्ष होते हैं अर्थात् इनका श्रवण होते ही बुद्धि में यह आकांक्षा उपस्थित होती है कि - किसका गुरु ? या किसका दास ? यही कारण है कि देवदत्त शब्द यद्यपि समास से बाहर पठित है तथापि देवदत्त का गुरु या देवदत्त का दास यह अर्थ तुरन्त प्रतीत हो जाता है। परिणाम स्वरुप देवदत्तस्य गुरोः कुलम् या देवदत्तस्य गुरोः पुत्रः इन वाक्यों से जो अर्थ प्रतीत होता है वही अर्थ श्रोता को देवदत्तस्य गुरुकुलम् या देवदत्तस्य गुरुपुत्रः कहने पर भी प्रतीत हो जाता है।

समर्थ परिभाषा का प्रयोजन - उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर यदि यह निष्कर्ष निकलता है कि अर्थ प्रतीति का न होना ही महत् कष्टं श्रितः में समास न होने का एकमात्र हेतु है, तब तो समर्थ परिभाषा ही व्यर्थ हो जाएगी। भार्या राज्ञः पुरुषो देवदत्तस्य - वाक्य से जिस अर्थ की प्रतीति हो रही है वह अर्थ यहाँ राज्ञः पुरुषः समास कर देने पर भार्या राजपुरुषः देवदत्तस्य - इस प्रयोग से कदापि निष्पन्न नहीं होता। अतः समास होने का प्रश्न ही नहीं। इसके लिए समर्थ परिभाषा की सार्थकता का प्रतिपादन करना व्यर्थ है।

इस आशंका पर विचार करते हुए आचार्य ने समर्थपरिभाषा का प्रयोजन नञ् समासों में प्रदर्शित किया है जहाँ सामर्थ्यहीन होने पर भी वे अर्थ बोधक माने जाते हैं। लोक में जिस प्रकार गावी गोणी आदि शब्द असाधु होने पर भी अर्थ बोधक होते हैं, उसी प्रकार शास्त्र में कतिपय समास असमर्थ या सामर्थ्यहीन होने पर अर्थ बोधक होते हैं। समर्थ परिभाषा के अभाव में ये समास सामर्थ्यहीन हैं - फिर भी साधु सिद्ध हो जाएँगे। उदाहरणार्थ - अकिञ्चित् कुर्वाणम् अमाषं हरमाणम् अगाधादुत्सष्टम् इत्यादि समासों में - अकिञ्चित् कुर्वाणम् का आशय है - कुछ भी न करने वाला, अमाषं हरमाणम् का अर्थ - माष (उड़द) को न हरने वाला, अगाधादुत्सृष्टम् का अर्थ - गहराई से न निकाला गया। इन प्रयोगों में किञ्चित् - माष और गाध शब्दों के साथ न का समास है। यद्यपि न का अन्वय इन शब्दों के साथ नहीं होता वरन् कुर्वाणम्, हरमाणम् और उत्सृष्टम् शब्दों के साथ होता है किन्तु समास किञ्चित् आदि के साथ होता है। अतः सामर्थ्यहीन पदों में समास है तथापि अर्थ प्रतीति कराते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से ये असमर्थ समास हैं। समर्थ परिभाषा के अभाव में इन सभी समासों में अर्थबोध क्षमता होने से ये साधु सिद्ध हो जाएँगे।

वस्तुतः उपर्युक्त असमर्थ समासों के लिए समर्थ परिभाषा की उपयोगिता प्रतिपादित करना अनुचित है। क्योंकि कतिपय असमर्थ और अर्थ बोधक समासों में साधुत्व की प्रतिपत्ति आवश्यक है, जैसे - असूर्यम्पश्यानि मुखानि - अपुनर्गेया श्लोकाः - अश्राद्धभोजी ब्राह्मणः इत्यादि। प्रकृत परिभाषा सूत्र के अभाव में इन समासों के साधुत्व को "सुडनपुंसकस्य" - (१.१.४३.) के अनपुंसकस्य पद को नियमार्थ मानकर प्रतिपादित किया जा सकता है। अनपुंसकस्य पद प्रसज्य प्रतिषेध है और असमर्थ समास

है। इसे असमर्थ होने पर भी इस रूप में नियमार्थक सिद्ध किया जा सकता है कि - कतिपय असमर्थ समासों में भी साधुत्व होता है, जैसे - असूर्यपश्यानि मुखानि इत्यादि। इन असमर्थ नञ् समासों का परिगणन करना ही होगा। नियम के बल से असमर्थ नञ् में केवल "अनपुंसकस्य" को ही साधु माना जाएगा और अकिञ्चित् कुर्वाणम् आदि असाधु ही रहेंगे।

इस प्रकार समर्थ ग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट रूप से प्रतिपादित नहीं हो सका तथापि मन्दबुद्धि अध्येता के लिए समर्थ पद का ग्रहण आवश्यक मानने पर भी यह प्रश्न अवस्थित ही है कि "समर्थ" का तात्पर्य क्या है।

समर्थ पद की व्याख्या - पृथक्-पृथक् अर्थों के प्रतिपादक विभिन्न पद जब एक साथ मिलकर किसी शक्ति के बल पर एक अर्थ का बोध करते हैं वह शक्ति एकार्थीभाव कही जाती है। यह एकार्थीभाव ही समर्थ पद से विवक्षित है। (पृथगर्थानामेकार्थीभावः समर्थवचनम् - वा.-1) उदाहरणार्थ - राज्ञः पुरुषः आदि वाक्यों में राज्ञः और पुरुषः भिन्न-भिन्न अर्थो के वाचक हैं किन्तु समस्त हो जाने पर "राजपुरुषः" पद से एक अभिन्न अर्थ का बोध कराते हैं। इस प्रसङ्ग में यह शंका उपस्थित हो सकती है कि यदि वाक्य में पदों का अर्थ भिन्न और समास में भिन्न अर्थ माने तो "राज्ञः पुरुषः आनीयताम्०" कहने पर राजा का नौकर लाया जाता है और "राजपुरुषः आनीयताम्" कहने पर भी राजा का नौकर ही लाया जाता है। यह कैसे सम्भव है ? इस शंका के समाधान में भाष्यकार, समास द्वारा प्रतिपादित अर्थ और वाक्यार्थ में अन्तर स्पष्ट करते हुए कहते हैं - "सुबलोपो व्यवधानं यथेष्टमन्यतरेणाभिसम्बन्धः स्वरः" वृत्ति और वाक्य के भेदक तत्त्व निम्न लिखित हैं - १. सुपों का अलुक्, २. पद का व्यवधान, ३. परस्परों का यथेष्ट प्रयोग, ४. स्वरभेद। उदाहरणार्थ - राज्ञः पुरुषः, इस वाक्यावस्था में एकार्थीभाव नहीं है अतः राजन् शब्द से षष्ठी विभक्ति दृश्यमान है, उसका लुक् नहीं है। समास होने पर राजपुरुष में राजन् की षष्ठी का लुक् हो जाता है। दूसरा भेद पदों के व्यवधान का है। वाक्यावस्था में राज्ञः और पुरुषः के मध्य ऋद्धस्य पद का व्यवधान हो सकता है और राज्ञः ऋद्धस्य पुरुषः का प्रयोग हो सकता है किन्तु समास में ऐसो व्यवधान सम्भव नहीं है। तृतीय भेद वाक्य में पदों का यथेष्ट प्रयोग हो सकता है, जैसे - राज्ञः पुरुषः या पुरुषः राज्ञः। समास में यह सम्भव नहीं है। चतुर्थभेद राज्ञः पुरुषः में राज्ञः पद आद्युदात्त और पुरुषः भी आद्युदात्त है।[८] इन पदों में समास होने पर राजपुरुषः पद अन्तोदात्त (६.१.२२३.) हो जाता है।

उपर्युक्त चार भेद एकार्थीभाव जन्य मानना अयुक्तिकर है। इसका कारण यह है कि भगवान् पाणिनि ने स्वयं "सुपो धातुप्रातिपदिकयोः" - (२.४.७१.) सूत्र से धातु और प्रातिपदिक के अवयव भूत सुप् का लुक् किया है अतः राजपुरुष में राजन् की षष्ठी लुक् होना और राज्ञः पुरुषः में षष्ठी का विद्यमान रहना यह एकार्थीभाव के कारण नहीं।

इस प्रकार समास में पदों के प्रयोग नियम का न होना "उपसर्जनं पूर्वम्" - (२.२.३०.) सूत्र से सिद्ध है। उपसर्जन संज्ञक शब्द समास में पूर्व प्रयुक्त होते हैं। कभी समास में भी पौर्वापर्य का यथेष्ट प्रयोग होता है, जैसे - अन्तश्च आदिश्च = अन्तादी और आदिश्च अन्तश्च = आद्यन्तौ दोनों रूप सिद्ध होते हैं। स्वर के लिए भी सूत्रकार ने समासस्य - (६.१.२२३.) सूत्रारम्भ किया है जिसके बल से समास में स्वर सिद्धि होती है - यह स्वर एकार्थीभाव कृत वैशिष्ट्य के कारण नहीं है।

एकार्थीभावकृत विशेषाः - समास में एकार्थीभाव के कारण जो विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं उसे एक वार्तिक में उद्धृत किया गया है - "संख्याविशेषो व्यक्ताभिधानमुपसर्जनविशेषणं च योग इति।" इसका आशय है कि वाक्य में विशिष्ट संख्या का बोध होता है। उदाहरणार्थ - राज्ञः पुरुष, राज्ञोः पुरुषः, राज्ञां पुरुषः आदि वाक्यों में क्रमशः एक, दो और तीन राजाओं का पुरुष - इस प्रकार एक, दो और तीन इन विशिष्ट संख्याओं का बोध होता है। इन्हीं अर्थो में राजपुरुषः समास करने पर, राज सम्बन्धी पुरुष यही बोध होता है। राजगत विशिष्ट संख्याओं का बोध समास में नहीं होता।

वस्तुतः समास में संख्या विशेष का बोध न होना - यह भी एकार्थीभाव का फल नहीं कहा जा सकता। संख्या का बोध समास में नहीं होता क्योंकि संख्या वाचक पद उसमें उच्चरित नहीं है अथवा शब्द उच्चरित न होने से अर्थ बोध नहीं होता, यह युक्ति असंगत है क्योंकि अर्थ शब्द पर आश्रित नहीं हैं अपितु शब्दों का प्रयोग अर्थ पर आधारित होता है। (न हि शब्द कृतेन नामार्थेन भवितव्यम्। अर्थ कृतेन नाम शब्देन भवितव्यम्। अर्थरूपमेवैतदेवं जातीयकं येनात्र विशेषो न गम्यत इति। - म.भा.) इसके अनुसार समास में संख्या का बोध अभीष्ट ही नहीं है, अतः उसका वाचक शब्द भी आवश्यक नहीं होता। आचार्य पाणिनि ने "सुपो धातु प्रातिपदिकयोः" - (२.४.७१.) सूत्र से समास में विभक्ति का लुक् विधान करते हुए इसी तथ्य की ओर संकेत किया है। आचार्य कैयट ने अत्यन्त सटीक शब्दों में इस भाव को व्यक्त किया है - "न हि विद्यमानेऽर्थे लुकमाचार्यो ऽन्वाचष्टे अपि त्वर्थस्याभावात् स्वत एवया शब्दस्य निवृत्तिः सैवानुगम्येत इत्यर्थः।"

उपर्युक्त सिद्धान्त को स्वीकार करना आवश्यक है अन्यथा वाचक शब्द के अभाव में संख्या की प्रतीति न मानना, नियम का अवलम्ब करने पर अप्सुचरः गोषुचरः वर्षासुजः आदि समासों में संख्यावाचक सप्तमी बहुवचन की विभक्ति दृश्यमान है तब बहुवचन का बोध हो जाएगा। जबकि इन प्रयोगों में संख्या का कोई महत्व नहीं है। मछली-कछुवा आदि जन्तुओं को अप्सुचर कहा जाता है। मुर्गों को गोषुचर कहते हैं। वर्षाऋतु में उत्पन्न होने वाले इन्द्रगोप नामक कीट को वर्षासुज कहते हैं। इन उदाहरणों में संख्या विशेष की प्रतीति होना अथवा न होना, एकार्थीभाव के कारण सम्भव है।

समास और वाक्य में दूसरा अन्तर स्पष्टार्थ प्रतीति कहा गया है। उदाहरणार्थ - ब्राह्मणस्य कम्बलस्तिष्ठति - इस वाक्य से ब्राह्मण का जिस कम्बल पर स्वामित्व है ऐसा कम्बल - यह अर्थ स्पष्ट रुप से प्रतीत होता है। समास में ऐसा स्पष्ट अर्थ प्रतीत नहीं होता। जैसे - ब्राह्मण कम्बलस्तिष्ठति - कहने पर यह सन्देह उपस्थित हो सकता है कि ब्राह्मण पद सम्बोधन का रूप है अथवा षष्ठी तत्पुरुष का पूर्वपद है ?

यह अन्तर भी अवास्तविक है क्योंकि वाक्य में भी अर्थ विषयक सन्देह उपस्थित हो सकता है। जो समास में स्पष्ट हो जाता है। जैसे - अर्ध पशोर्देवदत्तस्य कहने पर दो प्रकार का अर्थ बोध सम्भव है। - १. पशुतुल्य देवदत्त का अर्धांश अथवा २. पशु का अर्धांश जो देवदत्त का है। समास करने पर यह अर्थ विषयक संशय दूर हो जाता है। जैसे - "अर्धपशुर्देवदत्तस्य" कहने पर एक ही अर्थ निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि देवदत्त का स्वामित्व अर्धपशु पर है। समास और वाक्य के मध्य तृतीय अन्तर विशेषण के अन्वय का है। वाक्य में एक विशेषण के साथ दूसरा विशेषण आ सकता है, जैसे - ऋद्धस्य राज्ञः

पुरुषः। समास में ऐसी व्यवस्था नहीं है। यदि राज्ञः का विशेषण ऋद्धस्य है तब उसका (राज्ञः का) पुरुष के साथ समास नहीं होता।

यह अन्तर भी तात्त्विक नहीं कहा जा सकता क्योंकि समास में विशेषण नहीं आ सकता यह नियम सार्वत्रिक नहीं है। समास में भी विशेषण के साथ विशेषण का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। जैसे - देवदत्तस्य गुरुकुलम्, देवदत्तस्य गुरुपुत्रः, देवदत्तस्य दास भार्या आदि प्रयोगों में देवदत्तस्य पद समास के पूर्वपद का (देवदत्त आदि का) विशेषण है।

वाक्य और समास के मध्य भेदक तत्त्वों में चकार का प्रयोग एक भेदक तत्त्व माना जा सकता है। भिन्न पदार्थों का अथवा व्यक्तियों का समुच्चय प्रदर्शित करना हो तो वाक्य में चकार का प्रयोग किया जाता है। जैसे - राज्ञो गौश्चाश्वश्च पुरुषश्च - इस वाक्य से राजा के स्वामित्व से युक्त बैल-घोड़े और पुरुष का समुच्चय च शब्द के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। समास में यह चकार प्रयुक्त नहीं होता। जैसे - राज्ञो गवाश्वपुरुषाः। इसी प्रकार बैल के स्वामियों का समुच्चय विवक्षित होने पर देवदत्तस्य च यज्ञदत्तस्य च विष्णुमित्रस्य च गौः - प्रयोग किया जाता है। यहाँ समुच्चय बोधक चकार का प्रयोग देवदत्तादि के साथ किया गया है। समास में यह चकार प्रयुक्त नहीं होगा और देवदत्त यज्ञदत्त विष्णुमित्राणां गौः - प्रयोग निष्पन्न होता है। इससे सिद्ध है कि वाक्य में पदार्थ भिन्न-भिन्न होते हैं, अतः भेदमूलक समुच्चय के द्योतनार्थ च शब्द का प्रयोग आवश्यक होता है। समास में समूह लक्षण-एकार्थीभाव का प्रादुर्भाव होकर पदार्थों के भेद की निवृत्ति हो जाती है। अतः उसका द्योतक च शब्द भी निवृत्त हो जाता है।

समास में एकार्थीभाव की स्थापना - उपर्युक्त दृष्टान्त से स्पष्ट होता है कि समास में एकार्थीभाव के कारण विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन होता है। इस स्थल पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि एकार्थीभाव के द्वारा प्रतीत होने वाला विशिष्ट अर्थ तत्तत् शब्दों के द्वारा स्वाभाविक रूप से प्रतीत हो जाता है अथवा वचनारम्भ के बल से प्रतीत होता है।

भाष्यकार के मत में यह एकार्थीभाव रूप विशिष्ट अर्थ स्वाभाविक रूप से प्रतीत होता है, इसकी प्रतीति के लिए किसी वचनारम्भ की आवश्यकता नहीं है। यद्यपि समास तद्धित आदि वृत्तियों में अनेकमन्य पदार्थे, चार्थे द्वन्द्वः, अपत्य रक्त निवृत्त आदि अर्थो का निर्देश पाणिनि करते हैं, वह अर्थ निर्देश विधेय कोटि का नहीं है वरन् द्वन्द्व बहुव्रीहि आदि समासों के निमित्त के रूप में इन अर्थो का निर्देश है। द्वन्द्व समास में चकार के अर्थो का बोध स्वभावतः ही होता है। उन चार्थो में द्वन्द्व का विधान सूत्र से किया गया है। इसी प्रकार अन्य पदार्थ को बताने वाले बहुव्रीहि हैं। (अनेकमन्यपदार्थे) इस प्रकार निमित्त के रूप में तत्तत् स्थानों पर तत्तत् अर्थो से निर्देश सूत्रों में दिए गए हैं। लोक में जिस प्रकार "कूपे हस्तदक्षिणः पन्थाः, अभ्रे चन्द्रमसं पश्य" - अर्थात् कुएं की दाहिनी ओर से मार्ग है। यहा बादलों में चन्द्रमा को देखो। - यह कहने पर मूलतः मार्ग वहीं का वहीं स्थिर है, चन्द्रमा भी अपने ही स्थान पर स्थित है, केवल उनके अभिज्ञान या पहिचान के रूप में कुएँ का और बादल का निर्देश किया जाता है।

शास्त्र में भी स्वभावतः च के अर्थ को प्रकट करने वाले जो अनेक सुबन्त होते हैं वे द्वन्द्वसंज्ञक

होते हैं और अन्य पदार्थ को प्रकट करने वाले अनेक प्रथमान्त पद बहुव्रीहि संज्ञक होते हैं।

उपर्युक्त सूत्रों में सामान्यरूप से चार्थे द्वन्द्वः, अनेकमन्य पदार्थे - आदि सूत्रों में अर्थ का विधान परिलक्षित होता है तथापि उसे अर्थ निर्देश न मानकर निमित्त माना गया है, इसका प्रयोजन यह है कि उपर्युक्त सूत्रों में अर्थो का विधान स्वीकार करने पर गौरव दोष की आपत्ति होती है। चार्थे द्वन्द्वः में अर्थ का विधान मानने पर वाक्य भेद के द्वारा अर्थ सिद्धि होगी। प्रथम अर्थ होगा - अनेक सुबन्त च के अर्थ में समस्त होते हैं और तब उनकी द्वन्द्व संज्ञा होती है। इस प्रकार दो वाक्यार्थों की कल्पना करनी पड़ती है और दो विधियाँ माननी पड़ती है। इसके अतिरिक्त अनवस्था दोष भी उत्पन्न होता है। जैसे - समास विधायक सूत्रों को अर्थो के विधान करने वाले सूत्र मानें अर्थात् समास के सूत्रों से एकार्थीभाव का विधान होता है या एकार्थी भाव सूत्रों से वाच्य होता है - ऐसा स्वीकार करें तो वह विधान किसी न किसी शब्द के द्वारा ही हो सकता है। जैसे - चार्थे द्वन्द्वः में चार्थ शब्द के द्वारा अर्थ का निर्देश है। च का जो अर्थ है वह रामकृष्णौ आदि अनेक सुबन्तों का है। किन्तु प्रश्न यह है कि उस च शब्द का अर्थ क्या है, जो रामकृष्णौ से वाच्य हो रहा है ? यह अनवस्था दोष एकार्थीभाव को वाचनिक मानने से उत्पन्न होता है। स्वाभाविक रूप से अर्थ की प्रतीति मानने पर यह दोष उत्पन्न नहीं होता। च शब्द का अर्थ इतरेतर और समाहार है ऐसी प्रतीति कराने वाला विधान कहीं न कहीं होना चाहिए। जहाँ कहीं ऐसा विधान किया गया होगा, वहाँ भी किसी न किसी शब्द से ही उसका निर्देश होगा। तब उस स्थल पर भी प्रश्न उपस्थित होगा कि जिस शब्द से उस अर्थ का निर्देश है उस शब्द के अर्थ का विधान भी अन्यत्र कहीं किया होना चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि इस प्रकार के अर्थ की आकांक्षा निरन्तर बनी ही रहेगी और उसकी परिसमाप्ति कहीं भी नहीं होगी। इस अनवस्था दोष के कारण समासादि वृत्ति में एकार्थीभाव स्वाभाविक रूप से व्यक्त होता है, वाचनिक नहीं है - ऐसा सिद्धान्ती का मत है।

इसके अतिरिक्त अर्थ का विधान करना सम्भव भी नहीं है। क्योंकि धातु प्रातिपदिक प्रत्यय और निपातों के अनेक अर्थ होते हैं। इन अनेक अर्थो को जानना सम्भव नहीं है।

शंकाकार इस प्रसंग में यह प्रतिपादित करना चाहता है कि धातु-प्रातिपदिक आदि के अर्थो का निर्देश आचार्य पाणिनि ने किया है। किसी भी प्रत्यय के अर्थ का निर्देश करते समय प्रकृति के अर्थ का निर्देश न किया जाए, यह सम्भव नहीं। उदाहरणार्थ - शुक्ल कृष्ण आदि केवल गुणों का अभिधान होने पर गुणों के आश्रयभूत घट-पटादि गुणियों का भी आक्षेप द्वारा बोध हो ही जाता है। एकत्व-द्वित्व अर्थ के प्रत्ययों का विधान करते हुए उन प्रत्ययों की प्रकृति भूत वृक्षादि का बोध होता ही है।

शंकाकार द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त दृष्टांत युक्तिसंगत नहीं है। इस धारणा से वृक्षादि प्रकृतिभूत शब्द सामान्य अर्थ के बोधक सामान्य शब्द सिद्ध हो जाएंगे। वस्तुतः नियमानुसार सामान्य अर्थ के वाचक सामान्य शब्द प्रकरणादि के बिना विशेषार्थ का बोध नहीं कराते। जैसे - शुक्लादि गुणवाचक शब्द भी विशेषार्थ वाचक शब्द के समीप होने पर ही विशेष अर्थ का बोध कराते हैं। शंकावादी के दृष्टान्त में यह नियम घटित नहीं होता। वास्तविकता यह है कि वृक्ष शब्द का उच्चारण होते ही स्वभावतः उससे एक विशेष अर्थ का बोध हो जाता है। निष्कर्षतः वृक्षादि शब्द सामान्य शब्द नहीं हैं। वृक्षादि प्रकृति

तत्तत् विशिष्ट अर्थ की वाचिका है और प्रत्यय भी मूलतः एकत्व-द्वित्व अपत्यादि तत्तत् अर्थों के वाचक होते हैं।

समासादि वृत्ति से अर्थविशेष को वाचनिक मानने वाले उपर्युक्त पक्ष में औपगवः से उपगु सम्बन्धी अपत्य ऐसा अर्थ बोध नहीं हो सकता, क्योंकि इससे प्रत्ययार्थ (तस्यापत्यम् - ४.१.९२.) का उल्लेख होने पर भी प्रकृत्यर्थ का उल्लेख नहीं है। जब तक इस मत में अर्थ का विधान न हो तब तक प्रकृति किसी अर्थ की वाचिका नहीं हो सकती। प्रत्ययार्थ के द्वारा प्रकृत्यर्थ के आक्षेप का जो बोध होता है, वह सामान्य रूप से "अपत्य का जनक" - इस रूप में तो हो सकता है, परन्तु प्रकृति के अर्थभूत विशिष्ट उपगु नामक मनुष्य का बोध नहीं हो सकता, लौकिक प्रचार की दृष्टि से विशिष्ट का बोध होना चाहिए। अतः सिद्ध है कि शब्दनिष्ठ अर्थ-प्रतिपादन क्षमता स्वाभाविक है, वाचनिक नहीं।

इसके अतिरिक्त अर्थ का विधान करने में आचार्यो की प्रवृत्ति होना सम्भव नहीं है। क्योंकि अनेक ऐसे शब्द हैं जिनका अर्थ ज्ञात नहीं है। जैसे - जर्भरी, तुर्फरीत आदि। शास्त्र में अर्थ विधान न करने का एक कारण यह भी है कि कभी-कभी शब्द प्रयोग के बिना भी आँखों व हाथों के संकेत से अर्थ बोध हो जाता है। नेत्र संकेत या हाथों से जब अर्थबोध होता है तब विशिष्ट संकेत में विशिष्ट अर्थ का विधान नहीं किया जाता तथापि सब व्यवहार होते हैं। शास्त्र में भी ऐसा ही समझना चाहिए।

सिद्धान्त रूप में यह कहा जा सकता है कि लोक व्यवहार से जो अर्थ सुलभ है उनकी प्रतीति के लिए शास्त्र में अन्वाख्यान करना आवश्यक नहीं है। जिस प्रकार यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि सूर्य पूर्व से उदित होता है और पश्चिम में अस्त होता है अथवा गुड मीठा होता है और शृङ्गवेर (अदरक) तीखा होता है। - ऐसा कहने में कौन सी बडी बात है ?

महाविभाषाधिकार और उसका औचित्य - समासादिवृत्ति में अर्थ की स्वाभाविक रूप से अभिव्यक्ति होती है। इस पक्ष की स्थापना से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि समास के पूर्व जो महाविभाषा - (२.२.२९.) का अधिकार किया गया है वह व्यर्थ है। भाष्य के शब्दों में "वा वचनानर्थक्यं स्वभाव सिद्धत्वात् ।" - (भा.वा.-२.) इसका आशय यह है कि अर्थ का प्रतिपादन करना शब्द का स्वभाव है। "राजपुरुष" शब्द मूलतः ऐसा ही है और राजन् और पुरुष दोनों पृथक्-पृथक् भी मौलिक रूप से विद्यमान हैं। अतः इच्छानुसार जो जैसा प्रयोग करना चाहे, वह वैसा प्रयोग कर सकता है। लोक में भी दो प्रकार से शब्द प्रयोग की प्रवृत्ति देखी जाती है। कभी वृत्ति युक्त शब्द का प्रयोग किया जाता है तो कभी वृत्ति न कर असमस्त या पृथक्-पृथक् शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार लोक में भाषा के प्रयोग की दोनों पद्धतियाँ (१. वाक्यरूप में तथा २. समास रूप में) प्रचलित हैं। इनमें वृत्ति पक्ष की विवक्षा होने पर समास नित्य होता है। अब वा ग्रहण का अन्वय इस समास संज्ञा से करें तो समास संज्ञा विकल्प से प्राप्त होगी जो कि कदापि अभीष्ट नहीं है। अतः वा ग्रहण व्यर्थ है।

कार्य शब्द वादियों का मत - उपर्युक्त व्याख्यान नित्यशब्दवादियों का है जो अर्थ को स्वाभाविक मानते हैं, शास्त्र से निष्पन्न नहीं। जो आचार्य एकार्थीभाव रूप वृत्ति को शास्त्र द्वारा निष्पादित मानते हैं अर्थात् एकार्थीभाव को सूत्र जन्य या सूत्र से वाच्य मानते हैं उनके अनुसार राजपुरुष मौलिक

शब्द नहीं है। राजन् और पुरुष इन दो शब्दों में षष्ठी (२.२.८.) समास होकर राजपुरुष की निष्पत्ति होती है। यह समास सिद्धि विकल्प से हो एतदर्थ वा ग्रहण (या महाविभाषाधिकार) आवश्यक है। अन्यथा नित्य समास हो जाने से राज्ञः पुरुषः इस वाक्य का ही उच्छेद हो जाएगा। इन मतावम्बियों के अनुसार वृत्ति की परिभाषा है - "परार्थाभिधानं वृत्तिः" अर्थात् जब किसी शब्द से दूसरे शब्द के अर्थ का प्रतिपादन होता है, तब उसे वृत्ति कहते हैं। उदाहरणार्थ - राजपुरुषः में राज पद का पुरुष पद के साथ एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध होने के कारण राजपद से पुरुष पद की उपस्थिति होती है। वृत्ति के सामर्थ्य से वाक्यावस्था में राजपद के द्वारा पुरुष का जो अर्थ अनुक्त था वह अभिहित हो जाता है।

वृत्ति भेद - "परार्थाभिधानं वृत्तिः" यह वृत्तिकर लक्षण करने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह कौन सी वृत्ति है ? - १. जहत्स्वार्था वृत्ति अथवा २. अजहत्स्वार्था वृत्ति ? इन दोनों वृत्तियों में यह अन्तर है कि यदि राजपुरुष में जहत्स्वार्था वृत्ति मानते हैं तो राजपुरुषमानय कहने पर किसी भी पुरुष का आनयन सम्भव है, क्योंकि इस वृत्ति में राजन् पद अपने अर्थ का त्याग कर देता है। इसी प्रकार औपगवमानय कहने पर कोई भी अपत्य का आनयन हो सकता है। क्योंकि उपगु शब्द अपने अर्थ का त्याग कर देता है।

इस दोष के परिहार के लिए यदि यहाँ अजहत्स्वार्था वृत्ति को स्वीकार करें तो राजपुरुष में राजा और पुरुष दोनों शब्द अपने-अपने अर्थों का त्याग नहीं करते और तब दो अर्थों की उपस्थिति होने से दो अर्थो के प्रतिपादन में द्विवचन की प्रसक्ति हो जाएगी और राजपुरुष में द्विवचन की विभक्ति प्राप्त हो जाएगी।

सिद्धान्त - उपर्युक्त दोनों वृत्तियों में सिद्धान्ततः जहत्स्वार्था वृत्ति स्वीकार की जाती है। एक लौकिक दृष्टान्त के द्वारा इसका औचित्य सिद्ध किया जा सकता है। सामान्यतः कोई मनुष्य जब दूसरे का कोई कार्य करता है, तब उसे अपना स्वयं का कार्य छोड़ना ही पड़ता है। जैसे - कोई बढ़ई जब शासकीय सेवा में जाता है तब उसे अपना व्यक्तिगत बढ़ई का व्यवसाय छोड़ देना पड़ता है। इसी प्रकार शास्त्र में राजपुरुष प्रयोग में राजा जब पुरुष रूप अर्थ के प्रतिपादन में प्रवृत्त होता है, तब उसे निश्चित रूप से अपने अर्थ का परित्याग करना पडता है। इसी प्रकार उपगु शब्द जब अपत्य अर्थ प्रतिपादन करने के लिए प्रवृत्त होता है, तब वह अपने वाच्यार्थ का त्याग कर देता है। यह बात सत्य है तथापि राजा और उपगु शब्द पूर्ण रूप से स्वार्थ परित्याग नहीं करते। जिस स्थल पर उत्तर पद के अर्थ के साथ अर्थात् पुरुष या अपत्य अर्थ के साथ उसके स्वार्थ में विरोध उत्पन्न होता है, उस विरोधी अर्थ का वह परित्याग कर देता है, अपने सम्पूर्ण स्वार्थ का त्याग नहीं करता। जैसे - बढ़ई जब राजकार्य में प्रवृत्त रहता है तब वह बढ़ई के व्यवसाय से सम्बन्धित कार्य का तो त्याग करता है, किन्तु हिचकी लेना, हँसना, खुजलाना इत्यादि क्रियाओं का परित्याग नहीं करता, क्योंकि ये क्रियाएँ उसके राजकार्य में बाधक नहीं हैं। इसी प्रकार राजपुरुष में भी राज शब्द से जिस राजत्व विशिष्ट राजा रूप अर्थ की प्रतीति होती है, वह पुरुष रूप परार्थ के साथ विशेषण के रूप में विरोधी नहीं है। अतः समास में राजन् पद अपने राजा रूप अर्थ का त्याग नहीं करता।

इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि राज्ञः पुरुषः इसी वाक्यावस्था में राज्ञः पद विशेषण है और

समास निष्पन्न हो जाने पर भी राजपुरुषः - इस स्थिति में वह पुरुष का विशेषण ही बना रहता है, तब वाक्य में और वृत्ति में तात्त्विक अन्तर क्या होगा ? इस आशंका को कैयट के शब्दों में स्पष्ट किया जा सकता है - "वाक्ये ऽपि राजार्थस्य विशेषणत्वात् कस्तस्य वृत्तौ विशेष इति चेत् । वाक्ये स्वविशेषण सम्बन्ध प्रतिपत्तौ सामर्थ्याऽविघातः । वृत्तावुपसर्जभूतेन स्वार्थेन प्रधानार्थस्योपकारात् स्व विशेषणप्रतिपत्तौ सामर्थ्याहानिः" - इसका तात्पर्य यह है कि समास में राजपद उपसर्जनीभूत होने से पुरुष का विशेषण है। राज पद का राजत्व विशिष्ट अर्थ पुरुष के अर्थ का विरोधी नहीं है वरन् राजपदगत विशेष्यत्व पुरुष के अर्थ का विरोधी है। अतः राज पद अपनी विशेष्यता का परित्याग कर देता है और राजत्वनिष्ठ प्रकारता या विशेषता का बोध कराता है और इस प्रकार राजा का पुरुष, रूप अभीष्ट अर्थ का बोध हो जाता है। उद्योतकार के शब्दों में "राजपदादे राजत्व निष्ठ प्रकारता निरूपित विशेष्यता वच्छिन्नं स्वार्थस्तत्र समासे विशेष्यत्वांश त्याग इत्येतावता जहत्स्वार्थत्वम् ।"

भाष्यकार प्रकारान्त से इसकी व्याख्या करते हैं। "राजपुरुषः" में राजा का पुरुष के साथ सम्बन्ध होने के कारण (राज्ञः पुरुषः विग्रह वाक्य में राज्ञः पद सम्बन्ध वाचक षष्ठी है।) पुरुष में राज सम्बन्ध विशिष्ट का बोध होता है। वृत्ति करते समय राजन् शब्द से जिस पुरुष की प्रतीति होती है वह प्रतीति मात्र पुरुष शब्द का उच्चारण करने से होने वाली प्रतीति से भिन्न और विशिष्ट है। अर्थात् राजपुरुष के द्वारा "राजा से सम्बद्ध पुरुष" इस रूप में पुरुष का बोध होता है। इसीलिए जहत्स्वार्था वृत्ति मानने पर भी राजपुरुषमानय कहने पर किसी भी पुरुष का आनयन सम्भव नहीं है। जैसे - किसी घड़े में घी अथवा तेल रखकर बाद में निकाल लिया जाए, तब घी या तेल के निकाल लिए जाने के बाद भी "यह घी का घड़ा है या यह तेल का घड़ा है" - इस प्रकार व्यवहार होता है।

आक्षेपवादी इस लौकिक दृष्टान्त से सन्तुष्ट नहीं हैं। जिस घड़े में किञ्चिद् भी घी या तेल का अंश चिपका होता है उसे गरम करके घाँस की कूची से रगड़कर स्वच्छ किया जा सकता है। स्वच्छ हो जाने पर उस घड़े को घी का घड़ा या तेल का घड़ा ऐसा वाक्य प्रयोग दृष्टिगोचर नहीं होता। भाष्यकार दूसरे दृष्टान्त के द्वारा विषय को स्पष्ट करते हैं। किसी दोने में सुगन्धित मल्लिका या चम्पक पुष्प रखे जाएँ और कुछ समय के बाद पुष्पों को निकाल लें। पुष्पों को दोने से बाहर करने के पश्चात् भी पुष्पों की सुगन्धि दोने में अवशिष्ट रह जाती है और इसीलिए "यह मोगरे फूलों का दोना है अथवा यह चम्पक के फूलों का दोना है" इस प्रकार वाक्य प्रयोग होता है। इस दृष्टान्त के समान राजपुरुष में अर्थ बोध करना चाहिए। कैयट के शब्दों में - "यथा पुष्पाणामभावे ऽपि गन्धान्वयमात्रेण पूर्वतनीं पुष्पसत्तामादाय मल्लिकापुट इत्यादिव्यवहारस्तथा वृत्तौ राजपदस्यार्थाभावे ऽपि वाक्यदृष्टसार्थकराजशब्दवर्णानुपूर्वीसत्त्वमात्रेण वाक्ये यथा राजसम्बन्धः पुरुषस्यैव प्रतीतिस्तथेहापि राजसम्बन्धवतः पुरुषस्यैव पुरुषपदात्प्रतीतिः ।"

समर्थाधिकार से अभीष्ट अर्थ की सिद्धि - समासादि वृत्ति में प्रतीत होने वाला एकार्थीभाव स्वाभाविक रूप से ज्ञात होता है - यही मत प्रकारान्तर से प्रतिपादित किया जा सकता है। वस्तुतः समर्थाधिकार वृत्ति के लिए ही किया जा रहा है। सामर्थ्य का आशय है भेद और संसर्ग। भेद और संसर्ग दोनों मिलकर सामर्थ्य बनता है। इसकी व्याख्या उदाहरण के द्वारा स्पष्ट हो सकती है। जैसे राज्ञः कहने पर "राजा का" यही बोध होता है, जो साकांक्ष होने से राजा से सम्बद्ध प्रासाद या नौकर आदि अनेक वस्तुओं की प्रतीति हो सकती है। इसी प्रकार मात्र पुरुषः कहने से (पुरुष से तात्पर्य यहाँ सेवक से है।)

किसका पुरुष यह आकांक्षा उत्पन्न होती है और किसी भी स्वामी के सेवक का बोध हो सकता है क्योंकि सेवक तो परतन्त्र होता है। राजपुरुषमानय कहने पर राज शब्द के प्रयोग के कारण राज शब्द अन्य स्वामियों से पुरुष की निवृत्ति करता है। श्रोता के मन में राजा को छोड़कर अन्य स्वामियों का बोध नहीं होता केवल राजा का ही बोध होता है, जिसका पुरुष (सेवक) है। इसी प्रकार "राजपुरुष" का पुरुष शब्द भी राजा में स्वामित्व को स्थिर करता है और राजभिन्न स्वामियों से राजा की व्यावृत्ति करता है। यह व्यावृत्ति ही भेद है। (इह राज्ञ इत्युक्ते सर्व स्वं प्रसक्तम्, पुरुष इत्युक्ते सर्वः स्वामी प्रसक्तः। इहेदानी राजपुरुषमानयेत्युक्ते राजा पुरुषं निवर्तयेत् अन्येभ्यः स्वामिभ्यः, पुरुषोऽपि राजानमन्येभ्यः स्वेभ्यः। - म.भा.) इसी प्रकार श्रोता के मन में राजपुरुष शब्द को सुनते ही राजा का प्रासाद या घोड़ा या अन्य वस्तुओं की उपस्थिति नहीं होगी।

इस प्रकार राज और पुरुष इन दो शब्दों के परस्पर सान्निध्य के बल पर अन्य पदार्थों की व्यावृत्ति होने पर जब समास निष्पन्न हो जाए तब जहत्स्वार्था वृत्ति के अनुसार यदि राज शब्द अपने अर्थ का परित्याग करता हो तो करे उससे कोई हानि नहीं होगी। इसमें यह आशंका नहीं हो सकती कि जहत्स्वार्था वृत्ति मानने से राजपुरुषमानय कहने पर किसी भी पुरुष का आनयन हो सकता है क्योंकि राज शब्द के संसर्ग से पुरुष ने अन्य स्वामियों की निवृत्ति की है किन्तु अपने स्वामी (राजा) की निवृत्ति नहीं की। इस प्रकार अन्य स्वामियों की निवृत्ति या व्यावृत्ति करना भेद है और साथ-साथ अपने स्वामि का ग्रहण - यह संसर्ग है। संसर्ग का आशय है राजा का पुरुष के साथ रहने वाला सम्बन्ध। निष्कर्षतः समासादि वृत्ति में भेद या संसर्ग के सामर्थ्य से राजपुरुष आदि समस्त पद से अभीष्ट अर्थ का ही बोध होगा, अनिष्ट का नहीं।

अजहत्स्वार्था वृत्ति - समासादि वृत्ति में पदों द्वारा अपना स्वार्थ त्याग न करते हुए समासार्थ का प्रतिपादन करना अजहत्स्वार्था वृत्ति है। इस वृत्ति के औचित्य पर विचार करते हुए भाष्यकार का मत है कि लोक दृष्टान्त के आधार पर इस वृत्ति को स्वीकार किया जा सकता है। लोक में यह देखा जाता है कि कोई भिक्षुक एक घर से भिक्षा प्राप्त करने के बाद जब दूसरे घर से पुनः भिक्षा प्राप्त करता है तब पहले प्राप्त भिक्षा का त्याग नहीं करता अपितु उसका भी संग्रह करता है। राजपुरुष आदि समास में भी राजन् शब्द को जब पुरुष के अर्थ का प्रतिपादन करने का प्रसङ्ग आता है तब वह अपने प्रथम अर्थ का परित्याग नहीं करता - यह अति स्वाभाविक है।

इस पक्ष में एक अनुपपत्ति यह होती है कि राजन् और पुरुष - ये दोनों पद यथावत् अपने अर्थों को सुरक्षित रखते हैं और उसका प्रतिपादन भी करते हैं, तब दो अर्थों में द्विवचन की प्रसक्ति अनिवार्य है। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि द्विवचन की प्रसक्ति तो है किन्तु यह द्विवचन किस विभक्ति का होगा ? यदि प्रथमा विभक्ति का द्विवचन कहते हैं तो उसका अन्वय राजन् से सम्भव नहीं है क्योंकि राजन् शब्द से प्रथमा के अर्थ "प्रातिपदिकार्थ" से अधिक अर्थ अर्थात् सम्बन्ध की विवक्षा होती है। प्रथमा विभक्ति, मात्र प्रातिपदिकार्थ में ही प्राप्त होती है। (प्रातिपदिकार्थलिङ्ग परिमाणवचनमात्रे प्रथमा - २.३.४७.)

अब यदि षष्ठी विभक्ति का द्विवचन करें तो पुरुष शब्द में षष्ठी विभक्ति की योग्यता ही नहीं है। क्योंकि षष्ठी सम्बन्ध की वाचिका है (२.४.५०.) और पुरुष का किसी दूसरे शब्द के साथ विशेषण के

रूप में सम्बन्ध की विवक्षा ही नहीं है।

प्रथमा का द्विवचन करने पर राजन् शब्द से विहित षष्ठ्यर्थ को कैसे प्रथमार्थ (प्रातिपदिकार्थ) से अन्वित करें ? यह आशंका व्यक्त की गई थी। इस आशंका का समाधान करते हुए सिद्धान्ती का कथन है कि राजन् शब्द से (राजपुरुष में) स्वस्वामिभाव रूप सम्बन्ध उक्त हो जाता है और उक्त होकर वह प्रातिपदिक के अर्थ में अन्तर्भूत हो जाता है। इस प्रकार वह अर्थ प्रातिपदिकार्थ ही हो जाता है। अतः सिद्ध है कि प्रकृत स्थल पर जहत्स्वार्थावृत्ति पक्ष में प्राप्त द्विवचन प्रथमा विभक्ति का ही हो सकता है।

सिद्धान्त मत - उपर्युक्त अनुपपत्ति का निवारण करते हुए आचार्यों ने एकार्थीभाव सामर्थ्य की स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है। **"संघातस्यैकार्थ्या न्नावयवसंख्यातः सुबुत्पत्तिः"** वार्तिक के द्वारा भाष्यकार यह स्पष्ट करते हैं कि जिस संघात अथवा समुदाय से विभक्ति की जानी है वह संघात राजसम्बन्धवान् पुरुषः इस प्रकार विशेषण विशिष्ट - एक ही अर्थ को प्रदर्शित कर रहा है। अतः राजन्-पुरुष आदि अवयवों में द्वित्व संख्या की प्रतीति मानकर द्विवचन की आशंका करना असंगत है। समास वृत्ति के बल से राजन् शब्द पुरुष अर्थ का प्रतिपादन करता है, ऐसी धारणा नहीं है। अपितु वृत्ति के बल से राजपुरुषः यह समस्त शब्द "राजसम्बन्ध विशिष्ट पुरुष" - इस समुदायार्थ का प्रतिपादक है। यही एकार्थीभाव रूप सामर्थ्य है।

परस्पर व्यपेक्षा - सामर्थ्यम् - कतिपय आचार्यो के मत में परस्पर अपेक्षा ही सामर्थ्य है। वस्तुतः शब्दों में परस्पर अपेक्षा न होकर अर्थो में परस्पर अपेक्षा होती है। जैसे - "राज्ञः पुरुषः" कहने पर राज्ञः पद से जिस प्रकार राजा रूप अर्थ की प्रतीति होती है, वह पुरुष रूप अर्थ के प्रति साकांक्ष है। इसी प्रकार पुरुष भी "मैं इस राजा का सेवक हूँ" - ऐसी भावना से अर्थ का बोधक होता है। यह एक-दूसरे के प्रति साकांक्ष भाव से रहने वाला सम्बन्ध ही षष्ठी विभक्ति द्वारा प्रदर्शित है। समास में परस्पर के सान्निध्य से उत्पन्न आकांक्षा के बल पर सम्बन्ध का बोध होता है। वाक्य में यह सम्बन्ध षष्ठी विभक्ति द्वारा प्रदर्शित होता है समास में वृत्ति के सामर्थ्य से स्वाभाविक रूप से प्रतीत हो जाता है।

निष्कर्ष यह हुआ कि व्यपेक्षा पक्ष में भी दो शब्दों से दो अर्थो की प्रतीति होने पर भी वह निरपेक्ष है। अतः द्विवचन की आपत्ति इस पक्ष में भी नहीं है। उदाहरणार्थ - "कष्टं श्रितः" इस वाक्यावस्था में क्रिया और कारक का सम्बन्ध बोध कराने वाली द्वितीया विभक्ति का प्रयोग है। वह सम्बन्ध समास करने पर "कष्टश्रितः" समास वृत्ति के बल से प्रकट हो जाता है।

एकार्थीभाव सामर्थ्य - सामर्थ्य को दो प्रकार से परिभाषित किया गया है - १. व्यपेक्षा, २. एकार्थीभाव। इन दोनों अर्थो का बोध एक समर्थ पद से ही सम्भव है, क्योंकि सम् उपसर्ग का अर्थ के साथ समास करने पर समर्थ पद निष्पन्न होता है। उपसर्ग स्वाभाविक रूप से क्रिया विशेषण होते हैं। किन्तु प्रकृत पद में सम् के साथ किसी क्रिया वाचक का प्रयोग दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। प्रश्न है कि किस क्रिया से सम्बद्ध होकर सम् की उपसर्ग संज्ञा सिद्ध होती है ? (उपसर्गाः क्रियायोगे - १.४.५९. सूत्र के अनुसार क्रिया के योग में ही प्रादि की उपसर्ग संज्ञा होती है।) प्रकृत प्रसंग में सम् उपसर्ग के प्रभाव से यह ज्ञात होता है कि इससे सम्बद्ध कोई न कोई वाचक शब्द यहां अवश्य अन्तर्निहित होगा, जिसका प्रयोग

दृष्टिगत नहीं हो रहा है। जिस प्रकार धूम को देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है अथवा सन्यासी का दण्ड देखकर यह अनुमान किया जाता है कि यह परिव्राजक है। उसी प्रकार सम् उपसर्ग को देखकर किसी न किसी क्रिया की अनुमिति अवश्य होती है। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वह कौन सी क्रिया है, जिसका वाचक यहाँ प्रयुक्त नहीं है। भाष्यकार इस स्थल पर यह प्रतिपादित करते हैं - "संगतार्थं समर्थम्। संसृष्टार्थं समर्थम्। सप्रेक्षितार्थं समर्थम्। सम्बद्धार्थं समर्थम्" अर्थात् सम् उपसर्ग के साथ गत, सृष्ट, प्रेक्षित या बद्ध क्रियाओं को प्रतीयमान माना जा सकता है। इस आधार पर समर्थ शब्द उपर्युक्त सभी अर्थों का वाचक माना जा सकता है। इन अर्थों में संगत और संसृष्ट अर्थों का बोध एकार्थीभाव पक्ष में होता है। जैसे - संगतं घृतम्, संगतं तैलम् कहने पर एकीभूत किया हुआ घी या एकीभूत किया हुआ तेल अर्थ प्रतीत होता है। दो पात्रों में रखा हुआ घी जब एक पात्र में डाला जाता है, तब उस पात्र में दोनों पात्रों के घी की अलग अलग सत्ता नहीं दिखती यही धारणा एकार्थीभाव पक्ष में की जाती है।

इसी प्रकार संसृष्टोऽग्निः कहने पर एकत्र किया हुआ अग्नि यह बोध होता है। सम् उपसर्ग पूर्वक गत-सृष्ट-प्रेक्षित अथवा बद्ध शब्दों की यहाँ विवक्षा है, जिनका लोप हो जाने से समर्थ पद प्रयुक्त हो गया। सम् पूर्वक गत और सृष्ट शब्दों की विवक्षा मानें तो समर्थ का अर्थ होगा - सम्बन्ध के कारण एकीभूत होने वाला। इस व्याख्या से एकार्थीभाव सामर्थ्य सिद्ध होता है।

सम् के साथ प्रेक्षित अथवा बद्ध शब्दों को अन्तर्भूत मानने पर समर्थ का आशय होगा - "सम्बन्ध के कारण एक स्थान पर बंधा हुआ।" यही व्यपेक्षा सामर्थ्य है।

व्यपेक्षा सामर्थ्य - सूत्र पठित समर्थ पद ही एकार्थीभाव और व्यपेक्षा रूप दोनों सामर्थ्य का वाचक सिद्ध हुआ, विशेष यही है कि सम् उपसर्ग पूर्वक बद्ध या प्रेक्षित का प्रयोग कर सम्बद्ध और संप्रेक्षित अर्थ विवक्षित हो तो व्यपेक्षा सामर्थ्य का बोध होता है। सम्बद्ध या संप्रेक्षित शब्द का अर्थ व्यतिषङ्ग है। एक वस्तु जब दूसरी वस्तु के साथ रस्सी अथवा लोहे से या काष्ठ के कील से व्यतिषक्त होती है अर्थात् दृढ़ता से सम्बद्ध होती है उस स्थिति में दोनों वस्तुएँ दृढ़ता से सम्बद्ध होने पर भी अलग-अलग स्पष्ट रूप दृष्टिगोचर होती है। उसी प्रकार व्यपेक्षा सामर्थ्य में पृथक्-पृथक् अर्थों की उपस्थिति होती रहती है।

इस प्रसङ्ग में शङ्काकार का कथन है कि बन्ध् धातु सदैव व्यतिषङ्ग अर्थ का वाचक नहीं होता अपितु कभी-कभी बन्ध् धातु का प्रयोग, एक-दूसरे से अलग होने के अर्थ में भी होता है। जैसे - "सम्बद्धौ इमौ दम्यौ" प्रयोग में दो सांड नित्य आपस में सम्बद्ध रहते हैं - ऐसा कहा जाता है, तब उसका भाव यह होता है कि दोनों सांड एक-दूसरे से पृथक् नहीं होते। समास में भी इसी प्रकार दोनों पद अर्थ प्रकाशन की दृष्टि से एक दूसरे से पृथक् नहीं होते।

समर्थ में बन्ध् धातु का अन्तर्भाव मानकर सम्बद्ध अर्थ में उसका प्रयोग स्वीकार करने पर एक अनुपपत्ति यह सम्भावित है कि बन्ध् धातु का प्रयोग, कभी सामान्य सम्बन्ध का वाचक भी होता है। जैसे - "हमारा गर्गों से सम्बन्ध है" या "हमारा वत्सगोत्रीयों से सम्बन्ध है" - कहने पर गर्गों या वत्सों के साथ संयोग सम्बन्ध का बोध होता है। इसका तात्पर्य है कि बन्ध् धातु सामान्य सम्बन्ध का वाचक भी

होता है। तब व्यपेक्षा सामर्थ्य मानने पर समास गत पदों में सामान्य सम्बन्ध का बोध हो सकता है और इस स्थिति में उन पदों की भिन्न या पृथक् रूप से उपस्थिति सम्भव हो सकती है। परिणामतः समास गत पद विशेषणयुक्त होने पर वे समास के लिए समर्थ हो सकते हैं और उनमें समास हो सकता है। जिस प्रकार वाक्य में विशेषण का भी विशेषण होता है, उसी प्रकार समास-वृत्ति में भी "ऋद्धस्य राजपुरुषः" जैसे प्रयोग प्रसक्त हो जाएँगे। इस पक्ष में अर्थात् समास में एकार्थीभाव नामक सामर्थ्य को स्वीकार न करने पर निष्काशाम्बिः में जो निष्कान्त अर्थ प्रतीत होता है, गोरथः (गवायुक्तो रथः) में युक्त अर्थ, घृतघटः (घृतेन पूर्णो घटः) में पूर्ण अर्थ अतिरिक्त रूप से प्रतीत होते हैं, वे अब व्यपेक्षा में प्रतीत नहीं हो पाएँगे। इनकी प्रतीति के लिए स्वतन्त्र वचनारम्भ करना होगा।

व्यपेक्षा पक्ष में अनुपपत्तियाँ - एकार्थीभाव सामर्थ्य न मानने पर अनेक स्थलों पर दोष प्रसक्ति सम्भाव्य है। जैसे - "अयं दण्डो हरानेन" वाक्य में दण्ड पद का हरण क्रिया से सम्बन्ध है। (वक्ता कह रहा है - यह दण्ड है, इस दण्ड से वृक्ष के फल तोड़ो।) "दण्ड" सुबन्त है, उससे परे हर तिङन्त को "तिङतिङः" - (८.१.२८.) सूत्र से निघात की प्राप्ति हो सकती है। निघात स्वर का सूत्र पदस्य - (८.१.१६.) और पदात् - (८.१.१७.) के अधिकार में पठित है, अतः पद विधि के अन्तर्गत पठित है। व्यपेक्षा सामर्थ्य को स्वीकार करने पर यह स्वर कार्य भी समर्थः पदविधिः के अन्तर्गत आएगा और "अयं दण्डः हरानेन" सदृश्य वाक्यों में अनुदात्त की प्रसक्ति हो जाएगी। (दण्ड और हर में व्यपेक्षा है।)

युष्मद्-अस्मद् शब्दों के स्थानों पर होने वाले त्वा-मा आदि आदेशों के सम्बन्ध में भी दोष प्रसक्ति सम्भव है। जैसे - ओदनं पच तव भविष्यति, ओदनं पच मम भविष्यति आदि वाक्यों में ओदनं का युष्मद्-अस्मद् के साथ स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध स्पष्ट रूप से प्रतीत हो रहा है। "ते मयावेकवचनस्य" - (८.१.२२.) सूत्र से क्रिया वाचक पच् के परे तव और मम को ते और मे आदेश की प्रसक्ति है। यह (८.१.२२.) सूत्र भी पद विधि होने कें कारण समर्थः पदविधिः के क्षेत्र में आ जाएगा और व्यपेक्षा को भी सामर्थ्य मान लेने पर इन उदाहरणों में अनिष्ट रूपों की आपत्ति हो जाएगी। (पच और तव या पच और मम पदों में व्यपेक्षा है। व्यपेक्षा से तात्पर्य अर्थ बोध की आकांक्षा से है।)

एकार्थीभाव में उपर्युक्त दोषों की प्रसक्ति नहीं है, क्योंकि प्रथम उदाहरण में दण्ड और हर पदों में एकार्थीभाव सामर्थ्य ही नहीं है। दण्ड का अन्वय अयम् पद से और हर का अनेन से होता है। इसी प्रकार - ओदनं पच तव भविष्यति में भी पच और तव में एकार्थी भाव सामर्थ्य न होने से परिभाषा (समर्थः पदविधिः) के क्षेत्र में नहीं आते।

"अयं दण्डः हर अनेन" वाक्य में दण्डः पद के लिए भाष्यकार "नानाकारक" शब्द का प्रयोग करते हैं। (नाना कारकान्निघातयुष्मदस्मदादेश प्रतिषेधः - म.भा.वा.-५.) यहाँ दण्डः एक ही कारक दृष्टिगोचर हो रहा है उसे नानाकारक कैसे माना जा सकता है ? एक ही दण्ड विद्यमान है जिससे वृक्ष की शाखा को झुकाकर उससे फल तोडा जा रहा है। इस एक दण्ड के लिए "नाना कारक" शब्द का क्या औचित्य है ? इसे स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती का कथन है कि "अयं दण्डः हरानेन" इस वाक्य में वक्ता का यह अभिप्राय नहीं है कि एक दण्ड से वृक्ष की शाखा झुकाओ और दूसरे दण्ड से फल तोडो। वक्ता का आशय यह है कि अयं दण्डः (अस्ति) वाक्य में दण्ड की सत्ता प्रतीत हो रही है, अतः दण्डः पद अस्ति क्रिया का

कर्ता है। वही दण्ड शब्द हरण क्रिया के साथ अन्वित होते समय साधन या करण कारक के रूप में उपस्थित होता है। इस प्रकार दण्ड शब्द एक बार कर्तृ कारक और दूसरी बार करण कारक हो जाता है। इसी आशय से "नानाकारकात्०" आदि कहकर दोषोत्पत्ति की गई है।

एक लौकिक उदाहरण से इसे और स्पष्ट किया जा सकता है - लोक मे चैत्र नामक कोई मनुष्य मैत्र नामक मनुष्य को पूछता है कि - देवदत्त कहाँ है ? तब मैत्र कहता है - वह वृक्ष पर बैठा है। किस वृक्ष पर ? ऐसा पूछने पर मैत्र कहता है - वह जो सामने स्थित है। - इस प्रश्नोत्तर में प्रथम वाक्य में वृक्ष शब्द देवदत्त का आश्रय होने से अधिकरण है और द्वितीय वाक्य में वह "अस्ति" क्रिया का कर्ता भी है, अत: एक ही शब्द के नाना कारकत्व की प्रतीति लोक में भी होती है।

एक पद का अनेक पदों के साथ युगपत् सम्बन्ध विवक्षित होने पर व्यपेक्षा पक्ष में समास करते समय अनिष्ट रूप की सिद्धि हो जाएगी। जैसे - राजा की गाय, अश्व और पुरुष - इस अर्थ में "राज्ञ: गौश्च अश्वश्च पुरुषश्च" वाक्य का प्रयोग होता है। इसमें राजा का सम्बन्ध गौ, अश्व और पुरुष तीनों से विवक्षित है।

समास करते समय व्यपेक्षावादी के अनुसार राजन् शब्द पहले क्रमश: गौ से सम्बद्ध होगा और "राज्ञ: गौ:" अर्थ में राजन् और गो का षष्ठी समास - "समासान्त टच् प्रत्यय" - (५.४.९१.) और स्त्रीलिङ्ग में "ङीप्" - (४.१.१५.) प्रत्यय कर राजगवी रूप सिद्ध होगा। तब राजगवी + अश्व: + पुरुष: इनका द्वन्द्व समास (चार्थे द्वन्द्व: - २.२.२९.) कर राज गव्यश्वपुरुष: - ऐसा अशुद्ध समास निष्पन्न हो जाएगा। इस समस्त पद सें अभीष्ट अर्थ की प्रतीति नहीं होती क्योंकि राजा का सम्बन्ध गो शब्द से तो प्रतीत हो रहा है किन्तु अश्व और पुरुष से नहीं हो रहा है।

सिद्धान्ती के मत में गो, अश्व और पुरुष शब्दों को पहले द्वन्द्व समास कर आपस में सम्बद्ध कर दिया जाता है। उसके पश्चात् उन तीनों का युगपत् षष्ठी समास करने पर "राजगवाश्वपुरुष:" पद निष्पन्न होता है। इस समस्त पद से राजा का गो, अश्व और पुरुष तीनों के साथ स्वस्वामिभाव सम्बन्ध स्पष्ट रूप से प्रतीत हो जाता है। इस प्रक्रिया में समासान्त टच् की प्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि गो शब्द समास के अन्त में नहीं आता।

व्यपेक्षावादी के पक्ष में सम्भाव्य उपर्युक्त दोष के निराकरण के लिए वचनारम्भ करना होगा अथवा समर्थतर पदों का समास पहले कर बाद में केवल समर्थ पदों का समास होगा। यहाँ समर्थतर पद का अभिप्राय उन पदों से है जो द्वन्द्व समास की योग्यता रखते हैं। द्वन्द्व समास प्रथमान्त पदों का होता है। प्रथमा विभक्ति प्रातिपदिक के अर्थ में विहित है, अत: अन्तरङ्ग है। तत्पुरुष समास में द्वितीयादि विभक्तियों की अपेक्षा होती है। ये विभक्तियां प्रातिपदिक का क्रियादि के साथ सम्बन्ध प्रतिपादित करती है। इसलिए बहिरङ्ग है। जैसे - लोक में "समर्थतरो ऽयं माणवक: अध्ययनाय" कहने पर यह बोध होता है कि यह बालक विद्याध्ययन में अतिशय समर्थ है। इसका तात्पर्य यह होता है कि इस बालक को ग्रन्थ बोध शीघ्रता से हो जाता है अथवा यह बालक शीघ्रता से ग्रन्थ बोध कर लेता है। इस दृष्टान्त से यह स्पष्ट होता है कि जो अपना कार्य शीघ्रता से सम्पन्न कर सकता है वह समर्थतर कहा जाता है। इसी आधार

पर समर्थतरों का अर्थात् प्रथमान्त पदों का द्वन्द्व समास पहले हो जाता है।

समर्थ तराणाम् - इस वार्तिक की कुछ आचार्यों ने भिन्न प्रकार से व्याख्या प्रस्तुत की है। उनके अनुसार "राज्ञो गौश्चाश्वश्चपुरुषश्च" वाक्य में समर्थतर पदों का समास पहले होगा। समर्थतर पद वे हैं जिनमें द्वन्द्व समास की योग्यता है। योग्यता का आधार है - गौः अश्वः और पुरुषः तीनों पदों में एक ही प्रथमा विभक्ति का होता है। राज्ञः पद में भिन्न विभक्ति षष्ठी है। लोक में भी सहोदर भाईयों से चचेरे भाईयों में भेद होता ही है।

समुदाय सामर्थ्याद् वा सिद्धम् - राज्ञः गौश्चाश्वश्चपुरुषश्च में गौ, अश्व और पुरुष तीनों के साथ राजा का सम्बन्ध विवक्षित है। किन्तु तीनों में से प्रत्येक के साथ अलग-अलग सम्बन्ध विवक्षित नहीं है। इसीलिए तीनों प्रथमान्त पदों का पहले द्वन्द्व समास निष्पन्न हो जाने पर समुदाय के साथ राजा का षष्ठी समास सिद्ध होता है। इसी अर्थ में "समुदाय सामर्थ्य " मानकर अभीष्ट सिद्धि की गई है।

उपर्युक्त वार्तिक में पठित वा पद की अन्विति इस प्रकार स्पष्ट की जा सकती है कि "राज्ञः गौश्च अश्वश्च पुरुषश्च" वाक्य में राजा का विशेषण के रूप में गौ - अश्व और पुरुष तीनों से एकसमान है। यही कारण है कि राजन् का केवल गो पद से समास नहीं हो सकता। "एकत्र विशेषणतया अन्वितस्य अपरत्र विशेषणायोगः" इस नियम के अनुसार अथवा "सापेक्षमसमर्थम्" के अनुसार राजन् शब्द अश्व और पुरुष के प्रति भी सापेक्ष है अतः केवल गो के साथ अन्वित होने की, समस्त होने की योग्यता नहीं रखता।

इस स्थल पर गो शब्द विशेष्य के रूप में अन्वित होता है। तथापि उसकी अश्व और पुरुष के के साथ अन्वित होने की योग्यता बाधित नहीं होती, क्योंकि विशेष्य होने से गो शब्द प्रधान है और प्रधान शब्द सापेक्ष होने पर भी समास की योग्यता रखता ही है। जैसे - "राज्ञः पुरुषः अभिरूपः" में पुरुष शब्द प्रधान है और अभिरूपः के प्रति सापेक्ष होने पर भी राज्ञः के साथ समस्त हो जाता है और "राजपुरुषः अभिरूपः" प्रयोग निष्पन्न हो जाता है।

आख्यातं साव्यय कारक विशेषणं वाक्यम् - व्यपेक्षा सामर्थ्य पक्ष में "अयं दण्डः हरानेन" इत्यादि वाक्यों में निघातादि दोष की प्रसक्ति का प्रतिपादन किया गया। इस दोष प्रसक्ति में अयं दण्डः, हर अनेन ये दो वाक्य हैं जिनमें दण्डः को एक बार कर्ता और एक बार द्वितीय वाक्य में करण मानकर "नाना कारकान्निघातयुष्दस्मदादेश प्रतिषेधः" वार्तिक के द्वारा अनुपपत्ति प्रकट की गई थी। इसी सन्दर्भ में आचार्य वाक्य को परिभाषित करते हैं। उपर्युक्त वार्तिक के अनुसार अव्यय कारक और विशेषण सहित कारक के सहित क्रिया की वाक्य संज्ञा होती है। अव्यय सहित क्रिया से युक्त वाक्य का उदाहरण है - उच्चैः पठति, नीचैः पठति।

कारक और क्रिया से युक्त वाक्य है - ओदनं पचति। विशेषण युक्त कारक और क्रिया से निष्पन्न वाक्य है - ओदनं मृदु विशदं पचति।

इस स्थल पर कतिपय आचार्यों के मतानुसार विशेषण युक्त क्रिया ही वाक्य होता है क्योंकि अन्यय-कारक आदि सभी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से क्रिया के विशेषण ही होते हैं।

वार्तिककार के अनुसार जिस शब्द समुदाय में एक क्रिया और अन्य सभी पद उस क्रिया से अन्वित होते हैं, वह वाक्य है - "एक तिङ् वाक्यम्।" उदाहरणार्थ - ब्रूहि-ब्रूहि देवदत्त। यह एक वाक्य है। यद्यपि इसमें दो क्रियाएँ प्रयुक्त हैं किन्तु दोनों सरुप होने से उन्हें एक ही माना गया है।

वाक्य की उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार अयं दण्डः हरानेन में प्रसक्त दोष का निवारण हो जाता है, क्योंकि अयं दण्डः अस्ति, हर अनेन - ये दो भिन्न-भिन्न वाक्य हैं। इसी प्रकार ओदनं पच तव भविष्यति - ये भी दो पृथक्-पृथक् वाक्य हैं। पृथक् वाक्य होने से इनमें निघात या युष्मद् - अस्मद् के स्थान पर ते-मे आदि आदेश नहीं हो सकते। ये आदेश एक वाक्य में ही होते हैं। (समान वाक्ये निघात युष्मदस्मदादेशाः - इस प्रकार वार्तिकारम्भ आवश्यक है। समान वाक्य का तात्पर्य एक वाक्य से है।) जिस प्रकार एक वाक्य में युष्मद अस्मदादि के स्थान पर वाम् नौ आदि आदेश नहीं होते उसी प्रकार च वा ह बगैर अव्ययों के योग में इन आदेशों का निषेध होता है। जैसे - ग्रामस्तव च स्वं मम च स्वम्।

वस्तुतः यह प्रतिषेध सूत्रकार ने स्वयं "न च वा हाहैव युक्ते" - (८.१.२४.) सूत्र में पढ़ा ही है। अतः इस निषेध के लिए पृथक् वचनारम्भ आवश्यक नहीं है। वाक्य संज्ञा और "समान वाक्येनिघात युष्मदस्मदादेशाः" - ये वचन सूत्रकार प्रोक्त नहीं है अतः इनका उपदेश करना आवश्यक है। सूत्रकार ने युष्मद्-अस्मदादि को जो वाम् नौ आदि आदेशों का विधान किया है वह भी यथावत् ग्राह्य है। इस प्रसङ्ग में "न च वाहाहैवयुक्ते" निषेध के आधार पर इसे व्यवस्थित विभाषा मान लेना अयुक्त है - यही व्यवस्था वार्तिककार एक तिङ् वाक्यम् और समान वाक्ये० वार्तिक के द्वारा स्पष्ट करना चाहते हैं। सूत्रकार और वार्तिककार तथा भाष्यकार के मतों में भिन्नता नहीं है। केवल स्पष्टार्थ प्रतीति के लिए वाक्य संज्ञा और समानवाक्याधिकार किया गया है।

वाक्य संज्ञा और समान वाक्याधिकार का औचित्य - वाक्य संज्ञा और समान वाक्य का अधिकार मात्र व्यपेक्षा सामर्थ्य पक्ष में ही आवश्यक है ऐसी बात नहीं है। समानाधिकरण में और युक्त-युक्त स्थलों पर भी इनकी आवश्यकता है। जैसे - "पटवे ते दास्यामि", "मृदवे ते दास्यामि" इन समानाधिकरण के प्रयोगों में "पटवे" पद "ते" का विशेषण है। इनमें विशेषण और विशेष्य वाचक दोनों पदों से एक ही व्यक्ति का बोध होता है। अतः यहाँ व्यपेक्षा सामर्थ्य नहीं मान सकते, क्योंकि व्यपेक्षा सामर्थ्य दो पदार्थो में होता है। इन वाक्यों में युष्मद्, अस्मद् के स्थान पर ते-मे आदेश की सिद्धि के लिए "समान वाक्ये०" वचन आवश्यक है।

युक्त-युक्त का उदाहरण - नद्यास्तिष्ठति कूले, वृक्षस्य लम्बते शाखायाम्, शालीनां ते ओदनं ददामि, शालीनां मे ओदनं ददाति - इन वाक्यों में नद्या पद का कूले के साथ अन्वय है, तिष्ठति के साथ नहीं है, अतः इन दोनों पदों में (नद्याः और तिष्ठति में) व्यपेक्षा सामर्थ्य नहीं हो सकता। समान वाक्ये० का अधिकार करने पर "नद्यास्तिष्ठति कूले" में निघात की प्रवृत्ति हो सकती है। नद्याः पद कूले के साथ (अर्थ की दृष्टि से) युक्त (संयुक्त) है और वह कूले तिष्ठति के साथ युक्त है। इस प्रकार युक्त के साथ युक्त

होने से युक्त-युक्त का उदाहरण सिद्ध है। यही नियम वृक्षस्य लम्बते शाखायाम् में भी घटित होता है। "शालीनां ते ओदनं ददामि" वाक्य में भी शालीनां का योग ओदनम् से है और ओदनम् का सम्बन्ध तुभ्यम् से है। अत: परम्परया योग होने से भी एक वाक्यता के कारण ते आदेश निष्पन्न होता है।

षष्ठी समास के सम्बन्ध में एक आशंका इस स्थल पर उपस्थित हो सकती है जहाँ दो षष्ठ्यन्त पद विद्यमान हों। जैसे - राजा की गाय का दूध अर्थ में राज्ञः गोः क्षीरम् पदों में दो प्रकार से समास निष्पत्ति सम्भव है। - प्रथम प्रकार में राज्ञः पद का गौ के साथ समार करने पर "राजाहः सखिभ्यष्टच्" - (५.४.९१.) से समामान्त टच् होकर "राजगवी" समास सिद्ध होता है। राजगवी शब्द का क्षीरम् के साथ समास करने पर "राजगवीक्षीरम्" समास सिद्ध होता है। द्वितीय प्रकार में गो शब्द का क्षीरम् के साथ पहले समास किया जाएगा और इस प्रकार निष्पन्न गोक्षीरम् पद का राज्ञः के साथ समास होगा तब राज गोक्षीरम् रूप सिद्ध होगा। इस प्रकार एक ही अर्थ में दो प्रकार से समास होकर दो रूपों की सिद्धी होती है। सिद्धान्ततः राज्ञः गोर्क्षीरम् अर्थ में राजगोक्षीरम् सिद्ध होना चाहिए और राजगव्याः क्षीरम् अर्थ में राजगवीक्षीरम् प्रयोग होना चाहिए।

भाष्यकार इस प्रसङ्ग में राज्ञः गोः क्षीरम् अर्थ में "राजगवीक्षीरम्" रूप को ही स्वीकार करते हैं और "राजगोक्षीरम्" समास उपर्युक्त अर्थ में अमान्य करते हैं, क्योंकि विग्रह वाक्य में राजा से सम्बन्धित गाय का दूध अभीष्ट है। राज्ञः गोः क्षीरम् इस विग्रह वाक्य में वक्ता की विवक्षा केवल क्षीर में न होकर गाय के क्षीर में हैं। उसी प्रकार किसी भी गाय के क्षीर में न होकर केवल राजा की गाय के क्षीर में ही पूर्ण होती है। नियमानुसार गो पद क्षीर के साथ समस्त होने के पूर्व अपने विशेषण राजन् से समस्त होगा क्योंकि वह राज्ञः के प्रति सापेक्ष है। सापेक्ष होने के कारण वह गोः पद क्षीरम् के साथ समस्त होने में असमर्थ भी है। राज्ञः के साथ समस्त होने के पश्चात् क्षीरम् के साथ समस्त होने का सामर्थ्य उसमें प्रकट होता है। यहाँ गोः पद क्षीरम् के प्रति सापेक्ष होने के कारण असमर्थ होने पर भी राज्ञः के प्रति समर्थ ही है क्योंकि सापेक्ष पद में असमर्थता तब होती है जब वह अप्रधान हो। यहाँ गोः पद क्षीरम् के प्रति सापेक्ष और असमर्थ है और अप्रधान भी है किन्तु राज्ञः के प्रति प्रधान है अतः सापेक्ष होने पर प्रधान होने से राज्ञः के साथ समस्त हो जाता है।

समर्थः पदविधिः सूत्र में पद ग्रहण का प्रयोजन - यह समर्थाधिकार पदविधि विषयक है। यदि इसे केवल विधि विषयक मानें और सूत्र में पद शब्द का ग्रहण न करें तब सूत्र का स्वरुप "समर्थो विधिः" होगा। यह सूत्रारम्भ होने पर प्रकृत परिभाषा में अतिव्याप्ति दोष प्रसक्त हो जाएगा और वर्ण विधि में भी सूत्र की प्रवृत्ति हो जाएगी। इसके फलस्वरुप तिष्ठतु दध्यशानत्वं शाकेन, तिष्ठतु कुमारीच्छत्र हर देवदत्त - इत्यादि वाक्यों में दधि का अशान के साथ सामर्थ्य या अन्वय न होने पर भी वर्णविधि (यणादि-६.१.७७.) सम्पन्न होती है वह अब नहीं हो पाएगी। दूसरे वाक्य में कुमारी और छत्रम् का परस्पर अन्वय नहीं है तथापि दीर्घात् - (६.१.७५.) आदि से तुगागम रूप वर्णविधि निष्पन्न हो जाती है। अब वर्णविधि भी समर्थाश्रित मानने पर यह तुगागम सिद्ध नहीं हो पाएगा।

समर्थाधिकार का प्रयोजन - समर्थः पदविधिः सूत्र में समर्थ पद का समानाधिकारण्य विधेय से अर्थात् पद विधि से है। अतः सूत्र का अर्थ होना चाहिए - पदविधि अर्थात् समास आदि समर्थ

होते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि समर्थ: पदविधि: का अर्थ "समर्थ: समास:" निष्पन्न होता है। ऐसा अर्थ निष्पन्न होने पर प्रकृत सूत्र का कोई प्रयोजन प्रतीत नहीं होता क्योंकि "राजपुरुष" यह समास निष्पन्न हो चुकने पर उसे समर्थ विशेषण देना निष्प्रयोजन है। इसकी उपपत्ति हेतु समर्थ पद का अन्वय उद्देश्य के साथ होना आवश्यक है। उद्देश्य के साथ समर्थ पद का अन्वय होने पर "समर्थानां पदानां विधि:" इस प्रकार सूत्रार्थ बोध हो सकता है और समास निष्पत्ति के पूर्व ही पदों में सामर्थ्य होने पर समास की प्रक्रिया प्रारम्भ की जा सकती है तथा पदों में असामर्थ्य होने पर समास का निषेध सिद्ध हो सकता है।

उद्देश्य के साथ समर्थ का अन्वय करने पर समर्थानां पदानाम् अर्थ निष्पन्न होता है और सूत्र की सार्थकता परिलक्षित होती है, किन्तु इस पक्ष में भी अतिव्याप्ति दोष दृष्टिगोचर होता है। "समर्थानाम्" बहुवचनान्त है, अत: तीन या तीन से अधिक समर्थ पदों में तो समास की योग्यता हो सकती है किन्तु एक या दो समर्थ पदों में प्राप्त समास विधि की सिद्धि इस सूत्र से नहीं हो सकती। इस दोष की निवृत्ति के लिए समर्थानाम् में एक शेष निर्देश मानना होगा। तब समर्थस्य; समर्थयो; समर्थानाम् में एकशेष कर समर्थानाम् का बोध होगा।

एकशेष मानने पर भी यह नियम होगा कि कम से कम ६ समर्थ पदों की विधि ही समर्थ पदविधि कही जाएगी। क्योंकि पूर्व पद और उत्तरपद दोनों तीन-तीन होंगे और वे तीनों (पूर्व और उत्तर) पद समर्थ होंगे तभी समर्थ विधि कही जाएगी।

वस्तुत: यह अनुपपत्ति युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि समुदाय को कहा गया कार्य उस समुदाय के अन्तर्गत आने वाले अवयवों में घटित होता है। जैसे ब्राह्मणा: भोज्यन्ताम् कहने पर प्रत्येक ब्राह्मण का भोजन क्रिया के सम्बद्ध हो जाता है। इसी आधार पर "समर्थानाम्" पद से भी समर्थस्य और समर्थयो: का बोध होगा।

समर्थ विधि: में सर्व विभक्त्यन्त समास - "प्रत्येकं वाक्य परिसमाप्ति:" न्याय से समास के अवयवों में भी समर्थ पद का अन्वय करने पर समर्थस्य विधि:, समर्थयो: विधि:, समर्थानाम् विधि: इस प्रकार विग्रह कर "समर्थ विधि:" का वाच्यार्थ निष्पन्न हो सकता है, किन्तु समर्थेविधि: और समर्थात् विधि: यह वाक्यार्थ बोध समर्थ विधि: से कैसे निष्पन्न होगा ? भाष्यकार इस प्रसङ्ग में समर्थ और विधि शब्दों में सर्वविभक्त्यन्त समास का प्रतिपादन करते हैं और समर्थे विधि: = समर्थ विधि: तथा समर्थाद् विधि: = समर्थ विधि: इस प्रकार अर्थबोध करते हैं।

समर्थाद् विधि: अर्थ में समर्थ विधि: की व्युत्पत्ति का प्रयोजन "तिङतिङ:" - (८.१.२८.) में परिलक्षित होता है। यह निघात विषयक पदविधि है जिसका अर्थ अतिङ् से परे तिङ् को निघात कहा गया है। अतिङ: पद "पञ्चम्यन्त" है। इसे समर्थ कोटि में आने के लिए समर्थाद् विधि: ऐसा अर्थ विग्रह करना आवश्यक है। इसी प्रकार समर्थे विधि: का प्रयोजन "कुत्सने च सुप्यगोत्रादौ" - (८.१.६८.) में सिद्ध होता है। इस सूत्र में कुत्सा वाची सुबन्त परे रहते गति सहित और गति रहित तिङन्त अनुदात्त होता है। समर्थ सुबन्त पद सप्तम्यन्त निमित्त वाचक है।

उपर्युक्त व्याख्या में सिद्धान्ती यह मानते हैं कि समर्थ शब्द का विधि शब्द के साथ और पद का विधि के साथ पाँच प्रकार से एकशेष कहा गया है। जैसे - १. समर्थस्य विधिः, २. समर्थयोः विधिः, ३. समर्थानां विधिः, ४. समर्थाद् विधिः तथा ५. समर्थे विधिः। इनका एकशेष करने पर समर्थ विधिः शब्द सिद्ध होता है। इसी प्रकार - १. पदस्य विधिः, २. पदयोः विधिः, ३. पदानां विधिः, ४. पदाद् विधिः और ५. पदे विधिः का एक शेष पदविधिः रहता है। सम्पूर्ण सूत्र "समर्थविधयः पदविधयः" उच्चरित होना चाहिए। इसी अर्थ में सूत्रकार ने समर्थः पदविधिः सूत्रारम्भ किया है। इसमें "समर्थ विधि" इस सामासिक शब्द के उत्तर पद में विद्यमान विधि शब्द का लोप किया गया है और दोनों पदों में यादृच्छिक एक वचन किया गया है।

प्रदीपकार कैयट ने भाष्यकार के अभिप्राय को अपने शब्दों में स्पष्ट करते हुए सूत्र से ही सम्पूर्ण व्याख्या को गतार्थ किया है। **"गतार्थत्वाद् विधिशब्दस्याप्रयोगइत्यर्थः। समर्थपदाश्रयत्वाद् विधिरेव समर्थशब्देनोच्यते। सम्बन्ध सामान्य वचन षष्ठ्यन्तस्य च पदशब्दस्य विधि शब्देन समासे विभक्त्यन्तार्थोऽप्यन्तर्भवतीति सर्वं सूत्रेणैव सिध्यति।"** - प्रदीप।

पदार्थ का प्रवृत्ति-निमित्त - पदार्थ के प्रवृत्ति निमित्त के विषय में दो मत प्रचलित हैं। कतिपय आचार्य द्रव्य को पदार्थ मानते हैं और कुछ जाति को। "द्रव्यं पदार्थः" पक्ष में वीर पुरुषः समास की निष्पत्ति में अनुपपत्ति हो सकती है। क्योंकि वीर और पुरुष दोनों शब्द एक ही व्यक्ति का बोध कराते हैं। वीरः पुरुषः से दो अलग-अलग पदार्थों का या व्यक्तियों का नहीं होता अतः इनमें सामर्थ्य को परिभाषित नहीं किया जा सकता। यदि धर्म अथवा गुण को पदार्थ माने तब वीर शब्द से वीरत्व और पुरुष शब्द से पुरुषत्व का बोध होता है। ये दोनों गुण परस्पर भिन्न हैं। वस्तुतः दो भिन्न धर्मों का आश्रय यहाँ एक में (वीर पुरुषः शब्द वाच्य में) विवक्षित है। दो शब्दों का परस्पर सम्बन्ध होने पर ही उनमें सामर्थ्य की प्रतीति हो सकती। (पृथगुपस्थितानां पदानामेकार्थी भावः सामर्थ्यम्)

आक्षेप कर्ता का इस प्रसङ्ग में यह कथन है कि वीरत्व और पुरुषत्व ये दो धर्म भिन्न होने मात्र से सामर्थ्य की कल्पना करना सहज नहीं है। क्योंकि लोक में यदि देवदत्त को बैल से और अश्व से भिन्न मानते हैं, पर इस भिन्नता से देवदत्त का बैल और अश्व के साथ सामर्थ्य है - यह कथन नितान्त अनुचित है। दूसरी बात यह कि धर्म को पदार्थ मानने पर वीरः पुरुषः में सामर्थ्य की प्रतीति करना और उसी धर्म का आश्रय भूत व्यक्ति या द्रव्य के पदार्थ मानने पर सामर्थ्य का अभाव मानना - इसमें क्या औचित्य है ?

इस आधार पर आश्रय के एक होने पर भी यदि तद्गत धर्मों में भिन्नता होने से सामर्थ्य की प्रतीति सम्भव है, तब व्यक्ति को पदार्थ मानकर आश्रय एक होने पर भी धर्म भिन्नता के आधार पर सामर्थ्य की कल्पना की जा सकती है।

सिद्धान्ती की ओर से किए गए इस आक्षेप का समाधान करते हुए आक्षेपवादी का कथन है कि व्यक्ति को पदार्थ मानने पर एक ही व्यक्ति-निष्ठ दो भिन्न-भिन्न धर्मों में भेद की कल्पना कर सामर्थ्य की प्रतीति कराना सम्भव नहीं है क्योकि वीरपुरुष पद से केवल आश्रय या व्यक्ति की ही उपस्थिति होती है, उसमें रहने वाले धर्मों की उपस्थिति नहीं होती। अब वीरपुरुष पद से यदि धर्मों की उपस्थिति ही नहीं

है। तब वे धर्म सामर्थ्य की कल्पना में कैसे सहयोगी हो सकते हैं ?

सिद्धान्ती का इस आक्षेप के सम्बन्ध में यह विचार है कि धर्म का धर्मों के साथ नित्य सम्बन्ध है। धर्मो में वह धर्म स्थायी रूप से विद्यमान है। आकृतिः पदार्थः पक्ष को स्वीकार करने वालों के अनुसार धर्म-धर्मी का नित्य सम्बन्ध है किन्तु शब्द से उस धर्म का बोध नहीं होता, जैसे - गुड़ शब्द का उच्चारण करने पर उसके माधुर्य का बोध नहीं होता। अथवा शृङ्गबेर या अदरक शब्द का उच्चारण करने पर उसके धर्म का (तीखेपन का) बोध नहीं होता।

आकृतिः पदार्थः पक्ष में आक्षेप - धर्म को पदार्थ स्वीकार करने वालों के पक्ष में भी यह आक्षेप हो सकता है कि यदि शब्द से जिसकी उपस्थिति होती है उसी की विद्यमानता स्वीकार कर व्युत्पत्ति सम्भव है, तब तो पद से धर्म की उपस्थिति होती है और आश्रयत्व सम्बन्ध से दुसरा धर्म उपस्थित होता है। अर्थात् वीरपुरुषः में वीरत्व और पुरुषत्व धर्मों की उपस्थिति होती है और उनमें परस्पर आश्रयत्व सम्बन्ध से अन्वय होता है। दोनों का आश्रय एक ही पुरुष है किन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि धर्मों के आश्रयभूत व्यक्ति की उपस्थिति तो पद से नहीं हो रही है, तब वह आश्रय उन दो धर्मों का परस्पर सम्बन्ध का प्रतिपादन कैसे कर सकता है ?

निष्कर्षतः यह प्रतिपाद्य है कि दोनों पक्षों में एक-एक अनुपपत्ति है। धर्म को पदार्थ मानने पर आश्रय के द्वारा धर्मो में सम्बन्ध बोध होता है और उनमें सामर्थ्य की कल्पना की जाती है। व्यक्ति या आश्रय को पदार्थ मानने पर दो भिन्न धर्मों के कारण आश्रय में भिन्नता की कल्पना कर सामर्थ्य की प्रतीति की जा सकती है।

समानाधिकरण समास - वीरपुरुषः समास की उपपत्ति के सम्बन्ध में "पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराण नवकेवलाः समानाधिकरणेन" - (२.१.४९.) सूत्र पर विचार करना आवश्यक है। इस सूत्र में पूर्वकालवाचक एक, सर्व, जरत्, पुराण, नव, केवल - इन सुबन्तों का समानाधिकरण (समानार्थ प्रतिपादक) तत्पुरुष समास होता है विकल्प से। उदाहरण - पूर्वं स्नातः पश्चादनुलिप्तः = स्नातानुलिप्तः - एकभिक्षो - सर्वदेवाः, केवलान्नम् इत्यादि। इन उदाहरणों में समानार्थक प्रातिपदिकों में जिस प्रकार सामर्थ्य का ग्रहण किया गया है, उसी प्रकार वीरपुरुषः में किया जा सकता है। इस आधार पर वीरपुरुषः की उत्पत्ति तो सम्भव है किन्तु अब सर्वत्र पदार्थ का धर्म और धर्म का आश्रय एक ही होने पर समास की प्रसक्ति हो जाएगी। जैसे - इन्द्रः शक्रः पुरुहूतः पुरन्दरः आदि पर्यायवाचक शब्दों में भी समास की प्रसक्ति हो जाएगी।

वस्तुतः इन पर्यायवाचक शब्दों में समास की प्रसक्ति की संभावना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि शब्दों का प्रयोग - विवक्षित अर्थ के प्रतिपादन के लिए किया जाता है। किसी एक शब्द से अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन हो जाता है, तब उसी अर्थ का वाचक अन्य शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता। (उक्तार्थानामप्रयोगः) इस सन्दर्भ में भाषा में उपलब्ध एक प्रयोग "भृत्यभरणीयः" उद्धृत किया जाता है। इस समास में भृत्य और भरणीय दोनों पर्याय वाचक शब्द हैं। उपर्युक्त नियम के अनुसार इस शिष्ट प्रयोग को अपशब्द कहना पड़ेगा। इस सन्देह के निवारणार्थ भाष्यकार कहते हैं - " नैतौ समानार्थौ " अर्थात्

भृत्य और भरणीय शब्द समानार्थक नहीं हैं । भृत्य शब्द भृ धातु से शक्य अर्थ में कृत्य प्रत्यय (शकि लिङ्च - ३.३.१७२.) विहित है । भरणीय में भृ धातु से अर्ह अर्थ में कृत्य प्रत्यय का विधान है। (अर्हे कृत्यतृचश्च - ३.३.१६९.) उदाहरण - "भर्तुं शक्यो भृत्य:" और "भृति मर्हति भरणीय: । भृत्यश्चासौ भरणीयश्च भृत्यभरणीय: ।" - इन प्रयोगों में यह अर्थगत विशेषता है कि स्वामी यदि सम्पन्न है तब वह नौकर का पोषण करने में समर्थ होता है । यदि स्वामी सम्पन्न नहीं है तब नौकर का पोषण शक्य नहीं है। इसी प्रकार नौकर यदि स्वामिनिष्ठ है तब पोषण करने के योग्य होता है अन्यथा वह पोषण करने योग्य नहीं होता। भृत्य और भरणीय का यही भाव है।

उपर्युक्त दृष्टान्त के आधार पर पूर्वपक्ष यह नियम प्रस्थापित करता है कि जिस स्थल पर कुछ अंश में अर्थ का साम्य और अंशत: भिन्नता होती है, वहाँ समानाधिकरण समास किया जा सकता है और इसके अनुसार दर्शनीयाया: माता में कर्मधारय समास कर दर्शनीया माता की सिद्धि की आशंका करता है। यहाँ दोनों पदों में सत्ता की दृष्टि से साम्य और अर्थ की दृष्टि से वैषम्य है शङ्काकार की यह शंका अत्यन्त अनुचित है। किसी पदार्थ का अस्तित्व या सत्ता पदार्थ से व्यभिचरित नहीं होती। पदों में एक सत्ता का साम्य तो होता ही है। ऐसा कोई स्थल नहीं जहाँ सत्ता के आधार पर पदों में साम्य न हो। इसीलिए कैयट लिखते हैं - **"सत्ताया: सर्वत्र भावाद् व्यभिचाराभावान्नासौ समानत्वेनाश्रीयते।"** सर्वत्र पदों में सत्ता गत समानाधिकरण होते हुए भी सूत्रकार "समानाधिकरणेन" शब्द का प्रयोग करते हैं, इससे ज्ञापित होता है कि सामानाधिकरण्य में कुछ विशेष अर्थ अभीष्ट है। विशेष का तात्पर्य है - अत्यन्त सामानाधिकरण्य। यह अत्यन्त सामानाधिकरण्य में ही समानाधिकरण समास विहित है। यह अत्यन्त सामानाधिकरण्य ऐसे स्थलों पर प्राप्त होता है जहाँ सत्ता अन्यभाव और द्रव्य - ये सभी समान होते हैं। दर्शनीयाया: माता में द्रव्य अर्थात् पदार्थ एक नहीं है। दर्शनीया - पुत्री है और उसकी माता उससे भिन्न है - अत: यहाँ सामानाधिकरण्य सम्भव नहीं। समानाधिकरण में समास का यह तात्पर्य समझना चाहिए कि समानता वह है जो कहीं विद्यमान होती है और कहीं नहीं होती। सत्ता या अस्तित्व के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता। सत्ता का कहीं अभाव हो यह सम्भव नहीं। इस प्रकार दर्शनीयाया: माता में अस्तित्व या सत्ता की समानता के आधार पर जो सामानाधिकरण्य की कल्पना की गई है, वह असत्य है।

समानाधिकरण शब्द की एक व्याख्या यह भी हो सकती है कि समान द्रव्य से जो अर्थ बोध होता है वही समानाधिकरण से किया जाए। लोक में घट-पट आदि द्रव्यों को अधिकरण कहा जाता है। तात्पर्य यह कि समानाधिकरण शब्द में अधिकरण का अभिप्राय द्रव्य से है। लोक में प्राय: देखा जाता है कि किसी द्रव्य के सम्बन्ध में विवाद होने पर यह वाक्य प्रयोग होता है कि - एक अधिकरण के सम्बन्ध में विवाद हुआ। व्याकरण शास्त्र में भी "विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि" - (२.४.१३.) सूत्र में द्रव्य अर्थ में अधिकरण शब्द का प्रयोग है। (अधिकरणं द्रव्यम् - वृहच्छब्देन्दुशेखर) भट्टोजी दीक्षित के शब्दों में "विरुद्धार्थानामद्रव्य वाचिनां द्वन्द्व एकवद्वा स्यात्" द्रव्य से तात्पर्य वस्तु से है। दर्शनीयाया: माता में पुत्री और उसकी माता ये दो द्रव्य हैं, अत: यहाँ सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता। वीर: पुरुष: प्रयोग में द्रव्य समान है अत: सामानाधिकरण्य है और सामर्थ्य भी है। अत: समानाधिकरण समास होता है। पूर्व वार्तिक में **"समानाधिकरणेषूपसंख्यानमसमर्थत्वात्"** कहकर वीर: पुरुष: में असमर्थत्व रूप हेतु का उल्लेख करना अनुचित है।

समानाधिकरणमसमर्थवत् - समानाधिकरण शब्द सामर्थ्य रहित होते हैं - ऐसा वचनारम्भ आवश्यक है। इस विषय में भाष्यकार कहते हैं कि यदि उपर्युक्त वचनारम्भ करते हैं, तब सर्पि-कालकम्, यजु: पीतकम् आदि प्रयोगों में "इसुसो: सामर्थ्ये" - (८.३.४४.) से षत्व की निवृत्ति हो जाती है। किन्तु सर्पिष्पीयते, यजुष्कियते में षत्व की प्रवृत्ति नहीं हो पाएगी, क्योंकि इन वाक्यों में भी क्रिया और कारक का समानाधिकरण है। इसकी सिद्धि के लिए "अधात्वभिहितं समानाधिकरणमसमर्थवत्" वचनारम्भ करना होगा। इसका तात्पर्य है - धातु से विहित प्रत्यय के द्वारा कर्ता कर्म आदि का अभिधान होने पर समानाधिकरण में सामर्थ्य रहता ही है। निष्कर्षत: वीर: पुरुष: में समास की सिद्धि के लिए समानाधिकरण में समास का उपसंख्यान करना आवश्यक है।

वस्तुत: आचार्य पाणिनि समानाधिकरण शब्दों के साथ समास का विधान "पूर्वापर प्रथमचरम जघन्यसमान मध्यमध्यम वीराश्च" - (२.१.५८.) सूत्र में करते हैं। इससे ज्ञापित होता है कि समानाधिकरणमसमर्थवत् वचन समास में प्रवृत्त नहीं होगा। इस ज्ञापन के आधार पर वीर: पुरुष: में समानाधिकरण में समास की सिद्धि हो सकती है और वार्तिक अन्यथा सिद्ध हो जाता है।

निष्कौशाम्बि:, निर्वाराणसि: आदि समासों में पूर्व और उत्तर पद के सामर्थ्य पर विचार करने पर प्रतीत होता है कि निर् और कौशाम्बी तथा निर् और वाराणसी में तो सामर्थ्य की प्रतीति प्रत्यक्ष रूप से नहीं होती क्योंकि इन पदों में क्रिया वाचक शब्द लुप्त है। अत: ऐसे पदों में समास की सिद्धि हेतु वार्तिकारम्भ करना आवश्यक है। सूत्र "कुगतिप्रादय:" - (२.२.१८.) में वार्तिककार ने "प्रादय: क्तार्थे" कहकर प्रादिको का क्त प्रत्ययान्त कृदन्तों के अर्थ में समास किया है। प्रगत के अर्थ में प्र का आचार्य के साथ समास करने पर प्रगत: आचार्य: = प्राचार्य:, प्रगत: अन्तेवासी = प्रान्तेवासी, प्रगत: पितामह: = प्रपितामह: आदि।

सौनाग नामक वैयाकरणों ने इसी की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है, जिसे २.२.१८. सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने उद्धृत किया है।

निष्कौशाम्बि: इत्यादि समासों की सिद्धि के लिए "लुप्ताख्यानेषु" वार्तिक की आवश्यकता पूर्व में प्रतिपादित की गई वह अयुक्त है। क्योंकि निस् उपसर्ग में यह सामर्थ्य है कि वह कौशाम्बी के साथ समस्त होते समय विवक्षित अर्थ का आक्षेप कर लेता है। निस् क्रिया विशेषण है अत: स्वाभाविक रूप से वह अभीष्ट क्रिया का आक्षेप करता है। कैयट ने स्पष्ट शब्दों में कहा है - "क्रान्त शब्दस्य योऽर्थ: संप्रतीयते नि: शब्देन क्रियाविषयेण तस्यार्थस्य सामर्थ्यादाक्षिप्तत्वात्तद् द्वारेण पूर्वपदोत्तरपदयो: सामर्थ्यात्।" भाष्यकार भी "तदर्थगतेर्वा" वार्तिक के द्वारा यह प्रतिपादित करते हैं कि कौशाम्बी के साथ समस्त होने में जिस अर्थ का सामर्थ्य है वही अर्थ निस् उपसर्ग के द्वारा उक्त होता है। (योऽर्थ: कौशाम्ब्या समर्थ: स निसोच्यते - म. भा.)

अनेक पदों का समास - समास विधायक सूत्रों में जब पूर्वपद और उत्तरपद का स्पष्ट निर्देश है - वहाँ अनेक पदों के समास का कोई प्रसङ्ग नहीं है। जैसे - "द्वितीयाश्रितातीत०" - (२.१.२४.) आदि सूत्रों में द्वितीयान्त का श्रितादिकों के साथ स्पष्ट रूप से समास विहित है। किन्तु जहां पर पूर्वपद

और उत्तरपदों के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से निर्देश नहीं है, जैसे - "अनेकमन्य पदार्थे" - (२.२.२४.), "चार्थे द्वन्द्वः" - (२.२.२९.) इत्यादि सूत्रों में यह सन्देह उपस्थित हो सकता है कि यदि अन्य पदार्थ के अर्थ में अथवा चार्थ में तीन या तीन से अधिक पदों का समास प्राप्त हो तो उनमें दो-दो पदों का समास किया जाए अथवा सभी का एकसाथ समास किया जाए। इस स्थल पर यदि प्रथम पक्ष स्वीकार कर दो-दो पदों का समास करें तो चार्थे द्वन्द्वः सूत्र में अनेकम् पद का ग्रहण करना पड़ेगा और "चार्थे द्वन्द्वोऽनेकम्" ऐसा सूत्र का स्वरुप हो जाएगा। उदाहरणार्थ - प्लक्ष, न्यग्रोध, खदिर और पलाश इन चारों पदों का एक साथ द्वन्द्व समास होकर "प्लन्यग्रोधखदिरपलाशाः" समास सिद्ध होगा। इन चारों पदों में यदि प्लक्ष और न्यग्रोध का द्वन्द्व समास पहले करते हैं और खदिर-पलाश का द्वन्द्व करते हैं। इस प्रकार दो-दो पदों का एक-एक द्वन्द्व समास निष्पन्न करने के पश्चात् दोनों द्वन्द्वों का पुनः तीसरा द्वन्द्व समास करें तो अभीष्ट अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। वक्ता को चारों पदों का साहित्य या सहविवक्षा अभीष्ट है। दो-दो पदार्थों का सह-भाव विवक्षित नहीं है। जैसे - लोक मे किसी व्यक्ति के चार पुत्र हैं उसे द्विपुत्र नहीं कहा जा सकता।

लौकिक दृष्टान्त को छोड़कर यदि प्लक्ष और न्यग्रोध की सहविवक्षा और खदिर तथा पलाश की सहविवक्षा कर समास निष्पन्न करने में किसी प्रकार अर्थ की हानि नहीं होती, तथापि अन्यत्र अनुपपत्ति की आशङ्का हो सकती है। जैसे - होता, पोता, नेष्टा और उद्गाता का द्वन्द्व समास करने पर "होतृ-पोतृ नेष्टोद्गातारः" समास सिद्ध होता है। अब दो-दो पदों में सहविवक्षा कर समास करने पर अनिष्ट रूप सिद्ध होगा। चारों पदों का एकसाथ द्वन्द्व समास करने पर, उद्गातृ को उत्तरपद मानकर केवल नेष्टृ के ऋकार को "आनङ् ऋतोद्वन्द्वे" - (६.३.२५.) सूत्र से आनङ् आदेश होता है। अब यदि दो-दो पदों की सह विवक्षा करते हैं, तब होतृ और पोतृ में पोतृ उत्तर पद के परे होतृ के ऋकार को आनङ् आदेश होगा। द्वितीय सहविवक्षा में नेष्टृ के ऋकार को आनङ् होगा। तृतीय द्वन्द्व में होता पोतृ के ऋकार को आनङ् होगा और इस प्रकार "होतापोतानेष्टोद्गातारः" समास निष्पन्न हो जाएगा।

यद्यपि उपर्युक्त प्रयोग उस स्थिति में निष्पन्न हो सकता है जब होता च पोता च होतापोतारौ नेष्टा च उद्गाता च नेष्टोद्गातारौ, होता पोतारौ च नेष्टोद्गातारौ च होतापोतानेष्टोद्गातारः शब्द सिद्ध होगा। किन्तु "द्वयोर्द्वयोः समासः" पक्ष में केवल यही एक रूप सिद्ध होगा और होतृपोतृनेष्टोद्गातारः समास का उच्छेद हो जाएगा।

इसी प्रकार "वाक्त्वक् सुग्दृषदम्" में त्वच् शब्द के परे समासान्त टच् (द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहारे - ५.४.१०६.) प्राप्त हो जाएगा। उसका निषेध करना पड़ेगा। अन्यथा "वाक्त्वचसुग्दृषदम्" मात्र यही रूप सिद्ध होगा, पूर्वोक्त रूप की सिद्धि नहीं हो पाएगी। इस दोष के निवारणार्थ त्वक् को उत्तरपद में न रखते हुए विग्रह किया जा सकता है। जैसे - स्रुक् और दृषत् का पहले द्वन्द्व किया जाएगा और स्रुक् च दृषच्च सुग्दृषदम्, अब इसका त्वक् के साथ द्वन्द्व करने पर त्वक् च सुग्दृषदम् च त्वक् सुग्दृषदम्। वाक् च त्वक् सुग्दृषद् च = वाक्त्वक्सुग्दृषदम् समास सिद्ध हो जाएगा। निष्कर्षतः होतृ पोतृ नेष्टोद्गातारः की सिद्धि के लिए ही द्वयोर्द्वयोः समासः को अस्वीकार किया जा सकता है।

बहुव्रीहि समास में दोष - अनेक पदों में समास की प्राप्ति होने पर दो-दो पदों का समास करने से सुसूक्ष्म जटकेशेन - सुनताजिनवाससा और समन्त शितिरन्ध्रेण - प्रयोगों में अनेक पदों का बहुव्रीहि समास सिद्ध न हो पाएगा। सुसूक्ष्मजटकेशेन तथा सुनताजिनवाससा में सु को तथा समन्त शितिरन्ध्रेण में समन्त को पूर्वपद प्रकृति स्वर "बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्" - (६.२.१.) होता है। द्वयोः द्वयोः समासः पक्ष में नहीं हो पाएगा। क्योंकि सु और समन्त पूर्वपद नहीं हैं - सुसूक्ष्म सुनत भी पूर्वपद है। इसी प्रकार तृतीय उदाहरण में समन्त पूर्वपद तो है किन्तु शिति रन्ध्रेण में शिति भी पूर्वपद कहा जा सकता है। तात्पर्य यह हुआ कि दो-दो पदों का समास करना दोष ग्रस्त है।

(सुष्ठु सूक्ष्माः जटाः केशाः अस्य स सुसूक्ष्मजटकेशः - अर्थात् जिसकी जटाएँ और केश अतिशय सूक्ष्म हैं। सुष्ठु नतमजिनं वासः यस्य स सुनताजिनवासः - अर्थात् जिसका वस्त्र अच्छी तरह "नत" झुके हुए चर्म का है। समन्तानि शितीनि रन्ध्राणि यस्य - अर्थात् जिसमें सभी श्वेत छिद्र हैं।)

अनेक पदों का समास - दो-दो पदों में समास करने पर दोष प्रसक्ति होती है अतः अनेक पदों का एकसाथ समास करना चाहिए। सूत्र - २.१.२. से सुप् की तथा २.१.४. से सूपा पद की अनुवृत्ति समास विधायक सूत्रों में होती है और तत्तत् सूत्रों के अनुसार सुबन्त का सुबन्त के साथ समास होता है। इस अर्थ निष्पत्ति से स्पष्ट रूप से दो पदों के बीच समास विधान की प्रतीति होती है। यदि "सुपा" पद की अनुवृत्ति न की जाए तो अर्थ होगा - सुबन्तों का समास होता है। समास का अभिप्राय "समसनम्" अर्थात् सहयोग है। एक पद में तो सहयोग हो नहीं सकता अतः दो या अनेक सुबन्तों का समास सिद्ध होता है। इस प्रकार द्वितीय पक्ष की उद्भावना होती है।

दोषापत्ति - अनेक पदों में बहुव्रीहि समास करने पर स्वर समसान्त और पुंवद्भाव के विषय में दोषापत्ति की सम्भावना है। उदाहरणार्थ - पूर्वशालाप्रियः अपरशालाप्रियः प्रयोगों में पूर्वा और शाला - इन दो पदों का समास (२.१.८८.) करने के पश्चात् उस सामासिक पद का प्रिय शब्द के साथ बहुव्रीहि समास (२.२.२४.) होता है और समासस्य - (६.१.२२३.) से पूर्वशाला पद का अन्तिम अच् उदात्त होता है। यही उदात्त स्वर बहुव्रीहि करने के बाद यथावत् रहता है। (बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् - ६.२.१.) यहाँ एक साथ त्रिपद बहुव्रीहि समास करें तो पूर्वशाला का आदि उदात्त स्वर (फिट् सूत्र २.६) बहुव्रीहि में यथावत् रह जाएगा और स्वर सम्बन्धी दोष उत्पन्न हो जाएगा। इसी प्रकार पञ्चगवप्रियः में पञ्चन् और गो - इन दो पदों का द्विगु समास होकर - समासान्त टच् प्रत्यय - (५.४.९२.) होता है और पञ्चगवम् रूप सिद्ध होता है। इसका प्रिय के साथ बहुव्रीहि होकर पञ्चगवप्रियः यह समास निष्पन्न होता है। एक साथ तीन पदों का बहुव्रीहि करने पर यह समासान्त टच् प्रत्यय नहीं हो पाएगा। खादिरेतरशम्यम् प्रयोग में इतर और शम्या इन दो पदों का पहले समास हो जाता है। बाद में खादिरी शब्द के साथ बहुव्रीहि होता है। तब खादिरी को पुंवद्भाव (स्त्रियाः पुंवद्भाषित पुंस्काद्० - ६.३.३४.) होकर "खादिरेतरशम्यम्" रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार रौरवी + इतर + शम्या से भी "रौरवेतरशम्यम्" की सिद्धि होती है।

दोष निवृत्ति - अनेक पदों में बहुव्रीहि की निष्पत्ति करने से प्रसक्त उपर्युक्त दोषों का निराकरण करते हुए भाष्यकार का कथन है कि पञ्चगवप्रियः में त्रिपदबहुव्रीहि करने पर बहुव्रीहि के

अवयव पञ्चन् और गो पद तत्पुरुष संज्ञक हैं। "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" - (२.१.५१.) सूत्र से पञ्चन् और गो में तत्पुरुष समास होता है और इस प्रकार समासान्त टच् (५.४.९२.) की निर्बाध प्रवृत्ति हो सकती है।

खादिरेतरशम्यम् में इतर शम्या को तत्पुरुष संज्ञक मानकर खादिरी के साथ द्विपद बहुव्रीहि करने पर पुंवद्भाव की सिद्धि हो जाती है। पूर्वशालाप्रियः में स्वर विषयक जो दोषापत्ति की गई है, उसके सम्बन्ध में यह प्रक्रिया की जानी चाहिए कि पूर्वा-शाला और प्रिया में त्रिपद बहुव्रीहि करने से सूत्र - ६.२.१. से पूर्वपद प्रकृति स्वर प्राप्त होता है और पूर्वाशाला में तद्धितार्थोत्तर० सूत्र से तत्पुरुष समास करने पर पूर्वशाला को अन्तोदात्त प्राप्त होता है। (६.१.२२३.) इन दोनों स्वरों में बलाबलत्व का विचार करने पर विप्रतिषेध न्याय से अन्तोदात्त स्वर बली होता है और इस प्रकार अभीष्ट स्वर की सिद्धि हो जाती है।

इस प्रसङ्ग में यह ध्यातव्य है कि विप्रतिषेध से पर सूत्र बली होता है किन्तु यहाँ समासान्तोदात्तत्व विधायक सूत्र - ६.१.२२३. पर में नहीं है अपितु पूर्वपद प्रकृतिस्वर विधायक सूत्र - ६.२.१. ही पर है। अतः वही बली है। भाष्यकार यहाँ अन्तरङ्गत्वात् पूर्वपद प्रकृति स्वर को बली मानते हैं।

सिद्धान्ततः भाष्यकार ने स्वर के सम्बन्ध में एक नियम यह प्रतिपादित किया है -

"निमित्तस्वरान्निमित्तिस्वरो बलीयान्"

इसका आशय है कि निमित्त को मानकर प्राप्त स्वर की अपेक्षा निमित्ती के कारण प्राप्त स्वर बलवान् होता है। आचार्य पाणिनि स्वयं इस न्याय के समर्थक हैं। "युक्तारोह्यादयश्च" - (६.२.८१.) सूत्र में पठित युक्तारोह्यादि गण में एकशितिपात् शब्द इस परिभाषा (न्याय) का ज्ञापक है। युक्तारोह्यादि० सूत्र के अनुसार युक्तारोही आदि शब्दों को आद्युदात्त का विधान है। इसी गण में एकशितिपात् शब्द पठित है। पाठसामर्थ्य से एकशितिपात् शब्द आद्युदात्त होता है। यदि एकशितिपात् शब्द का इस गण में पाठ नहीं करते तो भी "एकः शितिः = एकशितिः एकशितिः पादो यस्येति एक शिति पात् " - इस प्रकार विग्रह कर समास निष्पत्ति करने से आद्युदात्त की अन्यथा सिद्धि होती है। (एक शब्द - अव्युत्पत्तिपक्ष में कन्नन्त होने से "स्वाङ्गशिटाम्०" से आद्युदात्त होता है। दो पदों में तत्पुरुष और उसके पश्चात् पाद शब्द के साथ बहुव्रीहि करने पर ७.२.१. के अनुसार आद्युदात्तत्व (प्रकृति स्वर) यथावत् रहता है। अन्यथा सिद्ध होने पर भी पुनः सूत्र में उसका आद्युदात्तत्व करना व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि निमित्त स्वर की अपेक्षा निमित्ती का स्वर बली होता है।

वस्तुतः उक्त ज्ञापन के वाद भी युक्तारोह्यादि गण में एकशितिपात् शब्द का पाठ करना सार्थक नहीं है। ज्ञापन में "स्वांशे चरितार्थ्य" नहीं है क्योंकि "इगन्तकाल०" - (६.२.२९.) सूत्र से प्राप्त पूर्वपदप्रकृत स्वर निमित्ती का ही स्वर है, अतः वह होकर इष्ट रूप सिद्ध हो ही जाता है।

बहुव्रीहि के अवयवभूत पदों के समास की तत्पुरुष संज्ञा करने पर "सुसूक्ष्मजटकेशेन" में दोष प्रसक्ति हो सकती है। इस समास में बहुव्रीहि के कारण सु को प्राप्त पूर्वपदप्रकृति स्वर की अपेक्षा सुसूक्ष्म इस अवयव तत्पुरुष को प्राप्त समासान्तोदात्त अन्तरङ्ग होने से बली होता है और उसकी प्रवृत्ति हो जाती है।

इस दोष की निवृत्ति के लिए "न वाऽवयवतत्पुरुषात्" वार्तिक का यह अभिप्राय न लिया जाए कि त्रिपद बहुव्रीहि में अवयव तत्पुरुष समास किया जाए। वार्तिक का आशय है कि जहाँ बहुव्रीहि के अवयवों में तत्पुरुष समास प्राप्त होता है, वहाँ उस तत्पुरुष समास को समासान्तोदात्त स्वर अन्तरङ्ग होने से बली होता है और पूर्वपदप्रकृतिस्वर का बाध करता है। प्रकृत उदाहरण सुसूक्ष्म० में तत्पुरुष समास विधायक कोई विशेष सूत्र नहीं है, अतः समासान्तोदात्तत्त्व की प्रसक्ति की संभावना नहीं रह जाती। "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" - (२.१.५७.) सूत्र को तत्पुरुष संज्ञा का विधायक नहीं मान सकते क्योंकि सूत्र में बहुल के सामर्थ्य से समुदाय की वृत्ति में जब तक अवयवों के लिए विशेष लक्षण या सूत्र न हो तब तक उन अवयवों के समास की तत्पुरुष आदि संज्ञा नहीं की जा सकती। (**समुदायस्य वृत्तावयवस्यान्या संज्ञा विशेषलक्षणं बिना बहुल वचनान्न प्रवर्तते** - कैयट)

त्रिपद बहुव्रीहि के अवयव की तत्पुरुष संज्ञा का अन्य उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है - अधिकषष्टि वर्षः - इस त्रिपद बहुव्रीहि में अधिकषष्टि इस अवयव की तत्पुरुष संज्ञा प्राप्त होती है। अधिक शब्द संख्या संज्ञक है। (बहुगण वतु डति संख्या १.१.२३. में पठित वार्तिक **"अधिक ग्रहणं चालुकि०"** के अनुसार) "तद्धितार्थोत्तर पद समाहारे च" - (२.१.५१.) सूत्र से अधिक और षष्टि पदों का समास होता है। इन दो पदों का तत्पुरुष समास होने से "तस्यान्तोदात्तत्त्वं विप्रतिषेधात्" - (२.१७. वा.-३१.) के अनुसार उसे अन्तोदात्तत्त्व की प्रसक्ति हो जाएगी। यदि इस दोष का निवारण "इगन्तकाल०" - (६.२.२९.) सूत्र से पूर्वपद प्रकृति स्वर के द्वारा करें तो जिस स्थल पर इगन्त तत्पुरुष नहीं है ऐसे अधिकशतवर्षः आदि प्रयोगों में दोष संभावित है। इगन्त में भी (अधिक षष्टि वर्षः) समासान्त टच् प्रत्यय की सम्भावना है। (बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात् - ५.४.७३. सूत्र पर पठित वार्तिक के अनुसार) उक्त वार्तिक में पूर्वपद अव्यय और उत्तर पद में संख्या होने पर तत्पुरुष को समासान्त डच् प्रत्यय का विधान है। अधिकषष्टि वर्ष में पूर्वपद (अधिक) अव्यय नहीं है, अतः दोष की निवृत्ति सम्भव है तथा अधिक और षष्टि में "संख्याव्यय०" सूत्र से बहुव्रीहि समास मानकर "बहुव्रीहौ संख्येये०" - (५.४.७३.) सूत्र से ही डच् की प्रसक्ति हो सकती है। (कैयट के शब्दों में - त्रिपदे बहुव्रीहौ कृते पदद्वयस्य तद्धितार्थोत्तर पदेति तत्पुरुषं परत्वाद् बाधित्वा संख्ययाव्ययेति बहुव्रीहिः प्राप्नोति। ततश्च बहुव्रीहौ संख्येय इति डच् प्रसङ्गः।) इस अनुपपत्ति के निवारणार्थ अधिक षष्टि वर्षः में षष्टि संख्यावाचक शब्द को संख्येय अर्थ में न माना जाए और "अधिका षष्टिर्वर्षाणामस्य" - इस अर्थ में समास निष्पन्न किया जाए। इस स्थिति में अधिक और षष्टि इन दो पदों का बहुव्रीहि प्राप्त ही नहीं है, क्योंकि संख्येय वाचक संख्या शब्द का ही संख्या के साथ समास (२.२.२५.) बहुव्रीहि संज्ञक कहा जाता है। इस विग्रह में षष्टि पद केवल संख्या का बोधक है संख्येय का नहीं। जब षष्टि शब्द संख्यावाचक ही है तब "अनेकमन्य पदार्थे" - (२.२.२४.) सूत्र से ही बहुव्रीहि सिद्ध हो सकता है। इस पक्ष में सूत्र "संख्ययाव्यया०" - (२.२.२५.) का प्रत्याख्यान किया गया है। जब षष्टि शब्द संख्यावाचक न होकर संख्येय का वाचक हो तब समास का विग्रह होगा अधिका षष्टिर्वर्षाणि अस्य स अधिकषष्टिवर्षः। यहाँ यह ध्यातव्य है कि विंशति से आगे सभी संख्या

वाचक शब्द संख्येय के भी वाचक होते हैं - "विंशत्याद्याः सदैकत्वे ज्ञेया संख्येय संख्ययोः" अर्थात् षष्टि आदि शब्द संख्येय के वाचक हैं और संख्या के भी वाचक हो सकते हैं। जिस पक्ष में वे संख्येय का बोध कराते हैं, उस पक्ष में अन्य पदार्थ का बोधक न होने से अधिक + षष्टि में तत्पुरुष समास होता है और इस प्रकार बहुव्रीहौ - (५.४.७३.) से बहुव्रीहि में होने वाला समासान्त डच् प्रत्यय प्राप्त नहीं होता। जब षष्टि शब्द संख्या वाचक होता है, तब अनेकमन्य पदार्थे सूत्र से अधिक और षष्टि का बहुव्रीहि समास होता है और इस पक्ष में सूत्र ५.४.७३. से समासान्त डच् की प्राप्ति होती है।

यद्यपि अधिकषष्टिवर्षः में संभावित दोष संख्ययाव्यया के प्रत्याख्यान पक्ष में "अधिकषष्टिर्वर्षाणि अस्य" - ऐसा तत्पुरुष परक विग्रह करने पर यथाकथञ्चित् दूर किया जा सकता है तथापि अधिक शत वर्षः समास में बहुव्रीहि के अवयव को तत्पुरुष मानने पर समासान्तोदात्तत्त्व की प्रसक्ति है। अधिकं शतं वर्षाणि यस्य इस प्रकार त्रिपदबहुव्रीहि करने पर इसके अन्तर्गत अधिक और शत इन दो पदों में "तद्धितार्थोत्तर पद समाहारे च" - (२.१.५१.) सूत्र से समास होगा और इस समास का अन्त उदात्त प्राप्त होता है। इस समासान्तोदात्त की निवृत्ति के लिए यत्न करना आवश्यक है।[८] इसी उद्देश्य से युक्तारोह्यादि गण में इन शब्दों का पाठ किया गया है। इस गण में पाठ करने से अधिकशतम् आदि समासों में आद्युदात्त स्वर सिद्ध होता है। (युक्तारोही आदि गण आकृतिगण माना गया है अतः इसमें अधिकशतवर्षः शब्द की पाठ कल्पना की जा सकती है।)

अन्त में निष्कर्ष रूप से यह प्रतिपाद्य है कि द्वन्द्व और बहुव्रीहि समास के विषय में दो पक्षों की उद्भावना की गई थी। - १. द्वयोः द्वयोः समास, २. अविशेषेण समासः। इनमें से अविशेषेण समासः पक्ष निर्दुष्ट है क्योंकि इस पक्ष में संभाव्य अनुपपत्तियों का युक्तियुक्त समाधान कर दिया गया है। उद्योतकार के शब्दों में - "एवं च द्वन्द्व बहुव्रीहि विषयेऽविशेषेणेति पक्षः स्थितः। - उद्योत।"

❀❀❀

शब्द संकेत

१. अधिकार: प्रतियोगं तस्यानिर्देशार्थ इति योगे योग उपनिष्ठते । परिभाषा पुनरेकदेशस्था सति सर्व शास्त्रमभिज्वलयति । तद्यथा प्रदीप: सुप्रज्वलित एक देशस्थ: सर्व वेश्माभिज्वलयति । - (म. भा. - २.१.१.)

२. सामर्थ्य से तात्पर्य परस्पर सम्बन्ध से है। यह पारस्परिक सम्बन्ध दो प्रकार का होता है। - एक व्यपेक्षा कहलाता है और दूसरा एकार्थीभाव। राज्ञ: पुरुष: आदि वाक्यों में जो परस्पर सम्बन्ध है वह व्यपेक्षा सामर्थ्य होता है। यह सामर्थ्य वाक्य में ही होता है। इन्हीं पदों का समास करने पर राजपुरुष आदि में पदों का जो परस्पर सम्बन्ध है वह एकार्थीभाव सामर्थ्य कहा जाता है। यह सामर्थ्य समासादि वृत्तियों में होता है। विभक्ति विधान और पराङ्गवद्भाव में ऐसा सामर्थ्य नहीं होता। अत: एकार्थीभाव पक्ष में यह अधिकार विभक्ति विधान और पराङ्गवद्भाव में उपस्थित नहीं होगा।

३. महाभाष्य के प्रसिद्ध टीकाकार कैयट ने समर्थपद के अर्थ को लेकर ६ पक्षों की उद्भावना की है।

१. अधिकार में	-	एकार्थी भाव सामर्थ्य
	-	व्यपेक्षा सामर्थ्य
	-	द्विविध सामर्थ्य
२. परिभाषा पक्ष में	-	एकार्थी भाव समार्थ्य
	-	व्यपेक्षा सामर्थ्य
	-	उभय विध सामर्थ्य

४. "इसुसो: सामर्थ्ये" - (८.३.४४.) सूत्र में पठित सामर्थ्य पद भी निरर्थक है क्योंकि ब्राह्मणस्य सर्पिष्करोति इत्यादि स्थलों पर असमर्थ सर्पिस् से स को भी षत्व हो जाता है। पूर्वपक्षी का यह आक्षेप उचित नहीं है क्योंकि इसुसो० सूत्र में पठित सामर्थ्य पद का आशय साकांक्ष से है। परिभाषा सूत्र में पठित समर्थ पद निरपेक्ष या निराकांक्ष का बोधक है। इससे यह सिद्ध होता है कि सामर्थ्य के दोनों अर्थ होते हैं - कभी साकांक्ष और कभी निराकांक्ष। समर्थ: पदविधि: में समर्थ पद निराकांक्ष का वाचक है और इसुसो० सूत्र में साकांक्ष का। यही कारण है ब्राह्मणस्य सर्पिष्करोति वाक्य में सर्पिस पद साकांक्ष होने पर भी उसके सकार को षत्व सिद्ध हो जाता है।

५. विशेषणीभूत और विशिष्ट ये दोनों अर्थ जब परस्पर सम्बद्ध होकर एक ही अर्थ की प्रतीति कराते हैं तब उसे एकार्थीभाव कहा जाता है। इस एकार्थीभाव रूप सामर्थ्य की प्रतीति - समास तद्धित आदि वृत्तियों में होती है।

६. विशेषण या विशेष्य के रूप में जो पदार्थ किसी अन्य पदार्थ से सम्बद्ध हो तो ऐसे विशेषण या विशेष्यरूप पदार्थ का सम्बन्ध पदार्थ को छोड़कर अन्य दूसरे पदार्थ के साथ एकार्थीभाव नहीं हो सकता। जैसे - महत् कष्टं श्रितः वाक्य में कष्टम् पद विशेष्य के रूप में महत् पद से सम्बद्ध है, इस सम्बन्ध के रहते हुए उसी कष्टम् पद को श्रित - पद के साथ एकार्थीभाव से सम्बद्ध नहीं माना जा सकता। विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्ध में विशेषण-विशेष्य के अधीन होता है, अतः वही विशेषण अन्यत्र पुनः विशेषण के रूप में सम्बद्ध नहीं हो सकता।

विशेष्य का सम्बन्ध अन्यत्र किसी भी रूप में (विशेषण या विशेष्य के रूप में) हो सकता है। यदि यह विशिष्ट पद का दूसरे सुबन्त से समास कर्तव्य हो तो वह अपने विशिष्ट अर्थ (विशेषण से युक्त अर्थ) को साथ लेकर दूसरे पदार्थ के साथ एकार्थीभाव से सम्बद्ध हो सकता है।

७. इह समानार्थेन वाक्येन भवितव्यं समासेन च। यश्चेहार्थो वाक्येन गम्यते महत् कष्टं श्रित इति, नासौ जातुचित् समासेन गम्यते महत् कष्टश्रित इति। - म. भा.

८. कैयट आदि टीकाकारों ने इस प्रसङ्ग में अव्यविक न्याय को उद्धृत करते हुए कहा है - अधिक षष्टि वर्ष इत्येव यथा स्यादित्येवमर्थमव्यविक न्याय आश्रीयते। तेन अधिका षष्टिर्वर्षाणि अस्येति वाक्यमेव भवति। अधिका षष्टिर्येषां वर्षाणामिति वर्षेषु संख्येयेषु "अनेकमन्यपदार्थे" इति बहुव्रीहिः प्राप्नोति।

इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार तद्धित के आविकम् की निष्पत्ति को समय अवेर्मासम् - विग्रह किया जाता है, किन्तु तद्धितोत्पत्ति अविक शब्द से की जाती है। उसी प्रकार पञ्चकपाली में दो विग्रह वाक्य हैं - १. पञ्चसु कपालोषु संस्कृतः, २. पञ्चकपाल्यां संस्कृतः। इन दोनों विग्रह वाक्यों में से तद्धित-वृत्ति की पात्रता पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः अर्थ में "पञ्चकपाला" शब्द से ही होगी।

वासरूपोऽस्त्रियाम्
(३.१.९४)

सूत्रार्थ - सामान्य रूप से विहित प्रत्यय उत्सर्ग कहे जाते हैं। विशेष रूप से या विशेष स्थानों अथवा प्रसङ्गों में विहित प्रत्ययों को अपवाद कहा जाता है। सामान्यतः अपवाद, उत्सर्ग का बाधक होता है। "धातोः" - (३.१.९१.) के अधिकार में पठित अपवाद प्रत्ययों के सम्बन्ध में एक विशेष नियम का प्रतिपादन प्रकृत सूत्र में किया गया है। धातोः के अधिकार में पठित असरूप अपवाद प्रत्यय उत्सर्ग का विकल्प से बाध करते हैं। भट्टोजी दीक्षित के शब्दों में - "अस्मिन् धात्वधिकारे असरूपापवादप्रत्यया उत्सर्गस्य बाधकाः वा स्युरस्त्रियाम्। स्त्रियाम् - (३.३.९४.)" के अधिकार में आने वाले प्रत्ययों में यह विकल्प लागू नहीं होता।

उदाहरणार्थ विक्षिपः प्रयोग में वि उपसर्गपूर्वक क्षिप् धातु से उत्सर्ग सूत्र ण्वुल् तृचौ - (३.१.१३३.) के द्वारा ण्वुल् और तृच् प्रत्यय प्राप्त होते हैं। इस सूत्र के अपवाद स्वरुप "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" - (३.१.३५.) सूत्र से क प्रत्यय की प्राप्ति है। क्षिप् धातु इगुपध है, अतः क प्रत्यय विशेषविहित होने से अपवाद है। सामान्यतः अपवाद प्रत्यय होकर विक्षिपः प्रयोग सिद्ध हो जाता है और औत्सर्गिक ण्वुल् और तृच् प्रत्ययों का बाध हो जाता है। किन्तु प्रकृत परिभाषा के सामर्थ्य से यह क प्रत्यय औत्सर्गिक ण्वुल् और तृच् प्रत्ययों से असरूप होने के कारण विकल्प से बाधक होता है। इसके परिणाम स्वरुप एक बार ण्वुल् और तृच् प्रत्ययों की प्रवृत्ति होती है और विक्षेपकः तथा विक्षेप्ता रूप भी निष्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार "तव्यत्तव्यानीयरः" - (३.१.९६.) सूत्र से विहित तव्य और अनीयर प्रत्यय औत्सर्गिक हैं। "अचो यत्" - (३.१.९७.) से विहित यत् प्रत्यय अपवाद है। प्रकृत परिभाषा के बल से यत् के द्वारा औत्सर्गिक प्रत्ययों का विकल्प से बाध होता है अतः लव्यम्-लवितव्यम् और लवनीयम् ये तीनों रूप निष्पन्न होते हैं।

सूत्र की व्याप्ति - "कर्मण्यण्" - (३.२.१.) सूत्र से गो उपपद पूर्वक दा धातु से औत्सर्गिक अण् प्राप्त है। इसका बाधक सूत्र "आतोऽनुपसर्गे कः" - (३.२.३.) है, इस सूत्र से आकारान्त दा धातु से उपसर्ग रहित होने पर क प्रत्यय होता है। इस स्थल पर अपवादस्वरुप क प्रत्यय के विषय में परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि औत्सर्गिक अण् प्रत्यय का अपवादभूत क प्रत्यय असरूप नहीं है। केवल असरूप प्रत्ययों में ही विकल्प से बाधकता होती है। आपाततः अण् और क भिन्न रूप वाले प्रतीत होते हैं, किन्तु इनमें इत् संज्ञक वर्णो का लोप हो जाने के पश्चात् दोनों प्रत्ययों में अकार मात्र शेष रहता है जो परस्पर सरूप है।[१] इसके फलस्वरुप अपवाद क प्रत्यय औत्सर्गिक अण् का नित्य बाधक हो जाता है। इस प्रकार गो + दा + क = गोदः यह एक ही रूप सिद्ध होता है।

अस्त्रियाम् का प्रयोजन - कृ धातु के सन्नन्त रूप "चिकीर्ष" से स्त्रीत्व विवक्षा में "स्त्रियां क्तिन्" - (३.३.९४.) सूत्र से क्तिन् प्राप्त होता है और चिकीर्ष शब्द सन् प्रत्ययान्त होने के कारण अ प्रत्ययात् - (३.३.१०२.) सूत्र से अ प्रत्यय भी प्राप्त है। अ प्रत्यय अपवाद है और औत्सर्गिक क्तिन् से असरूप भी है। तथापि स्त्रियाम् के अधिकार में पठित होने से क्तिन् का विकल्प से बाध नहीं करता। सामान्य नियम के अनुसार (येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति।) क्तिन् का नित्य

बाधक होता है तथा एक ही रूप चिकीर्षा की सिद्धि होती है।

अस्त्रियाम् की व्याख्या - सूत्र में पठित अस्त्रियाम् पद की दो प्रकार से व्याख्या की जा सकती है - १. स्त्रीत्व गम्यमान होने पर वासरूप न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती। २. स्त्रीत्व द्योतक प्रत्ययों में असरूप अपवाद प्रत्यय विकल्प से बाधक नहीं होते। इनमें प्रथम अर्थ को स्वीकार करने पर लव्या-लवितव्या आदि प्रयोगों में अनुपपत्ति हो सकती है। इन प्रयोगों में स्त्रीत्व की प्रतीति हो रही है और यदि "अस्त्रियाम्" प्रतिषेध के कारण यहाँ वासरूपविधि को प्रवृत्त नहीं करते तो अपवाद प्रत्यय (यत्) के द्वारा उत्सर्ग (तव्यत्) का नित्य बाध हो जाएगा और लव्या रूप तो सिद्ध होगा, किन्तु लवितव्या की सिद्धि नहीं हो पाएगी।

स्त्रीत्व द्योतक प्रत्ययों में यदि वासरूप विधि का प्रतिषेध मानते हैं तब लव्या-लवितव्या सिद्ध हो जाते हैं क्योंकि तव्य और यत् स्त्रीत्व द्योतक प्रत्यय नहीं हैं किन्तु व्यावक्रोशी और व्यावक्रुष्टिः प्रयोगों की सिद्धि में अनुपपत्ति हो सकती है। व्यावक्रुष्टिः में स्त्रीत्व द्योतक क्तिन् प्रत्यय - (३.३.९४.) है, जो औत्सर्गिक है। इसका बाधक "कर्म व्यतिहारे णच् स्त्रियाम्" - (३.३.४३.) सूत्र से विहित णच् प्रत्यय है। ये दोनों प्रत्यय स्त्रीत्व द्योतक होने के कारण वासरूप० के क्षेत्र में नहीं आएँगे और उत्सर्ग-अपवाद न्याय से अपवादभूत णच् प्रत्यय उत्सर्ग क्तिन् का नित्य बाधक हो जाएगा और इस प्रकार व्यावक्रोशी - इस णच् प्रत्ययान्त रूप की सिद्धि तो हो जाएगी किन्तु व्यावक्रुष्टिः - यह क्तिन् प्रत्ययान्त रूप सिद्ध नहीं हो पाएगा।

निष्कर्ष रूप से अस्त्रियाम् पद उपर्युक्त दोनों व्याख्याएँ दोष ग्रस्त है। सिद्धान्ततः अस्त्रियाम् पद में स्वरितत्त्व धर्म का स्वीकार कर उसे अधिकृत मानना चाहिए। (स्वरितेनाधिकार - १.३.११.) ऐसा मानने पर सम्पूर्ण सूत्र का अर्थ होगा अस्त्रियाम् के अधिकार में पठित प्रत्ययों में असरूप अपवाद प्रत्यय विकल्प से उत्सर्ग के बाधक नहीं है अपितु नित्य बाधक है।

अधिकार मानने पर उपर्युक्त दोषों की संभावना नहीं होती। लव्या-लवितव्या प्रयोगों में विहित प्रत्यय तव्य और यत् स्त्रियाम् के अधिकार में पठित नहीं है। व्यावक्रोशी और व्यावक्रुष्टिः में से क्तिन् तो स्त्रियाम् के अधिकार में आता है किन्तु णच् प्रत्यय स्त्रियाम् के अधिकार से बाहर (३.३.४३.) है।

सूत्र का स्वरुप - सिद्धान्त कौमुदीकार ने इस सूत्र को परिभाषा सूत्र स्वीकार किया है। काशिकावृत्ति में न्यासकार तथा पदमंजरीकार भी इसे स्पष्ट शब्दों में परिभाषा सूत्र कहते हैं। असरूप अपवाद प्रत्यय इसकी प्रवृत्ति के निमित्त है, जिसे परिभाषा का लिङ्ग कहा जाता है।

परिभाषा सूत्र का प्रयोजन - अपवाद सूत्र के द्वारा उत्सर्ग का बाध हो जाने के बाद उत्सर्ग बाधित हो जाता है और वह पुनः प्रवृत्त नहीं हो सकता यह सामान्य न्याय है। प्रकृत परिभाषा के सामर्थ्य से ऐसे ही असरूप अपवाद प्रत्ययों के द्वारा उत्सर्ग का बाध हो जाने पर भी उत्सर्ग की प्रवृत्ति बाधित नहीं होती। उत्सर्ग सूत्र से भी कार्य निष्पन्न होता है और इस प्रकार दोनों रूपों की सिद्धि हो जाती है। यही

प्रकृत परिभाषा का प्रयोजन है। उदाहरणार्थ - तव्यत्-तव्य-अनीयर सामान्य या उत्सर्ग प्रत्यय है, क्योंकि सभी धातुओं से सामान्य रूप से विहित है। (३.१.९६.) केवल अजन्त धातु विहित यत् विशेष विहित होने के कारण तव्य का अपवाद है। (३.१.९७.) अपवाद प्रत्यय उत्सर्ग का बाधक होता है। अतः चि धातु से यत् करने पर चेयम् रूप सिद्ध होता है। भाषा में तो चि धातु के चेतव्यम् और चयनीयम् रूप भी प्रचलित है। इनकी सिद्धि के लिए प्रकृत परिभाषा सूत्र का आरम्भ आवश्यक है। परिभाषा के बल से यत् प्रत्यय तव्य और अनीयर का बाधक तो है किन्तु विकल्प से बाधक है। अतः चेयम्-चेतव्यम् और चयनीयम् रूपों की सिद्धि हो जाती है।

आक्षेपकर्ता को उपर्युक्त प्रयोजन युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता। उसका कथन है कि अजन्त धातुओं से यत् प्रत्यय (३.१.९७.) और हलन्त धातुओं से ण्यत् ("ऋहलोर्ण्यत्" - ३.१.१२४.) प्रत्यय विहित है। धातुपाठ में सभी धातुएँ या तो अजन्त हैं या हलन्त। सभी अजन्त धातुओं से यदि यत् हो जाए और सभी हलन्त धातुओं से ण्यत् प्रत्यय हो जाए तो तव्य-तव्यत् और अनीयर प्रत्ययों को कहीं अवकाश ही नहीं मिलेगा और इस प्रकार तव्यत् तव्यानीयरः - (३.१.९६.) सूत्र ही व्यर्थ हो जाएगा। आचार्य पाणिनि का कोई सूत्र व्यर्थ तो हो नहीं सकता। अतः उसके आरम्भ सामर्थ्य से ही यह सिद्ध हो सकता है कि सभी धातुओं के तव्यत्, अनीयर प्रत्ययान्त रूप भी निष्पन्न होते हैं। इस प्रकार चेतव्यम्-चयनीयम् आदि की सिद्धि होना प्रकृत परिभाषा सूत्र का प्रयोजन है - यह कथन युक्ति संगत नहीं है।

सिद्धान्ती के द्वारा परिभाषा सूत्र के प्रयोजन स्वरुप अन्य उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं। ण्वुल् और तृच् - ये सामान्य प्रत्यय हैं। (३.१.१३३.) पचादि गण के धातुओं से विहित अच् प्रत्यय (३.१.१३४.) इनका अपवाद हैं। पचादि धातुओं से अच् प्रत्यय करने पर पचति अर्थ में पचः रूप सिद्ध होता है। पचति अर्थ में ही पक्ता और पाचकः रूपों की सिद्धि भी हो जाए - इस हेतु वासरूपविधि आवश्यक है।

आक्षेपवादी को यह प्रयोजन भी उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि सूत्र - ३.१.१३४. (नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः) से विहित अच् प्रत्यय के सम्बन्ध में वार्तिककार का कथन है कि अच् प्रत्यय सभी धातुओं से होता है - केवल पचादि धातुओं से ही नहीं। धातुओं में पचादि गण का निर्माण अच् प्रत्यय की उत्पत्ति के लिए नहीं अपितु भिन्न प्रयोजन के लिए है। "अजपि सर्वधातुभ्य" - (१.१.३४., वा.-१.) अतः पचादि से विहित अच् प्रत्यय को अपवाद या बाधक मानना असंगत है।

अन्त में भाष्यकार का कथन है कि ण्वुल्-तृच् और अच् तीनों प्रत्ययों को उत्सर्ग माना जाए और "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" - (३.१.१३५.) सूत्र से विहित क प्रत्यय को अपवाद मानें तो प्रकृत परिभाषा सूत्र के सामर्थ्य से वि उपसर्ग पूर्वक क्षिप् धातु से विक्षिपः, विक्षेपक और विक्षेपता रूप सिद्ध होते हैं। यही वासरूपविधि का प्रयोजन है।

सूत्रारम्भ में अनुपपत्ति की सम्भावना - अभीष्ट प्रयोगों की सिद्धि के लिए सूत्र का प्रयोजन प्रतिपादित किया गया, किन्तु सूत्र पठित शब्दों की व्याख्या से कतिपय अनुपपत्तियाँ सम्भावित हैं। सूत्र की वृत्ति में यह प्रकट किया गया है कि असरूप अपवाद प्रत्यय विकल्प से होते हैं। इस अर्थ

निष्पत्ति से अपवाद प्रत्ययों की उत्पत्ति ही विकल्प से होने लगेगी, जैसे - तद्धितों में उत्सर्ग हो अथवा अपवाद हो - सभी विकल्प से होंगे। उदाहरणार्थ - दक्षस्थापत्यम् अर्थ में दक्ष शब्द से अपत्य अर्थ में "प्राग्दीव्यतीय अण्" - (४.१.९२.) प्रत्यय प्राप्त होता है। "अत इञ्" - (४.१.९५.) सूत्र से अण् का बाध होकर इञ् प्रत्यय हो जाता है और दाक्षि: रूप सिद्ध होता है। जब इञ् नहीं होता तब उसके अभाव में औत्सर्गिक अण् भी नहीं होता, वरन् दक्षस्य अपत्यम् - यह वाक्य ही प्रयुक्त होता है।

प्रकृत प्रसङ्ग में अपवाद की उत्पत्ति विकल्प से मानने पर तद्धित के समान व्यवस्था हो जाएगी। इसके परिणामस्वरुप कृदन्त में भी एक बार अपवाद प्रत्यय की प्रवृत्ति होगी और उसके अभाव में वाक्यावस्था बनी रहेगी। उत्सर्ग की प्राप्ति ही नहीं हो पाएगी। इस दोष के निवारणार्थ परिभाषा सूत्र में असरूप अपवाद प्रत्यय का विधान विकल्प से न मानकर उसकी बाधकता को विकल्प करना चाहिए। ऐसा सूत्रार्थ तब निष्पन्न हो सकता है जब सूत्र के स्वरुप में संशोधन कर वासरूपोऽस्त्रियाम् के स्थान पर "असरूपो वा बाधको ऽस्त्रियाम्" यह सूत्र पढा जाए। इस प्रकार अपवाद की बाधकता में विकल्प करने पर एक बार अपवाद प्रत्यय और उसके अभाव में उत्सर्ग प्रत्यय की प्रवृत्ति होगी और अभीष्ट सिद्धि हो जाएगी। इस परिवर्तन में प्रमुख दोष अपाणिनीयतापत्ति का होगा। अत: भाष्यकार सूत्र को परिवर्तित या संशोधित करने के पक्ष में नहीं हैं।

वस्तुत: तद्धित प्रत्ययों के आधार पर उपर्युक्त दोष की आशङ्का की गई है, वह आधार ही अयुक्तिकर है। तद्धित प्रत्ययों का विधान विकल्प से होता है, इसका कारण यह है कि जब तद्धित प्रत्यय नहीं होता तब मूल प्रकृति से अभीष्ट अर्थ की प्रतीति हो जाती है। जैसे - दक्षस्य अपत्यम् अर्थ में दाक्षि प्रयोग सिद्ध होता है। इनमें इञ् प्रत्यय का विधान विकल्प से है, क्योंकि इञ् के अभाव में "दक्षस्य अपत्यम्" यह प्रकृति भी अभीष्ट अर्थ की प्रतीति कराने में समर्थ है। प्रकृत स्थल पर कृदन्तों में जब कृत् प्रत्यय का विधान नहीं होता तब उसके अभाव पक्ष में प्रत्यय की प्रकृति धातु मात्र से किसी भी अर्थ का बोध नहीं होता। (इसका तात्पर्य यह हुआ कि कृत प्रत्ययों की उत्पत्ति या प्रसक्ति विकल्प से होती है, यह सूत्रार्थबोध करना अनुचित है।) क्योंकि केवल प्रकृति प्रयोगार्ह नहीं होती। जिस प्रकार केवल प्रत्यय का प्रयोग नहीं होता, उसी प्रकार केवल प्रकृति का भी प्रयोग नहीं होता। (न केवला प्रकृति: प्रयोक्तव्या न वा केवल: प्रत्यय:।) इसका तात्पर्य यह हुआ कि केवल प्रकृति में अर्थात् धातु में अर्थबोध सामर्थ्य न होने से कृत् प्रत्ययों का विकल्प से विधान करने पर उसके अभाव पक्ष में प्रत्ययरहित अवस्था सम्भव नहीं है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि तद्धित प्रकरण में तद्धित प्रत्यय विकल्प से होने पर उसके अभाव पक्ष में प्रत्यय रहित प्रकृति में अर्थबोध सामर्थ्य कैसे हो सकता है? भाष्यकार ने भी इस शङ्का को उपस्थित किया है और स्वयं ही उसका समाधान भी प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं - "कथं तर्हि तद्धितेष्वनुत्पत्तौ सामर्थ्यं भवति ? अन्येन प्रत्ययेन सामर्थ्यम्। केन ? षष्ठ्या। अथवा रूपवत्तामाश्रित्य वाविधिरुच्यते। न चानुत्पत्ती रूपवती। तेन अनुत्पत्तिर्न भविष्यति।" इसका भावार्थ यह है कि तद्धितों में प्रत्यय के अभाव पक्ष में अर्थबोध का सामर्थ्य षष्ठी विभक्ति के कारण होता है, दक्षस्य अपत्यम् - इस विग्रह वाक्य में विशेष विहित इञ् प्रत्यय (अत इञ - ४.१.९५.) दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है और न औत्सर्गिक अण् - (४.१.९२.) प्रत्यय ही दिख रहा है। तथापि दक्षस्य की षष्ठी विभक्ति अभीष्ट अर्थ का

बोध करा देती है। इस प्रकार "न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न वा केवलः प्रत्ययः" न्याय की रक्षा भी हो जाती है।

कृदन्तों के सम्बन्ध में उपर्युक्त व्यवस्था नहीं है। धातोः के अधिकार में ऐसा कोई प्रत्यय नहीं जो वाक्यावस्था में अभीष्ट अर्थ की प्रतीति करा सके। अतः यह सिद्ध है कि धातु से विहित प्रत्ययों का तद्धित प्रत्ययों से साम्य नहीं है। इस प्रकार असरूप अपवाद प्रत्ययों की उत्पत्ति विकल्प से मानने पर पूर्व में पठित दोष की सम्भावना निर्मूल सिद्ध होती है। अर्थात् असरूप अपवाद के अभाव पक्ष में यथा प्राप्त औत्सर्गिक प्रत्यय की निर्बाध प्रवृत्ति सम्भव है। "न चानुत्पत्ती रूपवती" का तात्पर्य यह है कि - असरूप अपवाद प्रत्यय के विकल्प होने पर उसके अभाव पक्ष में उस अपवाद प्रत्यय से भिन्न स्वरुप वाले प्रत्यय होंगे। आक्षेपवादी के अनुसार यदि प्रत्ययों की उत्पत्ति ही नहीं होगी तो "भिन्न रूप वाले प्रत्यय उत्सर्गतः होंगे" यह कथन निरर्थक हो जाएगा। "तेनानुपत्तिर्न भविष्यति" का यही आशय है।

वा पद का अन्वय - सूत्र पठित वा पद का अन्वय असरूप अपवाद के साथ न कर उत्सर्ग प्रत्यय के साथ भी सम्भव है। इस स्थिति में सूत्रार्थ होगा - "असरूप उत्सर्ग प्रत्यय विकल्प से होते हैं" स्त्रियाम् के अधिकार में पठित प्रत्ययों के छोड़कर। वस्तुतः अपवाद प्रत्यय विकल्प से हों अथवा उत्सर्ग प्रत्यय विकल्प से हों, दोनों स्थितियों में रूप सिद्धि समान ही होगी। तथापि अपवाद के साथ वा पद का अन्वय करना न्याय्य प्रतीत होता है। यदि उत्सर्ग के साथ वा को सम्बद्ध करते हैं तो उत्सर्ग विकल्प से होगा किन्तु उसके अभाव में क्या होगा ? यह आकांक्षा पूर्ण नहीं होती, क्योंकि उत्सर्ग के पहले कोई प्रत्यय विहित नहीं होता। अपवाद के साथ वा को सम्बद्ध करने पर, अपवद के अभाव में भी कौन सा प्रत्यय होगा ? यह आकांक्षा उत्पन्न होती है और उत्सर्ग प्रत्यय के द्वारा आकांक्षा शान्त हो जाती है। अतः वा का अन्वय अपवाद के साथ करना ही युक्तिसंगत है।

असरूप पद की व्याख्या - वा पद के अन्वय के सम्बन्ध में सिद्धान्त मत स्थापित होने के पश्चात् पुनः एक आशङ्का उपस्थित होती है कि जब अपवाद प्रत्यय का कोई भी रूप दृश्यमान न हो तब प्रकृत सूत्र कैसे प्रवृत्त होगा ? जैसे - क्विप् प्रत्यय का सर्वापहारि लोप होता है तब उसका कोई रूप अवशिष्ट नहीं रहता। यदि क्विप् प्रत्यय के प्रकरण में प्रकृत परिभाषा प्रवृत्त नहीं होगी तब क्विप् प्रत्ययान्त रूपों की सिद्धि तो हो जाएगी किन्तु उत्सर्ग सूत्र से विहित अण् प्रत्यय की प्रवृत्ति का नित्य बाध हो जाएगा और अण् प्रत्ययान्त रूपों की सिद्धि न हो पाएगी। उदाहरणार्थ - ग्राम उपपद पूर्वक नी धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर ग्रामणीः रूप विष्पन्न होगा। क्विप् का सर्वापहारी लोप हो जाने से अपवाद प्रत्यय में असरूपता की प्रतीति नहीं होगी और इसलिए प्रकृत वासरूप विधि की प्रवृत्ति नहीं होगी। परिणामस्वरूप उत्सर्ग सूत्र का नित्य बाध हो जाएगा और अण् प्रत्ययान्त ग्रामणायः रूप सिद्ध नहीं हो पाएगा। ग्रामणायः में ग्राम उपपद पूर्वक नी धातु से क्विप् के अभाव पक्ष में "कर्मण्यण्" - (३.२.१.) सूत्र से अण् प्रत्यय वृद्धि (अचोञ्णिति - ७.२.११५.) और आयादेश करने पर ग्रामणायः रूप सिद्ध होता है।

इस आशङ्का का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि - क्विप् क्विन् आदि प्रत्ययों का सर्वापहारी लोप होने पर भी उनमें रूपवत्ता का अभाव नहीं है, क्योंकि लोप के पूर्व उपदेशावस्था तो इन प्रत्ययों में रूपवत्ता विद्यमान है।

वस्तुतः उपदेशावस्था की रूपवत्ता के आधार पर प्रकृत परिभाषा सूत्र की प्रवृत्ति को नियमित करना असंगत है क्योंकि इस स्थिति में "कर्मण्यण्" - (३.२.१.) से विहित अण् और आतोऽनुपसर्गेकः - (३.२.३.) से विहित क भी उपदेशावस्था की असरूपता के आधार पर प्रकृत परिभाषा के क्षेत्र में आएँगे और इसके फलस्वरूप क प्रत्यय अण् का विकल्प से बाधक हो जाएगा। इस प्रकार गोदः कम्बलदः आदि प्रयोगों के साथ एक बार अण् प्रत्ययान्त रूपों की भी निष्पत्ति हो जाएगी। इस आपत्ति का निवारण करते हुए भाष्यकार कहते हैं - "सिद्धमनुबन्धस्यानेकान्तत्त्वात्"। वार्तिक का तात्पर्य है कि अनुबन्ध अवयव नहीं होते। अतः अण् और क प्रत्ययों में णकार और ककार अनुबन्धों के कारण जो असरूपता दृष्टिगोचर होती है वह वास्तविक नहीं है। अनुबन्धों को अवयव मानने पर (एकान्ताः) "नानुबन्धकृतमसारूप्यम्" परिभाषा के द्वारा उपर्युक्त दोष का निवारण हो जाता है। इस प्रकार अण् और क प्रत्ययों में असारूप्य का खण्डन हो जाने से अण् के विषय में क प्रत्यय विकल्प से बाधक न होकर नित्य बाधक हो जाता है।

प्रयोग के आधार पर प्रत्ययों में असारूप्य - उपदेशावस्था में प्रत्ययों की असरूपता का निर्धारण दोषग्रस्त होने के कारण यदि प्रत्ययों की प्रयोगावस्था में असरूपता का निर्धारण करें तो लकारों के स्थान पर होने वाले प्रत्ययों में वासरूप विधि की प्रवृत्ति हो जाएगी। उदाहरणार्थ - कल उसने खाना खाया - इस अनद्यतन भूत की विवक्षा में प्राप्त लङ् लकार के द्वारा सामान्य भूतकाल वाचक लुङ् का विकल्प से बाध हो जाएगा और इसके फलस्वरुप ह्योऽपचत् रूप तो सिद्ध होगा, किन्तु एक बार लुङ् लकार का अपाक्षीत् रूप भी सिद्ध हो जाएगा और इस प्रकार अनद्यतन भूत अर्थ में अपचत् और अपाक्षीत् दोनों रूपों की निष्पत्ति हो जाएगी। इसका कारण यह है कि लङ् और लुङ् के स्थान पर आदिष्ट प्रत्ययों में असरूपता है। लङ् लकार में अनच्क त् प्रत्यय का प्रयोग होता है (अपचत्) और लुङ् लकार में प्रत्यय ईत् रूप में प्रयुक्त है। ये दोनों प्रत्यय प्रयोगावस्था में असरूप हैं, अतः वासरूप विधि प्रवृत्त होकर दो रूपों की निष्पत्ति कराती है।

इसी प्रकार भविष्यकाल की विवक्षा में अनद्यतन भविष्य अर्थ में धातु से लुट् लकार होता है और पक्ता रूप सिद्ध होता है। सामान्य भविष्य अर्थ में विहित लृट् लकार का नित्य बाध होता है, तब अनद्यतन भविष्य अर्थ में केवल पक्ता रूप सिद्ध होता है। प्रत्ययों के प्रयोगगत असारूप्य को आधार मानें तो सामान्य भविष्य अर्थ में लृट के स्थान पर ति प्रत्यय का प्रयोग होता है और लुट् में डा (आ) प्रत्यय का प्रयोग है, ये दोनों प्रत्यय असरूप हैं अतः वासरूप विधि के क्षेत्र में आते हैं।

वासरूप विधि से लुट् के स्थान पर विहित आ (डा प्रत्यय) प्रत्यय के द्वारा लृट् के स्थान पर आदिष्ट ति प्रत्यय का विकल्प से बाध होगा और अनद्यतन भविष्य अर्थ में - १. पक्ता, २. पक्ष्यति - ये दोनों रूप निष्पन्न हो जाएँगे।

लादेशेषु वासरूपविधिर्नास्ति - उक्त दोष की निवृत्ति के लिए आचार्यो ने एक ज्ञापन प्रस्तुत किया है - सूत्र "हशश्वतोर्लङ्च" - (३.२.११६.) सूत्र से ज्ञापित होने वाली परिभाषा "लादेशेषु वासरूप विधिर्नास्ति" का आश्रय लेकर उक्त दोष का निवारण सम्भव है। हशश्वतो० सूत्र के द्वारा ह और शश्वत् उपपद होने पर लिट् के स्थान पर लङ् का विधान विकल्प से किया गया है। उदाहरणार्थ - "तया

इति ह अकरोत् चकार वा। शश्वदकरोत् चकार वा।" इस प्रकार लिट् और लङ् दोनों लकारों में रूप सिद्धि के लिए सूत्रारम्भ किया गया है। यदि लकारों में आदेशों की प्रयोगगत असरूपता के आधार पर वासरूप विधि प्रवृत्त होती तो प्रकृत सूत्र की कोई आवश्यकता न थी। "परोक्षे लिट्" - (३.२.११५.) सूत्र से विहित लिट् प्रत्यय अनद्यतने लङ् - (३.२.१११.) से विहित लङ् का विकल्प से बाधक हो ही जाता तथा लिट् के विषय में लङ् की भी अन्यथा सिद्धि हो जाती, इसकी सिद्धि के लिए पृथक् सूत्रारम्भ आवश्यक न था। किन्तु आचार्य पाणिनि ने चूँकि इन दो रूपों की सिद्धि के लिए (ह और शश्वत् के योग में) स्वतन्त्र सूत्रारम्भ किया है, यह इसका संकेत है कि लादेशों में वासरूप विधि नहीं होती।

उपदेशावस्था और प्रयोगावस्था में प्रत्ययों की असरूपता की समीक्षा - उपर्युक्त विवेचन के आधार पर प्रयोगावस्था में प्रत्ययों की सरूपता या असरूपता का निर्धारण करने में सम्भाव्य दोषों की निवृत्ति हो जाती है तथापि यह स्पष्ट रूप से निश्चित नहीं है कि सिद्धान्ततः उपदेशावस्था को प्रमाण माना जाए अथवा प्रयोगावस्था को ? यदि पुनः प्रयोगावस्था में ही प्रत्ययों की असरूपता में वासरूप विधि की प्रवृत्ति को निर्धारित करें तो क्विप्, क्विन् आदि प्रत्ययों में परिभाषा सूत्र की प्रवृत्ति प्रतिबन्धित हो जाएगी। क्योंकि इन प्रयोगों में प्रयोग की दृष्टि से कोई रूपवत्ता शेष नहीं रहती। यह पूर्व में प्रतिपादित किया गया। दूसरे पक्ष में (उपदेशावस्था में) क्विप्-क्विन् आदि प्रत्ययों के विषय दोष निवृत्ति तो हो जाती है, क्योंकि इन प्रत्ययों में उपदेशावस्था में रूपवत्ता रहती है, किन्तु लकारों में प्रकृत सूत्र की प्रसक्ति हो जाएगी, जैसा कि लृट् और लुट् के स्थान पर होने वाले आदेशों में प्रत्ययों की असरूपता स्पष्ट हो गई।[२] इस दोष की निवृत्ति के लिए "लादेशेषु वासरूपविधिर्नास्ति" परिभाषा की उद्भावना की गई।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस पक्ष में प्रक्रिया गौरव और प्रपंच दृष्टिगत होता है। भाष्यकार प्रकृत परिभाषा की निर्दुष्ट उपपत्ति के लिए सूत्र पठित शब्दों की भिन्न प्रकार से व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

असरूप पद की विविध व्याख्याएँ - सूत्र पठित असरूप पद का तात्पर्य असरूप अपवाद है जो विकल्प से बाधक होते हैं "स्त्रियाम्" अधिकार के प्रत्ययों को छोड़कर। इस स्थल पर यह ध्यातव्य है कि अपवाद प्रत्यय तो स्वभावतः उत्सर्ग से भिन्न रूप वाले होते ही हैं तथापि सूत्र में असरूप का ग्रहण किया गया। इसका यही प्रयोजन हो सकता है कि सूत्रकार असरूप पद से विशेष अर्थ का प्रतिपादन करना चाहते हैं। यह विशेष अर्थ है - असरूपता का प्रकर्ष। **(अयवासरूपो बाधको वा बाधको भवति - सर्वश्चासरूपः, तत्र प्रकर्षगतिर्विज्ञास्यते - साधीयो यो ऽसरूप इति। कश्च साधीयः ? यः प्रयोगे च प्राक् च प्रयोगात्।)** प्रकर्ष का आशय है - ऐसा अपवाद जो प्रयोग में असरूप हो प्रयोग पूर्व भी असरूप हो।

असरूप अपवाद को विकल्प से बाधक कहा गया है। वस्तुतः अपवाद में भिन्नता तो होती ही है। यह भिन्नता अनुबन्ध के कारण होगी अथवा भिन्नरूप के कारण होगी। इस प्रकार अपवाद की असरूपता दो प्रकार से या दो कारणों से सम्भव है - इन दो कारणों में से कोई एक कारण मान्य या ग्राह्य होगा और दूसरा त्याज्य होगा। इस स्थिति में अनुबन्धजन्य भिन्नता को त्यागना होगा और

रूपजन्य भिन्नता को ग्रहण करना होगा। इस प्रकार असरूपता का स्पष्ट अर्थ बोध किया जा सकता है। **(अथवा ऽसरूपो बाधको वा बाधको भवतीत्युच्यते। अपवादो नामानुबन्धभिन्नो वा भवन्ति रूपान्यत्वेन वा। तेनाऽनेनावश्यं किञ्चित्याज्यं किञ्चिच्च सङ्ग्रहीतव्यम्। तद्यदनुबन्धकृतमसारूप्य तन्नाश्रयिष्यामो यत्तु रूपान्यत्वेनाऽसारूप्यं तदाश्रयिष्यामः। - म. भा.)**

असरूप अपवाद की बाधकता को इस प्रकार भी प्रतिपादित किया जा सकता है कि यदि असरूप अपवाद के विकल्प से बाधक कहा जाता है और अनुबन्धों के कारण यदि भिन्नरूपता मानी जाती है तो सरूप अपवाद की कहीं उपलब्धि ही नहीं है। इस स्थिति में सूत्र पठित असरूप पद निरर्थक ही प्रतीत होता है। निरर्थक होकर वह ज्ञापित करता है कि सूत्र में असरूप अपवाद वही स्वीकार्य है जो कहीं भी सरूप न हो। अनुबन्धों के कारण अपवाद में भिन्न रूपता आती है किन्तु प्रयोगदशा में सरूप ही होता है तब वह प्रकृत वासरूपविधि की कक्षा में नहीं आ सकता। भाष्यकार के शब्दों में - "अथवासरूपो बाधको वा बाधको भवतीच्युच्यते, च चैवं कश्चिदपि सरूपः। त एवं विज्ञास्यामः क्वचिद्येऽसरूपा इति। अनुबन्धभिन्नाश्च प्रयोगे सरूपाः।"

उद्योतकार ने उपर्युक्त तीनों व्याख्याओं को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है -

१. उभयकृतासारूप्ये गृह्यमाणे व्यावर्त्याभावादसरूप इति व्यर्थं, स्पष्टत्वाद् "वाऽपवाद" इत्येव वदेत्। तत्सामर्थ्यादनुबन्धकृताऽसारूप्यं नाश्रीयते किन्तु रूपान्यत्वेनैवेत्यर्थः।
२. तत्सामर्थ्यात् प्रकर्षगतिः। तेन प्रयोगे उपदेशे चाऽसरूप इति द्वितीयः पक्षः।
३. तत्सामर्थ्यात्प्रायोगिक मसारूप्यमिति तृतीयः पक्षः।

सार रूप में इन पक्षों को इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं। प्रथम पक्ष में अनुबन्ध कृत असारूप्य का आश्रय न लेकर रूपकृत या प्रयोगकृत असारूप्य का आश्रय लिया जाता है। द्वितीय पक्ष में उपदेशावस्था तथा प्रयोगावस्था दोनों अवस्थाओं में विद्यमान असरूपता का ग्रहण किया जाता है। तृतीय पक्ष में प्रयोग में दृश्यमान असरूपता का ग्रहण किया जाता है।

उपर्युक्त तीनों पक्षों में द्वितीय और तृतीय पक्षों में सभी इष्ट प्रयोगों का संग्रह हो जाता है, किन्तु क्विबादि प्रत्ययों का संग्रह नहीं हो पाता क्योंकि क्विबादि प्रत्ययों में रूप का अभाव है। उद्योतकार इस प्रथम पक्ष को भी क्विबादि प्रत्ययों में प्रवृत्ति के लिए असमर्थ नहीं समझते। उनके अनुसार क्विबादि प्रत्ययों में रूप के अभाव से सारूप्य के अभाव की क्षति नहीं जो जाती अर्थात् सारूप्य का अभाव अथवा असारूप्य बना रहता है। इस प्रकार क्विबादि प्रत्ययों के विषय में भी वासरूप विधि की प्रवृत्ति में कोई आपत्ति नहीं है। (रूपाभावादेव सारूप्याभावस्याक्षतेः। - उद्योत)

वासरूप विधि का क्षेत्र - अस्त्रियाम् - सूत्र में पठित अस्त्रियाम् पद सूत्र के प्रवृत्ति विषय को अथवा कार्यक्षेत्र को नियमित करता है। इस सम्बन्ध में यह संदेह उपस्थित होता है कि स्त्रियाम् के अधिकार में विहित प्रत्ययों में ही वासरूपविधि का निषेध है। उस अधिकार से परवर्ती प्रत्ययों में पुनः वासरूप विधि प्रवृत्त होती है अथवा स्त्रियाम् अधिकारक के पूर्व तक "वासरूपविधि" प्रवर्तित होती है,

स्त्रियाम् का अधिकार प्रारम्भ होते ही वह प्रतिबन्धित हो जाती है। उपर्युक्त सन्देह उपस्थित होने का कारण यह है कि प्रकृत सूत्र को यदि परिभाषा सूत्र मानते हैं तब "अस्त्रियाम्" यह निषेध ही परिभाषा की प्रवृत्ति का लिङ्ग है। अर्थात् परिभाषा पक्ष में वासरूप विधि केवल स्त्रियाम् के अधिकार में विहित प्रत्ययों को छोड़कर सर्वत्र असरूप अपवाद प्रत्ययों में प्रवृत्त होगी। प्रकृत सूत्र को यदि अधिकार मानते हैं तब द्वितीय प्रश्न उपस्थित होता है। अधिकार के सम्बन्ध में यह नियम होता है कि दूसरा अधिकार प्रारम्भ होने पर पहले अधिकार की समाप्ति हो जाती है। इस नियम के अनुसार स्त्रियाम् का अधिकार प्रारम्भ होने पर वासरूप विधि की निवृत्ति हो जाती है।

प्रथम पक्ष में स्त्रियाम् के अधिकार में पठित प्रत्ययों में ही यदि प्रकृत वासरूपविधि का निषेध मानते हैं - तब क्त, ल्युट्, तुमुन् और खलर्थ प्रत्ययों में वासरूपविधि प्रवृत्त हो जाएगी। क्त प्रत्यय - (३.३.११४.), ल्युट् प्रत्यय - (३.३.११५.), तुमुन् प्रत्यय - (३.३.१५८.) और खलर्थक प्रत्यय - (३.३.१२८.) - ये सभी प्रत्यय स्त्रियाम् - (३.३.९४.) अधिकार के आगे पठित हैं। स्त्रियाम् का अधिकार "आक्रोशे" - (३.३.११२.) सूत्र तक है। अतः क्त प्रत्यय के विषय में यदि वासरूप विधि प्रवृत्त होती है, तब हसितम् आदि प्रयोगों में एक बार घञ् - (३.३.१८.) प्रत्यय भी होगा और "हसितं छात्रस्य शोभनम्" वाक्य में घञ् प्रत्ययान्त हासः प्रयोग भी सिद्ध हो जाएगा। हसनम् में एक बार ल्युट् प्रत्ययान्त रूप होगा और एक बार पुनः घञ् प्रत्ययान्त रूप भी निष्पन्न हो जाएगा। इच्छति भोक्तुम् में तुमुन् प्रत्ययान्त "भोक्तुम्" प्रयोग विकल्प से होकर एक बार इच्छार्थक लिङ् और लेट् - (३.३.१५७.) प्रत्यय भी प्राप्त हो जाएँगे। खलर्थक प्रत्यय का उदाहरण - "ईषत्पानः सोमो भवता" में एक बार खल् - (३.३.१२६.) प्रत्यय भी प्राप्त हो जाएगा।

उपर्युक्त दोषों की सम्भावना से यदि अस्त्रियाम् निषेध का आशय यह माना जाए कि प्रकृत वासरूप० सूत्र अधिकार सूत्र है और स्त्रियाम् के अधिकार तक ही यह अधिकृत है। स्त्रियाम् अधिकार प्रारम्भ होने पर इसकी निवृत्ति हो जाती है। इस पक्ष में भी क्त्वा प्रत्यय के लिए विकल्प का विधान करना पड़ेगा। (स्त्रियाः प्रागिति चेत् क्त्वायां वा वचनम् - म. भा. वा. - ८.) उदाहरणार्थ - आसित्वा भुङ्क्ते वाक्य में भोजन के लिए बैठता है यह अर्थ विवक्षित है। यहाँ उपवेशन क्रिया भोजनक्रिया की पूर्वकालिक है, अतः आस् धातु से क्त्वा प्रत्यय - (३.४.२१.) प्राप्त होता है। उपवेशन क्रिया भोजन के लिए है, अतः क्रियार्थक क्रिया है। क्रियार्थक क्रिया उपपद होने से भुज् धातु से तुमुन् प्रत्यय - (३.३.१६.) प्राप्त है। क्त्वा प्रत्यय पर होने से परत्वात् तुमुन् का बाधक है। यहाँ आसित्वा भुङ्क्ते और आस्यते भोक्तुम् दोनों प्रयोग अभीष्ट हैं। ये दोनों प्रयोग तब सिद्ध होंगे जब क्त्वा के द्वारा तुमुन् का विकल्प से बाध होगा। क्त्वा प्रत्यय - (३.४.२१.) स्त्रियाम् (३.३.९४.) के अधिकार क्षेत्र (आक्रोशे - ३.३.११२.) से भी बाहर है, अतः वासरूप के क्षेत्र में आने का प्रश्न ही नहीं।

इस पक्ष में दूसरी अनुपपत्ति यह है कि काल आदि उपपद होने पर तुमुन् प्रत्यय (३.३.१६७.) का विधान है। इस प्रकार कालः समयो वेला वा भोक्तुम् - प्रयोग सिद्ध होता है। इसी अर्थ में एक बार काले भोजनस्य (समयो भोजनस्य या वेला भोजनस्य) प्रयोग भी अभीष्ट है। अर्थात् तुमुन् के अभाव में एक बार ल्युट् प्रत्यय - (३.३.११४.) भी अभीष्ट है। ल्युट् प्रत्यय की प्रवृत्ति तभी सम्भव है जब तुमुन् के द्वारा वामरूप विधि से उसका विकल्प से बाध होगा। अधिकार पक्ष में तुमुन् प्रत्यय वसारूप० के क्षेत्र में

नहीं आता। इसकी सिद्धि के लिए पृथक् वचनारम्भ करना होगा।

तृतीय अनुपपत्ति अर्ह अर्थात् योग्य अर्थ गम्यमान होने पर तृच् प्रत्यय का विधान करना पड़ेगा। अर्हेकृत्यतृचश्च - (३.३.१६९.) सूत्र से तृच् प्रत्यय का विधान तो किया गया है किन्तु वह पर्याप्त नहीं है। कृत्य तृच् और लिङ् प्रत्ययों का विधान पृथक्-पृथक् सूत्रों से यथास्थान किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में अर्ह यह विशेष अर्थ में विहित होने से यह तृच् प्रत्यय सामान्यार्थक तृच् का बाधक होगा। इसके परिणाम स्वरुप तृच् प्रत्ययान्त कर्ता आदि रूप केवल अर्ह अर्थ में सिद्ध होंगे। यह अनुपपत्ति तृच् के विधान के सम्बन्ध में है। वस्तुत: अर्ह अर्थ में तृच् का विधान न करें तो भी अर्ह-अनर्ह सभी अर्थों में तृच् की प्रवृत्ति सामान्य सूत्र - "ण्वुल्तृचौ" - (३.१.१३३.) से सम्भव है। "अर्ह" - इस विशेष अर्थ की गम्यमानता में तत्तत् सूत्रों से जो कृत्यादि प्रत्यय विहित है उनसे सामान्यार्थक तृच् का बाध नित्य ही होगा, वहाँ वासरूप विधि० प्रवृत्त नहीं होगी, क्योंकि स्त्रियाम् के अधिकार के पश्चात् इसकी प्रवृत्ति नहीं होती। अत: अर्ह अर्थ में भी तृच् प्रत्यय का विधान करना आवश्यक ही है।

इस प्रसङ्ग में यह आशङ्का उपस्थित हो सकती है कि भाव और कर्म अर्थ में विहित कृत्य प्रत्ययों - (३.४.७०.) के द्वारा कर्ता अर्थ में विहित तृच् का बाध कैसे सम्भव है ? इस आशङ्का का समाधान करते हुए भाष्यकार "अर्हे तृज्विधानम्" के स्थान पर "अर्हे कृत्यतृज्विधानम्" का पाठ करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि - अर्ह अर्थ में कृत्य और तृच् दोनों प्रत्ययों का विधान करना आवश्यक है। वहाँ वासरूपविधि० से कार्य सिद्ध न होगा। अन्यथा अर्ह अर्थ की गम्यमानता में विहित लिङ् प्रत्यय के द्वारा सामान्यत: विहित कृत्य और तृच् का नित्य बाध हो जाएगा। इसकी निवृत्ति के लिए अर्ह अर्थ में कृत्य-तृच् और लिङ् - तीनों का विधान करना आवश्यक है। (सूत्र - "अर्हे कृत्यतृचश्च" - ३.३.१६९. में यह विधान किया गया है।) इस विषय में तत्त्वबोधनीकार के शब्द अधिक स्पष्ट हैं - "नन्वर्हे किमर्थं कृत्यतृचो विधीयन्ते। यावता सामान्येन विहितत्वादनर्हेऽपि भविष्यन्तीति चेत्। अत्राहुः। अर्हतायां द्योत्यायामप्राप्तो लिङ् विधीयते तेन तु लिङा बाधो मा भूदिति कृत्यतृचो विधानम्। न च वासरूपविधिना समाहित सिद्धिः। स्त्र्यधिकारादूर्ध्वं तदप्रवृत्तेः।"

सिद्धान्तत: यह प्रतिपाद्य है कि स्त्रियाम् अधिकार की समाप्ति के बाद भी वासरूपविधि की प्रवृत्ति होती है। **"तत्रायं निर्णयः - स्त्र्यधिकारस्य परस्तादपि वासरूपविधिर्भवति।"** - प्रदीप

❀❀❀

शब्द संकेत

१. "नानुबन्धकृतमसारूप्यम्" परिभाषा इसी अर्थ का प्रतिपादन करती है। परिभाषेन्दशेखर में इसकी विस्तृत व्याख्या की गई है। परिभाषा का आशय यह है कि अनुबन्धों के कारण प्रत्ययों में असरूपता नहीं होती।

❀❀❀

अनुदात्तं पदमेकवर्जम्
(६.१.१५८)

सूत्र का प्रतिपाद्य - स्वरविधि विषयक यह परिभाषा है। इसका अर्थ है कि जिस पद में किसी अच् को उदात्त या स्वरित विधान किया जाता है, उस पद में उस एक अच् को छोड़कर शेष अच् अनुदात्त हो जाते हैं। यही शेषनिघात कहलाता है। जैसे - गोपायति में गुप् धातु से स्वार्थ में गुपुधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः - (३.१.२८.) सूत्र से आय प्रत्यय होता है। गुप् की उपधा को गुण (७.३.८६.) होकर गोपाय रूप सिद्ध होता है। इस गोपाय की पुनः धातु संज्ञा (सनाद्यन्ताः धातवः - ३.१.३२.) होती है और धातोः - (६.१.१६२.) से अन्तोदात्त हो जाता है। गोपाय में अन्तिम अकार उदात्त होने से शेष स्वर प्रकृत परिभाषा के अनुसार अनुदात्त होते हैं। गोपाय से वर्तमान काल में लट् - (३.२.१२३.), तिप् - (३.४.७८.) और शप् - (३.१.६८.) होता है। तिप् प्रत्यय पित् होने से अनुदात्तौ सुप्पितौ - (३.१.४.) से अनुदात्त है। मध्य में होने वाला शप् भी पित् होने से इसी सूत्र से अनुदात्त होता है। गोपाय + शप् + तिप् में गोपाय के अन्तिम अकार को शप् के अकार के साथ पररूप एकादेश हो जाता है। यहाँ उदात्त अ और अनुदात्त अ का एकादेश उदात्त बन जाता है। (एकादेश उदात्तेनानुदात्तः - ८.२.५.) तिप् के अनुदात्त के साथ मिलने पर तिप् का अनुदात्त स्वरित बन जाता है। (उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः - ८.४.६६.) इस प्रकार गोपायति में एक ही उदात्त स्वर है और शेष अनुदात्त हैं।

अनुदात्तं पदम् - सूत्र पठित "अनुदात्तं पदम्" से यह सूत्रार्थ निष्पन्न होता है कि किसी भी शब्द में एक पद छोड़कर शेष पद अनुदात्त होते हैं, किन्तु सूत्र से यह अर्थ अभीष्ट नहीं है। (वाक्ये पदमेकं वर्जयित्वा पदान्तराण्युदात्तानि भवन्ति) विवक्षित अर्थ की प्रतीति के लिए सूत्र का स्वरुप होना चाहिए - अनुदात्ताः पदे (एकवर्जम्) या अनुदात्ताः पदस्य (एकवर्जम्)।

भाष्यकार इस प्रसङ्ग में शङ्काकार से सहमत नहीं हैं। भाष्यकार के अनुसार यथापठित सूत्र से ही अभीष्ट अर्थ का बोध सम्भव है। अनुदात्त शब्द को मत्वर्थीय माना जाए। षष्ठी या सप्तमी के अर्थ में (तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् - ५.२.९४. सूत्र से) मत्वर्थीय मतुप् प्रत्यय है जिसका लुक् [१] हो गया है। जिस प्रकार पुष्पक से युक्त को पुष्पक कह दिया जाता है या कालक से युक्त प्राणी को कालक कहा जाता है - इस प्रयोगों में मत्वर्थ का बोध तो होता है किन्तु मत्वर्थीय प्रत्यय दृष्टिगोचर नहीं होता। पुष्पक का आशय पुष्पक के समान चिह्न से है। जिस बिल्ले के शरीर पर पुष्प के समान चिह्न या निशान हो उसे पुष्पक कह देते हैं। कालक का अर्थ है काला। काले धब्बे वाले बिल्ले को कालक कहा जाता है।

अनुदात्त में मतुप् का लोप न मानकर मत्वर्थीय अकार प्रत्यय की कल्पना की जा सकती है। "अर्श आदिग्योऽच्" - (५.२.१२७.) सूत्र से (अर्श आदि को आकृति गण मानकर) अच् प्रत्यय के द्वारा अनुदात्त पद की सिद्धि "अनुदात्ताः सन्ति अस्मिन् या अनुदात्ताः सन्ति अस्य" - इस अर्थ में हो सकती है और इस प्रकार अनुदात्त शब्द अनुदात्त स्वरों से युक्त पद का वाचक हो सकता है। लोक में भी इस प्रकार के प्रयोग उपलब्ध होते हैं। जैसे - तुन्द का अर्थ होता है - बड़ा पेट। किन्तु कभी-कभी बड़े पेट वाले को भी तुन्दः कह दिया जाता है। इसी प्रकार घाट का तात्पर्य है - ऊँचा सिर। किन्तु ऊँचे सिर वाले मनुष्य को

भी घाटः कह देते हैं। ऐसे प्रयोगों में सर्वत्र मत्वर्थीय अच् प्रत्यय मानना चाहिए।

सूत्र में पठित "पदम्" की सार्थकता यह है कि पद में ही एक स्वर उदात्त या स्वरित होता है और शेष स्वर शेष निघात से अनुदात्त हो जाते हैं। वाक्य में यह नियम लागू नहीं होता। जैसे - "देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन" वाक्य में शेष निघात न होकर प्रत्येक पद का अपना-अपना स्वर होता है।

सूत्र का प्रयोजन - सूत्र में पठित पद के अन्तर्गत प्रकृति प्रत्यय आगम और विकारों का अन्तर्भाव होता है। इनमें तत्तत् सूत्रों से भिन्न स्वरों का विधान किया गया है। पद की सिद्धि के समय ये सभी स्वर प्राप्त होंगे। उन सब स्वरों की निवृत्ति के लिए प्रकृत परिभाषा सूत्र का आरम्भ है। इस परिभाषा के अनुसार एक उदात्त को छोड़कर शेष सभी अनुदात्त हो जाते हैं।

"आगमस्य विकारस्य प्रकृतेः प्रत्ययस्य च
पृथक् स्वर निवृत्यर्थमेकं वर्जं पदस्वरः"
- भाष्य वार्तिक

उदाहरणार्थ - १. आगम - चत्वारः - प्रयोग में चतुर् प्रकृति है। यह चत् धातु से उरन् प्रत्यय (उणादि सूत्र - ५.५८.) के द्वारा निष्पन्न है। उरन् नित् होने से चतुर् का अकार (ञ्निर्नित्यादि० - ६.१.१९७.) उदात्त होता है। चतुर् + जस् में चतुर् को आम् आगम - (७.१.९८.) होता है। यह आम् आगम उदात्त ही विहित है। इस प्रकार चतुर् + आम् (चतु + आर् + जस्) में दो उदात्त स्वर हो गए। इसी प्रयोग के समान अनड्वाहः में भी दो उदात्त स्वरों की प्राप्ति है। प्रकृत परिभाषा सूत्र के सामर्थ्य से आगमस्वर प्रकृतिस्वर का बाधक है और इस प्रकार एक पद में एक ही उदात्त होता है, शेष स्वर अनुदात्त होते हैं।

आदेश या विकार के स्वर का उदाहरण - अस्थ्ना-दध्ना आदि प्रयोगों में "अस्थि दधि०" - (७.१.७५.) सूत्र से अनङ् आदेश है और वह उदात्त है। अस्थि-शब्द में अस् धातु से उणादि का क्थिन् प्रत्यय - (३.१५४.) है, जो नित् होने के कारण अस्थि शब्द आदि उदात्त - (६.१.१९७.) होता है। दधि शब्द भी फ़िट् सूत्र (२१३.) से आदि उदात्त है। इन दोनों उदाहरणों में एक प्रकृति का उदात्त स्वर और दूसरा आदेश (अनङ् आदेश) का उदात्त स्वर है। आदेश स्वर प्रकृति का बाधक होने से अस्थन् - दधन् शब्दों में दो-दो उदात्त स्वरों में से एक ही उदात्त अभीष्ट होता है शेष अनुदात्त होते हैं। इसके लिए सूत्रारम्भ आवश्यक है।

प्रकृति विषयक स्वर - गोपायति - धूपायति आदि प्रयोगों में आय प्रत्ययान्त गोपाय और धूपाय धातुओं को धातु स्वर आद्युदात्तश्च - (३.१.३.) से आद्युदात्त होता है। सूत्र धातोः - (७.१.१७२.) से पुनः गोपाय और धूपाय धातुओं को अन्तोदात्त भी प्राप्त होता है। इन दो उदात्तों में एक ही (प्रकृति स्वर) उदात्त स्वर सिद्ध है और शेष सभी स्वर प्रकृत परिभाषा के बल से अनुदात्त हो जाते हैं।

प्रत्यय स्वर - कभी प्रत्ययों के कारण एक ही पद में दो उदात्त स्वरों की प्राप्ति हो जाती है।

जैसे - कर्तव्यम् तैत्तिरीयः आदि प्रयोगों में तव्य और ईय (छ) प्रत्ययों को प्रत्यय स्वर से आद्युदात्त होता है। कृ धातु का ऋकार भी अन्तोदात्त (धातोः) है। इस प्रकार कर्तव्यम् में दो उदात्त स्वरों की प्राप्ति है। तैत्तिरीय में तित्तिरि शब्द का मध्य इकार उदात्त है। (फिट् सूत्र - 2.21) और ईय प्रत्यय का ईकार भी उदात्त है। (३.१.५.) इस प्रकार एक तैत्तिरीय पद में दो उदात्त स्वरों की प्राप्ति है। प्रकृत परिभाषा के बल से एक ही उदात्त रहता है और शेष स्वर अनुदात्त हो जाते हैं। अतः प्रत्यय स्वर - प्रकृति स्वर का बाधक होता है और अभीष्ट सिद्धि होती है।

उपर्युक्त प्रयोगों में प्रत्यय को विहित उदात्त का और प्रकृति में पहले से विहित उदात्त का युगपत् उच्चारण प्रसक्त हो जाएगा। जबकि प्रत्येक प्रयोग में एक ही उदात्त स्वर का उच्चारण अभीष्ट है। यह कार्य विशेष प्रयास के बिना सम्भव नहीं है। अतः प्रकृत परिभाषा सूत्र आवश्यक है।

प्रयोजनों की अन्यथा सिद्धि - आचार्य पाणिनि ने "तवैचान्तश्च युगपत्" - (६.२.५१.) सूत्र में तवै प्रत्ययान्त शब्द को अन्तोदात्त तथा उससे अव्यवहित गति संज्ञक को प्रकृति स्वर अर्थात आद्युदात्त का विधान किया है। इस सूत्र में दो उदात्त स्वरों का युगपत् विधान है। इस विधान से यह ज्ञापित होता है कि सामान्यतया दो उदात्त स्वरों की युगपत् अवस्थिति नहीं होती, किन्तु तवै प्रत्यय होने पर दो उदात्त स्वरों की स्थिति होती है। जैसे - दातवै प्रयोग में तवै प्रत्यय आद्युदात्त भी है और अन्तोदात्त भी होता है। प्रकृत सूत्र से यह अन्यथा सिद्ध होता है कि तवै को छोड़कर अन्यत्र उदात्तों का यौगपद्य नहीं हो सकता। इस पर शङ्काकार का कथन है कि यौगपद्य नहीं हो सकता किन्तु पर्याय से उदात्त स्वरों की प्राप्ति हो सकती है और इस प्रकार पर्याय से उदात्तों की प्रसक्ति होने पर प्रयोगों में फिर विकल्प की संभावना हो जाएगी। इस आशङ्का का निवारण करते हुए भाष्यवार्तिककार कहते हैं - "पर्यायो रिक्त शासनात्" अर्थात् रिक्त शब्द को पर्याय (क्रम) से आद्युदात्त और अन्तोदात्त का विधान किया गया है। इस प्रकार स्वर भेद के कारण रिक्तः रिक्तः ये दो रूप सिद्ध होते हैं। "रिक्ते विभाषा" - (६.१.२०८.) सूत्र इसका ज्ञापक है कि केवल रिक्त शब्द में ही पर्याय से उदात्त होता है। अन्यत्र एक उदात्त अच् को छोड़कर शेष निघात रह जाते हैं।

इस स्थल पर यदि यह मानें कि यह दृष्टान्त तो केवल उदात्त स्वर के लिए घटित होता है - स्वरितों के सम्बन्ध में यह ज्ञापक उपयोगी नहीं है। अतः स्वरित में अन्य स्वरितों का समावेश प्राप्त हो जाएगा। अर्थात् एक पद में एक से अधिक स्वरितों का श्रवण हो जाएगा। जिसकी निवृत्ति के लिए प्रकृत परिभाषा सूत्र आवश्यक है। इस पर श्लोक वार्तिककार कहते हैं - "स्वरितेऽप्युदात्तोऽस्ति" अर्थात् स्वरित में उदात्त का अंश रहता है। "समाहारः स्वरितः" के अनुसार उदात्त और अनुदात्त का मिश्रण ही स्वरित होता है। इसलिए उक्त ज्ञापक से जिस प्रकार उदात्त सिद्धि हो जाती है उसी प्रकार स्वरित का भी समावेश होकर एक पद में एक स्वरित की सिद्धि ज्ञापक के आधार हो जाएगी। अतः प्रकृत परिभाषा सूत्र के बिना भी एक पद में एक ही उदात्त या स्वरित की सिद्धि होकर शेष निघात हो जाता है और इस प्रकार प्रकृत परिभाषा सूत्र का कोई स्पष्ट प्रयोजन परिलक्षित नहीं होता।

"यौगपद्यं तवै सिद्धम्, पर्यायो रिक्त शासनात्।
उदात्ते ज्ञापकं त्वेतत्, स्वरितेन समाविशेत्॥" - श्लोक वार्तिक

ज्ञापक सिद्धं न सर्वत्र - उपर्युक्त ज्ञापकों के आधार पर सूत्र की अन्यथा सिद्धि होने पर भी भाष्यकार ने इस परिभाषासूत्र को आवश्यक प्रतिपादित किया है। वस्तुतः ज्ञापक के आधार पर स्थापित या प्रतिपादित कोई भी सिद्धान्त अस्पष्ट या संदिग्ध हो सकता है। साक्षात् या शब्दशः विधान करने से उसकी स्पष्ट प्रतीति हो जाती है, अतः सूत्रारम्भ करना ही उचित है। इसी आधार पर "ज्ञापक सिद्धं न सर्वत्र" न्याय प्रचलित है। ज्ञापकों के द्वारा शेष निघात को समझने में क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ती है। इसीलिए भाष्यकार "आरम्यमाणे ऽप्येतस्मिन्" कहकर सूत्र की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए पुनः उसकी समीक्षा करते हैं।

सूत्र का स्वरुप - सूत्र के स्वरुप के विषय में प्रारम्भ में ही ग्रन्थकारों ने स्पष्ट रूप से इसे "स्वरविधि विषया परिभाषा" कहा है। इस सूत्र को अधिकार नहीं मान सकते क्योंकि इसमें कहीं स्वरितत्त्व दृष्टिगोचर नहीं होता। अधिकार पक्ष में एकवर्जम् पद का भी कोई औचित्य नहीं रहता क्योंकि स्वरविधि विषयक तत्तत् सूत्रों में उदात्तादि स्वरों के विधान सामर्थ्य से ही उस विशेष विहित स्वर को निघात की प्रसक्ति नहीं होगी अतः "एक वर्जम्" कथन व्यर्थ है। अधिकार मानने पर सूत्र में अव्याप्ति की भी आशङ्का है। "आद्युदात्तश्च" - (३.१३.), "समानोदरे शयित ओ चोदात्तः" - (४.४.१०८.) आदि सूत्रों में अधिकार की प्रवृत्ति नहीं हो पाएगी, क्योंकि ये सूत्र अधिकार के पूर्व में पठित हैं अतः इसके क्षेत्र में नहीं आते।

इसे विधि सूत्र भी नहीं माना जा सकता क्योंकि विधि पक्ष में सूत्र से इष्टार्थ की प्रतीति नहीं हो पाती। "एकवर्जम्" पद से यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं होता कि किस एक स्वर को वर्जित किया जाए ? किसी एक स्वर की वर्जना का निश्चय नही होने से "विनिगमनाविरह" या युक्ति के अभाव में सभी उदात्त या स्वरितों की वर्जना हो जाएगी। जहाँ अन्य विधिसूत्रों से उदात्त का विधान है वहाँ सभी उदात्त स्वरों का विधान सामर्थ्य से श्रवण प्रसक्त हो जाएगा। जैसे - "आमलकीजः" उदाहरण में चार भिन्न-भिन्न विधि सूत्रों से चार अलग-अलग स्वरों को उदात्त का विधान होता है। प्रयोग में विहित ङीप् प्रत्यय प्रत्ययस्वर होने से उदात्त है। "प्रत्ययः" - (३.१.१.), "गतिकारकोपपदात्" - (६.२.१३९.) सूत्र से कृत्प्रत्ययान्त उत्तरपद को प्रवृत्ति स्वर से उदात्त (धातुएँ अन्तोदात्त होती है - ६.१.१६२.), "दीर्घकाशतुषभ्राष्टवरं जे" - (६.२.८३.) सूत्र से पूर्वपद को आदि उदात्त और "अन्त्यात्पूर्वं बह्वचः" - (६.२.८३.) से लकार के अकार को (उपान्त्य को) उदात्त प्राप्त होता है। इस प्रकार चार उदात्त प्राप्त है और चारों भिन्न-भिन्न स्वरों को विहित हैं अतः उनका विरोध नहीं है। तब युगपत् चारों उदात्तों का श्रवण आमलकीजः में प्रसक्त है। प्रश्न यह है कि यदि एक पद में चारों सूत्रों की प्रवृत्ति होकर चार उदात्तों का विधान स्वीकार किया जाए तो प्रकृत विधि सूत्र का क्या प्रयोजन होगा ? इसका यह समाधान है कि इस सूत्र को "आमलकीजः" शब्द के मकारोत्तर अकार को अनुदात्त के विधान करने में चरितार्थता है। इस प्रकार प्रकृत सूत्र को अधिकार मानने पर अव्याप्ति दोष और विधि मानने पर अनिष्ट प्रयोग की प्रसक्ति होती है, अतः इसे परिभाषा सूत्र ही स्वीकार करना चाहिए।

भाष्यकार इस प्रसंग में शङ्कावादी का एक मत उद्धृत करते हैं, जिसमें - ६.२.८२. सूत्र में भाष्य द्वारा प्रतिपादित विप्रतिषेध की असंगति प्रकट की है। "अनुदात्ते विप्रतिषेधानुपपत्तिरेकस्मिन् युगपत् संभवात्।" इसका आशय है कि - प्रकृत सूत्र को स्वतंत्र विधि मानने पर आमलकीजः आदि

प्रयोगों में युगपत् चार उदात्तों की प्रसक्ति के श्रवण का जो दोष बताया गया है, वह युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि यदि एक साथ दो या अधिक उदात्त स्वरों की स्थिति किसी पद में सम्भव होती तो "दीर्घकाश तुषभ्राष्टवरंजे" - (६.२.८२.) सूत्र में भाष्योक्त विप्रतिषेध की संगति नहीं हो सकती। इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि दीर्घकाश० सूत्र से विहित आद्युदात्त स्वर की अपेक्षा "अन्त्यात्पूर्वम्०" - (६.२.८३.) से विहित स्वर पर में है अतः विप्रतिषेध न्याय से परत्वात् अन्त्य से पूर्ववर्ती स्वर को ज के परे उदात्त होता है। यदि एक पद में युगपत् एक से अधिक उदात्तों का श्रवण सम्भव होता तो यहाँ विप्रतिषेध न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती। इस पक्ष में (विधिपक्ष में) प्रकृत सूत्र यहाँ किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं करता। वह तो केवल एक को वर्जित कर अनुदात्त का विधान करता है, किसी उदात्त या स्वरित के विषय में कोई नियम नही बनाता।

इस प्रकार स्वतंत्र विधि सूत्र मानने पर दोषापत्ति होती है। यदि अधिकार सूत्र मानते हैं तो परादिश्च्छदसि - (६.२.१९९.) सूत्र तक इसका अधिकार जाएगा। इस सूत्र के पूर्व तक प्रत्येक विधि सूत्र में इसकी प्रवृत्ति होकर उसके साथ इसकी एक वाक्यता होगी। अधिकार मानने से प्रत्येक सूत्र में इसका पुनः पुनः उच्चारण नहीं करना पड़ेगा और लाघव की सिद्धि होगी। इस प्रकार "दीर्घकाश०" सूत्र से ज शब्द उत्तरपद होने पर दीर्घान्त पूर्वपद का आदि उदात्त होता है। इस सूत्र में प्रकृत अधिकार की उपस्थिति होगी और सम्पूर्ण सूत्र का अर्थ होगा दीर्घकाश० सूत्र से विहित आदि उदात्त अच् को छोड़कर शेष अच् अनुदात्त होते हैं। "अन्त्यात्पूर्व बह्वचः" से ज उत्तर पद होने पर तथा पूर्व पद अनेकाच्क होने पर उसके अन्तिम अच् को उदात्त विहित है - वहाँ भी यह अधिकार उपस्थित होगा और इस अन्तिम उदात्त अच् को छोड़कर शेष अचों को अनुदात्त करेगा। आमलकीजः आदि प्रयोगों में उपर्युक्त दोनों विधियों की प्रवृत्ति एकसाथ होती है। तब प्रंश्न उपस्थित होता है कि ज उत्तरपद के परे अनेक अच् वाले और दीर्घान्त आमलकी शब्द के आदि अच् को उदात्त - (६.२.८२.) किया जाए अथवा आमलकी का अन्तिम दीर्घ ईकार उदात्त किया जाए ? इस प्रकार दोनों सूत्रों में विप्रतिषेध की स्थिति उत्पन्न होने पर विप्रतिषेधेपरम्० न्याय से पर सूत्र के द्वारा कार्य होता है और अभीष्ट सिद्धि हो जाती है।

उपर्युक्त व्याख्यान का तात्पर्य यह है कि प्रकृत सूत्र को अधिकार मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है तथापि आचार्यो ने इसे अधिकार नहीं माना है। इसका कारण यह है कि अधिकार का क्षेत्र छठवें अध्याय तक सीमित है। (सूत्र - ६.२.१९९.) अतः इस अध्याय की स्वरविधियों में इस सूत्र से व्यवस्था हो जाएगी, किन्तु इसके आगे सपाद सप्ताध्यायी में जो स्वर विषयक कार्य है उनमें व्यवस्था नहीं हो पाएगी। जैसे - "समानोदरे शयित ओ चोदात्तः" - (४.४.१०८.) और अनडुदात्तः - (७.१.७५.) इत्यादि स्वर विधायक सूत्रों के साथ इस अधिकार की एकवाक्यता न हो पाएगी।

अष्टाध्यायी में पठित सभी स्वर विषयक सूत्रों के साथ प्रकृत सूत्र की एकवाक्यता की सिद्धि के लिए भाष्यकार ने एक युक्ति कल्पित की है। भाष्य के अनुसार - "अनुदात्तं पदमेक वर्जम्" के स्थान पर "एकाननुदात्तं पदम्" सूत्र न्यास करने से अभीष्ट सिद्धि हो सकती है।

सिद्ध त्वेकाननुदात्तत्वात् - एकाननुदात्तं पदम् का अर्थ है - न उदात्तः = अनुदात्तः, न अनुदात्तः = अननुदात्तः, एकः अननुदात्तो यस्मिंस्तत् एकाननुदात्तम्। अर्थात् ऐसा पद जिसमें अनुदात्त

रहित एक ही अच् हो। किसी में भी शब्द में एक से अधिक उदात्त (अनुदात्त के अतिरिक्त अन्य = उदात्त) स्वर नहीं होने चाहिए - यही प्रकृत सूत्र के द्वारा नियमारम्भ किया गया है। यह सामान्य नियम अष्टाध्यायी में सर्वत्र प्रवृत्त हो सकता है, अतः सपाद सप्ताध्यायी के स्वरविधि विषयक सूत्रों में भी इस नियम से व्यवस्था हो सकती है।

इष्ट व्यवस्था होने पर भी यह सूत्र न्यासकार, भाष्यकार आदि को स्वीकार्य नहीं है क्योंकि ऐसा करने से आपाणिनीय दोष की आपत्ति हाती है। अतः सूत्र को यथावत् ही रखना चाहिए। यथावत् सूत्र पाठ में पूर्वोक्त दोष की सम्भावना का निवारण परिभाषा पक्ष में हो जाता है। "अनुदात्ते विप्रतिषेधानुपपत्तिरेकस्मिन्युगपत्सम्भवात्" वार्तिक के द्वारा "जे दीर्घाद्वह्वचः" विप्रतिषेध को असंगत बताया गया, क्योंकि इस पक्ष में एक पद में युगपत् अनेक उदात्तों की विद्यमानता सम्भव है।

इस दोष का निवारण प्रकृत सूत्र को परिभाषा सूत्र मानने पर सहजता से हो जाता है। परिभाषा मानने पर "कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्" के आधार पर अर्थात् संज्ञा और परिभाषाओं के विषय में कार्यकाल पक्ष की कल्पना की जाती है। दूसरा पक्ष यथोद्देश है। यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्। यथोद्देश पक्ष में परिभाषा प्रदेश में विधिसूत्र की एकवाक्यता होती है और अर्थबोध होता है। कार्यकाल पक्ष में कार्य प्रदेश या विधि देश में परिभाषा की उपस्थिति होती है और दोनों की एक वाक्यता होकर अभीष्ट अर्थ का बोध होता है। प्रकृत प्रसङ्ग में कार्यकाल पक्ष के आधार पर दीर्घकाश० इस विधिसूत्र के पास "अनुदात्तं पदमेक वर्जम्" परिभाषा उपस्थित होती है। उपस्थित होकर दीर्घकाश० सूत्र से विहित उदात्त स्वर (आदि स्वर) को छोड़कर शेष स्वरों को अनुदात्त करने की व्यवस्था करता है और इसी प्रकार अन्यात्पूर्वम्० विधि के साथ एकवाक्यता कर अन्त्यपूर्व को विहित उदात्त को छोड़कर शेष को अनुदात्त करता है। जब दोनों की युगपत् प्रवृत्ति होती है तब यह विप्रतिषेध उपस्थित होता है कि आदि उदात्त को वर्जित किया जाए अथवा अन्त्य से पूर्व के उदात्त को वर्जित करें। इस विप्रतिषेध की स्थिति में विप्रतिषेध न्याय से पर सूत्र के द्वारा विहित अन्त्य से पूर्व का उदात्त स्वर वर्जित होगा और शेष का निघात होगा।

इस प्रकार कार्यकाल पक्ष में विप्रतिषेध की उपपत्ति हो जाती है।

विधिपक्ष पर पुनर्विचार - यदि प्रस्तुत सूत्र को स्वतंत्र विधि सूत्र मानने का आग्रह है तो अनुदात्त पद को पारिभाषिक अनुदात्त नहीं समझना चाहिए। "नीचैरनुदात्तः" - (१.२.३०.) सूत्र में विहित अनुदात्तत्त्व यहाँ विवक्षित नहीं है, वरन् अनुदात्त शब्द यहाँ यौगिक है, जिसका अर्थ है - अविद्यमानोदात्तमनुदात्तम् - अर्थात् जिसमें उदात्त नहीं है, वह अनुदात्त है। इस पक्ष में भी यह सन्देह उपस्थित हो सकता है कि "एक वर्जम्" पद से कौन सा एक उदात्त वर्ज्य किया जाए। यह दोष परिभाषा पक्ष में नहीं था। परिभाषा पक्ष में जिस विधि सूत्र के साथ परिभाषा सूत्र की एकवाक्यता होती है, उस विधिसूत्र से विहित उदात्त स्वर ही वर्ज्य होता है, यह स्वाभाविक रूप से सिद्ध होता है।

विधिपक्ष में उक्त सन्देह की निवृत्ति का उपाय वार्तिककार के शब्दों में "सिद्धं तु यस्मिन्ननुदात्त उदात्तवचनानर्थक्यं तद् वर्जम्" अर्थात् जिस स्वर को अनुदात्त करने पर उसका उदात्त विधान व्यर्थ सिद्ध होता हो वह उदात्त वर्ज्य समझना चाहिए।

विधि पक्ष में उक्त सन्देह की निवृत्ति होने पर भी अन्य स्थल पर सन्देह उपस्थित हो सकता है। प्रकृति स्वर और प्रत्यय स्वर के पृथक्-पृथक् चरितार्थ्य होने पर उनमें से कौन-सा स्वर वर्ज्य माना जाए इस विषय का निश्चय नहीं होता। उदाहरणार्थ - पचति पठति आदि प्रयोगों में पित् और तिप् प्रत्ययों को अनुदात्त - (३.१.१४.) का विधान है अतः धातोः सूत्र (६.१.१६२.) से केवल प्रकृति भूत धातु को ही उदात्त की प्राप्ति है। यह प्रकृति स्वर की चरितार्थता है। प्रत्यय स्वर की चरितार्थता समत्वम्-सिमत्वम् में है। यहाँ सम और सिम शब्दों को सर्वानुदात्त (फिट् सूत्र - ४.१०.) होता है अतः प्रकृति को उदात्त होता ही नहीं है। इस प्रकार त्व प्रत्यय को उदात्त होने में सावकाशता है। कर्तव्यम् और तैत्तिरीयः में प्रकृति और प्रत्यय दोनों को उदात्तत्त्व की प्राप्ति है। विप्रतिषेध न्याय से परत्वात् प्रत्यय स्वर होगा और शेष को निघात होगा।

वस्तुतः यहाँ प्रत्यय स्वर प्रकृतिस्वर की अपेक्षा अष्टाध्यायी के अध्याय चार की दृष्टि से पर नहीं है तथापि भाष्यकार को इस स्थल पर सूत्रपाठ कृत परत्व विवक्षित नहीं है। विप्रतिषेध परम्० सूत्र में पर शब्द का तात्पर्य इष्ट से है। इसीलिए भाष्यकार कहते हैं - "ईष्ट वाची पर शब्दः। विप्रतिषेधे परं यदिष्टं तद्भवतीति।"

विप्रतिषेध में प्रत्ययस्वर को इष्ट मानने पर अनुपपत्ति - विप्रतिषेध होने पर प्रत्ययस्वर को इष्ट मानने पर काम्य आय आदि प्रत्ययों में इत्संज्ञक चकार अनुबन्ध लगाना आवश्यक हो जाएगा। जैसे - पुत्रकाम्यति, गोपायति, ऋतीयते में काम्य आय और ईय प्रत्यय अनेकाच् है। इनमें प्रथम अच् प्रत्यय स्वर से उदात्त होगा। यदि इनमें अन्तोदात्त अभीष्ट है तो इन प्रत्ययों में चकार अनुबन्ध जोड़ना पड़ेगा। सूत्रकार ने काम्यच् में चकार अनुबन्ध सहित उच्चारण किया है किन्तु वह प्रत्याख्यात है। अब विधि पक्ष में वह पुनः आवश्यक हो जाएगा।

उपर्युक्त दोष निवारण योग्य है। पुत्रकाम्यति आदि प्रयोगों में प्रकृति स्वर के द्वारा प्रत्यय स्वर का बाध होता है। काम्य आदि प्रत्यय प्रत्यय स्वर के कारण यद्यपि आदि उदात्त होते हैं, तथापि प्रकृति से सम्बद्ध होकर पुत्रकाम्य - गोपाय और ऋतीय - इन प्रत्ययान्तों की पुनः धातुसंज्ञा (सनाद्यन्ताः धातवः - ३.१.३२.) हो जाती है। अतः धातु स्वर से (६.१.१६२.) इनमें पुनः अन्तोदात्तत्त्व प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि पुत्रकाम्यति आदि की सिद्धि के लिए यदि प्रकृतिस्वर को प्रत्ययस्वर का बाधक मानते हैं तो कर्तव्यम् तैत्तिरीयः इत्यादि प्रयोगों में प्रत्यय स्वर अभीष्ट है वह कैसे सिद्ध होगा ? इस प्रश्न का समाधान "प्रकृति स्वरात् प्रत्ययस्वरो बलीयान्" परिभाषा से हो सकता है।

सति शिष्टस्वर बलीयस्त्वम् - पश्चात् प्राप्त स्वर को सति शिष्ट स्वर कहते हैं वह बली होता है। जैसे - कर्तव्यम् में कृ धातु के ऋकार को धातुस्वर से उदात्त प्राप्त है और उससे पर में विहित प्रत्यय को प्रत्यय स्वर से उदात्त होता है। यह प्रत्यय स्वर सति शिष्ट स्वर कहलाता है। यह बली होने के कारण शेष निघात से अन्यस्वर अनुदात्त होते हैं, अतः धातु का उदात्त स्वर भी अनुदात्त हो जाता है। इस परिभाषा के अन्य प्रयोजन भी हैं, जैसे - अनेक प्रत्यय स्वरों में या अनेक समास स्थलों में इसका उपयोग

है। उदाहरणार्थ - औपगव: में अण् स्वर प्रकृति स्वर का बाधक है। अत: अण् को प्रत्यय स्वर के अनुसार उदात्त होने के पश्चात् प्रकृति के सभी स्वर अनुदात्त हो जाएँगे। औपगवत्वम् में उपगु - प्रकृति से दो प्रत्यय दृश्यमान हैं - १. अण्, २. त्व। इनमें अण् पहले उदात्त हुआ, बाद में त्व उदात्त हुआ। त्व का उदात्त स्वर अण् के उदात्तत्त्व का प्रकृत परिभाषा के बल से बाधक होता है और शेष निघात हो जाता है।

अनेक समास स्थलों में भी यही नियम दृष्टिगत होता है। उदाहरणार्थ - राजपुरुष: में (६.१.२२३. से) अन्तोदात्त होता है। राजपुरुषपुत्र: में राजपुरुष समास के स्वर का आगामी समास स्वर से बाध होता है। इसके भी आगे राजपुरुषपुत्रपुरुष: समास में तीसरा समास स्वर दूसरे समास स्वर का बाधक है। यही शिष्ट स्वर बलीयस्त्व है।

सति शिष्ट स्वर बलीयस्त्व की अतिव्याप्ति - यदि सति शिष्ट स्वर परिभाषा का आरम्भ किया जाता है तो बाद में होने वाले स्य आदि विकरण स्वर - (३.१.३३.) सार्वधातुक प्रत्यय स्वर के बाधक हो जाएँगे। जैसे - सु धातु से लट् के स्थान पर तस् आदेश करने पर मध्य में श्नु विकरण प्रत्यय (३.१.७३.) की प्रवृत्ति होती है, यह श्नु का स्वर सति शिष्ट स्वर होने से बली होगा और शेष निघात के द्वारा सभी स्वर अनुदात्त हो जाएँगे, तब तस् का अकार भी अनुदात्त हो जाएगा और सम्पूर्ण पद सुनुत: चिनुत: आदि मध्योदात्त हो जाएँगे। इस अनुपपत्ति के निवारणार्थ भाष्यकार का कथन है कि स्य आदि विकरणों को सति शिष्ट स्वर नहीं मान सकते क्योंकि सूत्रकार ने "तास्यनुदात्तेन्ङित्०" - (६.१.१८६.) सूत्र में तास् प्रत्यय के परे ल सार्वधातुक को अनुदात्त का विधान किया है। इस अनुदात्त विधान से आचार्य यह ज्ञापित करते हैं कि सति शिष्ट स्वर होने पर भी विकरण स्वर सार्वधातुक स्वर का बाधक नहीं होता। कर्ता-कर्तारौ इत्यादि तिङन्त प्रयोगों में तास् विकरण के परे ल सार्वधातुक को अनुदात्त होता है। यदि यहाँ सति शिष्ट स्वर न्याय प्रवृत्त होता तो तास् प्रत्यय का आद्युदात्तत्त्व ल सार्वधातुक अर्थात् डा-रौ रस प्रत्ययों के उदात्तत्त्व का बाधक हो जाता, क्योंकि ये विकरण प्रत्यय डा रौ रस् के बाद में प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार तास् को आद्युदात्त होने पर शेष निघात से डा रौ रस् अनुदात्त हो ही जाते। "तास्यनुदात्तेन्०" सूत्र की आवश्यकता न थी। अत: सूत्रारम्भ सामर्थ्य से यह सिद्ध होता है कि "सति शिष्टोऽपि विकरणस्वरो ल सार्वधातुकस्वरं न बाधते।" इस नियम के अनुसार सुनुत:, चिनुत: में तस् प्रत्यय श्नु के द्वारा बाधित नहीं होता और सम्पूर्ण प्रयोग तस् के स्वर के अनुसार अन्तोदात्त ही सिद्ध होता है।

ज्ञापन के अभाव में भी इष्ट सिद्धि सम्भव - सुनुत: चिनुत: आदि प्रयोगों में इष्ट स्वर की सिद्धि के लिए "सति शिष्ट स्वर" परिभाषा की व्याप्ति को ज्ञापन के द्वारा नियन्त्रित करने की अपेक्षा अन्य युक्ति से भी तस् के उदात्तत्त्व को सुरक्षित रखा जा सकता है। "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" इस नियम सूत्र में केवल शास्त्रकृत परत्व ही विवक्षित नहीं होता अपितु शब्द का परत्व भी ग्राह्य होता है। इसीलिए भाष्यकार भी पर को इष्टवाची कहते हैं और जिसकी प्रवृत्ति से इष्ट सिद्धि होती है, उसी की प्रवृत्ति को स्वीकार्य मानते हैं। (इष्टवाची पर शब्द:। विप्रतिषेधे पर यदिष्टं तद्भवति - म. भा. - ६.१.१५८.) दो शास्त्रों की युगपत् एक स्थल पर प्रवृत्ति होने से दोनों में विरोध उत्पन्न होने पर शास्त्र से कार्य किया जाना चाहिए, किन्तु शास्त्रपरविप्रतिषेध मानने पर सभी इष्ट रूपों का संग्रह न होता हो तो पर शब्द को बली मानकर इष्ट सिद्धि करनी चाहिए। प्रकृत प्रसङ्ग में सुनुत: चिनुत: में पर शास्त्र को बली मानने से इष्ट सिद्धि

नहीं होती, अतः शब्दपरविप्रतिषेध मानना चाहिए। (शास्त्रपरविप्रतिषेधानियमाद्वा शब्दपरविप्रतिषेधात् सिद्धम् - म. भा. वा. - १२.)

शब्दपरविप्रतिषेध मानने पर गौरव दोष की सम्भावना - शब्दपरविप्रतिषेध मानने पर सुनुतः चिनुतः में दोष निवृत्ति तो हो जाती है, किन्तु पुत्रकाम्यति - गोपायति ऋतीयते आदि प्रयोगों में काम्यादि प्रत्ययान्तों में अन्तोदात्तत्व की सिद्धि के लिए काम्य आदि प्रत्ययों में चकार अनुबन्ध लगाना आवश्यक हो जाता है। काम्य - आय और ईय प्रत्ययों के आदि अच् को प्रत्यय स्वर से आद्युदात्त होता है। पुत्रकाम्य - गोपाय - ऋतीय आदि प्रत्ययान्त धातु संज्ञक शब्दों को धातु स्वर से अन्तोदात्त प्राप्त है। यहाँ शास्त्रपरविप्रतिषेध के आधार पर धातुस्वर बली होता है और ये धातुएँ अन्तोदात्त सिद्ध हो जाती हैं। यदि शब्दपरविप्रतिषेध स्वीकार करते हैं तब काम्य - आय और ईय ये सम्पूर्ण एक एक शब्द हैं, जिनको पहले स्वर विहित है। धातु शब्द इनसे पर में नहीं है अतः धातुस्वर में परत्व सिद्ध नहीं हो सकता, जिससे पुत्रकाम्य आदि धातुएँ भी मध्योदात्त हो जाएँगी। इनमें अन्तोदात्तत्व की सिद्धि के लिए प्रत्ययों में चकार अनुबन्ध लगाना पड़ेगा, जिससे चितः - (६.१.१६३.) सूत्र के द्वारा धातु अन्तोदात्त सिद्ध हो सके।

वस्तुतः काम्यादि प्रत्ययों के प्रसङ्ग में विप्रतिषेध न्याय की प्रसक्ति ही नहीं है क्योंकि काम्यादि को प्रत्यय स्वर की प्राप्ति तथा धातु को (पुत्रकाम्य धातु को) धातु स्वर की प्राप्ति युगपत् नहीं होती। धातु स्वर तो यहाँ सति शिष्ट स्वर होने से ही बली है। विप्रतिषेध का यह प्रसङ्ग ही नहीं है। अतः अन्तोदात्तत्व की सिद्धि के लिए चकार अनुबन्ध की आवश्यकता नहीं है।

सति शिष्टस्वर बलीयस्त्व के अपवाद - विभक्ति स्वर की अपेक्षा नञ् - अव्यय को प्राप्त स्वर बली होता है - यह वचनारम्भ करना आवश्यक है। विभक्ति स्वर "तिसृभ्योजसः" - (६.१.१६६.) का स्वतन्त्र उदाहरण तिस्रः में प्राप्त है। यहाँ तिसृभ्यो जसः सूत्र से तिसृ शब्द से परे जस् विभक्ति को अन्तोदात्त होता है। अब्राह्मणः आदि प्रयोगों में तत्पुरुषे तुल्यार्थ० - (६.२.२.) सूत्र से नञ् को उदात्त प्राप्त है। अतिस्रः आदि प्रयोगों में युगपत् नञ् को और जस् को उदात्तत्व की प्राप्ति हो रही है। इस स्थल पर यदि "सति शिष्ट स्वर" न्याय प्रवृत्त करते हैं तो विभक्ति स्वर बली हो जाएगा और नञ् समास में अन्तोदात्तत्व की प्रसक्ति हो जाएगी। इस अन्तोदात्तत्व के निवारणार्थ "विभक्ति स्वरान्नञ् स्वरो बलीयान्" परिभाषा वचन करना पड़ेगा। तभी नञ् समास आद्युदात्त सिद्ध हो सकता है।

नञ् स्वर का बलीयस्त्व न केवल विभक्ति स्वर की अपेक्षा होता है अपितु विभक्ति को निमित्त मानकर प्राप्त स्वर की अपेक्षा भी नञ् स्वर बलीयान् होता है। जैसे - विभक्ति निमित्तक स्वर का उदाहरण चत्वारः अनड्वाहः आदि प्रयोगों में प्राप्त होता है। इन प्रयोगों में सूत्र "चतुरन डुहोरामुदात्तः" - (७.१.९८.) से सु विभक्ति निमित्तक आम् आगम और उसे उदात्त का विधान किया गया है। नञ् स्वर का उदाहरण अब्राह्मणः में दृष्टिगत होता है। अचत्वारः या अनड्वाहः आदि प्रयोगों में दोनों प्रकार के स्वरों की प्राप्ति है। नञ् समास होने के कारण नञ् को उदात्त प्राप्त है और सु विभक्ति परे होने से आम् और उसे उदात्त की प्राप्ति है। इस प्रकार युगपत् दोनों उदात्तों की प्राप्ति में नञ् स्वर को बली सिद्ध करने हेतु वचनारम्भ आवश्यक है। (विभक्ति निमित्तस्वराच्च - "नञ् स्वरो बलीयान्")

नञ् उपपद पूर्वक धातु से कृत् प्रत्यय का विधान होने पर उत्तरपद को प्राप्त स्वर की अपेक्षा नञ् को प्राप्त स्वर बली होता है। उदाहरणार्थ - नञ् उपपद पूर्वक कृ धातु से अनि प्रत्यय - (३.३.११२.) करने पर करणि रूप सिद्ध होता है। नञ् के साथ इसका समास करने पर "अकरणिः" प्रयोग में करणि को प्राप्त प्रकृति स्वर "गतिकारकोपपदात् कृत्" - (६.२.१३९.) का बाध होकर नञ् को उदात्त होता है। इसकी सिद्धि के लिए पुनः वचनारम्भ करना होगा। (यच्चोपपदं कृति नञ्) वचनारम्भ न करने पर सति शिष्ट न्याय से उत्तरपद को प्रकृतिस्वर सिद्ध हो जाएगा।

इसी प्रकार सूत्र में उच्चरित नञ् पूर्वक धातु से कृत् प्रत्यय करने पर भी नञ् का स्वर ही बली होता है। (सहनिर्दिष्टस्य च [१]) उदाहरणार्थ "जिदृक्षि०" - (३.२.१५७.) सूत्र में अव्यथ धातु का निर्देश है। नञ् पूर्वक व्यथ् धातु से इन् प्रत्यय होता है और अव्यथी सिद्ध होता है। इन् प्रत्ययान्त कृदन्त में भी नञ् का स्वर बली होता है। "सति शिष्ट स्वर" न्याय से उक्त व्यवस्था नहीं हो सकती।

निष्कर्षतः प्रकृत सूत्र को स्वतन्त्र विधि मानने पर सम्भाव्य अनुपपत्तियों का निवारण किया गया, तथापि परिभाषा पक्ष ही श्रेयस्कर है क्योंकि इस पक्ष में कोई अनुपपत्ति सम्भावित नहीं है। परिभाषा पक्ष में तत्तत् विधि सूत्रों के साथ एकवाक्यता होने पर विधि सूत्र से विहित उदात्त को छोड़कर शेष स्वर अनुदात्त हो जाते हैं। विप्रतिषेध होने पर भाष्य पठित वार्तिकों द्वारा व्यवस्था हो सकती है।

परिभाषा का लिङ्ग - आचार्यो ने "स्वरविधिविषया" कहकर परिभाषा का लिङ्ग या प्रवृत्ति स्थल स्पष्ट कर दिया है। जहाँ विधि सूत्र से किसी पद के अवयव को स्वरित या उदात्त का विधान होता है, वहाँ परिभाषा उपस्थित होकर एक उदात्त को छोड़कर शेष स्वरों को अनुदात्त करती है। वस्तुतः परिभाषा का धर्म "अनियम प्रसङ्ग" में नियमार्थ होना है। उपर्युक्त अर्थ निष्पत्ति में जहाँ विधि सूत्र से उदात्त या स्वरित का विधान होगा - वहाँ किसी अनियम का प्रसङ्ग तो सम्भव नहीं तब परिभाषा का क्या औचित्य है ? इसका समाधान "आमलकीज" आदि प्रयोगों में दृष्टिगोचर होता है, जहाँ चार पृथक्-पृथक् स्वरों के भिन्न-भिन्न सूत्रों से उदात्त प्राप्त है। ऐसे स्थल पर विप्रतिषेध नियम से इष्ट सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि सभी उदात्तों में कोई विप्रतिषेध नहीं है। प्रकृत सूत्र तत्तत् स्वर विधायक सूत्रों में उपस्थित होकर "सति शिष्ट स्वर" न्याय से उदात्तत्व की सिद्धि कराता है और शेष निघात की भी सिद्धि होती है।

पदम् - आचार्यो ने प्रकृत सूत्र की वृत्ति में कहा है - "यस्मिन् पदे यस्योदात्तः स्वरितो वा विधीयते तमेक मचं वर्जयित्वा शेषं तत्पदमनुदात्ताच्कं स्यात्।" - (सिद्धान्त कौमुदी) इसमें पद ग्रहण का प्रयोजन, पूर्व में प्रतिपादित किया गया। पद ग्रहणं के सामर्थ्य से वाक्य में परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती और "देवदत्त गाममभ्याज शुक्लां दण्डेन" आदि वाक्यों में प्रत्येक पद में पृथक् स्वर की सिद्धि हो जाती है। सिद्धान्ततः पद ग्रहण का प्रयोजन परिमाण के ज्ञान के लिए है। पदमञ्जरीकार यहाँ पद शब्द को मुख्यार्थ वाचक नहीं कहते अपितु गौणार्थ वाचक मानते हैं। मुख्यार्थवाचक पद की निवृत्ति होकर इस सूत्र का पद शब्द गौणार्थवाचक है। इसीलिए पद संज्ञा की सिद्धि के पूर्व ही प्रकृत परिभाषा प्रवृत्त होकर स्वरों की अभीष्ट व्यवस्था करती है, उसके पश्चात् वह शब्द पद संज्ञक होता है। (गौणार्थमेतत्पद ग्रहणं मुख्याधिकारान्य निवृत्तिं कारयति - पदमञ्जरी।)

न्यासकार के शब्दों में - "पदमत्र गौणमभिप्रेतम् न मुख्यम्। अन्यथा पदाधिकारे सति पुनः पदग्रहणमनर्थकं स्यात्। तस्मादुत्तर कालं यस्य पदसंज्ञा भविष्यति, तदिह पदमभिप्रेतमिति वदितव्यम्।" पद ग्रहण के अभाव में यह निश्चित ज्ञात नहीं होता कि एक उदात्त अच् को छोड़कर कितने अचों को या कहाँ तक अनुदात्त किया जाए ? (असति पद ग्रहणे न ज्ञायते - कियतामचामनुदात्तत्वं भवतीति। - न्यास) पद ग्रहण के द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि एकपद में जितने अच् हो सकते हैं उनमें एक उदात्त को छोड़कर शेष स्वरों को अनुदात्त किया जाना है। पद शब्द से यहाँ तिङन्त या सुबन्त पद की विवक्षा नहीं है। शब्देन्दुशेखर के शब्दों में - "अत्र पदत्वे भाविन्यपि अन्तरङ्गत्वात् पूर्वमेव स्वर प्रवृत्तिः।" इसीलिए धातोः के अधिकार में विहित स्वरों के विषय में भी पकृत परिभाषा की प्रवृत्ति हो जाती है। सूत्र पठित पद शब्द भावी पदत्व का बोधक है और पदस्य के अधिकार का निवर्तक भी है। अन्यथा अधिकृत मुख्यार्थ वाचक पद भी सूत्र में उपस्थित हो जाता और दोष की सम्भावना हो जाती। मुख्यार्थ वाचक पद की विवक्षा करने पर सूत्रार्थ होता - पद संज्ञा उपपन्न हो जाने के पश्चात् उस पद संज्ञक में एक उदात्त या स्वरित को छोडकर शेष स्वरों को निघात होता है। इस स्थिति में भिक्षादि गण में गर्भिणी शब्द का पाठ निरर्थक सिद्ध हो जाता। गर्भिणी शब्द में गर्भोऽस्यास्तीति - गर्भिन् मतुबर्थक इनि प्रत्यय है (५.२.११५.) यह इनि प्रत्यय आद्युदात्तश्य - (३.१.३.) से उदात्त है। गर्भ शब्द भी आद्युदात्त है। पद संज्ञा निष्पत्ति के बाद यदि शेष निघात होता तो गर्भिणी पद शेष निघात से अनुदात्तादि सिद्ध होता और आद्युदात्त तो है ही। इस प्रकार प्राग्दीव्यतीय अण् - (४.१.८३.) की प्राप्ति निर्बाध होती। अण् के लिए गर्भिणी शब्द को भिक्षादि गण में पढ़ना व्यर्थ होता। भिक्षादि गण में पाठ सामर्थ्य से यह सिद्ध होता है कि गर्भ + इनि + ङीप् अवस्था में ही इनि को आद्युदात्त होते समय शेष निघात होता है और तब गर्भ शब्द अनुदात्तादि होने से "अनुदात्तादेश्च" - (४.३.१४०.) से अपत्य अर्थ में अञ् की प्राप्ति होती है। इस अञ् के बाधनार्थ भिक्षादि गण के गर्भिणी का पाठ सार्थक है।

❀❀❀

शब्द संकेत

१. "अनुदात्तम्" में तदस्या० सूत्र से मतुप् का विधान और उसको लुक् की कल्पना की गई है। वस्तुतः यह मतुप् वास्तविक रूप से नहीं होता है अपितु अवयव-अवयवी में अभेद उपचार के कारण मतुप् की अनुत्पत्ति ही मतुप् का लुक् है, क्योंकि गुणवचनेभ्यो० - (वार्तिक) से मतुप् का लोप तो हो नहीं सकता क्योंकि अनुदात्त शब्द संज्ञा है। (१.२.३०.) संज्ञा होने से उसे गुणवाचक नहीं कह सकते। इसीलिए कैयट कहते हैं - "अवयवावयविनो रभेदोपचारादनुत्पत्तिरेव मतुब्लोपः। न तु गुणवचनेभ्यो लुगिति मतुब्लोपः, अनुदात्तस्याचि संज्ञात्वेन विनियोगाद् गुणवचनत्वाभावात्।"

२. "सहनिर्दिष्टस्य च" वार्तिक के द्वारा अव्यथी आदि प्रयोगों में पृथक् रूप से दोष का परिगणन है। "यच्चोपपदं कृति नञ्" वार्तिक में इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि "जिदृक्षिविश्रिण्वमाव्यथाभ्यमपरिभू प्रसूभ्यश्च" - (३.२.१५७.) सूत्र में नञ् का (अव्यथ में) उपपद के रूप में सप्तम्यन्त निर्देश नहीं है। अतः पूर्व वार्तिक में इसका समावेश नहीं हो सकता। (नञ् सप्तमीनिर्देशाभावादुपपदत्वाभावात् पृथग्वचनमारब्धम् - कैयट)

❀❀❀

अध्याय - ३

"उभयविध सूत्र"

- (अ) संज्ञा सूत्र और परिभाषा सूत्र
- (इ) विधि सूत्र और परिभाषा सूत्र
- (उ) नियम सूत्र और परिभाषा सूत्र
- (ऋ) अतिदेश सूत्र और परिभाषा सूत्र
- (लृ) अधिकार सूत्र और परिभाषा सूत्र
- (ए) विधि, नियम और अधिकार तथा परिभाषा सूत्र (त्रैविध्य)

स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा
(१.१.६८)

सूत्रार्थ - काशिकाकार एवं कौमुदीकार के अनुसार शब्द अपने स्वरुप का बोधक होता है। "शब्दस्य स्वं रूपं संज्ञि शब्द शास्त्रे या संज्ञा तां विना" सिद्धान्त कौमुदीकार ने इस सूत्रार्थ के द्वारा यह प्रतिपादित किया है कि शब्द संज्ञा होती है और उसका स्वरुप संज्ञी होता है। वस्तुत: यह सूत्रार्थ भाष्यमत से विरुद्ध प्रतीत होता है। भाष्यकार बार-बार लिखते हैं -"स्वं रूपं शब्दस्य संज्ञा भवति ...।" भाष्य के अनुसार शब्द का स्वरुप ही उसका बोधक या प्रत्यायक होता है। शब्द बोध्य होता है और उसका स्वरुप बोधक होता है। शब्द ग्राह्य है और स्वरुप ग्राहक है। अन्यत्र भी सूत्रों में षष्ठ्यन्त पद के द्वारा संज्ञी का और प्रथमान्त के द्वारा संज्ञा का बोध किया गया है। जैसे - "अणुदित्सवर्णस्य०" (१.१.६९.) में अण् और उदित् प्रथमान्त है, अत: संज्ञा है और सवर्णस्य संज्ञी है। "तपरस्तत्कालस्य" (१.१.७०.) में तपर संज्ञा है, तत्कालस्य संज्ञी है। "येन विधिस्तदन्तस्य" (१.१.७२.) में येन विधि: संज्ञा है और तदन्तस्य संज्ञी है। इसी प्रकार "आदिरन्त्येन सहेता" को भी संज्ञा सूत्र मानकर "इतासह-आदि:" यह संज्ञा मात्र का निर्देश किया गया है। यहाँ अन्तिम इत् के सहित आदि अर्थात् अच्, हल् आदि प्रत्याहारों में बोध्य संज्ञी का निर्देश नहीं है। वृत्तिकारों ने "अन्त्येन इता सहितो य आदि: स मध्यमानां स्वस्य च" कहकर षष्ठ्यन्त पदों के द्वारा संज्ञी को स्पष्ट किया है।

उपर्युक्त सूत्रार्थ विवेचन प्रस्तुत सूत्र को संज्ञा सूत्र मानकर किया गया। कतिपय वैयाकरणों के अनुसार यह संज्ञा सूत्र न होकर परिभाषा सूत्र है। परिभाषा अनियम में नियम करती है। यह सूत्र भी शब्द के स्वरुप ग्रहण का नियम करता है। कैयट के शब्दों में - "**स्वरुपस्य पर्यायाणां तद् विशेषाणां च ग्रहणे प्राप्ते नियमार्था परिभाषेयमिति केचिदाहु:। - प्रदीप**" अर्थात् शब्द से उसके स्वरुप का, पर्याय का अथवा विशेष का ग्रहण प्राप्त हो सकता है, जिसके नियमन के लिए प्रकृत परिभाषारम्भ है।

अन्य आचार्यों के मत में यह परिभाषा नहीं हो सकता क्योंकि इसमें परिभाषा का लिङ्ग या चिह्न नहीं है। परिभाषा तो विधिसूत्रों के साथ एकवाक्यता के द्वारा अर्थबोध कराती हैं और इस प्रकार विधिसूत्र का शेषांश कही जा सकती है। प्रकृत सूत्र में परिभाषा का लिङ्ग दृष्टिगोचर नहीं होता और न किसी विधि सूत्र का यह अङ्गभूत प्रतीत होती है। अत: इसे संज्ञा सूत्र ही मानना चाहिए। **(अन्ये तु लिङ्गाभावात् विध्यन्तरशेषाभावाच्च नेयं परिभाषा अपि तु संज्ञासूत्रमिदमिति प्रतिपन्ना:। - कैयट)**

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रतीत होता है कि "स्वं रूपम्०" सूत्र को संज्ञा सूत्र कह सकते हैं और परिभाषा सूत्र भी कह सकते हैं। जो आचार्य इसे परिभाषासूत्र मानते हैं, वे निश्चित् रूप से इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि किसी न किसी रूप में विधि सूत्रों के अर्थबोध में सहायक होने वाले सूत्रों में परिभाषात्व मानना चाहिए। नागेश भट्ट ने परिभाषेन्दुशेखर में यह स्वीकार किया है कि "अर्थवद ग्रहणे नानर्थकस्य" परिभाषा स्वं रूपम्० सूत्र के अर्थ का ही प्रपञ्च या अनुवाद करने वाली है। **(किं च स्वं रूपमिति शास्त्रे स्वशब्देनात्मीयवाचिनो ऽर्थो गृह्यते, रूपशब्देन स्वरूपम्। एवं च तदुभयं शब्दस्य संज्ञीति तदर्थ:। तत्रार्थो न विशेष्यस्तत्र शास्त्रीयकार्यासंभवात् किन्तु शब्द विशेषणम्। एवं**

चार्थविशिष्टः शब्दः संज्ञीति फलितम्। तेनैषा परिभाषा सिद्धेति भाष्ये स्पष्टम् - परिभाषेन्दुशेखर)

अशब्दसंज्ञा सूत्र पठित अशब्दसंज्ञा का आशय है कि शब्द शास्त्र में जो संज्ञाएँ पठित हैं, जैसे - टि, धु, भ, नदी, गुण आदि। इन संज्ञावाचक शब्दों में स्वरुप का ग्रहण नहीं होता।

व्याकरण दर्शन के अनुसार शब्द और उसका स्वरुप परमार्थतः अभिन्न है। अतः शब्द का संज्ञा कहना और स्वरुप का संज्ञी कहना अथवा इसके विपरीत शब्द को संज्ञी और उसके स्वरुप को संज्ञा मानना पारमार्थिक दृष्टि से एक ही है। आचार्य भर्तृहरि ने इसी भाव को व्यक्त किया है।[१] जिसका तात्पर्य है कि जातिवाद पक्ष में शब्द का स्वरुप जाति या सामान्य होता है और व्यक्ति वाद पक्ष में व्यक्ति होता है। "अग्नेर्ढक्" (४.२.३३.) सूत्र में अग्नि का स्वरुप जाति पक्ष में अग्नित्व है। व्यक्ति पक्ष में अग्नित्व का स्वरुप अग्नि है। इन दोनों का फलितार्थ एक ही है। केवल गौण मुख्य भाव का भेद है।

रूप ग्रहण का प्रयोजन - प्रकृत सूत्र में रूप ग्रहण के अभाव में "स्वं शब्दस्य" इतना ही कहने पर शब्द के अपने रूप का ग्रहण हो ही जाता। क्योंकि रूप के अतिरिक्त शब्द का अपना कोई है ही क्या ? इस प्रकार रूप ग्रहण के बिना भी शब्द से उसका "स्व" अर्थात् रूप ही ग्राह्य होगा। रूप ग्रहण व्यर्थ ही है। सूत्र में रूप ग्रहण व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि रूप के अतिरिक्त शब्द का स्वतः का कुछ और भी है और वह है उसका अर्थ। अतः शब्द के दो स्वकीय हैं - १. उसका रूप, २. उसका अर्थ। इस ज्ञापन के द्वारा "अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य" परिभाषा गतार्थ हो जाती है। परिभाषेन्दुशेखर में नागेश भट्ट ने भी परिभाषा को प्रकृत सूत्र से सिद्ध किया है। इस के अनुसार शब्द के स्वरुप ग्रहण में अर्थवान् का ही ग्रहण होता है, अनर्थक का नहीं। इसीलिए काशे-कुशे आदि शब्दों में शे शब्द अनर्थक होने से "शे" (१.१.१३.) सूत्र के द्वारा प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती। जिस स्थल पर शब्दशास्त्रीय विशिष्ट संज्ञावाचक शब्दों का प्रयोग होता है, वहाँ उपर्युक्त नियम प्रवर्तित नहीं होता। उदाहरणार्थ - "टित् आत्मनेपदानां टे रे"- (३.४.७९.) सूत्र से टि के द्वारा उसके रूप का ग्रहण नहीं होता अपितु "अचो ऽन्त्यादि टि" (१.१.६४.) इस अर्थ का बोध होता है और पचेते आदि प्रयोगों में टि संज्ञक आम् को एत्व हो जाता है। सूत्र पठित "अशब्द संज्ञा" का यही अभिप्राय है। कैयट के शब्दों में - "यत्र चार्थवता रूपेण शब्दो नाश्रीयते तत्रेदं नोपतिष्ठते यथा वर्णग्रहणेषु टेरेत्वे चेति पचेते इत्यत्रानर्थकस्यापि टेरेत्वं मर्वाता - प्रदीप" देवदत्तादि लौकिक संज्ञा शब्दों के लिए भी अशब्दसंज्ञा निषेध लागू होता है। देवदत्त कहने से देवदत्त के स्वरुप का नहीं उस शब्द के वाच्य देवदत्त संज्ञक व्यक्ति विशेष का बोध होता है।

इस विषय में कतिपय आचार्यो के मतानुसार प्रकृत परिभाषा नियमार्थ है। "सर्वे सर्वार्थ वाचकाः" नियम के अनुसार सभी शब्द सभी अर्थो के वाचक होते हैं। लोक व्यवहार में व्यक्ति विशेष की देवदत्त संज्ञा करने से "देवदत्त" शब्द सभी व्यक्तियों का वाचक न होकर व्यक्ति विशेष का ही वाचक होता है। उसी प्रकार शास्त्र में भी सभी शब्दों में सभी अर्थो की बोधक क्षमता है, किन्तु नियम के सामर्थ्य से तत्तत् अर्थो में शब्द की क्षमता नियन्त्रित हो जाती है। वस्तुतः "सर्वे सर्वार्थवाचकाः" के आधार पर प्रकृतसूत्र को नियमार्थ मानना अयुक्तिकर है, क्योंकि सभी शब्दों में सभी अर्थो की वाचकता योगियों की दृष्टि में होती है, सामान्य जन के लिए नहीं। अतः प्रकृत परिभाषा को शास्त्रत्व सम्पादक मानना चाहिए, नियामक नहीं।

सूत्र का प्रयोजन - शब्द का उच्चारण करते ही उसके श्रवण मांत्र से अर्थ का बोध होता है। व्याकरण शास्त्र में शब्द सिद्धि की प्रक्रिया अथवा साधुत्व का अन्वाख्यान होता है। शब्द से अर्थ का ज्ञान होने से उस अर्थ से तो कोई विधि संभव नहीं। अतः अर्थ से कार्य होना असम्भव होने के कारण उस अर्थ के बोधक शब्दों से विधि प्राप्त हो सकती है। उदाहरणार्थ - लोक में ग़ामानय कहने पर - गो शब्द वाच्य व्यक्ति का आनयन होता है। अथवा दध्यशान कहने पर दधि शब्द से बोध्य पदार्थ का भक्षण किया जाता है। शब्द शास्त्र में शब्द से वाच्य अर्थ में तो कार्य होना सम्भव नहीं है। जैसे - "अग्नेर्ढक्" (४.२.३२.) सूत्र से अग्नि शब्द वाच्य अङ्गार आदि से ढक् प्रत्यय करना सम्भव नहीं। इस प्रकार शब्द से अर्थ का ज्ञान और अर्थ में शास्त्रीय कार्यो का सम्पादन असम्भव होने से उस अर्थ के वाचक सभी शब्दों से शास्त्रीय विधान (सूत्र विहित कार्य) प्राप्त होंगे। इसके निवारणार्थ यत्न करना आवश्यक है। प्रकृत सूत्र के द्वारा आचार्य ने इसी अतिव्याप्ति का निवारण किया है और यह प्रतिपादित किया है कि शब्द से विहित कार्य सूत्र पठित शब्द से करने चाहिए, अन्य से नहीं। शब्दशास्त्रीय संज्ञा शब्दों के लिए यह नियम नहीं है। जैसे - "घु" संज्ञक को विहित कार्य दा और धा को ही हो घु के स्वरुप को नहीं क्योंकि घु शब्द दा और धा की संज्ञा है। (दाधाघ्वदाप् - १.१.९.) अथवा घ को विहित कार्य तरप् और तमप् प्रत्ययों को ही हो घ इस शब्द स्वरुप को न हो, क्योंकि तरप् और तमप् की घ संज्ञा होती है। (तरप् तमपौ घः - १.१.२१.)

प्रयोजन का खण्डन - सूत्र का उपर्युक्त प्रयोजन युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता भाष्यकार और वार्तिककार ने भी "शब्देनार्थावगतरर्थे कार्यस्या संभवात् तद्वाचिनः संज्ञा प्रतिषेधार्थं स्वरुप वचनम्" शब्दों में सूत्र का प्रयोजन बताकर तदनन्तर उक्त प्रयोजन को अन्यथा सिद्ध कर दिया है। "न वा शब्दपूर्वकोह्यर्थे संप्रत्ययः, तस्मादर्थनिवृत्तिः" वार्तिक के द्वारा भाष्यकार यह प्रकट करते हैं कि अर्थ का ज्ञान शब्दपूर्वक ही होता है। शब्द का उच्चारण करते ही अर्थ बुद्धि में उपस्थित होता है। जब तक शब्द का श्रवण नहीं होता तब तक अर्थ की प्रतीति नहीं होती। जिस प्रकार लोक में किसी व्यक्ति का नाम लेकर उसे बुलाया जाए और उसे वह नाम सुनाई न पड़े, तब वह पूछता है कि "आपने क्या कहा ?" इस प्रश्न में वह शब्द की पृच्छा करता है। इसका आशय यह है कि कोई भी ज्ञान शब्दपूर्वक ही होता है। व्याकरण शास्त्र में तो कोई भी कार्य प्रथम शब्द को ही प्राप्त होता है, अर्थ को नहीं। शब्द ही व्याकरण शास्त्र का विषय है एवं शब्द ही प्रमाणभूत है। इसलिए स्वाभाविक रूप से शब्द के द्वारा शब्द का ग्रहण ही स्वतः सिद्ध है। अर्थ की निवृत्ति इसी आधार पर सम्भव है। अर्थ की निवृत्ति के लिए विशेष वचनारम्भ अनावश्यक है। "अग्नेर्ढक्" कहने पर अग्नि शब्द से ही ढक् प्रत्यय की प्रसक्ति न्याय्य या स्वाभाविक है।

प्रयोजनान्तर - उपर्युक्त नियम के आधार पर अर्थ निवृत्ति के लिए यदि प्रकृत सूत्र निरर्थक प्रतीत होता है तो यह कहा जा सकता है कि शब्दशास्त्रीय संज्ञाओं में स्वरूप ग्रहण का निषेध करने के लिए सूत्र सप्रयोजन है। सूत्र में पठित "अशब्दसंज्ञा" की सार्थकता के लिए सूत्र की आवश्यकता है। दाधाघ्वदाप् तरप् तमपौ घः इत्यादि संज्ञा सूत्रों में घु घ आदि संज्ञा शब्दों में स्वरूप ग्रहण की निवृत्ति के लिए सूत्र आवश्यक है। निषेध के लिए निषेध्य का उल्लेख आवश्यक है। यदि "अशब्द संज्ञा" न कहते तो शब्द शास्त्रीय घु आदि संज्ञाओं से भी स्वरूप बोध हो जाता। इसके परिणामस्वरूप "उपसर्गे घोः किः"- (३.३.९२.) सूत्र से घु संज्ञक को होने वाला कि प्रत्यय घु के स्वरूप को (घुशब्दे) हो जाता। इसी प्रकार "घरूपकल्पचेलड्०" (६.३.४३.) सूत्र से "कुमारी घ" जैसे असम्वद्ध प्रयोगों में ही ह्रस्व की प्राप्ति होती "कुमारी+तरा" में होनी चाहिए, वहाँ नहीं होती क्योंकि कुमारी के परे घ स्वरूपतः पर में नहीं है।

"अशब्दसंज्ञा [२]" इस निषेध के लिए सूत्रारम्भ की आवश्यकता प्रतिपादित करना भी उचित नहीं अर्थात् सूत्रारम्भ का यह द्वितीय प्रयोजन भी प्रत्याख्येय है। क्योंकि दाधाघ्वदाप् या तरप्तमपौ घः इन संज्ञासूत्रों के आरम्भ सामर्थ्य से ही उपर्युक्त अतिप्रसक्ति का निवारण हो जाता है। "उपसर्गे घोः किः" सूत्र से घु धातु को कि प्रत्यय होने लगे तो दा और धा धातु को घु संज्ञा करना निरर्थक हो जाएगा अर्थात् दाधाघ्वदाप् सूत्र व्यर्थ हो जाएगा। इस घु संज्ञा का अन्यत्र कहीं उपयोग नहीं है। इसी प्रकार कुमारी + घ में ही यदि घरूप० सूत्र से ह्रस्व की प्रवृत्ति संभव होगी तो तरप् और तमप् की घ संज्ञा व्यर्थ हो जाएगी। अतः संज्ञा सूत्र के सामर्थ्य से ही सम्भावित दोषों का निवारण हो जाता है, उसके लिए "अशब्द संज्ञा" का आरम्भ करना आवश्यक नहीं है।

वस्तुतः संज्ञासूत्रों के सामर्थ्य से घु संज्ञक को विधीयमान कार्य (कि प्रत्यय) दा और धा धातु को होंगे - यह कथन उचित ही है किन्तु घु को विहित क़ार्य घु के स्वरूप को भी हो सकते हैं, जिसकी निवृत्ति के लिए यत्न करना आवश्यक है। संज्ञा शब्दों से अर्थ ग्रहण के साथ-साथ स्वरूप ग्रहण की निवृत्ति भी अभीष्ट है। इस स्वरूप ग्रहण की निवृत्ति के लिए "अशब्द संज्ञा" वचन आवश्यक है।

ष्णान्ताः षट् - (१.१.२४.) - आचार्य पाणिनि ष्णान्ता षट् - (१.१.२४.) सूत्र के द्वारा यह संकेत करते हैं कि संज्ञा शब्द अपने स्वरूप के बोधक नहीं होते। इस सूत्र में आचार्य ने षकारान्त संख्यावाचक षष् की और नकारान्त संख्यावाचक पञ्चन् सप्तन् आदि शब्दों की षट् संज्ञा का विधान किया है। यहाँ षकारान्त संख्यावाचक षष् शब्द की वही संज्ञा (षट् विभक्तयन्त रूप है) करने का क्या प्रयोजन हो सकता है ? स्वरूप ग्रहण के द्वारा षष् शब्द स्वयं अपने स्वरूप षष् का भी बोधक हो ही जाता है। तथापि सूत्रकार ने पृथक् रूप से षष् शब्द की षट् संज्ञा कही है। यह इस बात का ज्ञापक है कि संज्ञा शब्दों से स्वरूप ग्रहण नहीं हो सकता।

उपर्युक्त ज्ञापन के सम्बन्ध में पुनः यह शंका उपस्थित हो सकती है कि ष्णान्ता षट् सूत्र तो षट् संज्ञा का प्रतिपादन करता है न कि षष् का। ज्ञापन में षष् को ही संज्ञावाचक शब्द मानकर संज्ञा शब्दों से स्वरूप ग्रहण का निषेध सिद्ध किया जा रहा है। अतः ज्ञापन की प्रक्रिया अयुक्तिकर है। भाष्यकार इस सम्बन्ध में कहते हैं कि मूलतः षष् ही संज्ञा है। इसमें त्रिपादीस्थ जश्त्व (झलां जशोऽन्ते - ८.२.३९.) होकर डकार और वावसाने - (८.४.५६.) से टकार होने पर षट्/षड् - यह उच्चरित होता है। सपादी के समस्त कार्यो की दृष्टि में यह जश्त्व असिद्ध हो जाता है। अतः मूल संज्ञा षष् ही मानी जानी चाहिए। निष्कर्षतः ज्ञापन युक्तिसंगत है और इसके आधार पर अशब्दसंज्ञा वचन अनावश्यक है।

यदि यह कहा जाए कि विभिन्न पाणिनीय सूत्रों में मन्त्रे-ऋचि-यर्जुष इत्यादि शब्दों का निर्देश है जो तत्तत् अर्थो की बोधिका संज्ञाएँ हैं। इनमें स्वरूप ग्रहण को रोकने के लिए "अशब्दसंज्ञा" सूत्रारम्भ आवश्यक है। - यह कथन भी निरर्थक है, क्योंकि तत्तत् सूत्रों से विहित कार्य मन्त्र आदि शब्दों में सम्भव नहीं है। अतः मन्त्र आदि शब्दों से मन्त्रादि सहचरित अर्थ का ही बोध होता है। उदाहरणार्थ - ऋचा कहने पर "अग्निमीळे पुरोहितम्" - (ऋ. सं. - १.१.१.) इत्यादि वाक्यों की उपस्थिति बुद्धि में होती है। शब्द और अर्थ का साहचर्य सम्बन्ध से होने के कारण शब्द का उच्चारण करते ही उसका अर्थ बुद्धि में उपस्थित हो जाता है। अतः ऋचा या मन्त्र को विहित कार्य उसके अर्थ में ही सिद्ध होता है।

इसकी सिद्धि के लिए "अशब्दसंज्ञा" वचन आवश्यक नहीं है।

सूत्र का प्रत्याख्यान - निष्कर्ष रूप में प्रस्तुत सूत्र का कोई स्पष्ट और निर्विवाद प्रयोजन भाष्य में प्रदर्शित नहीं है। अतः वैयाकरणों ने इस सूत्र को प्रत्याख्येय माना है। इसके समर्थन में "भर्तृहरि" की यह कारिका उद्धृत की जाती है, जिसमें कहा गया है -

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।"
- (वा. प. - १.१२३.)

इसका आशय है कि सर्वत्र शब्द का व्यापार ही मुख्य होता है। शब्द ज्ञान के बिना कोई व्यवहार सम्भव नहीं है। लोक व्यवहार में सर्वप्रथम शब्द की आनुपूर्वी एवं उसका स्वरूप ही देखा जाता है। अर्थ की प्रतीति शब्दोच्चारण के पश्चात् होती है। अतः शब्द के स्वरूप की प्रतीति के लिए किसी प्रकार के उपदेश की आवश्यकता नहीं है। शब्द स्वरूप का दर्शन सर्वप्रथम होने से वह अन्तरङ्ग है। शब्दज्ञान में उसका स्वरूप ही कारण है। (न्याय सिद्धान्त मुक्तावली में भी यही प्रतिपादित है -

"पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः।
शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी"
- शब्दखण्ड - ८१.)

शब्दकौस्तुभ कार [३] सूत्र प्रत्याख्यान पक्ष का समर्थन करते हुए कहते हैं कि यद्यपि लोक में पशुः-अपत्यम्-देवता-प्राञ्चः उदञ्चः इत्यादि शब्दों से लोक प्रसिद्ध पशु आदि अर्थो का बोध होता है, शब्द स्वरूप का ग्रहण नहीं होता तथापि शब्दशास्त्र में अग्नेर्ढक् आदि शब्दों से "अग्नि" शब्द स्वरूप का ही ग्रहण न्याय्य है। अग्नि का अर्थ जो अंगारा है, उसका ग्रहण नहीं होगा क्योंकि अग्नि के अर्थ से परे ढक् प्रत्यय का पौर्वापर्य सम्भव नहीं। अंगारों से परे ढक् प्रत्यय कैसे हो सकता है? "ङ्याप्प्रातिपदिकात्" यह अधिकार सूत्र भी इसका प्रमाण है कि अग्नि शब्दस्वरूप अर्थवान् होने से प्रातिपदिक संज्ञक है अतः उसी से ढक् प्रत्यय का विधान होना चाहिए। इस प्रकार शब्द से उसके स्वरूप का ग्रहण स्वतः सिद्ध है अतः सूत्रारम्भ व्यर्थ है। घु आदि संज्ञाओं के लिए "अशब्दसंज्ञा" का भी प्रत्याख्यान पूर्व में किया जा चुका है। वाक्यपदीय में कहा गया है -

"व्यवहाराय नियमः संज्ञायाः संज्ञिनि क्वचित्
नित्य एव तु सम्बन्धो डित्थादिषु गवादिवत्॥"
- (वा. प. - २.३.६४.)

अर्थात् संज्ञाएँ संज्ञी का ग्रहण कराती हैं, अपने स्वरूप का नहीं। "अर्थवद् ग्रहणे नानर्थकस्य" परिभाषा के ज्ञापन के लिए इस सूत्र की उपयोगिता प्रतीत हो रही हो तो यह कथन भी उपयुक्त नहीं है। अर्थवत् परिभाषा तो "व्रश्च भ्रश्ज सृज मृज यज राज भ्राज च्छशां षः" - (८.२.३६.) सूत्र में राज् ग्रहण

होने पर भी पृथक् भ्राज ग्रहण से भी ज्ञापित हो सकती है। यदि अर्थवान् के ग्रहण में अनर्थक का भी ग्रहण हो जाता तो उक्त सूत्र में भ्राज ग्रहण की आवश्यकता न थी। राज् के द्वारा भ्राज् के अन्तर्गत श्रूयमाण राज् का भी ग्रहण स्वतः हो जाता। किन्तु सूत्रकार जानते थे कि भ्राज् के अन्तर्गत जो राज् है वह अनर्थक है और अर्थवान् राज् के द्वारा अनर्थक राज् का (भ्राज् के अन्तर्गत) ग्रहण नहीं होता। इसलिए भ्राज् ग्रहण पृथक् से करना पड़ा। यह भ्राज् ग्रहण ही अर्थवत् परिभाषा का ज्ञापक है। शब्द कौस्तुभकार के शब्दों में "अर्थवद् ग्रहण परिभाषापि व्रश्चादि सूत्रे राजिं पठित्वा पुनर् भ्रार्जिपाठात् सिद्धा न्याय सिद्धा च।" सिद्धान्त कौमुदीकार ने भी इसका समर्थन करते हुए कहा है - "अर्थवद् ग्रहणं नानर्थकस्य ग्रहणम् व्रश्चेति सूत्रे राजेः - पृथग् भ्राजिग्रहणाज्ज्ञापकात्।"

चतुः सूत्री में अनुवृत्ति हेतु स्वं रूपम्० सूत्र की आवश्यकता - स्वं रूपम् के आगे पठित - १. अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः (६८.) २. तपरस्तत्कालस्य (६९.) ३. आदिरन्त्येन सहेता (७०.) ४. येनविधिस्तदन्तस्य (७२.) इन चार सूत्रों के लिए स्वं रूपम्० की अनुवृत्ति आवश्यक है। क्योंकि ये चारों संज्ञासूत्र हैं, इनमें संज्ञा के द्वारा बोध्य अर्थ की विवक्षा में स्वं रूपम्० की सहायता आवश्यक है - यह मन्तव्य अनुचित है। इन चारों सूत्रों में स्वं रूपम्० की अनुवृत्ति के बिना भी अभीष्ट अर्थ का बोध हो जाता है। अणुदित्० सूत्र में सवर्णस्य पद पठित है। सवर्ण का तात्पर्य अपने सावर्ण्य से युक्त स्वरूप से ही होगा अन्य से नहीं। इसीलिए "अवात्ताम्" आदि प्रयोगों में "झरो झरि सवर्णे" (८.४.६५.) सूत्र से झर् से झर् के स्वरूप का ग्रहण होकर सकार का लोप हो जाता है। तपरस्तत्कालस्य० सूत्र में भी तत्कालस्य० पद के द्वारा तपरकृत वर्ण के स्वरूप का ही बोध होता है। आदिरन्त्येन सहेता में आदि शब्द की आवृत्ति करने पर एक आदि शब्द संज्ञा वाचक और दूसरा स्वरूपवाचक माना जा सकता है। इस प्रकार आद्यन्त शब्द अपने मध्यवर्ती वर्णों के बोधक होंने के साथ-साथ अपने स्वरूप का भी बोध कराएँगे। येन विधिस्तदन्तस्य में वार्तिककार ने "तस्य च" के द्वारा तदन्त के साथ तत्स्वरूप का ही ग्रहण सूचित कर दिया है।

इसके अतिरिक्त स्वरूप ग्रहण अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों से भी ग्रस्त है। भाष्यकार ने कतिपय स्थलों पर स्वं रूपम्० की प्रवृत्ति को नियन्त्रित करने की दृष्टि से इत् संज्ञक चिह्न का उपयोग कर स्वं रूपम्० का निषेध किया है। उदाहरणार्थ - **सित्तद्विशेषाणां वृक्षाद्यर्थम्** [४] - इसका आशय है कि "विभाषा वृक्ष मृग तृण धान्य०" - (२.४.१२.) सूत्र में वृक्षादि शब्दों से वृक्षादि के स्वरूप का ग्रहण अभीष्ट नहीं है अपितु वृक्ष विशेष जैसे - प्लक्ष न्यग्रोध आदि का अभीष्ट है। स्वं रूपम्० सूत्र से स्वरूप ग्रहण की प्रवृत्ति हो जाएगी, जिसके निषेधार्थ इत् संज्ञक सकार से युक्त वृक्षस्० इत्यादि का उच्चारण किया जाए तथा सित् निर्देश के द्वारा शब्दों के विशेष रूपों का ग्रहण निर्धारित किया जाए। इस प्रकार यह स्वं रूपम् का बाधक होगा।

पित् पर्याय वचनस्य स्वाधर्थम् - कहीं पर सूत्रों में शब्दों से स्वरूप ग्रहण तथा शब्द विशेष का भी ग्रहण है और सूत्र पठित शब्दों के पर्यायवाची शब्दों का ग्रहण भी अभीष्ट होता है। ऐसे स्थलों पर तत्तत् शब्दों को चकार अनुबन्ध युक्त उच्चारण करते हुए यह नियम बनाया जाए कि पित् निर्देश से पर्यायवाची शब्दों का तथा शब्द विशेषवाची शब्दों का भी ग्रहण होता है। जैसे - "स्वे पुषः" - (३.४.४०.) सूत्र में स्व शब्द से स्व के पर्यायवाची धन रै का तथा स्व विशेषवाची गो-अश्वादि का भी ग्रहण अभीष्ट है। सूत्रार्थ है - स्व अथवा उसके पर्यायवाची शब्द उपपद होने पर पुष धातु को णमुल् होता है और

स्वपोषं पुष्णाति धनपोषम् - रैपोषम्, अश्वपोषम्-गोपोषम् आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं। यहाँ स्व शब्द से - 1. स्वरूप का, 2. पर्याय का (धन-रै आदि का), 3. स्वविशेष का (अश्व-गौ आदि का) इन तीनों का ग्रहण विवक्षित है। (सिद्धान्त कौमुदीकार के शब्दों में - "स्व इत्यर्थग्रहणम्। तेन स्वरूपे - पर्यये - विशेषे च णमुल्।")

जित् पर्यायवचनस्यैव राजाधर्थम् - "सभा राजामनुष्यपूर्वा" (२.४.२३.) सूत्र में राजा शब्द से राजा के पर्यायवाची शब्दों का ग्रहण अभीष्ट है। स्वयं राजन् का स्वरूप विवक्षित नहीं है। इसीलिए इनसभम् ईश्वरसभम् आदि उदाहरणों में सभा को नपुंसक लिङ्ग का विधान होकर ०सभम् रूप सिद्ध होता है। राजसभा में प्रकृत सूत्र से ह्रस्व (नपुंसक लिङ्ग) नहीं होता। अतः स्वरूप ग्रहण का निषेध और पर्याय का ग्रहण विवक्षित मानना चाहिए। इसकी सिद्धि के लिए जकार इत् संज्ञक का प्रयोग कर "जित् पर्याय वचनस्वैव" ऐसा वार्तिकारम्भ किया जाना चाहिए। इसमें एव के द्वारा जित् शब्दों से स्वरूप ग्रहण का तथा विशेष ग्रहण का भी निषेध होगा। राजसभा में स्वरूप ग्रहण होने से और हरिश्चन्द्र सभा, चन्द्रगुप्त सभा आदि राजविशेष वाचक शब्दों का उच्चारण होने से सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा और नपुंसक लिङ्ग तथा ह्रस्व नहीं होगा। सूत्र से अमनुष्य का तात्पर्य राक्षस, पिशाचादि से है। अतः रक्षः सभम् - पिशाचसभम् प्रयोगों की सिद्धि होती है।[५]

झित् तस्य तद्विशेषाणां च मत्स्याधर्थम् - "पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति" (४.४.३५.) सूत्र में मत्स्य शब्द से उसके स्वरूप का और पर्यायवाची का भी ग्रहण होता है तथा मत्स्यान् हन्ति अर्थ में मत्स्य शब्द से ठक् प्रत्यय होकर मात्स्यिकः सिद्ध होता है। मत्स्य विशेष वाचक शफरी-शकुली आदि शब्दों से भी ठक् होता है और शाफरिकः-शाकुलिकः रूप सिद्ध होते हैं। इन प्रयोगों की उपपत्ति के लिए मत्स्य के साथ झकार अनुबन्ध का उच्चारण कर "झित्तस्य तद्विशेषाणां च मत्स्याधर्थम्" यह नियमारम्भ किया जाना चाहिए। इसका आशय यह होगा - मत्स्य शब्द से स्वरूप का और मत्स्य विशेष का ही ग्रहण होता है, मत्स्य के पर्याय का ग्रहण नहीं होता। इसके फलस्वरूप मत्स्य के पर्यायवाची अजिह्म या अनिमिष शब्दों से ठक् नहीं होता। अजिह्मान् हन्ति या अनिमिषान् हन्ति अर्थ में वाक्यावस्था ही रहती है।

इस नियम का एक अपवाद है। मैनिकः प्रयोग में मीन शब्द से ठक् विहित है। इसकी निष्पत्ति के लिए मीन शब्द को छोड़कर अन्य पर्यायों से निषेध करना होगा। भाष्यकार "मीनान्नेष्यते" कहकर इसका समर्थन करते हैं।

इसी सूत्र में पक्षि और मृग शब्दों में पित् निर्देश किया जाना चाहिए। पित् के द्वारा निर्दिष्ट शब्दों से स्वरूप का, पर्याय का तथा विशेष का ग्रहण होगा और मयूरान् हन्ति = मायूरिकः। मृगान् हन्ति = मार्गिकः। हरिणान् हन्ति = हारिणिकः। सारङ्गान् हन्ति = सारङ्गिकः प्रयोग सिद्ध होंगे।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि स्वं रूपम्० सूत्र में दृश्यमान अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों के निवारणार्थ अनेक वार्तिकों का आरम्भ करना पड़ता है। भाष्यकार के अनुसार सूत्र सिद्ध समस्त प्रयोजन स्वतः सिद्ध होने से सूत्र को प्रत्याख्येय माना जा सकता है।[१]

❀❀❀

शब्द संकेत

१. स्वं रूपमिति कैश्चित्तु व्यक्तेः संज्ञोपदिश्यते।
व्यक्तेः कार्याणि संसाध्य जातिस्तु प्रतिपद्यते॥
संज्ञिनीं व्यक्तिमिच्छन्ति सूत्रे ग्राह्यमथापरे।
जाति प्रत्यायिता व्यक्तिः प्रदेशेषूपतिष्ठते॥ - वाक्यपदीय - (१.६८-६९.)

२. धरूपकल्प० - (६.३.४३.) सूत्र से अनकाच् ङ्यन्त शब्द से परे थ संज्ञक रूपप्, कल्प, चेलट्, ब्रुव, गोत्र मत तथा हत शब्द आने पर ङीप् को ह्रस्व हो जाता है और कुमारी + तराः कुमारितरा, कुमारिरूपा इत्यादि रूप सिद्ध होते हैं।

३. "आरम्यमाणे ऽपि सूत्रे पशुः अपत्यम् देवता प्राञ्चः, उदञ्चः, भरताः इत्यादय स्तावल्लोकवदर्था एवं गृह्यन्ते। अग्रेर्ढक् - (४.२.३३.) इत्यादौ तु शब्द एव ग्रहीष्यते, अर्थस्य प्रत्ययेन पौर्वापर्या सम्भवात्, ङ्याप्प्रातिपदिकात् - (४.१.१.) इत्यधिकाराच्च। उपसर्गे घोः किः - (३.३.९२.) इत्यादौ तु धुधातुर्नग्रहीष्यते, दाधाधु - (१.१.२०.) इत्यारम्भात्।"
- (शब्द कौस्तुभ भाग -१, सूत्र - स्वं रूपम्०)

४. "विभाषा वृक्षमृग०" - (२.४.१२.) सूत्र से वृक्ष विशेष वाचक शब्दों का समाहार द्वन्द्व विकल्प से होता है और इस प्रकार प्लक्षन्यग्रोधम् और प्लक्षन्यग्रोधौ० ये दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

५. "सभा राजाऽमनुष्यपूर्वा" - (२.४.२३.) सूत्र से मनुष्य भिन्न या राजा के पर्यायवाची शब्द पूर्व पद में होने पर सभा को तत्पुरुष समास में ह्रस्व (नपुंसक) होता है। जैसै - इनानां सभा = इनसभम्, ईश्वराणां सभा = ईश्वरसभम्। क्षत्रियाणां सभा = क्षत्रियसभा आदि प्रयोगों में सभा को नपुंसक व ह्रस्व नहीं होता क्योंकि क्षत्रिय शब्द मनुष्यवाचक है अतः क्षत्रियसभा में नपुंसक लिङ्ग और ह्रस्व नहीं हुआ। इस प्रसङ्ग में "कीचक वध" महाकाव्य के एक प्रयोग को उद्धृत करते हुए तत्त्वबोधिनीकार कहते हैं - "कथं तर्हि नृपतिसभामगमन्नवेपमानः" में "नृपतिसभाम्" प्रयोग में नपुंसक ह्रस्व क्यों नहीं होता ? इस विषय में टीकाकारों का कथन है कि नृपति सभा का विग्रह "नृपतीनां सभा" नहीं है अपितु "नापतिर्यस्यां सभायाम्" इस प्रकार बहुव्रीहि परक विग्रह है। अतः सभान्त तत्पुरुष में होने वाला नपुंसक ह्रस्वत्व यहाँ नहीं होता। कतिपय व्याख्याकारों के अनुसार गजपति के समान नृपति शब्द भी राजाविशेष का वाचक है। अतः नृपतिसभा प्रयोग उपपन्न होता है।

६. "न वा शब्दपूर्वको ह्यर्थे संप्रत्ययस्तस्मादर्थ निवृत्तिः", "संज्ञाप्रतिषेधानर्थवयं वचनप्रामाण्यात्" इन दो वार्तिकों के द्वारा भाष्यकार का अभिमत व्यक्त होता है।

❀❀❀

अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः
(१.१.६९)

सूत्र का स्वरूप - सिद्धान्त कौमुदीकार श्री भट्टोजी दीक्षित ने प्रकृत सूत्र को संज्ञा प्रकरण में पढ़ा है और इसका अर्थ किया है - "अविधीयमानोऽण् उदिच्च सवर्णस्य संज्ञः स्यात् ।" इसी प्रकार काशिकाकार ने भी "अण् गृह्यमाण उदिच्च सवर्णानां ग्राहको भवति स्वस्य च रूपस्य प्रत्ययं वर्जयित्वा" कहकर इसे संज्ञासूत्र की कोटि में रखा है। न्यास और पदमञ्जरी में स्पष्ट रूप से लिखा है - "संज्ञासूत्रमेतत् न परिभाषा प्रसिद्धार्थ विनियोगात् ।" न्यासकार कहते हैं कि यह संज्ञा सूत्र ही है परिभाषा नहीं। परिभाषा नियमार्थ होती है। प्रकृत सूत्र से किसी नियम की प्रतीति नहीं होती। यदि अण् और उदितों के द्वारा सवर्णों का और सवर्णेत्तर अन्यों का भी ग्रहण प्राप्त होता और उनके नियमन के लिए प्रकृत परिभाषा का आरम्भ होता कि सवर्णों का ही ग्रहण किया जाए अन्यों का नहीं तब इसे परिभाषा माना जा सकता था। किन्तु प्रकृत सूत्र से ऐसा नियम प्रतिपादित नहीं होता, अतः इसे परिभाषा न मानकर संज्ञा सूत्र ही माना जाए। (**संज्ञा सूत्रमिदं न परिभाषा। सा हि नियमार्था भवति। न चाणुदितां सवर्णानामन्येषाञ्च ग्रहणं प्राप्तमनेन सवर्णानामेव ग्रहणं भवतीति नियमः क्रियते** - न्यास)

वस्तुतः भाष्यकार और वार्तिककार के मत में यह परिभाषा सूत्र ही है। इसीलिए **"वर्णपाठ उपदेश इति चेदवरकालत्वात् परिभाषाया अनुपदेशः"** वार्तिक में स्पष्टरूप से अणुदित्० परिभाषा को वर्णपाठ के क्रम में और अर्थक्रम में भी अवरकालिक[१] कहा गया है।

भाष्य और वार्तिक को प्रमाण मानकर प्रस्तुत सूत्र की परिभाषा की दृष्टि से समीक्षा की गई है। परिभाषा मानने पर इसका संज्ञात्व सुरक्षित है, अतः इसे संज्ञा और परिभाषा इस उभयविध कोटि में रखा गया है।

सूत्रार्थ - सूत्रार्थ निष्पत्ति के पूर्व सूत्र पठित् अण् प्रत्याहार का अर्थ निश्चित करना आवश्यक है। माहेश्वर सूत्रों में अण् प्रत्याहार की निष्पत्ति दो प्रकार से होती है। प्रथम णकार तक अण् प्रत्याहार मानने पर इसके अन्तर्गत "अ, इ, उ" इन तीन वर्णों का अन्तर्भाव होता है। द्वितीय लण् के णकार तक अण् की सिद्धि करने पर "अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, य्, व्, र् और ल्" इतने वर्ण अण् के अन्तर्गत आते हैं। इस संदेह की स्थिति में आचार्यो के व्याख्यान के द्वारा यह निर्णय किया जाता है कि प्रकृत सूत्र का अण् प्रत्याहार परवर्ती णकारतक अर्थात् लण् के णकार तक ग्राह्य है। ("व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि संदेहादलक्षणम्" परिभाषा में नागेश ने इसका संकेत किया है।) इस प्रकार अण् प्रत्याहार के वर्ण और उदित् अर्थात् - कु, चु, टु, तु, पु - ये वर्ण अपने सवर्णों के ग्रहक होते हैं। इन वर्णों में किसी एक को विहित कार्य उसे और उसके सवर्णियों को हो जाता है। सूत्र में पठित "अप्रत्यय" पद का आशय कौमुदीकार के अनुसार "अविधीयमान" से है। इसीलिए कौमुदीकार ने सूत्र की वृत्ति में "अविधीयमानो ऽण् उदिच्च सवर्णस्य संज्ञः स्यात् ।" कहा है।

अप्रत्यय - सूत्र पठित "अप्रत्यय" पद के सम्बन्ध में आचार्यो ने विविध दृष्टि से विचार किया है। "०अप्रत्ययः" निषेध का आशय हो सकता है कि अण् और उदित् के द्वारा अपने सवर्णों का ग्रहण तो

होता है किन्तु जिस अण् या उदित् की प्रत्यय संज्ञा हो उससे सवर्ण ग्रहण का निषेध होता है। यदि प्रत्यय पद को पारिभाषिक प्रत्यय संज्ञक न मानकर योगिक मानते हैं तो "प्रतीयते (अर्थात् विधीयते) यः सप्रत्ययः" व्युत्पत्ति के अनुसार जिसका विधान होता है, उसमें भी निषेध प्रवृत्त होगा। यदि प्रत्यय का तात्पर्य प्रत्यय संज्ञक से है तो "सनाशंसभिक्ष उः०" - (३.२.१६८.), "अ सम्प्रतिके" - (४.३.९.) आदि सूत्रों में विहित उ और अ जैसे प्रत्ययों में सवर्ण ग्रहण का निषेध होगा और सूत्रोक्त उ और अ से दीर्घ अकार या दीर्घ आकार इत्यादि सवर्णो का ग्रहण नहीं होगा।

वस्तुतः "अप्रत्ययः" निषेध प्रत्यय संज्ञक के लिए ही स्वीकार करने पर आदेश और आगमों में सवर्णग्रहण की प्रसक्ति हो जाएगी। जैसे - "इदम इश्" (५.३.३.) सूत्र में इश् आदेश से यदि सवर्ण ग्रहण होगा तो इतः-इह आदि प्रयोगों में त्रिमात्रिक ईकार प्राप्त हो जाएगा। (इदम् में तीन मात्राएँ हैं, अतः उसके स्थान पर विहित ईकार भी त्रिमात्रिक हो प्राप्त होगा।) आगमों में यदि सवर्ण ग्रहण होने लगेगा तो टित्, कित् और मित् आगमों के विषय में अनुपपत्ति की सम्भावना हो जाएगी। जैसे - लविता में लू धातु से तृच् करने पर कदाचित् दीर्घ ईट् - (७.२.३५.) की प्रसक्ति हो सकती है। "बभूव" में वुगागम करते समय (६.४.८८.) यदि वकार से सवर्ण ग्रहण होता तो सानुनासिक वकार आगम की सम्भावना हो सकती थी। मित् आगम का उदाहरण "हे अनड्वन्" प्रयोग में उपलब्ध है। यहाँ "अम् आगम" - (९.१.९९.) होता है यदि सवर्ण ग्रहण करते हैं तो एक बार आम् भी हो सकता है।

उपर्युक्त तीन आगमों में से टित् आगम के विषय में जो दोष प्रदर्शित है उसका परिहार सम्भव है। "ग्रहोऽलिटि दीर्घ " - (७.२.३७.) सूत्र में आचार्य ने ग्रह धातु से होने वाले इडागम को लिट्भिन्न लकार में दीर्घ का विधान किया है। यह दीर्घ विधान इसका ज्ञापक हो सकता है कि टित् आगम से सवर्णों का ग्रहण नहीं होता। यदि सवर्ण ग्रहण के द्वारा ही इट् से दीर्घ ईट् का ग्रहण हो सकता तो दीर्घ विधान की क्या आवश्यकता थी ?

उपर्युक्त ज्ञापक उचित नहीं है क्योंकि ग्रह् धातु लिट् भिन्न वलादि आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते यदि इडागम प्राप्त होता है तो दीर्घ ईडागम ही करना चाहिए अन्य नहीं। "ग्रहो ऽलिटि०" सूत्र इसी नियम की प्रतिपत्ति के लिए है। अतः ग्रह् धातु के अतिरिक्त अन्य धातुओं से वलादिआर्धधातुक प्रत्यय आने पर इडागम को सवर्ण ग्रहण के द्वारा कदाचित् दीर्घ ईडागम भी प्राप्त हो सकता है।

"वृतो वा" - (७.२.३८.) सूत्र से इडागम को विकल्प से दीर्घ का विधान इसका ज्ञापक हो सकता है कि टित् आगम से सवर्णो का ग्रहण नहीं होता।

सिद्धान्त रूप से प्रतिपाद्य है कि ज्ञापक के आधार पर सवर्ण ग्रहण का निषेध करने की अपेक्षा एक सर्वमान्य परिभाषा का आरम्भ किया जाए जिसमें प्रत्यय-आदेश और आगमों के लिए सवर्ण ग्रहण का निषेध हो। इसी अर्थ में "भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न।" परिभाषा पठित है। इसका अभिप्राय है कि विधीयमानों के द्वारा सवर्ण ग्रहण नहीं होता। प्रत्यय, आगम, आदेश - सभी विधीयमान होते हैं, अतः इस परिभाषा के अनुसार वे सवर्णो के ग्राहक नहीं होंगे। प्रत्यय के सम्बन्ध में एक और प्रामाणिक और युक्तिसंगत समाधान यह भी हो सकता है कि अनभिधान के कारण प्रत्यय से सवर्णो का ग्रहण नहीं

होता। ए आदि प्रत्यय से यदि सवर्ण ग्रहण के द्वारा दीर्घ ऊ का ग्रहण होगा तो चिकीर्षु आदि उदाहरणों में ह्रस्व उ के स्थान पर दीर्घ ऊकार युक्त चिकीर्षू इस दीर्घान्त शब्द से अभीष्ट अर्थ का बोध नहीं हो सकता। इस प्रकार दीर्घ ऊकार रूप प्रत्यय में अर्थ प्रतिपादन क्षमता न होने के कारण प्रत्यय से सवर्ण ग्रहण स्वत: ही बाधित हो जाता है। वस्तुत: "प्रत्यय" यह अन्वर्थ संज्ञा है अत: जिसमें अर्थ प्रतिपादन सामर्थ्य न हो वह प्रत्यय ही नहीं कहा जा सकता।

प्रत्यय पद की व्युत्पत्ति - उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि सूत्र में "अप्रत्यय" पद अन्यथा सिद्ध है। यदि अप्रत्यय वचन अन्यथा सिद्ध है, तब इसका प्रत्याख्यान किया जा सकता है। इस प्रसङ्ग में भाष्यकार ने प्रत्यय पद की व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए अप्रत्यय पद के प्रयोजन की चर्चा की है। प्रत्यय शब्द में कर्मार्थक अच् करने पर "प्रतीयन्ते इति प्रत्यया:" अर्थ निष्पन्न होता है, जिसका आशय है - जो स्वयं प्रतीयमान होते हैं वे प्रत्यय हैं। "प्रत्याय्यन्ते इति प्रत्यया:" व्युत्पत्ति करने पर अन्तभावित ण्यर्थक इण् धातु से अच् प्रत्यय मानना चाहिए। इस स्थिति में प्रत्यय वे हैं जो स्वयं प्रतीत नहीं होते अपितु प्रतीत कराए जाते हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार "अ, इ, उ, ण् " इत्यादि अक्षर समाम्नाय में प्रत्यक्ष उच्चारित वर्ण प्रतीयमान हैं और इन वर्णो के द्वारा ह्रस्वादि वर्णो के द्वारा ग्रहण शक्ति के माध्यम से जिन वर्णो का बोध होता है वे प्रत्याय्यमान हैं। इनमें दीर्घ, प्लुत आदि वर्ण आते हैं। प्रकृत सूत्र में प्रत्यय पद से इन्हीं प्रत्याय्यमान वर्णो का बोध होता है। इन प्रत्याय्यमान वर्णो के द्वारा सवर्णो का बोध न हो जाए एतदर्थ अप्रत्यय निषेध सार्थक है। (सनाशंसभिक्ष: उ: - सूत्र में उ के द्वारा भी सवर्ण ग्रहण का निषेध है क्योंकि उ भी "प्रतीयते इति प्रत्यय:" व्युत्पत्ति के अनुसार प्रत्यय शब्द वाच्य है।

इस प्रसङ्ग में यह शङ्का उपस्थित हो सकती है कि प्रत्याय्यमान दीर्घादि वर्णों को सवर्ण ग्रहण का निषेध किया जाता है, किन्तु ऐसे कौन-से सवर्ण हैं, जिनका ग्रहण इन प्रत्याय्यमान दीर्घादि से सम्भव है। इसका समाधान यदि इस रूप में करें कि दीर्घादिकों से ह्रस्वादि सवर्णियों का ग्रहण सम्भव है। जैसे - "यूस्त्राख्यौ नदी " - (१.४.३.) सूत्र में उच्चरित दीर्घ ईकार, ऊकार से उनके सवर्णो (ह्रस्व इकार, उकार) का ग्रहण प्रसक्त हो सकता है। इस अतिप्रसक्ति के निवारणार्थ "अप्रत्यय" निषेध सार्थक है।

उपर्युक्त युक्ति तर्कसंगत नहीं है क्योंकि यदि सूत्रकार को दीर्घ ईकार, ऊकार से ह्रस्व इकार, उकार का ग्रहण अभीष्ट होता तो वे सूत्र में दीर्घ स्वरों का उच्चारण कर प्रयत्न गौरव क्यों करते ? ह्रस्व स्वरों का ही उच्चारण कर देते। अत: यत्नाधिवय कर दीर्घ ईकार, ऊकार के उच्चारण सामर्थ्य से यह ज्ञापित होता है दीर्घो से ह्रस्व सवर्णो का ग्रहण नहीं होता। पुन: प्रश्न उपस्थित होता है कि दीर्घो से ह्रस्व सवर्णो का ग्रहण नहीं हो सकता तो प्लुतों का ग्रहण प्रसक्त हो सकता है। इसका भी निराकरण इस प्रकार होता है कि दीर्घो से प्लुतों का ग्रहण भी सम्भव नहीं है क्योंकि दीर्घ वर्ण अण् प्रत्याहार में समाविष्ट नहीं हैं। प्रकृत सूत्र से अण् और उदित् ही सवर्ण ग्रहण की योग्यता रखते हैं। इस प्रकार सूत्र पठित दीर्घ वर्ण से ह्रस्व और प्लुत सवर्णो का ग्रहण निवृत्त होता है और अणुदित्० सूत्र में अप्रत्यय निषेध का कोई प्रयोजन प्रतीत नहीं होता। तथापि सूत्रकार अप्रत्यय पद का उच्चारण करते हुए प्रत्यय भिन्न होने पर ही अण् और उदित् में सवर्ण ग्राहकता शक्ति का प्रतिपादन करते हैं। इससे ज्ञापित होता है कि "भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न " परिभाषा की ओर संकेत करना चाहते हैं।

सम्पूर्ण सूत्र का प्रयोजन - अविधीयमान अण् के द्वारा सवर्णों का ग्रहण होता है - यह कथन आवश्यक है क्योंकि वर्णों के उच्चारण काल में भिन्नता होने से वर्णों में भिन्नता आती है। इसी प्रकार उदात्तादि स्वरों के कारण या अनुनासिकत्व के कारण स्वरों में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। इस भिन्नता के कारण ह्रस्व अकार से दीर्घादि अकारों का ग्रहण होना सम्भव नहीं है। यदि ह्रस्वादि अकारों से सभी [२] प्रकार के दीर्घ प्लुतादि अकार भेदों का ग्रहण अभीष्ट है तो विशेष यत्न करना होगा। यही कारण है कि प्रकृत सूत्र के द्वारा अण् को अपने सवर्णों का ग्राहक कहा गया है अथवा अण् में सवर्ण ग्राहकता शक्ति का प्रतिपादन किया गया है।

सूत्रों में सवर्ण ग्रहण की अनुपपत्ति - अणुदित्० सूत्र के बल से अण् प्रत्याहार अपने सवर्णो का बोधक होता है तथापि जहाँ सूत्रों में प्रत्याहारों के उच्चारण कर कार्य विहित है वहाँ प्रत्याहार द्वारा सवर्णो का बोध सम्भव नहीं है। जैसे - "अक सवर्णे दीर्घः" - (६.१.१०१.) सूत्र में पठित अक् प्रत्याहार से मात्र अक् प्रत्याहार में अन्तर्भूत वर्णो का बोध होगा। उन वर्णो के सवर्णो का बोध नहीं हो सकता क्योंकि अक् - यह प्रत्याहार संज्ञा केवल अक्षर समाम्नाय में पठित वर्णों की बोधिका है। अतः अक् में ह्रस्व अकारादि का ही बोध होगा, दीर्घो का नहीं। इनके दीर्घ रूप तो वर्ण समाम्नाय में उपदिष्ट नहीं हैं। अक् प्रत्याहार के द्वारा ह्रस्व अकों का बोध होकर ये ह्रस्व अकारादि ही सवर्ण ग्राहकता के बल से दीर्घादि के बोधक होंगे यह कथन युक्ति संगत नहीं है क्योंकि -**"उच्चार्यमाणः शब्दः सम्प्रत्यायको भवति न सम्प्रतीयमानः"** न्याय के अनुसार उच्चरित शब्द ही अर्थ का बोधक होता है, उच्चरित शब्द से जो प्रतीयमान होता है, उसमें ग्राहकता शक्ति नहीं हो सकती। जिस प्रकार "ऋक्" कहने पर विशिष्ट ऋचा या मंत्र का बोध होता है, उस मंत्र के अर्थ का बोध नहीं होता। इस अनुपपत्ति के निवारणार्थ यह मानकर कि अ, इ, उण् इत्यादि वर्णपाठ में ही वर्ण प्रकृत सूत्र के सामर्थ्य से अपने सवर्णो का ग्रहण करते हैं, इस स्थिति में अक् संज्ञा केवल वर्णपाठ में पठित ह्रस्वादि की ही नहीं होती अपितु ह्रस्वों से बोध्य सभी सवर्णो की अक् संज्ञा सिद्ध होती है। इस पक्ष में सूत्रों के उपदेश का क्रम या पौर्वापर्य बाधित होता है। इसके अनुसार सर्वप्रथम वर्णो का उपदेश उपदेशोत्तर काल में इत् संज्ञा, इत् संज्ञा के पश्चात् प्रत्याहार और प्रत्याहारोत्तर काल में सवर्ण संज्ञा तथा अन्त में अणुदित्० सूत्र द्वारा प्रतिपादित ग्राहकता का उपदेश है। **(वर्णानामुपदेशस्तावदुपदेशोत्तर काला इत् संज्ञा, इत्संज्ञोत्तर कालः प्रत्याहारा, प्रत्याहारोत्तर कालाः सवर्णसंज्ञा तदुत्तरमणुदिति ग्राहकता।)**

इस क्रम के अनुसार माहेश्वर सूत्रों के अनन्तर पाणिनि ने "इत् संज्ञा" - (१.३.३.), "प्रत्याहार" - (१.१.७१.), "सवर्ण संज्ञा" - (१.१.९-१०.) और अन्त में ग्रहण शक्ति प्रतिपादक अणुदित्० सूत्र का आरम्भ किया। अणुदित्० सूत्र का निर्माण अन्त में हुआ अतः वर्णोपदेश काल में जिन वर्णों का जिस रूप में उपदेश किया गया उसी रूप में वे ही वर्ण स्वीकार किए जा सकते हैं। अतः अक् प्रत्याहार से उपदेश अवस्था में ही दीर्घादि सवर्णो का ग्रहण करना अन्याय्य है। भाष्यकार - "वर्णपाठ उपदेश इति चेदवरकालत्वात्परिभाषाया अनुपदेशः" वार्तिक के द्वारा यही प्रतिपादित करते हैं।

इस क्रम के अनुसार सर्वप्रथम अ इ उण् इत्यादि वर्णो का उपदेश होने के पश्चात् दीर्घ कालावधि या सूत्र क्रम के पश्चात् अन्त में अणुदित्० सूत्र द्वारा सवर्ण ग्रहण की व्यवस्था की गई। इस व्यवस्था का उपयोग वर्णोपदेश काल में वर्णपाठ के लिए करना नितान्त अनुचित है।

निष्कर्षतः यह सिद्ध हुआ कि "अकः सवर्णे दीर्घः" आदि सूत्रों में अक् प्रत्याहार के द्वारा सवर्ण दीर्घादि अकारों के ग्रहण के लिए वर्णपाठ में ही दीर्घादि का उपदेश किया जाना चाहिए। भाष्यकार भी "तस्मादुपदेशः" कहकर इसे स्वीकार करते हैं।

ग्रहण शास्त्र (अणुदित्०) के सन्दर्भ में ही एक अनुपपत्ति यह भी उपस्थित होती है कि पाणिनीय सूत्रों में जहाँ वर्णों का स्वरूपतः निर्देश है, जैसे - "अस्य च्वौ" - (७.४.३२.), "यस्येति च" - (६.४.१६८.) आदि सूत्रों में अ-इ आदि स्वरूपतः उच्चरित वर्णों से उनके सवर्णों का ग्रहण होना संभव नहीं है। सवर्ण ग्राहकता तो प्रत्याहार में अन्तर्भूत वर्णों में ही होती है। अस्य च्वौ आदि सूत्रों में उच्चरित अकार-इकार तो अण् प्रत्याहार के अकार-इकार नहीं हैं। अण् में पठित अकार-इकार की समानता उनमें अवश्य है किन्तु वे ही अण् (अकार-इकार) नहीं हैं। तब अण् भिन्न होने से इनमें सवर्ण ग्राहकता की सिद्धि कैसे हो सकती है।

इस प्रसङ्ग में यह विचारणीय है कि अस्य च्वौ आदि का अकार अण् प्रत्याहार के अकार से भिन्न है, अतः सवर्णों का ग्रहक नहीं हो सकता। जो अकार वर्ण पाठ में पठित है वह अकः सवर्णे दीर्घः आदि सूत्रों में स्वरूपतः उच्चरित नहीं है। अक् से प्रतीयमान है और प्रतीयमान में सवर्ण ग्राहकता नहीं होती। इस प्रवंचना में अणुदित्० सूत्र का उपयोग कहाँ किया जाए यह प्रश्न है। आचार्य पाणिनि तो अणुदित्० सूत्र के द्वारा अणों से सवर्ण ग्रहण की व्यवस्था सूचित करते हैं। इस परिस्थिति में अणुदित्० परिभाषा के वचन सामर्थ्य से अस्य च्वौ आदि सूत्रों में अण् भिन्न किन्तु अण् के समान अकारादि से सवर्ण ग्राहकता सिद्ध हो जाती है।

अण् ग्रहण का प्रत्याख्यान और जाति पक्ष की स्थापना - सूत्रारम्भ सामर्थ्य से अण् भिन्न किन्तु अण् के सदृश अकारादि वर्णों में प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति कर सवर्ण ग्रहण की सिद्धि करना उचित नहीं है क्योंकि प्रकृत सूत्र की सार्थकता अन्यत्र दृष्टिगत होती है। जहाँ सूत्रों में अण् अकारादि प्रत्याहारों का उच्चारण है वहाँ प्रत्याहार के प्रथम अक्षर प्रकृतसूत्र से अपने सवर्णों के बोधक हो सकते हैं। ये प्रथम अक्षर सूत्र में उच्चरित हैं और वर्णपाठ में भी उच्चरित हैं। अतः अकारादि में स्वरूपतः उच्चरित होने से अणुदित्० परिभाषा प्रवृत्त होती है और सवर्णों का ग्रहण कराती है। इस प्रकार अणुदित्० परिभाषा इन वर्णों में सार्थक है अतः सूत्रारम्भ सामर्थ्य से अस्य च्वौ आदि स्थलों पर परिभाषा की प्रवृत्ति करना अनुचित है। इस प्रकार अस्य च्वौ में अकार से सवर्ण ग्रहण की सिद्धि नहीं होती।

सिद्धान्त समाधान - उपर्युक्त अनुपपत्ति के परिप्रेक्ष्य में ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृत सूत्र में अण् ग्रहण करना व्यर्थ है। अण् ग्रहण के बिना जाति पक्ष के आधार पर अस्य च्वौ आदि में सम्भाव्य अव्याप्ति दोष का निराकरण हो जाता है। अस्य च्वौ० सूत्र में अ वर्ण के द्वारा अत्व जाति का निर्देश है। यह अत्व जाति सभी अवर्णों में अनुस्यूत है। अतः सवर्ण ग्रहण के द्वारा अ से सभी प्रकार के अकारों का या अ वर्ण के सभी सवर्णों का ग्रहण करने हेतु सूत्रारम्भ आवश्यक नहीं है। अस्य० शब्द से अत्व जाति का बोध होता है। इसी प्रकार "एरनेकाचो" - (६.४.८१.) सूत्र में इवर्ण के द्वारा इत्व जाति का बोध होता है, जिसके अन्तर्गत सभी इकारों का समावेश होता है। "ओः सुपि" - (६.४.८२.) सूत्र में भी उवर्ण की जाति अर्थात् उत्व जाति से सभी उवर्णों का ग्रहण होता है।

अकार से अत्व जाति के आधार पर दीर्घादि सभी अकारों का ग्रहण तो होता है किन्तु ह्रस्व अकार और दीर्घ आकार के स्वरूप में भिन्नता है, तब अ और आ को कैसे एक ही जाति का मानें ? इस प्रश्न का समाधान जाति पक्ष में ही सम्भव है। अ और आ का स्वरूप भिन्न होने पर भी उनमें जातिगत भिन्नता नहीं है। लोक में जिस प्रकार बैलों में कोई छोटा, कोई बड़ा या स्थूल-कृश आदि होने से स्वरूप भिन्नता होने पर भी गोत्व जाति भिन्न नहीं है। बैल और अश्व में रहने वाला भेद निश्चित ही उनकी जातिगत भिन्नता का कारण होगा।

हलों में भी हल्त्व जाति की सिद्धि होती है। उदाहरणार्थ - "झलो झलि" - (८.२.२६.) सूत्र में झल् पद से झल्त्व जाति विवक्षित है। इसीलिए अवात्तम्-अवात्त आदि उदाहरणों में दो तकारों को युगपत् झल् के रूप में ग्रहण कर उनके मध्यवर्ती सकार का लोप होता है। इस स्थल पर अणुदित्० परिभाषा तो प्रवृत्त नहीं होती क्योंकि झल् अण् प्रत्याहार के अन्तर्गत नहीं है। अत: जाति पक्ष मानकर उपपत्ति करना आवश्यक है। यदि झल् शब्द से झल्त्व जाति का ग्रहण न कर झल् व्यक्ति का ग्रहण करें तो अवात्ताम् आदि प्रयोगों में दो तकार व्यक्ति युगपत् झल् पद से वाच्य नहीं हो सकते। धातु में उपस्थित तकार या प्रत्यय में स्थित तकार भिन्न होने पर भी इस भिन्नता के कारण उनकी जाति में भिन्नता नहीं आती। "अनेकान्तो ह्यनन्यत्वकर:" वार्तिक का यही अभिप्राय है।

प्रयोगार्थे तु मध्यमा - "अभ्यासार्थे द्रुता वृत्तिः मध्यावै चिन्तने स्मृता शिष्याणामुपदेशार्थ वृत्तिरिष्टा विलम्बिता।" इस नियम के अनुसार प्रयोगावस्था में वर्णों का उपदेश मध्यमा वृत्ति में किया जाता है। ("प्रयोगार्थे तु मध्यमाम्" - याज्ञ०शिक्षा - ५४.) द्रुत और विलम्बित वृत्ति में वर्णों के उच्चारण का प्रसङ्ग होने पर सूत्रोक्त वर्णों से द्रुत विलम्बित वृत्ति में उच्चरित वर्णों का ग्रहण जाति पक्ष के आधार पर सम्भव है। अन्यथा धात्वादे: ष: स: - (६.१.६४.) या णोन: - (६.१.६५.) आदि सूत्रों में उच्चरित ष:-ण: वर्ण मध्यमा वृत्ति में हैं। सुनोति - नदति आदि उदाहरणों में यदि ये वर्ण द्रुत या विलम्बित वृत्ति में उच्चरित किए जाएँ तो जाति पक्ष में ही सूत्रोक्त वर्णों से इनका ग्रहण सिद्ध हो सकता है।

जाति पक्ष में अतिव्याप्ति दोष और उसका समाधान - जाति पक्ष में ह्रस्व एकमात्रिक अकार से सभी प्रकार के अर्थात् दीर्घादि अकारों का ग्रहण अति प्रसक्त हो सकता है और इसके फलस्वरूप रामै: आदि प्रयोगों में जिस ह्रस्व अ के परे भिस् के स्थान पर ऐस् आदेश होता है, (अतो भिस् ऐस् - ७.१.९) अ से आ का ग्रहण होने से खट्वा + भिस् में भी ऐस् आदेश की प्रसक्ति हो जाएगी। इस अति प्रसक्ति के निवारणार्थ अकार को तपरकरण करना होगा। तपरकरण से तपरस्तत्कालस्य - (१.१.७०.) सूत्र के द्वारा ह्रस्व को तपर करने से एकमात्रिक ह्रस्व अकार का ही ग्रहण सिद्ध होगा और इस प्रकार खट्वाभि: में भिस् के स्थान पर ऐस् की प्राप्ति बाधित हो जाएगी क्योंकि अतो भिस् ऐस् सूत्र में अकार को तपर उच्चरित किया गया है। खट्वा शब्द अकारान्त है किन्तु ह्रस्व अकारान्त नहीं है।

सिद्धान्तत: व्यक्ति पक्ष में अण् की सवर्ण ग्राहकता का प्रतिपादन आवश्यक है किन्तु जाति पक्ष में एक अवर्ण के उपदेश से सभी अवर्णकुल का ग्रहण हो सकता है। (अवर्णाकृतिरूपदिष्टा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति। तथेवर्णाकृतिः। तथोवर्णाकृतिः। - म.भा. - प्रकृतसूत्र) यह ध्यातव्य है कि जाति पक्ष में केवल अण् ग्रहण ही प्रत्याख्येय है। सूत्र पठित उदित् [१] आवश्यक ही है क्योंकि उदित् विधीयमान होने पर भी सवर्ण

के ग्राहक होते हैं। जैसे - "कुहोश्चुः" - (७.४.६२.) सूत्र में कु से कवर्ग अर्थात् "क्, ख्, ग्, घ, ङ्" का ग्रहण होता है और चु से चवर्ग अर्थात् "च्, छ्, ज्, झ्, ञ्" का ग्ररण होता है। कैयट के शब्दों में - **"इदिद्ग्रहणं कर्तव्यमेव। न हि वर्ग्याणामाकृतियोगो ऽस्ति। कृते तु सूत्रे कुहोश्चुरित्यादौ भाव्यमानस्य उदित्सामर्थ्यादप्रत्यय इति निषेधो नावतरतीत्यप्स्वेवायं निषेधः।"** - (प्रदीप)

इसीनिए परिभाषाकारों ने "अप्रत्ययः" अर्थ में "भाव्यमानोऽण् सवर्णान्न गृह्णाति" परिभाषा पढ़ी है। उदित् के अन्तर्गत "कु, चु, टु, तु, पु" का ही अन्तर्भाव होता है। तुक्, लुक्, नुक् इत्यादि आगमों में उकार इत्संज्ञक होने पर भी ये उदित नहीं कहे जाते। इसमें केवल पाणिनीय परम्परा ही हेतु है। जिस प्रकार अनुनासिक अचों की इत् संज्ञा (उपदेशेऽजनुनासिक इत् - १.३.२.) करते समय अचों में अनुनासिक धर्म दृष्टिगोचर न होने पर भी "प्रतिज्ञानुनासिक्या पाणिनीयाः" इस भाष्य की इष्टि से अनुनासिकता का अवगम किया जाता है उसी प्रकार तुगादियों को उदित् नहीं माना जाता।

अपवाद - प्रकृत सूत्र के अनुसार अण् प्रत्याहार अविधीयमान होने पर सवर्णों का ग्राहक होता है किन्तु अभाव्यमान या अविधीयमान उकार में यह ग्राहकता नहीं होगी। इसका प्रमाण सूत्र "ऋत उत्" - (६.१.१११.) में तपरोच्चारण है। ऋ के स्थान पर विधीयमान उकार में तपरकरण के बिना भी विधीयमानत्वात् उकार से केवल ह्रस्व उकार का ग्रहण ही सिद्ध था। अणुदित्० सूत्र से सवर्ण ग्रहण की कोई आशंका न थी। तथापि सूत्रकार तपरकरण के द्वारा "तपरस्तत्कालस्य" - (१.१.७०.) के बल से मात्र ह्रस्व उकार ग्रहण का संकेत करते हैं। इससे ज्ञापित होता है कि विधीयमान उकार भी सवर्ण का ग्रहण करता है। इसी अर्थ में "भाव्यमानोऽप्युकारः सवर्णान् गृह्णाति" परिभाषा पठित है। इस परिभाषा के कारण अमुना-अमू आदि प्रयोगों में "अदसोऽसेर्दादुदोमः" (८.२.८०.) सूत्र से ह्रस्व अ के स्थान पर ह्रस्व उकार और दीर्घ के स्थान पर दीर्घ ऊकार आदेश हो जाते हैं। अन्यथा विधीयमान होने से उकाररूप अण् दीर्घादि सवर्णो का ग्राहक नहीं हो सकता था। भाव्यमा उकार के लिए पठित इस परिभाषा से "सनाशंसभिक्ष उः" - (३.२.१६८.) सूत्र में अतिप्रसक्ति की आशङ्का उपस्थित हो सकती है। परिणामस्वरूप उकार से दीर्घादि ऊकारों का भी ग्रहण प्रसक्त हो सकता है और भिक्षा आदि से दीर्घ ऊकार होकर अनिष्ट रूप की आपत्ति हो सकती है। इसके निवारणार्थ प्रस्तुत ज्ञापन या परिभाषा केवल आदेश विषयक उकार के लिए है, उ प्रत्यय के लिए नहीं है।

निष्कृष्टार्थ - सवर्ण ग्राहकता को नियमित करने वाली परिभाषा का निष्कृष्टार्थ यह हुआ कि अकार, इकार और उकार तथा ऋकार के अठारह सवर्णी हैं, अतः केवल अकार या इकार अथवा उकार कहने पर अठारह - अठारह सवर्णियों का बोध होता है। ऋकार के भी अठारह भेद हैं। लृकार के साथ ऋकार का सावर्ण्य विहित होने के कारण (ऋ लृ वर्णयोः मिथः सावर्ण्य वाच्यम्) लृ के बारह सवर्णी भी ऋ से प्रतीत हो जाते हैं। इसी प्रकार लृ कार से भी स्वयं के बारह भेद और ऋकार के अठारह भेदों का बोध होता है। अतः ऋकार या लृकार तीस-तीस सवर्णो के बोधक होते हैं। "एच्" (ए, ओ, ऐ, औ) प्रत्याहार में पठित वर्ण बारह-बारह के बोधक हैं। य्, व् और ल् के दो-दो भेद होते हैं, अतः इनमें प्रत्येक दो-दो का ग्राहक है। इसीलिए कौमुदीकार ने कहा है - "रेफोष्मणां सवर्णाः न सन्तिः" यद्यपि हकार और कार की सवर्ण संज्ञा (तुल्यास्यप्रयत्न सवर्णम् - १.१.९.) होती है कि अकार में हकार की ग्राहकता या हकार में अकार की ग्राहकता का निषेध "नाऽज्झलौ" - (१.१.१०.) सूत्र के द्वारा किया गया है, अतः

अकार और हकार में सावर्ण्य नहीं होता। इसीलिए विश्वपा + भिस् इत्यादि प्रयोगों में आकार के स्थान पर "होदः" - (८.२.३.) से ढत्त्व की प्रवृत्ति नहीं होती।

परिभाषा का प्रवृत्ति विषय - जहाँ विधि सूत्रों में अविधीयमान अण् और उदित् का ग्रहण होता है वहाँ प्रकृत सूत्र प्रवृत्त होकर अभीष्ट व्यवस्था करता है। जैसे - "अकः सवर्णे दीर्घः" - (६.१.१०१.) में अक् अण् प्रत्याहारान्तर्गत होने से प्रकृत सूत्र के बल से अपने सवर्णो का बोधक होता है और इसके फलस्वरूप अ से आ का ग्रहण होकर दण्ड + आढकम् = दण्डाढकम् आदि प्रयोगों में सवर्ण दीर्घ की सिद्धि हो जाती है।

सिद्धान्ततः प्रकृत सूत्र संज्ञा सूत्र होकर भी इसमें परिभाषात्व के लक्षण होने से भाष्यकार इसे परिभाषा कह देते हैं। (वर्णपाठ उपदेश इति चेदवरकालत्वात् परिभाषाया अनुपदेशः)

❀❀❀

शब्द संकेत

१. सूत्रों के उपदेश का क्रम इसप्रकार है :-
पहले वर्णो का उपदेश होता है उपदेश के पश्चात् इत्संज्ञा होती है। इत् संज्ञा के पश्चात् "आदिरन्त्येन सहेता" - (१.१.७१.) से प्रत्याहार निष्पन्न होते हैं। प्रत्याहार की निष्पत्ति के उत्तरकाल में सवर्ण संज्ञा होती है। सवर्ण संज्ञा के पश्चात् "अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः" - (१.१.७९.) सूत्र से सवर्णो का ग्रहण होता है। इस प्रकार यह परिभाषा अवरकालिक है।

२. "उदित्" का तात्पर्य "कु, चु, टु, तु, पु" से है। इन वर्णो की उदित् संज्ञा प्राच्य वैयाकरणों द्वारा की गई होगी। उसी आधार पर पाणिनीय व्याकरण में इन्हें उदित् कहा जाता है। अन्यथा सर्वत्र यदि कु, चु इत्यादि को उदित् मानें तो विधीयमान में भी उदितत्त्व होने से "अप्रत्ययः" निषेध की प्रसक्ति हो जाएगी और "कुहोश्चु" में चु से चवर्ग या च के सवर्णो का बोध नहीं हो पाएगा।

"उदिदिति च कुचुटुतुपूनां प्राचां संज्ञा। तथेहापि व्यवहारः। न तु सर्वत्र इत्संज्ञा प्राप्नोति, अनुवादे तदप्राप्तेरिति बोध्यम्" - उद्योत।

❀❀❀

येनविधिस्तदन्तस्य
(१.१.७२)

सूत्रार्थ - विशेषण तदन्त का बोधक होता है और अपने स्वरूप का भी बोधक होता है। "विशेषणं तदन्तस्य संज्ञा स्यात् स्वस्य च रूपस्य - शब्दकौस्तुभ" उदाहरणार्थ - "एरच्" - (३.३.५६.) सूत्र धातोः के अधिकार में पठित है, अतः इकारान्त धातु से अच् प्रत्यय का विधान करता है और चयः, जयः, अयः आदि कृदन्तों की सिद्धि होती है। इसी प्रकार "ओरावश्यके" - (३.१.१२५.) सूत्र में पठित उ से उकारान्त का बोध होता है और उकारान्त धातुओं से "अवश्य" उपपद होने पर ण्यत् प्रत्यय होकर अवश्यलाव्यम् आदि प्रयोगों की सिद्धि होती है।

सूत्र पठित "येन" पद में करणार्थक तृतीया है कर्त्रर्थक तृतीया नहीं है क्योंकि कर्त्रर्थक तृतीया का "कर्तृकर्मणोः कृति" - (२.३.६५.) से विहित षष्ठी के द्वारा बाध होता है। "विधि" पद में कर्मार्थिक कि प्रत्यय है। (३.३.९२.) येन पद के द्वारा विशेषण रूप अर्थ की प्रतीति होती है। क्योंकि इसमें करणार्थक तृतीया है और करणकारक कर्ता के अधीन होता है अर्थात् परतन्त्र होता है। चूँकि विशेषण ही परतन्त्र या अप्रधान होता है अतः "येन" का तात्पर्य विशेष से है। शब्दकौस्तुभ के शब्दों में - **"विशेषणमप्रधानं तच्चात्मान्तस्य विशेष्यस्य संज्ञेति फलितम्।"**

सूत्र का स्वरूप - यह निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि प्रकृत सूत्र संज्ञा सूत्र है और इसीलिए भट्टोजी दीक्षित ने इसे संज्ञा प्रकरण में पठित किया है। तथापि विशेषण को तदन्त का और स्वतः का बोधक मानते हुए इस सूत्र द्वारा विधि सूत्रों में व्यवस्था भी की गई है। जहाँ सूत्रों में विशेषण विशेष्य का प्रयोग होता है, वहाँ प्रकृत सूत्र प्रवृत्त होकर विशेषण को तदन्त का बोधक तथा स्वयं का भी बोधक सिद्ध करता है। इस आधार पर इसे परिभाषा सूत्र भी कहा जा सकता है। परिभाषाकारों ने (नागेशभट्ट आदि) "पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च" परिभाषा को "येन विधिस्तदन्तस्य" सूत्र का प्रपञ्च या अनुवाद करने वाली परिभाषा माना है। ("पराङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च पदमङ्गं च विशेष्यं विशेषणेन च तदन्तविधिः। येन विधिरित्यस्यायं प्रपञ्चः। - परिभाषेन्दुशेखर - परिभाषा 29") इससे प्रतीत होता है कि येनविधि० सूत्र भी परिभाषा वत् कार्य करता है और विधिसूत्रों की सहायता हेतु प्रवृत्त होता है। महाभाष्य के कलकत्ता संस्करण में इस सूत्र को परिभाषा सूत्र कहा गया है।

सूत्र की समीक्षा - यदि विशेषण से तदन्त विधि होता है तब "इको यणचि" - (६.१.७७.) सूत्र में येन विधि० की अति प्रसक्ति संभव है क्योंकि इकोयणचि में भी इकः विशेषण है और शब्द स्वरूप विशेष्य है। शब्द शास्त्र में जहाँ विधिसूत्रों में विशेष्य का प्रत्यक्ष निर्देश न हो वहाँ शब्द स्वरूप को विशेष्य के रूप में अध्याहृत किया जा सकता है। इस प्रकार इको यणचि में तदन्त विधि होगी और परिणाम स्वरूप दध्यत्र-मध्यत्र में दधि मधु इस इगन्त शब्द स्वरूपों को यणादेश प्राप्त होगा, इस स्थल पर प्रसक्त यणादेश को अलोऽन्त्यस्य (१.१.५२.) के द्वारा अन्तिम अल् के स्थान पर किया जा सकता है और इस प्रकार दोष निवृत्ति हो सकती है किन्तु जहाँ अनेकाल् आदेश होते हैं वे तो सम्पूर्ण इगन्त शब्द स्वरूप के स्थान पर प्रसक्त हो जाएँगे। जैसे - "एचोऽयवायावः" (६.१.७८.) सूत्र से होने वाला अयादेश हरे एहि में सम्पूर्ण हरे के स्थान पर हो जाएगा। इस दोष का निवारण अयादेश में भी तदन्त विधि के द्वारा संभव है। इस

प्रकार एकारान्त हरे के स्थान पर अयन्त हरय् आदेश कर इष्ट सिद्धि हो सकती है। किन्तु ब्रह्मोदकम् आदि उदाहरणों में दोष प्रसक्ति संभव है। ब्रह्म - इस अकारान्त शब्द से उदकम् यह अजादि शब्द आने पर ब्रह्म + उदकम् में अकार - उकार के स्थान पर आद् गुणः - (६.१.८७.) सूत्र से गुण एकादेश किया जाना है। तदन्त ग्रहण पक्ष में गुणान्त आदेश की प्राप्ति होगी। जबकि ओकार रूप गुण की मध्यवर्ती स्थिति वाला ब्रह्मोदकम् आदेश अभीष्ट है। तः तदन्तग्रहणपक्ष में एकादेश स्थल पर दोष संभावना है।

दूसरा दोष - अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग भाव में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाएगी। उदाहरणार्थ - स्योनः स्योना आदि रूपों में सिव् धातु से न प्रत्यय और अठ् करने के पश्चात् सिऊ+न स्थिति में यण् (६.१.७७.) और गुण (७.३.८६.) दोनों की युगपत् प्राप्ति है। गुण कार्य बहिरङ्ग होने से अन्तरङ्ग यण् के द्वारा बाधित होता है और यण् आदेश हो जाता है। यण् करने पर स्यू + न में सार्वधातुकार्धधातु० से ऊकार को गुण होकर स्योन रूप सिद्ध होता है। यहाँ यण् में तदन्त विधि करने पर वण् कार्य ही बहिरङ्ग हो जाएगा और अन्तरङ्ग गुण के द्वारा बाधित हो जाएगा। यण् का निमित्त ऊन शब्द है और गुण का निमित्त मात्र न शब्द है।[१] अतः गुण अन्तरम होने से उस की प्राप्ति हो जाएगी।

तदन्त पक्ष में दूसरा दोष अल् विधि में आ सकता है। सभी अल् विधियाँ तदन्त को अर्थात् (अलन्त को मानी जाएगी और इसके परिणामस्वरूप द्यौः, पन्थाः, सः इत्यादि प्रयोगों में अल् विधि के कारण जो सु प्रत्यय के लोप की संभावना व्यक्त की गई थी, उसकी संगति नहीं हो पाएगी। जैसे - दिव् शब्द से सु प्रत्यय करने पर दिव् के वकार को "दिव औत्" - (७.१.८४.) से औकार आदेश कहा गया है। उसे स्थानिवद् भाव से वकार के समान मानने पर दिऔ + सु में हल्ङ्याब्भ्यो० - (६.१.६८.) से सुलोप की प्रसक्ति संभव है। इसी प्रकार पन्थाः में पथिन् के नकार को आकार आदेश (७.१.८५.) होता है। इसे स्थानिवद्भाव करने पर वह आकार नकार के समान हल् माना जाएगा और "हल्ङ्यादि" से सुलोप की प्रसक्ति हो जाएगी। सः में तद् के दकार को होने वाला अकार आदेश (७.२.१०२.) स्थानिवत् मानने से यही दोष सम्भावित है। प्रकृत प्रसङ्ग में अल् को होने वाला आदेश तदन्त ग्रहण के कारण अलन्त के स्थान पर माने तो उपर्युक्त दोष की प्रसक्ति संभव नहीं है। उपर्युक्त संभाव्य दोषों का निराकरण "अल् विधि" के आधार पर किया गया है। अब "अलोऽन्त्यस्य" - (१.१.५२.) सूत्र में विहित अल् विधि अर्थात् अल् के स्थान पर होने वाली का कोई अस्तित्व ही नहीं है। पथिन् में प्राप्त आकार आदेश अलन्त को अर्थात् अल पथिन् के स्थान पर किया जाएगा। यह आदेश इन् को भी तो हो सकता है और कदाचित् सम्पूर्ण पथिन् के स्थान पर भी हो सकता है। अतः तदन्त ग्रहण पक्ष में अल् विधि में दोष प्रसक्ति है।

प्रकृते तदन्तविधिः - इस प्रसङ्ग में भाष्यकार ने तदन्तविधि के लिए एक नियम विशेष की अवतारणा की है। भाष्य के शब्द में "प्रकृतेतदन्तविधिरिति वक्तव्यम्" यह वचनारम्भ करना होगा, जिससे उपर्युक्त अति प्रसक्ति की संभावना नहीं होगी। प्रकृत का आशय "प्रस्तुत" से है। उद्योतकार ने प्रस्तुत को बुद्धिसन्निधि कहा है। **(प्रस्तावश्च बुद्दि सन्निधिः)** वस्तुतः विशेष्य की सन्निधि में ही विशेषणत्व होता है। यह सन्निधि तीन प्रकार से होती है। १. साक्षात् सन्निधि, जैसे - "ईदूदेद् द्विवचन प्रगृह्यम्" - (१.१.११.) सूत्र में "द्विवचन"विशेष्य साक्षात् निर्दिष्ट है। २. अधिकार के द्वारा या अनुवृत्ति से प्राप्त होता है। जैसे - "एरच्" - (३.३.५६.) सूत्र में "धातोः" शब्द अनुवृत्ति से आता है। ३. आक्षेप के द्वारा विशेषण की प्राप्ति होती है। जैसे - "इको झल्" - (१.५.९.) सूत्र में सन् के द्वारा धातु का आक्षेप

होता है और वह विशेष्य होकर तदन्त का बोध कराता है।

इस प्रकार ईदूदेद् द्विवचन प्रगृह्यम् आदि सूत्रों में किसी न किसी रूप में विशेष्य उपलब्ध है, अतः उसके विशेषण से तदन्त विधि होती है, इको यणचि, एचोऽयवायावः इत्यादि सूत्रों में किसी भी रूप में विशेष्य की सन्निधि नहीं है अतः तदन्तविधि की प्रसक्ति का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

वस्तुतः सूत्र पठित येन पद से ही उपर्युक्त अर्थ की सिद्धि हो जाती है। येन में करणार्थक तृतीया है। करण का अर्थ साधन है। एक साधन के द्वारा दूसरे को विधि बताई जाती है। जैसे - लोक में यज्ञदत्त ने देवदत्त को भात (चाँवल) आदि के द्वारा भोजन कराया। अथवा गज, अश्व, रथ और पैदल सैनिकों के द्वारा युद्ध किया - ऐसे कहने पर स्पष्ट रूप से साधन की प्रतीति होती है, उसी प्रकार "अचोयत्" - (३.१.९७.) सूत्र में अच् के द्वारा धातु को यत् प्रत्यय का विधान किया गया। अथवा एरच् सूत्र में इकार रूप साधन के द्वारा धातु से अच् प्रत्यय का विधान है। अत इञ् - (४.१.९.) सूत्र में अकार रूप साधन के द्वारा प्रातिपदिक को इञ् प्रत्यय का विधान है। इस प्रकार इन सूत्रों में अकार - इकार ये प्रत्यय विधान के साधन हैं। अतः इनसे तदन्त ग्रहण होता है। "इकोयणचि" सूत्र में ऐसा विधान नहीं है। इसमें इक् को ही यण् विधि बताई गई है। इक् किसी दूसरे वर्ण या शब्द का साधन नहीं है कि जिसके द्वारा उसे यण् विधान किया जाए। इक् को साधन मानने पर दूसरा कोई वर्ण दृष्टिगोचर नहीं होता जिसे यण् आदेश किया जा सके। अतः यह सिद्ध है कि विशेष्य उपस्थित होने पर ही विशेषण से तदन्त विधि होती है।

अतिप्रसक्ति - विशेष्य की विद्यमानता में विशेषण से तदन्तविधि मानने पर कतिपय सूत्रों में अतिप्रसक्ति दोष की संभावना है। जैसे - "उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्" - (६.४.१०६.) सूत्र में अंयोग-पूर्व शब्द अकार का विशेषण है। अब प्रकृत सूत्र के कारण वह उकारान्त का विशेषण हो जाएगा, क्योंकि उकार भी उकारान्त का बोधक है। इस अतिव्याप्ति के कारण उकार के पूर्व संयोग होने पर हि प्रत्यय के लोप का "असंयोगपूर्वात्" कहकर निषेध किया गया है। अब यह निषेध केवल अक्ष्णुहि - प्रयोग में ही लागू हो सकता है। क्योंकि यहीं पर उकारान्त अर्थात् आदि प्रयोगों में हि लोप का निषेध प्रवृत्त नहीं होगा क्योंकि यहाँ उकार के पूर्व में तो संयोग है किन्तु उकारान्त न के पूर्व में संयोग नहीं है। इस प्रकार इन प्रयोगों में हि लोप हो जाएगा। इसी प्रकार उदोष्ठ्यपूर्वस्य - (७.१.१०२.) सूत्र में भी ओष्ठ्यपूर्व विशेषण ऋकार मात्र का न होकर ऋकारान्त का हो जाएगा। इसके फलस्वरूप संकीर्णम् उदाहरण में तो सम् उपसर्ग पूर्वक ओष्ठस्थानिक मकार होने से ऋकारान्त कृ के ऋ को उकार आदेश हो जाएगा। किन्तु निपूर्ताः पिण्डाः आदि प्रयोगों में पृ धातु में ऋकार के पूर्व ओष्ठस्थानीय पकार है किन्तु ऋकारान्त पृ के पूर्व में ओष्ठस्थानिक वर्ण नहीं है। अतः इस प्रयोग में ऋकार को उकार आदेश नहीं हो पाएगा।

भाष्यकार ने उपर्युक्त दोष को "येन विधिस्तदन्तस्येति चेद् ग्रहणोपाधीनां तदन्तोपाधि प्रसङ्गः" वार्तिक के द्वारा प्रकट किया है। वार्तिक का तात्पर्य है कि येन विधि० सूत्र के अनुसार जिससे विधान होता है, उसे तदन्त की संज्ञा मानने पर सूत्र में गृह्यमाण या उच्चार्यमाण की जो उपाधियाँ या विशेषण अभीष्ट है वे तदन्त की अर्थात् सूत्र में गृह्यमाण की उपाधियाँ हो जाएँगी और इसके परिणामस्वरूप "उतश्च०" - (६.४.१०६.) सूत्र में गृह्यमाण उकार की उपाधि जो वस्तुतः "असंयोगपूर्व" होनी चाहिए अब वह उकारान्त की उपाधि हो जाएगी। इससे अक्ष्णुहि तक्ष्णुहि आदि प्रयोगों में तो हि लुक् का प्रतिपेध हो

जाएगा क्योंकि उकारान्त णु के पूर्व में संयोग है। किन्तु आप्नुहि - शक्नुहि में उकारान्त नु से पूर्व संयोग नहीं है, अतः इन प्रयोगों में हि लुक् का प्रतिषेध नहीं होगा अर्थात् हि लुक् की प्रसक्ति हो जाएगी।

इस प्रसङ्ग में अभीष्ट यह है कि असंयोग पूर्व शब्द केवल उकार का ही विशेषण बने। इसी प्रकार "उदोष्ठ्यपूर्वस्य" - (७.१.१०२.) सूत्र में भी ओषठ्य वर्ण जिसके पूर्व में है ऐसे ऋकार को उकार आदेश होता है। यहाँ भी गृह्यमाण ऋकार का ही विशेषण "ओष्ठ्यपूर्व" शब्द अभीष्ट है। येनविधि० से यदि उसे ऋकारान्त का विशेषण मानते हैं तो संकीर्णम् - संगीर्णम् आदि उदाहरणों में दोष प्रसक्ति होती है। संकीर्णम् में सम् पूर्वक गृ धातु से क्त प्रत्यय है। इनमें ऋकारान्त कृ, गृ से ओष्ठ्य मकार पूर्व में है, अतः ऋ को उकार आदेश प्राप्त नहीं है। क्योंकि नि + पृ + त में ऋकारान्त पृ से पूर्व ओष्ठ वर्ण नहीं है, अतः उकार आदेश प्राप्त नहीं होता।

इन दोषों की निवृत्ति के लिए भाष्यकार ने वार्तिक उद्धृत किया है। **"सिद्धं तु विशेषण विशेष्ययोर्यथेष्टत्वात्"** इसका आशय है कि विशेषण-विशेष्य का संबन्ध यथेष्ट होता है। जब संबंध यथेष्ट है, तब उतश्च० सूत्र में "असंयोगपूर्व" शब्द से उकारान्त विशेषित नहीं होगा - अपितु उकार ही विशेषित होगा। इसी प्रकार "उदोष्ठ्यपूर्वस्य" सूत्र में भी "ओष्ठ्यपूर्व" शब्द से ऋकारान्त को विशेषित न किया जाए वरन् ऋकार को ही विशेषित किया जाए। इस प्रकार विशेषण-विशेष्य का अभिसंबंध करने पर उपर्युक्त दोषों की निवृत्ति हो जाती है।

दोष निवारण - विशेष्य की विद्यमानता में विशेषण से तदन्त विधि मानने पर उपर्युक्त दोषों की संभावना का निराकरण किया जा सकता है। विशेषण और विशेष्य का संबंध यादृच्छिक होता है। अतः विशेषण का संबंध किस विशेष्य के साथ करना है - यह इच्छानुसार निश्चित किया जा सकता है। इस नियम के आधार पर उतश्च० सूत्र में असंयोगपूर्व विशेषण का संबंध उकारान्त के साथ न करते हुए उकार के साथ किया जाए। इस प्रकार असंयोग पूर्व जो उकार - तदन्त से अर्थात् असंयोगपूर्वक उकार जिसके अन्त में है ऐसे शब्द से परे हि प्रत्यय का लुक् होता है। इस स्थिति में अक्ष्णुहि में तथा आप्नुहि में भी हि लोप का निषेध हो जाएगा। क्योंकि अक्ष्णुहि में उकार से तदन्त विधि के बाद असंयोगपूर्व के साथ सम्बद्ध किया गया और आप्नुहि में उकार को पहले असंयोगपूर्व के साथ संबंध कर बाद में तदन्त ग्रहण किया गया। इस प्रकार विशेषण विशेष्य भाव के यथेष्ट अभिसंबंध से सर्वत्र इष्ट सिद्धि हो जाती है।

उदोष्ठ्यपूर्वस्य - (७.१.१०२.) सूत्र में भी ओष्ठ्यवर्ण जिसके पूर्व में है ऐसा ऋकारान्त धातु के ऋ को उत्व का विधान न मानते हुए अर्थात् ओष्ठ्यपूर्व विशेषण को ऋकारान्त का विशेषण न मानकर ऋकार का ही विशेषण माना जाए। इस प्रकार सम्पूर्ण सूत्र का अर्थ होगा - ओष्ठ्यवर्ण जिसके पूर्व में है, ऐसा ऋकार और तदन्त धातु को उकार आदेश होता है।

इस सन्दर्भ में कौस्तुभकार कहते हैं - "गुण प्रधान भाव सापेक्षेयं संज्ञा।" अर्थात् प्रकृत सूत्र द्वारा प्रतिपादित संज्ञा गुण प्रधान भाव अर्थात् विशेषण विशेष्य भाव की अपेक्षा से कार्य करती है। जैसे - उतश्च० सूत्र में असंयोगपूर्व विशेषण है और उकार विशेष्य है। इनका परस्पर संबंद स्पष्ट होने के पश्चात् विशेषण से विशिष्ट उकार तदन्त का बोधक होता है। यह शंका इसलिए उपस्थित होती है कि प्रकृत सूत्र

के अनुसार विशेषण यदि तदन्त की संज्ञा है। जब उकार को उकारान्त की संज्ञा कहा जा रहा है, तब "संज्ञा संज्ञिनं प्रत्यायति न तु विशेषणादि योग मनुभवति" न्याय के अनुसार असंयोगपूर्व विशेषण के साथ कैसे सम्बद्ध होगी ? उकार उकारान्त का बोध हो जाने के पश्चात् असंयोगपूर्व को प्रत्यय का विशेषण मान सकते हैं, उकारान्त का नहीं। इस स्थिति में अश्नुहि आदि उदाहरणों में उतश्च० की अति प्रसक्ति हो जाएगी। अर्थात् अश्नु + हि में उकारान्त प्रत्यय है और वह संयोगपूर्वक नहीं है। अतः असंयोगपूर्वक उकारान्त प्रत्यय से परे हि लोप की प्रसक्ति हो जाएगी। असंयोगपूर्व को यदि अङ्ग का विशेषण मानें तो अक्ष्णुहि में उकारान्त अङ्ग है और उसके पूर्व कोई संयोग नहीं है। अतः असंयोगपूर्वक उकारान्त अङ्ग से परे हि का लोप प्राप्त होता है।

विशेषण विशेष्य भाव को स्पष्ट करते हुए शब्दकौस्तुभकार कहते हैं - उतश्च० आदि सूत्रों में विशेषण का सम्बन्ध विशेष्य के साथ करने के पश्चात् विशेषण विशिष्ट में येन विधि० सूत्र प्रवृत्त होता है और उस विशिष्ट में तदन्त विधि करता है। **"तथा च उतश्च प्रत्ययात्० - (६.४.१०६.) इत्यादौ विशेषण सम्बन्धवेलायां गुणभावास्फुरणान्तमनुभूय पश्चाद् विशेष्य सम्बन्ध विशिष्टा संज्ञा भवति। इह हि विशिष्टस्य वैशिष्ट्यम्, न तु विशेष्य विशेषणमिति।" - (शब्दकौस्तुभ - १.१.७२.)**

भाष्य में पठित कतिपय वार्तिकों के द्वारा यही विशेषण-विशेष्य भाव स्पष्ट किया गया है। जैसे - "समास प्रत्ययविधौ प्रतिषेधः" वार्तिक में समास की विधि और प्रत्यय विधि में तदन्त ग्रहण का प्रतिषेध किया गया है। द्वितीयाश्रितातीत० - (२.१.२४.) सूत्र में श्रितादि सुबन्तों के साथ द्वितीया तत्पुरुष समास का विधान है। यहाँ यदि श्रितादिकों से तदन्त विधि करते हैं तो सूत्रार्थ होगा श्रिताद्यन्त सुबन्त के साथ द्वितीया तत्पुरुष होता है। इस स्थिति में द्वितीयान्त कृष्णम् पद का परमश्रित के साथ समास की प्रसक्ति हो जाएगी और केवल श्रित के साथ समास न हो पाएगा। अतः यहाँ समास विधि में तदन्त विधि का प्रतिषेध करना होगा।

प्रत्ययविधि में भी तदन्त निषेध करना चाहिए। उदाहरणार्थ "नडादिभ्यः फक्" - (४.१.९९.) सूत्र में नडादियों में तदन्त विधि होने पर सूत्रनड शब्द से फक् की प्रसक्ति हो जाएगी। केवल नड से फक् नहीं हो पाएगा। प्रत्यय विधि में तदन्तविधि का निषेध करने से नाडायन आदि की सिद्धि संभव है तथा सूत्रनड से फक् की निवृत्ति होकर अत इञ् (४.१.९६.) से इञ् होकर सौत्रनाडिः [२] रूप की सिद्धि हो सकती है।

उगिद् वर्ण ग्रहण वर्जम् - उपर्युक्त प्रतिषेध उगित् ग्रहण में और वर्णग्रहण में प्रवृत्त नहीं होता। अर्थात् उगित् ग्रहण होने पर या वर्ण ग्रहण होने पर समास और प्रत्यय विधि में भी तदन्त ग्रहण करना ही चाहिए। उदाहरणार्थ - उगितश्च - (४.१.७.) सूत्र से विहित ङीप् प्रत्यय भवत् शब्द से (भवतु में की इत् संज्ञा करने पर भवत् प्रातिपदिक शेष रहता है।) होता है और तदन्त अतिभवत् से भी हो जाता है। इस प्रकार भवती और अतिभवती, महती, अतिमहती रूप सिद्ध होते हैं। वर्ण ग्रहण में भी तदन्त ग्रहण हो जाता है। जैसे - अत इञ् (४.१.९६.) सूत्र से अकारान्त दक्ष-प्लक्ष आदि शब्दों से इञ् प्रत्यय दाक्षिः प्लाक्षिः आदि रूप सिद्ध होते हैं।

अव्याप्ति - प्रस्तुत सूत्र की विद्यमानता में ऐसे सूत्रों में अव्याप्ति दोष की संभावना है जहाँ सूत्र में शब्द का स्वरूपतः उच्चारण नहीं है। स्वं रूपम्० सूत्र के अनुसार शब्द के सूत्रोपात रूप का ग्रहण होता है और येनविधि० के अनुसार तदन्त का ग्रहण होता है। अकच् और श्नम् का विधान करने वाले सूत्रों में अकच् प्रत्यय टिसंज्ञक भाग से पूर्व होता है। श्नम् भी मित् होने के कारण अन्तिम अच् से पूर्व होता है। सर्व-विश्व आदि सर्वनामों को अकच् प्रत्यय करने पर सर्वक - विश्वक आदि की सर्वनाम संज्ञा सिद्धि के लिए पृथक् रूप से उपसंख्यान की आवश्यकता है क्योंकि स्वं रूपम् और येन विधि० सूत्रों की सहायता से सूत्रों में उच्चरित शब्दों से स्वतः का और तदन्त का ग्रहण होता है। सर्वनाम संज्ञा विधायक सूत्र में सर्वादि गण पठित शब्दों की सर्वनाम संज्ञा की गई है। इस सर्वादि गण में सर्व विश्व आदि शब्द तो पठित हैं, सर्वक विश्वक आदि पठित नहीं हैं। तदन्त विधिसामर्थ्य से भी इनका ग्रहण संभव नहीं, क्योंकि ये सर्व शब्दान्त भी नहीं हैं। इस प्रकार सर्वक विश्वक को सर्वनाम संज्ञा की प्राप्ति नहीं हो सकती। उच्चकैः नीचकैः आदि अव्ययों में भी अकच् के कारण अव्यय संज्ञा(१.१.३७.) नहीं हो पाएगी, क्योंकि स्वरादि गण में उच्चैः नीचैः शब्द पठित है। इन शब्दों के द्वारा उच्चकैः नीचकैः का ग्रहण संभव नहीं। क्योंकि ये शब्द न तो स्वरूपतः उच्चरित है और न तदन्त है। इनकी अव्यय संख्या के लिए स्वतंत्र वचनारम्भ करना आवश्यक है।

यही दोष श्नम् प्रत्यय करने पर भिनद्-छिनद् आदि उदाहरणों में भी संभावित है। भिनद्-छिनद् की धातु संज्ञा नहीं हो सकती क्योंकि भ्वादिगण (भूवादयोधातवः - १.३.१.) में यह पठित नहीं है। तदन्त ग्रहण के द्वारा भी इनकी धातु संज्ञा नहीं हो सकती क्योंकि भिदन्त या छिदन्त नहीं है। धातुत्व की सिद्धि के लिए इनका उपसंख्यान करना होगा। (**अकच्श्नम्वतः सर्वनामाव्यय धातु विधावुपसंख्यानम् - म. भा. वा. - ३, सूत्र - १.१.७२.**)

भाष्यकार ने उपर्युक्त अनुपपत्ति के निवारणार्थ दो युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। प्रथम युक्ति के अनुसार "येनविधिस्तदन्तस्य" सूत्र में अंशतः परिवर्तन कर "येनविधिस्तदन्तान्तस्य" इस प्रकार पठित किया जाए अर्थात् तदन्तस्य के स्थान पर "तदन्तान्त" पढ़ा जाए। तदन्तान्त का आशय है - उसका अन्त = तदन्त। यह तदन्त जिसके अन्त में है, वह तदन्तान्त। "तदन्तान्तस्य" वचन से सर्वक, विश्वक की सर्वनाम में कोई आपत्ति न होगी, क्योंकि सर्व और विश्व का जो अन्तिम अकार है वही अकच् होने के बाद सर्वक और विश्वक में उपलब्ध होता है। अकच् प्रत्यय टि संज्ञक के पूर्व में होता है, अतः मूल शब्द सर्वादि का अन्तिम अच् यथावत् रहता है। इसी प्रकार उच्चकैः अव्यय में भी अकच् प्रत्यय "उच्चैस्" अव्यय की टि के पूर्व में विहित है। उच्चैस् का अन्तिम सकार ही उच्चकैस् में भी उपलब्ध है। इस प्रकार तदन्तान्त ग्रहण से इष्ट सिद्धि हो जाती है। तथापि पाणिनीय सूत्र में परिवर्तन करने से अपाणिनीयता दोष की आपत्ति होती है। इस अपाणिनीयता दोष का निवारण संभव है। सूत्र पठित "तदन्तस्य" पद में उत्तर पद का लोप मानकर समास निष्पत्ति करनी चाहिए जिसप्रकार - उष्ट्रमुखः, खरमुखः आदि समासों में उष्ट्रमुखमिव मुखमस्य - या खरमुखमिव मुखं यस्य ऐसा विग्रह होता है और उत्तर पद में विद्यमान मुख शब्द का लोप कर उष्ट्रमुखः-खरमुखः रूप सिद्ध किए जाते हैं। (यहाँ उष्ट्रमुखमुखः या खरमुखमुखः प्रयोग नहीं होता) उसी प्रकार तदन्तस्य में भी तदन्त अन्तो यस्य सोऽयं तदन्तः। इस प्रकार विग्रह किया जाए और एक अन्त पद का लोप किया जाए। इस निष्पत्ति में "तदन्तान्तस्य" निर्देश की आवश्यकता नहीं होती और तदन्त पद से ही अभीष्ट अर्थ की सिद्धि हो जाती है।

एकदेश विज्ञान - उपर्युक्त अनुपपत्ति को एकदेश विज्ञान के द्वारा भी दूर किया जा सकता है। सर्व-विश्व-उच्चैस् आदि शब्दों के एक अंश के रूप में अकच् का प्रवेश है अतः अकच् उनका अवयव ही है। "तदेकदेशभूतस्तद् ग्रहणेन गृह्यते।" न्याय के अनुसार सर्वादि शब्दों के द्वारा सर्वकादि का ग्रहण अन्यथा सिद्ध है। लोक में भी यह देखा जाता है कि गंगा या यमुना नदियों में अनेक नदियाँ समाहित होकर उनका एक अंश बन जाती हैं और इसीलिए गङ्गा या यमुना कहने से उनका भी स्वतः ग्रहण हो जाता है। देवदत्ता नामक स्त्री के गर्भवती होने पर भी उसे देवदत्ता ही कहा जाता है, अर्थात् उसेक अंशभूत गर्भ की संज्ञा भी देवदत्ता ही हो जाती है।

यद्यपि इस नियम का अपवाद भी दृष्टिगोचर होता है। जैसे - संख्या वाचक या परिमाण वाचक शब्द निश्चित अर्थ के वाचक होते हैं। उनमें तदेकदेशभूत० न्याय लागू नहीं होता। पाँच सात आदि संख्यावचक शब्दों में एक भी संख्या न्यूनाधिक होने से इनका प्रयोग नहीं हो सकता। परिमाण वाचक द्रोण - (आधामन), खारी - (डेढ़ मन), आढ़क - (पायली = चार सेर) इत्यादि परिमाण वाचक शब्द भी परिमाण के कम या अधिक होने पर प्रयुक्त नहीं हो सकते। कतिपय शब्द ऐसे होते हैं जो वस्तु की मात्रा कम या अधिक होने पर भी प्रयोगार्ह होते हैं। जैसे - जातिवाचक या गुणवाचक शब्द। उदाहरणार्थ - तैल, घृत आदि शब्द खारी प्रमाण वाले तैल या घृत के लिए भी प्रयुक्त होते हैं। गुणवाचक शब्दों में भी यही नियम होता है। शुक्ल, नील, कृष्ण आदि गुणवाचक शब्द हिमवान् जैसे विशालकाय वस्तु के लिए भी प्रयुक्त होते हैं और वट के बीज के बराबर सूक्ष्म वस्तु के लिए भी प्रयुक्त हो सकते हैं। सर्वनाम-अव्यय आदि संज्ञाएँ संख्या और परिमाण वाचक शब्दों के समान नियत परिमाण के लिए प्रयुक्त होती है। अतः नियत परिमाण से कम या अधिक शब्दों में इनकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

इस प्रसङ्ग में आचार्य पाणिनि का सूत्र "नेदमदसेरकोः" - (७.१.११.) से यह संकेत प्राप्त होता है कि "तदेकदेशभूत स्तद् ग्रहणेन गृह्यते" परिभाषा प्रकृत स्थल पर प्रवृत्त होती है। इस सूत्र में सूत्रकार ने ककार रहित (अकोः) इदम् और अदस् को ऐस् आदेश (भिस् के स्थान पर) का निषेध किया है। इदम् और अदस् को विहित कार्य ककारयुक्त इदम् और अदस् को यदि प्राप्त न होते तो उनका निषेध करने की क्या आवश्यकता होती ? चूँकि निषेध किया जा रहा है, अतः सिद्ध है कि तदेकदेशभूत० न्याय से ककारयुक्त इदम् अदस् में भिस् को ऐस् की प्रसक्ति हो सकती है।

निष्कर्षतः सर्वक उच्चकैः या छिनद् आदि प्रयोगों में अकच् - श्नम् होने पर भी तदेकदेश० न्याय से सर्वनाम अव्यय और धातु संज्ञा सिद्ध हो जाती है। "येनविधिस्तदन्तस्य" सूत्र से यहाँ अभीष्ट संज्ञाओं की सिद्धि न होने पर भी पृथक् उपसंख्यान की आवश्यकता नहीं है।

"तदेकदेशभूत स्तद् ग्रहणेन गृह्यते" परिभाषा को स्वीकार करना आवश्यक है।

सूत्र के प्रयोजन - भाष्यकार ने सूत्र के प्रयोजनों पर विचार करते हुए सूत्र के समस्त उदाहरणों की अथवा सूत्र के प्रवृत्ति स्थलों की चर्चा प्रस्तुत की है। सर्वप्रथम **"प्रयोजनं सर्वनामाव्यय संज्ञायाम्"** वार्तिक के द्वारा सर्वनाम और अव्यय संज्ञा में प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति बताई गई है। सर्वनाम संज्ञा जिस प्रकार सर्व विश्व आदि शब्दों की होती है। (सर्वादीनि सर्वनामानि - १.१.२७.) उसी प्रकार

परम सर्व और परम विश्व आदि शब्दों की भी सर्वनाम संज्ञा हो जाती है और जस् विभक्ति में सर्वे-विश्वे के समान परमसर्वे-परमविश्वे रूप सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार अव्यय संज्ञा भी उच्चैः और परमोच्चैः, नीचैः, परमनीचैः दोनों की सिद्धि होती है।

उपपद विधि में भय-आढ्य आदि शब्दों से तदन्त ग्रहण होकर अभय, स्वाढ्य आदि का भी बोध होता है और इस प्रकार भयंकरः, अभयंकरः, आढ्यंकरणम्-स्वाढ्यंकरणम् प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।[३]

ङीप् प्रत्यय का विचार करने वाले सूत्र (४.१.६.) में उगित् के द्वारा तदन्त का ग्रहण होता है और भवती - अति भवती, महती - अति महती रूप सिद्ध होते हैं।

ङीप् निषेधक सूत्र (४.१.१०.) में भी तदन्त होता है। इसलिए स्वसा के समान परमस्वसा में भी ङीप् का निषेध सिद्ध होता है। यहाँ स्वसृ आदि प्रातिपदिक के विशेषण हैं।

अपरिमाण बिस्ताचित कम्बल्येभ्यो न तद्धित लुकि - (४.१.२२.) सूत्र में बिस्तादि शब्दों से द्विगु का उत्तरपद विशेषित है। अतः बिस्तादि शब्दों से तदन्त विधि होकर द्विबिस्ता, द्विपरमबिस्ता, त्रिबिस्ता, त्रिपर बिस्ता आदि में ङीप् निषेध सिद्ध होता है।

"दित्यदित्यादित्य०" - (४.१.८५.) सूत्र में दिति से तदन्त अदिति का भी ग्रहण सिद्ध होता है और इस प्रकार दितेरपत्यं दैत्यः और अदितेरपत्यम् आदित्यः रूप निष्पन्न होते हैं। इस स्थिति में सूत्र में दिति शब्द से ही अदिति का ग्रहण सिद्ध है, पृथक् रूप से अदिति का ग्रहण आवश्यक नहीं है।

रोणी शब्द से अण् प्रत्यय का विधान (४.२.७८.) किया गया है। प्रकृत सूत्र के सामर्थ्य से रोणी शब्दान्त का ग्रहण हो जाता है और आजकरोणः-सैहकरोणः आदि प्रयोग निष्पन्न होते हैं।

जहाँ विधि सूत्रों में प्रातिपदिक से तदन्तग्रहण अभीष्ट है वहाँ सूत्रकार येनविधि० सूत्र का उपयोग करते ही हैं। किन्तु ऐसे सूत्रों में प्रातिपदिक से तदन्त ग्रहण तो संभव है, केवल प्रातिपदिक का ग्रहण व्यपदेशिवद्भाव की सहायता से संभव नहीं है, क्योंकि "व्यपदेशिवद् भावो ऽप्रातिपदिकेन" न्याय बाधक है। आचार्य पाणिनि इस न्याय को पूर्वादिनिः - (५.२.८६.) और सपूर्वाच्च - (५.२.८७.) सूत्रों के योग-विभाग के द्वारा ज्ञापित करते हैं। यदि प्रातिपदिक से तदन्त ग्रहण अभीष्ट होता तो "पूर्वात् सपूर्वादिनिः" ऐसा एक ही सूत्रारम्भ किया जाता। इसका अर्थ होता - पूर्व शब्द से इति होता है यदि उसके पूर्व में कोई शब्द हो अर्थात् पूर्वान्त शब्द से इनि होता है। इस अर्थ निष्पत्ति से केवल पूर्व शब्द से भी व्यपदेशिवद्भाव से पूर्वान्त मानकर इनि प्रत्यय हो सकता था। इसकी सिद्धि के लिए पृथक् रूप से "पूर्वादिनिः" कहने की आवश्यकता न थी। चूँकि सूत्रकार ने पृथक् सूत्र में पूर्व शब्द से इनि का विधान किया है, जो इसका ज्ञापक है कि प्रातिपदिक को व्यपदेशिवद् भाव नहीं होता।

इस नियम के अनुसार रोण्या अण् - (४.२.७८.) से तदन्तविधि० की प्रवृत्ति कर रोणी

शब्दान्त से अण् की सिद्धि हो जाएगी, किन्तु केवल रोणी शब्द से अण् नहीं हो पाएगा और रोणः प्रयोग की सिद्धि नहीं हो पाएगी। इसकी सिद्धि के लिए पुनः यत्न करना होगा और रोण्या अण् के बाद "तस्य च" वार्तिकारम्भ करना होगा। यह वार्तिक केवल रोणी शब्द के लिए ही आवश्यक नहीं है अपितु येनविधि० सूत्र के जो उदाहरण अथवा प्रयोजन भाष्यकार ने प्रतिपादित किए हैं, उनमें ही तस्य च वार्तिक की प्रवृत्ति होती है। पूर्वोक्त प्रयोजनों (उपपद विधौ०, डीब्विधौ० प्रतिषेधे स्वस्रादि० अपरिमाणबिस्तादि० दिति च) में भी इसकी प्रवृत्ति है। अन्यथा उपपदविधि में (३.२.४३.) तदन्त ग्रहण से अभयंकरः तो सिद्ध होगा किन्तु भयंकरः की सिद्धि के लिए "तस्य च" वार्तिक आवश्यक होगा। इसी प्रकार महती अतिमहती, दुहिता परमदुहिता, द्विबिस्ता द्विपरमबिस्ता, दैत्यः आदित्य रूपों में भी समझना चाहिए।

अन्य प्रयोजन - १. रथ, सीता और हल् शब्दों से विहित यत् प्रत्यय (रथाद्यत् - ४.३.१२१., तद्वहति रथयुग प्रासङ्गम् - ४.४.७६., नौवयोर्धर्म० - ४.४.९१., मतजन हलात्० - ४.४.९७.) तदन्तों से होता है और स्वयं से भी। इस प्रकार रथ्याः, सीत्यम्, परमसीत्यम्। हल्या-परम हल्या रूप सिद्ध होते हैं।

२. सु सर्व अर्ध और दिक् शब्दों से परे जनपद वाचक शब्दों में तदन्त ग्रहण होता है और सुपाञ्चालकः, सर्वमागधकः, अर्धपाञ्चालकः, पूर्वपाञ्चालकः आदि वुञ् प्रत्ययान्त - (४.१.१२५.) प्रयोग सिद्ध होते हैं।

३. ऋतुवाचक से अणादि वृद्धिनिमित्तक प्रत्यय के विधान (४.३.१६.) में ऋतु वाचक शब्दों से तदन्त ग्रहण होता है। इसके फलस्वरूप पूर्वशारदम्, पूर्वनैदाघम् आदि रूप सिद्ध हो जाते हैं।

४. ठञ् प्रत्यय की कर्तव्यता में संख्यावाचक शब्दों में तदन्त विधि होती है (५.१.५८.) और द्विषाष्टिकम्, पञ्चषाष्टिकम् आदि रूप सिद्ध होते हैं।

५. नञ् पूर्वक धर्म शब्द से तदन्त विधि करने पर धर्म चरति - धार्मिकः और अधर्म चरति - आधर्मिकः रूप सिद्ध होते हैं। (४.४.४१.)

६. पदाधिकार और अङ्गाधिकार में पठित सूत्रों में तदन्त ग्रहण का फल दृष्टिगोचर होता है। जैसे - इष्टकेषीकामालानां चित तूलभारिषु - (६.३.६५.) सूत्र में तदन्त ग्रहण के कारण इष्टकचितम् - पक्वेष्टक चितम्, इषीकतूलम्-मुञ्जेषीकतूलम्, मालभारिणी-उत्पलमालभारिणी आदि रूप सिद्ध हो जाते हैं।

अङ्गाधिकार में दीर्घ का विधान करने वाले सूत्रों में (६.४.१०., ६.४.११.) महत्-अप्-स्वसृ-नप्तृ शब्दों से तदन्तों का ग्रहण होता है और महान्, परम महान्, आपः, स्वापः, स्वसा, परम स्वसा, नप्ता, परम नप्ता प्रयोगों में उपधा दीर्घ की सिद्धि हो जाती है।

पाद शब्द को जहां पद् आदेश विहित है (६.४.१३०.) अथवा पाद को (६.६.५४.) पद्

विहित हैं - वहाँ तदन्त ग्रहण होने से पाद् (पाद) जिसेक अन्त में है ऐसे द्विपाद् को भी पद् आदेश होता और द्विपदः आदि रूप सिद्ध होते हैं। (वस्तुतः तदन्त ग्रहण न होने पर भी सूत्रारम्भसामर्थ्यात् - (६.४.१३०.) द्विपाद् में पदादेश की अन्यथा सिद्धि हो ही जाती क्योंकि मात्र पाद शब्द तो प्रयोगार्ह ही नहीं है। अतः पदादेश के सम्बन्ध में तदन्त ग्रहण का अन्य उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।) "हिमकाषिहतिषु" - (६.३.५४.) सूत्र में पाद् को विहित पद् आदेश पत्काषिणौ पत्काषिणः आदि में होता है। तदन्त ग्रहण होने से परमपत्काषिणौ, परमपत्काषिणः आदि भी सिद्ध हो जाते हैं।

इस प्रसङ्ग में पदादेश के संबन्ध में यह आशङ्का उपस्थित हो सकती है कि पाद् को पद् आदेश करने वाले सूत्र पदाधिकार में भी हैं और अङ्गाधिकार में भी पठित हैं। उपर्युक्त हिमकाषि० सूत्र पदाधिकार के अन्तर्गत आता है। इस प्रकरण में यदि पाद् शब्द से तदन्त ग्रहण मानते हैं तो परमपत्काषिणौ आदि प्रयोगों की सिद्धि तो हो जाती है किन्तु अन्यत्र दिग्धपादेनोपहतम्, दिग्धपादोपहतम् आदि प्रयोगों में अतिव्याप्ति हो जाएगी। "पादस्य पदाज्योति गोपहतेषु" - (६.३.५२.) सूत्र से पादेनोपहतम्, पादोपहतम् में पाद शब्द को पद् आदेश होता है। तदन्त ग्रहण की अतिप्रसक्ति से दिग्धपादोपहतम् में भी पदादेश की प्रसक्ति हो जाएगी। इस अतिप्रसक्ति के निवारणार्थ पदाधिकार में से तदन्त ग्रहण न मानकर अङ्गाधिकार में पाद् से तदन्त ग्रहण को स्वीकार करना चाहिए। इसका उदाहरण पूर्व में द्विपदः आदि में बताया गया। इस उदाहरण में यह आपत्ति की गई थी कि केवल पाद् शब्द का तो कहीं प्रयोग ही नहीं है। अतः सूत्रारम्भ सामर्थ्यात् तदन्त को पदादेश हो ही जाएगा। येनविधि० के कारण तदन्त की सिद्धि मानना असंगत है।

इस आपत्ति का निराकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि केवल पाद् शब्द का भी प्रयोग होता है। णिच् प्रत्ययान्त पादि धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर क्विप् का लोप, णिच् का लोप (६.४.५१.) करने से पाद् शब्द सिद्ध होता है। इसे पदादेश होकर पदः पदा पदे आदि रूप सिद्ध होते है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अङ्गाधिकार में पदादेश के विषय में द्विपदः द्विपदौ आदि प्रयोगों की सिद्धि के लिए तदन्त ग्रहण सार्थक है।

अस्मद्-युष्मद् के स्थान पर होने वाले आदेश भी तदन्त हो होते हैं और यूयम्-वयम् के समान परमयूयम् - परमवयम् आदि रूपों की सिद्धि होती है। (७.२.८६,९३.) अस्थि दधि आदि शब्दों से (७.१.७५.) तदन्त ग्रहण होने से अस्थ्ना, दध्ना के समान परमास्थ्ना परमदध्ना आदि रूप सिद्ध हो जाते हैं।

सावनडुहः - (७.१.८२.) सूत्र में भी अनडुह् शब्द से तदन्त ग्रहण होता है और उसके फलस्वरूप अनड्वान् के समान परमानड्वान् आदि रूपों की निष्पत्ति हो सकती है।[४]

दिव् - (७.१.८४.), पथिन्, मथिन् - (७.१.८५.), पुमस् - (७.१.८९.), गो - (७.१.९०.), सखि - (७.१.९२.), चतुर् अनडुह् - (७.१.९८.) और त्रि - (७.१.५३.) शब्दों से स्वतः का और तदन्तों का ग्रहण होता है। उदाहरणार्थ द्यौः सुद्यौः। पन्थाः सुपन्थाः। मन्थाः परममन्थाः। पुमान् परम पुमान्। गौः सुगौः। सखा सुसरवा। चत्वारः परमचत्वारः। अनड्वाहः परमानड्वाहः। त्रयाणाम् परमत्रयाणाम्।

त्यादादीनाम: - (७.२.१०२.) सूत्र में त्यद् आदि शब्दों से भस्त्रैषाना० - (७.३.४७.) में भस्त्रा आदि से और स्त्रियाः - (६.४.७९.) सूत्र में पठित स्त्री शब्द में भी येनविधि० की प्रवृत्ति होती है और सः अतिसः। भस्त्रिका बहुभस्त्रिका, स्त्रियौ राजस्त्रियौ आदि प्रयोग निष्पन्न होते हैं।

"वर्ण ग्रहणं च सर्वत्र" वार्तिक के द्वारा भाष्यकार यह प्रतिपादित करते हैं कि वर्ण से सर्वत्र तदन्त ग्रहण अभीष्ट होता है। जैसे - "सुपि च" - (७.३.१०२.) सूत्र में अनुवृत्त "अतः" पद अकारान्त का भी बोधक होता है इसीलिए केवल अ रूप अङ्ग को भी दीर्घ होकर आभ्याम् रूप सिद्ध होता है और अकारान्त अङ्ग को दीर्घ होकर घटाभ्याम्, रामाभ्याम् आदि प्रयोग भी सिद्ध हो जाते हैं।

प्रत्यय ग्रहणं चापञ्चम्याः - किसी सूत्र में प्रत्ययग्रहण से प्रत्ययान्त का बोध उसी स्थिति में होगा जब प्रत्यय के साथ सूत्रोक्त पञ्चम्यन्त पद का अन्वय न हो। जैसे - "यञिञोश्च" - (४.१.१०१.) सूत्र में तो यञ् और इञ् प्रत्ययों से यञन्त और इञन्त का बोध होकर गार्ग्यायणः परमगार्ग्यायणः तथा दाक्षायणः परमदाक्षायणः प्रयोग सिद्ध होते हैं, रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य पदः - (६.४.१२.) सूत्र में "रदाभ्याम्" इस पञ्चम्यन्त पद का अन्वय निष्ठा प्रत्यय के साथ होता है। अतः इस सूत्र में प्रकृत सूत्र से तदन्त ग्रहण नहीं होता। यदि निष्ठा से निष्ठान्त का ग्रहण करते हैं तब घ्षत्तीर्णा आदि प्रयोगों में निष्णन्त "तीर्ण" के परे घ्षत् के तकार को रदाभ्याम्० सूत्र से नत्व की आपत्ति हो जाएगी।

अनर्थक से तदन्त विधि नहीं होती किन्तु अल् अनर्थक होने पर भी उससे तदन्त ग्रहण हो जाता है। उदाहरणार्थ इनहन् पूषार्यम्णां शौ - (६.४.१२.) सूत्र में हन् से तदन्त ग्रहण के द्वारा प्लीहन् का बोध नहीं हो सकता क्योंकि प्लीहन् में हन् अनर्थक है। प्लिह धातु से कनिन् प्रत्यय करने पर प्लीहन् की निष्पत्ति होती है। इस शब्द रूप में हन् शब्दांश अनर्थक है। हन् से वृत्रहन् का बोध अवश्य हो सकता है क्योंकि वृत्रहन् में हन् सार्थक है। इसी प्रकार "उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य" - (८.४.६१.) सूत्र में पठित उत् से गर्मुत् के उत् का ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि यह उत् निरर्थक है। स्त्री शब्द से शस्त्री का ग्रहण नहीं हो सकता (सूत्र - ६.४.६९ शस्त्री में प्रवृत्त नहीं होगा।) सम् उपसर्ग को विहित कार्य (६.१.१३७.) पायसम् में नहीं होता।

वस्तुतः उपर्युक्त वचन "अलैवानर्थकेन" "पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य च" वचन के द्वारा गतार्थ हो सकता है। प्लीहन् में इन्हन्पूषा० - (६.४.१२.) की प्रवृत्ति इसी वार्तिक से नियंत्रित हो जाती है। क्योंकि प्लीहन् का हन् उत्तरपद नहीं है और न प्लीहन को हन् ही कह सकते हैं। इस प्रकार "अलैवानर्थकेन" वचन के अभाव में भी इष्ट सिद्धि हो जाती है। इस प्रसङ्ग में भाष्यकार "पदाङ्गाधिकारे०" के विद्यमान होते हुए भी अलैवानर्थकेन वचनारम्भ के पक्ष में हैं। इसका कारण यह है कि महत् से तदन्तग्रहण के द्वारा अतिमहत् का ग्रहण तो संभव है किन्तु परमातिमहत् का ग्रहण महत् शब्द से नहीं हो सकता। पदाङ्गाधिकारे० वार्तिक के अनुसार तदुत्तरपद का ग्रहण अभीष्ट है। अतिमहत् में तो महत् उत्तरपद है किन्तु परमातिमहत् में महत् उत्तरपद नहीं है। अतिमहत् उत्तरपद है अतः परमातिमहत् में सूत्र "सान्तमहतः०" - (६.४.१०.) से दीर्घ की सिद्धि नहीं हो सकती।

निष्कर्षतः "अलैवानर्थकेन" वचन आवश्यक है। "पदाङ्गाधिकारे०" वार्तिक से यह गतार्थ नहीं है।

अन् - (६.४.१३४.), इन् - (६.४.१२.), अस् - (६.४.१४.) और मन् - (४.१.११.) के द्वारा अर्थवान् और अनर्थक दोनों का ग्रहण हो सकता है। जैसे - राजन् का अन् सार्थक है (राज् धातु से उणदि का अन् प्रत्यय - १.१५४. होता है।) किन्तु सामन् में अन् अनर्थक है। तथापि "अल्लोपो ऽनः" - (६.४.१३४.) सूत्र में पठित अन् के द्वारा दोनों शब्दों को अन्नन्त मानकर अकार का लोप हो जाता है और राज्ञः साम्नः आदि रूप सिद्ध होते हैं। इन् से सार्थक इन्नन्त दण्डिन् - (५.२.१२४.) का तथा निरर्थक इन्नन्त वाग्मिन् का ग्रहण हो जाता है और इन् हन् पूषा० - (६.४.१२.) से दोनों प्रयोगों में उपधा दीर्घ होता है। पयस् का अस् सार्थक है और सुस्त्रोतस् का अस् निरर्थक है। तथापि प्रकृत नियम के सामर्थ्य से दोनों में उपधा दीर्घ होकर (अत्वसन्तस्य० - ६.४.१४.) सुपयाः, सुस्त्रोताः रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार सुशर्मा सुप्रथिमा इत्यादि प्रयोगों में मनः - (३.२.७५.) सूत्र से ङीप् का निषेध होता है। यद्यपि सुशर्माः मन् प्रत्ययान्त है और सुप्रथिमा इमनिच् प्रत्ययान्त है। इमनिच् का मन् अर्थ रहित है फिर भी प्रकृत वचनारम्भ सामर्थ्य से मन्नन्त को होने वाला ङीप् निषेध सुप्रथिमा में भी प्रवृत्त हो जाता है।

यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे - यदि किसी सूत्र में सप्तम्यन्त अल् का निर्देश करते हुए कार्य का विधान हो तो तस्मिन्निति० परिभाषा के बल से उस अल् के परे अव्यवहित पूर्व को कार्य सम्पन्न होगा। उदाहरणार्थ - श्रियौ आदि में श्रि + औ - स्थिति में अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ - (६.४.७७.) सूत्र से औ के परे श्रि के इकार के स्थान पर इयङ् आदेश होकर श्रियौ निष्पन्न होता है। किन्तु श्रि + अस् में अच् पर में नहीं है। येनविधि० सूत्र से यहाँ भी तदन्त ग्रहण की प्रसक्ति करने से ०अचि का तात्पर्य अजन्त प्रत्यय के परे इकार, उकार को इयङ्, उवङ् की प्राप्ति होगी। श्रि + अस् में तो अजन्त प्रत्यय पर में नहीं है। इस अनुपपत्ति के निवारणार्थ यस्मिन् विधि० वचनारम्भ आवश्यक है। इसके सामर्थ्य से अचि श्नु० सूत्र में "अचि" को सप्तम्यन्त अल् का निर्देश है। अतः अचि का अर्थ अजादि करना होगा। सप्तम्यन्त निर्देश होने से तस्मिन्निति परिभाषा के अनुसार अजादि प्रत्यय के परे अव्यवहित पूर्व के इकार उकार को इयङ् - उवङ् आदेश होंगे और इष्ट सिद्धि हो जाएगी।

इस प्रकार श्रियः आदि रूपों की निष्पत्ति हो जाती है।

❀❀❀

शब्द संकेत

१. अन्तर्मध्ये बहिरङ्ग शास्त्रीय निमित्त समुदायमध्ये ऽन्तर्भूतान्यङ्गानि निमित्तानि यस्य तदन्तरङ्गम् । एवं तदीय निमित्त समुदायाद् बहिर्यूताङ्गकं बहिरङ्गम् । (म.भा. सूत्र "खरवासानयो०" - ८.३.१५.)

२. "सौभनाडि:" में "अनुशतिकादीनां च" - (७.३.२१.) सूत्र से उभयपदवृद्धि होती है।

३. भयंकर: में और अभयंकर: में मेघर्तिभयेषु कृञ: - (३.२.४३.) सूत्र से खच् प्रत्यय होता है। आढयंकरणम् स्वाढयंकरणम् में अढयसुभग० - (३.२.५६.) सूत्र से ख्युन् प्रत्यय विहित है। यहाँ भय और आढय उपपद विशेषणीभूत है तथा कृञ: विशेष्य है।

४. "पद्युष्मदस्मदस्थ्याद्यनडुहो नुम्" - म. भा. वा. - २४.

❀❀❀

उच्चैरुदात्तः
(१.२.२९)

सूत्रार्थ तथा सूत्र का स्वरूप - तालु आदि उच्चारण स्थानों के ऊर्ध्वभाग से उच्चरित अच् उदात्त संज्ञक होता है। **"ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागे निष्पन्नोऽजुदात्त संज्ञः स्यात्"** - (भट्टोजी दीक्षित) काशिकाकार सूत्र की वृत्ति में लिखते हैं - "अच् इति वर्तते उदात्तादि शब्दाः स्वरे वर्णधर्मे लोकवेदयोः प्रसिद्धा एव। त हि तद्गुणेऽचि परिभाष्यन्ते। उच्चैरुपलभ्यमानो योऽच् स उदात्तसंज्ञो भवति।" काशिकाकार का आशय है कि प्रकृत सूत्र में पूर्वसूत्र (१.२.२७.) से अच् की अनुवृत्ति होती है। उदात्तादि शब्द सामान्यतः लोक और वेद में उदात्तादि धर्म के वाचक होते हैं। प्रकृत सूत्र के आरम्भ सामर्थ्य से उदात्तादि धर्म से युक्त अच् में अर्थात् धर्मो में परिभाषित हो जाते हैं। इसी आधार पर कतिपय वैयाकरण इसे परिभाषा सूत्र मानते हैं।

"केचिदाहुः - प्रदेशे लोकप्रसिद्धया हलामचां च ग्रहणे प्राप्ते ऽचामेव ग्रहणं नियम्यते इति परिभाषेयमिति।" अन्ये तु - **"धर्मिष्वप्रसिद्धत्वात् संज्ञात्वेन परिभाष्यन्ते इति व्याचक्षते।"** - (पदमंजरी - १२.२९.) न्यासकार के शब्दों में - **"तस्मादिह व्याकरण उदात्तादयो धर्मा यस्या चस्तद्गुणे ऽचि संज्ञाप्यन्ते परिभाष्यन्ते"**

व्याख्या - पूर्व सूत्र (१.१.२८.) से षष्ठ्यन्त अचः पद की अनुवृत्ति करने पर प्रकृत सूत्र से केवल अच् के स्थान पर होने वाले उदात्त की ही उदात्त संज्ञा सिद्ध होगी, व्यंजन को उदात्त की प्रसक्ति नहीं होगी। इस स्थिति में "हल् स्वर प्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्" परिभाषा गतार्थ हो जाएगी। भाष्यकार इस प्रसङ्ग का समर्थन करते हैं और इसलिए प्रकृत सूत्र में अचः पद की अनुवृत्ति को स्वीकार नहीं करते।

यदि पूर्वसूत्र (अकालो ऽज्० - १.१.२७.) से प्रथमान्त अच् पद की अनुवृत्ति की जाए तो उदात्तादि संज्ञा केवल अच् की ही सिद्ध होगी, व्यञ्जन की नहीं हो सकती। वस्तुतः व्यञ्जनों में उदात्तादि धर्म विद्यमान होता ही नहीं है। कतिपय मंत्रों में जैसे - "इषे त्वोर्जे त्वा" आदि में षकार-तकार और वकार व्यञ्जनों के उच्चारण में अनुदात्त की प्रतीति होती है वह वास्तविक नहीं अपितु भास मात्र है। व्यञ्जनों के समीपवर्ती स्वरों में वह धर्म विद्यमान है जो अतिशय सन्निकर्ष के कारण व्यञ्जन में भासित होते हैं। लोक में जिस प्रकार दो लाल वस्त्रों के मध्य में रखा हुआ श्वेत वस्त्र भी लाल वर्ण का प्रतीत होता है। अथवा बदरीफलों के समीप रखा हुआ दर्पण बदरीफलों से युक्त प्रतीत होता है।

इस प्रसंङ्ग में यह भ्रान्ति उपस्थित हो सकती है कि सामीप्यमात्र से यदि स्वर का उदात्तादि धर्म व्यञ्जन में भासित होता है तब इसके विपरीत कल्पना भी की जा सकती है। अर्थात् उदात्तादि धर्म वस्तुतः व्यञ्जन के हैं और सामीप्य के कारण स्वर में भासित होते हैं। इस विपरीत कल्पना का निराकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि - अनेक उदाहरणों में व्यञ्जनों के अभाव में केवल स्वरों में उदात्तादि धर्म दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे - "आप्यायध्वम्" - उदाहरण में आ उपसर्ग उदात्त उपलब्ध होता है। इसमें किसी व्यञ्जन का साहचर्य नहीं है। स्वर के साहचर्य के बिना उदात्तादि धर्म से युक्त केवल व्यञ्जन की उपलब्धि नहीं होती। किम्बहुना स्वर की सहायता के बिना व्यञ्जन का उच्चारण भी संभव नहीं होता।

वस्तुतः स्वर और व्यञ्जन संज्ञाएँ अन्वर्थ संज्ञाएँ हैं स्वर का तात्पर्य - "स्वयं राजन्ते इति स्वराः" - अर्थात् स्वर स्वयमेव भासित होते हैं किसी अन्य के अनुषङ्ग से भासित नहीं होते। व्यञ्जन की व्युत्पत्ति है - "अन्वग् भवति व्यञ्जनम्।" - अर्थात् अन्य का अनुसरण करने वाला व्यञ्जन होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकला कि पूर्वसूत्र से प्रथमान्त अच् - (१.२.२७.) की अनुवृत्ति आवश्यक नहीं है।

उच्चैस्त्व का स्वरूप - सूत्र में पठित उच्चैस्त्व का आशय श्रुति प्रकर्ष से नहीं है। श्रुति प्रकर्ष के आधार पर उच्चैस्त्व या नीचत्व का निर्धारण करना संभव नही है क्योंकि श्रुति प्रकर्ष सापेक्ष होता है। कोई श्रुति या ध्वनि एक व्यक्ति की दृष्टि से ऊँची हो सकती है और वही ध्वनि अन्य व्यक्ति के लिए नीची हो सकती है। यदि ध्वनि की उच्चता को उच्चैः पद वाच्य मानते हैं तो उपांशु प्रयोग में उदात्तत्व आदि धर्म की प्रवृत्ति नहीं हो पाएगी, क्योंकि वहाँ ध्वनि का श्रवण ही नहीं होता। भाष्यकार ने उच्चैस्त्व और नीचत्व का स्पष्ट लक्षण प्रस्तुत किया है।

"एवं तर्हि लक्षणं करिष्यते। आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैः कराणि शब्दस्य।"

इसका आशय है कि उच्चारण अवयवों का निग्रह या नियमन स्वरों में रूखापन और कंठ विवर का संकोच होना - उच्चैस्त्व के लक्षण हैं। इसके विपरीत उच्चारण अवयवों में शिथिलता, स्वरों में कोमलता और कंठ विवर का विकास होना - नीचत्व का द्योतक है। ("अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैः कराणि शब्दस्य।")

सिद्धान्त लक्षण - उच्चैस्त्व और नीचैस्त्व का उपर्युक्त लक्षण भी अत्यन्त स्पष्ट नहीं है। क्योंकि इसमें भी वक्ता के सामर्थ्य के आधार पर सापेक्ष भाव निहित है। कोई बलशाली व्यक्ति को शब्दोच्चारण में अधिक यत्न नहीं करना पड़ता। उसकी दृष्टि से उच्चरित कोई वर्ण नीचैस्त्व की परिभाषा में आता है - जो अन्य अल्पशक्ति सम्पन्न या निर्बल व्यक्ति के लिए वही वर्ण उच्चैस्त्व की कोटि में आ सकता है। निष्कर्षतः स्वरों के उच्चैस्त्व और नीचैस्त्व की निर्दुष्ट परिभाषा आवश्यक है।

सिद्धं तु समान प्रक्रम वचनात् - उच्चैस्त्व या नीचैस्त्व का निर्दुष्ट लक्षण हेतु वाणी के उच्चारण स्थानों को द्विधा विभक्त किया गया है। तालु, कंठ और सिर इन स्थानों के ऊर्ध्व भाग से उच्चरित वर्ण उदात्त कहे जाते हैं। इन्हीं स्थानों के अधोभाग में "जिह्वा" आदि का स्पर्श होने पर अनुदात्त स्वर उच्चरित होता है। इस लक्षण में उच्चैस्त्व आदि में सापेक्षता की कोई आशङ्का नहीं है। वक्ता के मुख में स्थित तालु आदि स्थानों के उर्ध्व भाग से निष्पन्न अच् उदात्त होगा और तालु आदि के अधर भाग से निष्पन्न अच् अनुदात्त होगा। जिस प्रकार संगीत के षड्जादि स्वरों का ज्ञान अभ्यास से होता है, उसी प्रकार इन उदात्तादि स्वरों की प्रतीति भी अभ्यास से संभव है।[1]

टीप - उदात्त के संबंध में प्रस्तुत समस्त टिप्पणियाँ अनुदात्त विषयक भी माननी चाहिए। अनुदात्त में यही विशेष है कि वह तात्वादिकों के अधो भाग से निष्पन्न होता है। (नीचैसुदात्तः - १.२.३०.)

"ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेष्वधोभागे निष्पन्नोऽजनुदात्त संज्ञः स्यात्"
- (भट्टोजी दीक्षित)

इसमें भी परिभाषात्व का वही आधार है जो "उच्चैरुदात्तः" में कतिपय वैयाकरणों ने उद्धृत किया है।

❀❀❀

शब्द संकेत

१. "एकस्मिंस्ताल्वादिके स्थाने ऊर्ध्वाधर भागयुक्ते ऊर्ध्वभागेनोच्चार्यमाण उदात्तः अधरभाग निष्पन्नोऽनुदात्तः । एवं चौच्चैरित्यनेनोर्ध्व भागो गृह्यते नीचैरित्यधरभागः । अभ्यासमधिगम्यश्चायं स्वर विशेषः षड्जादिवद्विज्ञेयः ।" - (प्रदीप - १.१.२९. म. भा.)

❀❀❀

न धातु लोप आर्धधातुके
(१.१.४)

सूत्रार्थ - धातु के एकदेश या अवयव के लोप के निमित्तक आर्धधातुक प्रत्यय परे रहने पर इग्लक्षण गुण वृद्धि नहीं होती। (**"धात्वंश लोप निमित्ते आर्धधातुके परे इकोगुणवद्धी न स्तः"** - सिद्धान्त कौमुदी)

व्याकरण सिद्धान्त सुधानिधि के अनुसार "धात्ववयव लोप प्रयोजक मार्धधातुक निमित्तीकृत्य प्राप्ते इको गुणवृद्धी न स्तः।" प्रकृत सूत्र गुणवृद्धी का निषेधक है। इकोगुणवृद्धी - (१.१.५.) का निषेधक नहीं है।[१] यदि इसे इक पदोपस्थापिका इकोगुण वृद्धी परिभाषा का निषेधक मानते हैं तो कतिपय प्रयोगों में अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोषों की आशङ्का होती है। जैसे - बेभिदः, मरीमृजः आदि यङ्लुगन्त प्रयोगों में प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति होगी और इकः पद की उपस्थिति न होने से बेमिद् + अच्, मरीमृज + अच् स्थिति में अन्तिम व्यञ्जन को गुण की प्राप्ति हो जाएगी। (सूत्र - सार्वधातुकार्ध० - ७.३.८४.) लोलुवः, पोपुवः आदि उदाहरणों में भी लोलू + अच् की स्थिति में अन्तिम ऊकार को गुण हो जाएगा।[२]

व्याख्या - सूत्र पठित धातु पद लक्षणिक अर्थ का वाचक है। धातु से तात्पर्य धातु के अवयव से है। सम्पूर्ण धातु का लोप होने पर तो गुण-वृद्धि का प्रसङ्ग ही उपस्थित नहीं होता। यद्यपि सम्पूर्ण धातु का लोप भी संभव है। जैसे - "दूरम्" में दुर् उपपद पूर्वक इण् गतौ धातु से रक् प्रत्यय (दुरीणो लोपश्च उणादि - २.१७७.) और इण् धातु का लोप हो जाता है। रो रि - (८.३.१४.) से रेफ का लोप तथा "ढ्रलोपे पूर्वस्य०" - (६.३.१११.) से पूर्व अण् को दीर्घ होकर दूरम् सिद्ध होता है। इसका अर्थ है - "दुःखेन ईयते प्राप्यते इति दूरम्।" यहाँ गुणादि की प्राप्ति ही नहीं है, अतः उसके निषेध हेतु सूत्रारम्भ व्यर्थ है। यही कारण है कि धातु पद को धातु के अवयव में या एकदेश में लाक्षणिक माना गया है।

सूत्र में विशेषण-विशेष्य भाव - सूत्र पठित धातुलोपे - शब्द बहुब्रीहि समास में है। धातो-र्लोपो यस्मिन् आर्धधातुके स धातुलोपः। तस्मिन् धातुलोपे। अर्थात् धातु या धातु के एकदेश का लोप जिस आर्धधातुक के परे होता है, वह आर्धधातुक धातुलोप आर्धधातुक है। ऐसे धातु लोप (धात्ववयव लोप) निमित्तक आर्धधातुक के परे रहते प्राप्त होने वाले गुण या वृद्धि का प्रकृत सूत्र से निषेध होता है। इस पक्ष में आर्धधातुक पद धातुलोप का विशेषण होता है। और पूर्व सूत्र से अनुवृत्त होने वाले गुणवृद्धी का भी विशेषण होता है। इसी आधार पर व्याकरण - सिद्धान्त सुधानिधिकार ने स्पष्ट रूप से सूत्रार्थ प्रतिपादित किया है - "धात्ववयव लोप प्रयोजकमार्धधातुकं निमित्तीकृत्य प्राप्ते इको गुणवृद्धी न स्तः।"

आर्धधातुक पद के निशेषण विशेष्य भाव के संबंध में भाष्यकार ने तीन पक्षों की उद्भावना की है। प्रथम पक्ष में आर्धधातुक को लोप का विशेषण मानने पर गुण-वृद्धी पद अविशेषित हो जाता है। इस स्थिति में उपेद्धः-प्रेद्धः आदि प्रयोगों में गुण निषेध हो जाएगा। इन प्रयोगों में उप या प्र उपसर्गपूर्वक इन्ध् धातु से क्त प्रत्यय (३.२.१०२.) धातु के नकार का लोप (६.९.२.) प्रत्यय के तकार का धकार और आद् गुणः - (६.१.८७.) से गुण किया गया है। आर्धधातुक निमित्तक धातु के एकदेश नकार का लोप विहित है। अतः अविशेषित गुण का निषेध प्रकृत सूत्र से संभव है। इस दोष के निवारणार्थ द्वितीय पक्ष में

आर्धधातुक पद को गुण-वृद्धी का विशेषण माना जाए। इस पक्ष में उपेद्धः आदि में आद्गुणः से होने वाला गुण आर्धधातुक प्रत्यय निमित्तक न होने के कारण प्रकृत सूत्र से उसका निषेध नहीं हो सकता। इस पक्ष में उपेद्धः आदि प्रयोगों में संभाव्य दोषों का निराकरण हो जाता है किन्तु क्नोपयति आदि रूपों में दोष की संभावना उत्पन्न हो जाती है। क्नोपयति में क्नूय धातु से णिच् (३.१.२६.), पुगागम (७.३.३६.) और यकार का लोप (६.१.६६.) करने पर "पुगन्तलघूपधस्य च" - (७.३.८६.) सूत्र से गुण होकर क्नोपयति सिद्ध होता है। इस स्थल पर णिच् रूप आर्धधातुक को निमित्त मानकर गुण निषेध प्राप्त हो रहा है। प्रथम पक्ष में जब आर्धधातुक पद को लोप का विशेषण माना गया था तब यह दोष प्रसक्त नहीं था क्योंकि इस लोप का निमित्त पकार है, आर्धधातुक प्रत्यय नहीं है।

सिद्धान्ततः उपर्युक्त दोनों पक्षों में प्रदर्शित अनुपपत्तियों का समाधान संभव है। प्रथम पक्ष में (आर्धधातुक निमित्ते लोपे सति) उपेद्धः आदि में गुण निषेध्र की संभावना को "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" की सहायता से दूर किया जा सकता है। न धातु लोप० की दृष्टि से आद् गुणः बहिरङ्ग है अतः अन्तरङ्ग निषेध की दृष्टि से असिद्ध हो जाता है। द्वितीय पक्ष में (लोपे सति आर्धधातुक निमित्ते गुणवृद्धी न स्तः) क्नोपयति प्रयोगे में गुण प्रत्तिप निषेध का परिहार "निपातनात" किया जा सकता है। "चेले क्नोपेः" - (३.४.३३.) सूत्र में आचार्य पाणिनि "क्नोपेः" शब्द का उच्चारण करते हैं। इसका अभिप्राय है कि क्नूय् में गुण का निषेध नहीं होता।

सूत्र का परिभाषात्व - सामान्यतः परिभाषा सूत्र अनियम की स्थिति में नियम बनाते हैं अथवा लक्ष्य संस्कारक विधि सूत्रों की सहायता कर उनके साथ एकवाक्यता स्थापित करते हैं और अभीष्ट प्रयोगों की सिद्धि में अपना योगदान देते हैं। निषेध सूत्र भी निषेध्य की आकांक्षा में उनके साथ एकवाक्यता कर अर्थबोध कराते हैं। इस सादृश्य के कारण निषेध सूत्रों को भी परिभाषा माना गया है। क्ङिति च -(१.१.५.) सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने इसका संकेत किया है। (कार्यकालं संज्ञा परिभाषम्। यत्र कार्यं तत्र द्रष्टव्यम् - सार्वधातुकार्धधातुकयोर्गुणो भवतीत्युपस्थितमिदं भवति, क्ङिति नेति।)

उद्योतकार के शब्दों में - निषेधेऽपि परिभाषासादृश्यात् परिभाषात्वमुक्तम्। सादृश्यं च निषेद्याकांक्षतया तदेकवाक्यता - मात्रेणेति बोध्यम्। - (उद्योत - १.१.५.)

परिभाषा का लिङ्ग - निषेध सूत्रों को निषेध की आकांक्षा होने से स्पष्ट है कि निषेध्य सूत्र ही इनकी प्रवृत्ति लिङ्ग या विषय है। कैयट के शब्दों में - "यत्र गुणवृद्धी विधीयेते, तत्र क्ङिति नेत्युपतिष्ठते इत्येवमियं परिभाषा भवति।"

उद्योतकार ने प्रकृत सूत्र के परिभाषात्व की पुष्टि करते हुए कहा है कि जहाँ-जहाँ इकोगुणवृद्धी परिभाषा सूत्र की प्रवृत्ति होती है वहीं "न धातु लोप०" सूत्र की प्रवृत्ति होती है। अतः सिद्ध है कि इकोगुणवृद्धी के समान इसमें भी परिभाषत्व है। (**"यत्रेदं तत्र न धात्वत्युपतिष्ठते" इत्यर्थेनास्यापि परिभाषात्वाङ्गीकार इति भावात्। यद्वा यत्रेदं तद्विहिते गुणवृद्धी नेत्यर्थः। तद्वक्ष्यति यत्रेक् परिभाषा व्याप्रियते तत्रायं निषेध इति। - उद्योत - १.१.४.)**

धातु ग्रहण का प्रयोजन - सूत्र में धातु ग्रहण के कारण धातु के अनुबन्ध या प्रत्यय का लोप होने पर सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। जैसे - लूञ् धातु से लविता [3] लवितुम् प्रयोग सिद्ध होते हैं। इनमें धातु से संबद्ध ञ् अनुबन्ध का लोप हुआ है, जो धातु का अंश नहीं है। सूत्र - १.३.१. के अनुसार क्रियावाचक की ही धातु संज्ञा होती है, क्रिया वाचकता लूञ् में नहीं लू में है। प्रत्यय लोप का उदाहरण रेट् प्रयोग में उपलब्ध होता है। रिष धातु से अन्येम्योऽपि दृश्यते - (३.२.७५.) से विच् प्रत्यय है। विच् में सर्वापहारि लोप (वेरपृक्तस्य - ६.१.६.) होता है। प्रत्यय लक्षण मानकर लघूपध गुण - (७.३.८६.) होकर, ष् को जशत्व - (८.२.३९.) और चर्त्व करने पर रेट् प्रयोग सिद्ध होता है। यहाँ विच् प्रत्यय का लोप है, जो धातु का अवयव नहीं है। अतः प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती और परिणामतः उपधा गुण सिद्ध हो जाता है।

आर्धधातुक ग्रहण का प्रयोजन - आर्धधातुक ग्रहण के सामर्थ्य से सार्वधातुक के परे गुण-वृद्धि का निषेध नहीं होता। जैसे - रोरवीति प्रयोग में यङ् लुगन्त रू धातु से तिप् प्रत्यय विहित है जो सार्वधातुक होने से गुण का निषेध नहीं हुआ।

सम्पूर्ण सूत्र का निष्कृष्टार्थ यह हुआ कि जिस आर्धधातुक प्रत्यय के परे रहते धातु के अवयव का लोप हुआ है उसी आर्धधातुक प्रत्यय के परे रहते प्राप्त होने वाली इग्लक्षण् गुण वृद्धि का निषेध होता है। भेद्यते-छेद्यते आदि प्रयोगों में गुण का निषेध नहीं है क्योंकि धातु के अवयव विच् के लोप का निमित्त यक् प्रत्यय है और गुण का निमित्त णिच् प्रत्यय है। इस प्रकार धात्ववयव के लोप का निमित्त और गुण का निमित्त भिन्न है। दोनों कार्यो का निमित्त भिन्न-भिन्न होने से प्रकृत सूत्र प्रवृत्त नहीं होता और लघूपध गुण हो जाता है। इसके अतिरिक्त इग्लक्षण् गुण वृद्धि ही निषेध्य है, अनिग्लक्षण नहीं। उदाहरणार्थ राज्ञः, अभाजि आदि प्रयोगों में रञ्ज् तथा भञ्ज् धातुओं के नकार का लोप होकर (अनिदिताम्० - ६.४.२४.) क्रमशः घञ् और णिच् प्रत्यय परे रहते, अत उपधायाः - (७.२.११६.) से वृद्धि हो जाती है। यह इग्लक्षणा वृद्धि नहीं है अतः प्रकृत सूत्र से वृद्धि का निषेध नहीं होता।

सूत्र के उदाहरण - लोलूवः, पोपुवः, मरीमञ् [4] इत्यादि प्रयोगों में गुण-वृद्धि का निषेध ही प्रकृत सूत्र का प्रयोजन है। इन प्रयोगों में लोलूय - पोपूय और मरीमृन्य ये यङन्त धातुएँ हैं। इनसे पचाद्यच् - (३.१.१३४.) करने पर यङोऽचि च - (२.४.७४.) सूत्र से यङ् का लुक् होता है। यङ् लुक् के पश्चात् लोलू+अ, पोपू+अ, मरीमृज्+अ इस स्थिति में ऊकार को गुण - (७.३.८४.) और मृज् को वृद्धि - (७.२.११४.) प्राप्त होती है। प्रस्तुत सूत्र के बल से गुम वृद्धि का निषेध होता है और लोलुवः-पोपुवः में उवङ् आदेश (अचि श्नु० - ६.४.७७.) होकर अभीष्ट रूपों की सिद्धि हो जाती है।

निषेध का क्षेत्र - प्रकृत सूत्र के द्वारा गुण वृद्धि का निषेध सार्वत्रिक है अथवा नहीं ? इस संबंध में स्वयं वार्तिककार ने स्पष्ट रूप से निर्देश किया है। "यङ्-यक्-क्य-व लोप प्रतिषेधः" वार्तिक में निषेध्य स्थलों को परिगणन किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि न धातुलोप आर्धधातुके के स्थान पर "न यङ्-यक्-क्य व लोप आर्धधातुके" सूत्रारम्भ ही कर्तव्य है। इस स्थिति सम्पूर्ण सूत्र का अर्थ होगा धातु के अवयवभूत यङ्-यक्-क्य और व का लोप होने पर लोप के निमित्तभूत आर्धधातुक के परे प्राप्त होने वाली गुण या वृद्धि का निषेध होता है।

उदाहरण एवं विवरण - यङ् लोप - बेभिदिता-मरीमृजः बेभिदिता में भिदिर् विदारणे धातु से "धातोरेकाचो०" - (३.१.२२.) सत्र से यङ्, द्वित्व - (६.१.९.) और अभ्यासादि कार्य करने पर बेभिद्य धातु (सनाद्यन्ता० - ३.१.३२.) निष्पन्न होता है। इस धातु से कर्ता अर्थ में तृच् - (३.१.१३३.) इडागम - (७.२.३५.) बेभिद्य इस स्थिति में यस्य हलः - (६.४.४९.) से य लोप करने पर बेभिद् + इ + तृ में लघूपध गुण - (६.३.८६.) प्राप्त है, जिसका न धातु० सूत्र से निषेध होता है और बेभिदिता रूप सिद्ध होता है।

मरीमृजः में यङन्त मरीमृज्य् धातु से पचाद्यच् - (३.१.१३३.) होकर मरीमृज्य + अ - स्थिति में यङोऽचि - (२.४.७४.) से यङ् लोप होने पर लघूपध गुण - (६.३.८६.) प्राप्त है, प्रकृत सूत्र से निषेध होता है।

यक् लोप - कुषुभिता-प्रयोग में कुषुम-क्षेपे इस कण्ड्वादि धातु से यक् प्रत्यय-(३.१.२७.), तृच्-(३.१.१३३.) इडागम करने पर यस्य हलः - (६.४.४९.) से य का लोप होता है। कुषुभ् + इ + तृ कुषुभिता रूप सिद्ध होता है। यहाँ भी सघूपध गुण - (६.३.८६.) का निषेध प्रकृत सूत्र से होता है।

मगधकः में मगध परिवेष्टने धातु से यक् - (३.१.२७.), ण्वुल् - (३.१.१३३.) करने पर मगध् + यक् + अक् - स्थिति में यस्य हलः - (२.४.२४.) से य लोपे और अतउपधायाः - (७.२.११६.) से उपधा वृद्धि प्राप्त है, प्रकृत सूत्र से निषेध हो जाता है।

क्यच् लोप - समिधिता - दृषदकः में क्यच् प्रत्ययान्त समिध्य और दृषद्य धातुओं से क्रमशः तृच् और ण्वुल् प्रत्यय - क्यस्य विभाषा - (६.४.५०.) से क्यच् का वैकल्पिक लोप होने पर समिधः में उपधा गुण और दृषद् में उपधा वृद्धि प्राप्त है। प्रस्तुत सूत्र से निषेध होने पर समिध् + ता में इडागम से समिधिता और दृषद् + अकः दृषदकः रूप सिद्ध होते हैं।

लोप - जीव प्राणधारणे धातु से "जीवे रदानु" इस भाष्य वचनानुसार रदानु प्रत्यय, लोपो व्यो० - (६.१.६६.) से वकार का लोप करने पर जी + रदानु में इगन्त को गुण (सार्वधातुक०) प्राप्त है, जो "न धातु०" से निषिद्ध हो जाता है।

परिगणन का फल - न धातु लोप० सूत्र से गुण-वृद्धि के निषेध की व्याप्ति को प्रदर्शित करने हेतु उपर्युक्त परिगणन किया गया, जिसका फल है कि यङ्न्यक्-क्य और वलोप में ही आर्धधातुक निमित्तक गुणवृद्धि का निषेध होता है, अन्यत्र आर्धधातुक निमित्तक धात्वंश का लोप होने पर भी आर्धधातुक निमित्तक गुण-वृद्धि की प्रवृत्ति निर्बाध होती है। जैसे - १. नुम् लोप में,' २.स्रिव् धातु के वकार का लोप होने पर, ३. अनुबन्धों का लोप होने पर। **(नुम् लोपस्रिव्यनुबन्धलोपे ऽ प्रतिषेधार्थम् - म. भा. वा. - २)**

१. नुम् लोप के उदाहरण - अमाजि-रामः - उपबर्हणम् आदि में प्राप्त है। मञ्ज् धातु से

कर्मणि लुङ्, च्लि, चिण् करने पर "मञ्जेश्च चिणि" सूत्र से नकार का लोप, अत उपधाया से वृद्धि करने पर अभाजि रूप सिद्ध है।

रञ्ज् रागे धातु से घञ् प्रत्यय "घञि च भावकरणयोः" - (६.४.२७.) से नलोप और उपधा वृद्धि करने से रामः की सिद्धि होती है। उपवर्हणम् बृहि वृद्धौ धातु से नुमागम - (७.१.६८.) ल्युट् बृहैरच्यनिटि से नकार लोप और लघूपध गुण होता है।

२. अनुबन्ध लोप का उदाहरण लूञ् धातु से निष्पन्न लविता लवितुम् में प्राप्त होता है। इन प्रयोगों में भी ञकार अनुबन्ध का लोप होने पर लु + इ + तृच् तथा लू + इ +तुमुन् में सार्वधातुका० से गुण हो जाता है।

३. स्त्रिव धातु के वकार का लोप होने पर आस्त्रेमाणम् रूप सिद्ध होता है। इस प्रयोग में स्त्रिवु गतिशोषणयोः (आङ्पूर्वक) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते से मथिन् प्रत्यय - लोपो व्यो० से वकार का लोप इकार को गुण (सार्वधातुका०) करने पर आस्त्रेमाणम् रूप सिद्ध होता है।

संक्षेप में न धातु० सूत्र की व्याप्ति को सोदाहरण इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है।

न धातुलोप आर्धधातुके

प्रवृत्ति (गुण-वृद्धि का निषेध)	निवृत्ति (गुण-वृद्धि का अप्रतिषेध)
(यङ्-यक्-क्य-व लोप में)	(न लोप-स्त्रिव् में वलोप अनुबंध लोप)
उदाहरण	उदाहरण
१. मरीमृजकः वेभिदिता (यङ्लोप)	१. अमाजि-रागः उपवर्हणम् (न लोप)
२. मगधकः कुषुभिता (यक् लोप)	२. आस्त्रेमाणम् (स्त्रिव् में व लोप)
३. दृषदकः सनिधिता (क्यलोप)	३. लविता-लवितुम (अनुबंध लोप)
४. जीरदानुः (व लोप)	

अव्याप्ति दोष - सूत्र की व्याप्ति को परिगणन के द्वारा नियमित करने पर कतिपय स्थलों पर अव्याप्ति दोष की संभावना होती हैं। जैसे - स्यदः, प्रश्रथः, हिमश्रथः इत्यादि प्रयोगों में वृद्धि प्रसक्त हो जाएगी क्योंकि गुण या वृद्धि के निषेध हेतु परिगणित प्रत्ययों में घञ् का समावेश नहीं है। स्यदः आदि प्रयोगों में घञ् प्रत्यय विहित है।[६]

दोष का निवारण - स्यदः में वृद्धि की प्रसक्ति को "स्यदो जवे" इस निपातन के द्वारा प्रश्रथः, हिमश्रथः की वृद्धि का अवोदैधौद्म प्रश्रथः हिमश्रथाः निपातन के द्वारा निवृत्त किया जा सकता है। अतः परिगणन में कोई दोष परिलक्षित नहीं होता - तथापि न धातु० सूत्र की प्रवृत्ति और निवृत्ति हेतु परिगणन का औचित्य दृष्टिगोचर नहीं होता। परिगणन के अभाव में अमाजि-रागः इत्यादि प्रयोगों में प्रकृत सूत्र की अति प्रसक्ति की आशंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि प्रकृत सूत्र में पूर्व सूत्र से इकः पद भी

अनुवृत्त होता है और धात्ववयव के लोप का निमित्त भूत आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर इग्लक्षण गुण वृद्धि का ही निषेध होता है, अमाजि - रागः आदि प्रयोगों में इग्लक्षण वृद्धि नहीं है। उपबर्हणम् आस्रेमाणनम् लविता आदि रूपों में धात्वंश का लोप तो है किन्तु वह आर्धधातुक निमित्तक नहीं है। अतः परिगणन करने का कोई फल नहीं है। जीरदानु [७] शब्द की निष्पत्ति जीव धातु से न कर ज्या धातु से करनी चाहिए, जिससे वकार के लोप का प्रसंग ही नहीं रहता। परिगणन के अभाव में भेद्यते-छेद्यते आदि में निषेध की आशंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि इन प्रयोगों में धात्ववयव के लोप का निमित्त तो णिच् आर्धधातुक है और गुण का निमित्त यक् है। दोनों कार्य आर्धधातुक निमित्तक होने पर भी भिन्न-भिन्न आर्धधातुक प्रत्ययों की निमित्तता हैं। प्रकृत निषेध सूत्र में धातुलोप पद का विग्रह धातोः लोपः = धातुलोपः - तस्मिन् धातुलोपेः - इस प्रकार षष्ठी तत्पुरुष का नहीं है अपितु "धातो लोपो यस्मिंस्तत् धातुलोपम् तस्मिन् धातुलोपेः" - इस प्रकार सप्तमी बहुब्रीहि परक करना चाहिए। ऐसा विग्रह करने पर लोप का निमित्त और गुण वृद्धि का निमित्त एक ही होने पर सूत्र की प्रवृत्ति सिद्ध होती है।

पापचकः पापठकः मगधकः दृषदकः इत्यादि प्रयोगों में निषेध की अप्रसक्ति की संभावना का निराकरण अलोप के स्थानिवत्व के द्वारा किया जा सकता है। जैसे - पापचकः, पापठकः में पापच्य, पापठ्य इन यङन्त धातुओं से ण्वुल् प्रत्यय अतो लोपः - (६.४.४८.) से अलोप और यस्य हलः से यकार लोप होता है। मगधकः - दृषदकः में कण्ड्वादि मगध्य और क्यजन्त दृषध धातु है। इनमें भी ण्वुल् प्रत्यय अतोलोप और यलोप कर अभीष्ट रूपों की सिद्धि हो जाती है। इनमें अत उपधायाः से प्राप्त वृद्धि का निषेध प्रकृत सूत्र से संभव नहीं होगा, क्योंकि यह इग्लक्षण वृद्धि नहीं है। अतः वृद्धिनिषेध के लिए अतो लोपः से होने वाला अकार लोप "अचः परस्मिन्" - (१.१.५७.) से स्थानिवत् मानकर उपधा वृद्धि का निषेध किया जा सकता है।

निष्कर्षतः "न धातु०" सूत्र की प्रवृत्ति निवृत्ति के नियमन हेतु परिगणन करना निष्प्रयोजन है। भाष्यकार एवं वार्तिककार ने न केवल सूत्र के प्रयोजन को अन्यथा सिद्ध किया है, वरन् सम्पूर्ण सूत्र को ही प्रत्याख्येय माना है।

सूत्र का प्रत्याख्यान - भाष्यकार और वार्तिककार ने स्थानिवद्भाव के द्वारा सम्पूर्ण सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहा है - "अनारम्भो वा। अनारम्भो वा पुनरस्य योगस्य न्याय्यः।" स्थानिवद्भाव के द्वारा सूत्र सिद्ध सभी प्रयोगों को अन्यथा सिद्ध किया जा सकता है। जैसे - लोलुवः, पोपुवः में अतो लोपः से विहित अकार का लोप अच् स्थानिक होने से "अचः परस्मिन् पूर्व विधौ" सूत्र से स्थानिवत् होता है। स्थानिवत् होने से गुण या वृद्धि में उसका व्यवधान हो जाता है और गुण या वृद्धि की प्राप्ति नहीं हो पाती। इस स्थल पर यह ध्यातव्य है। कि "यडो ऽचि च" सूत्र से सम्पूर्ण यङ् का लोप होता है, तब लोप को अजादेश कैसे माना जा सकता है? इसके समाधान के लिए अतोलोपः से यस्य हलः सूत्र में अतः की अनुवृत्ति की जाती है। तब "यस्य हलः" का अर्थ होता है - य के अकार का लोप होगा और इस स्थिति में वह अजादेश होने से स्थानिवत् होकर गुण या वृद्धि का बाधक हो जाएगा। इसकी सिद्धि के लिए सूत्रारम्भ आवश्यक नहीं है।

निष्कर्ष - भाष्य और वार्तिक के अनुसार विविध युक्तियों से स्थानिवद्भाव के द्वारा प्रकृत सूत्र का प्रत्याख्यान किया जा सकता है। भाष्यकार ने सूत्रारम्भ पक्ष में कोई स्पष्ट संकेत नहीं किया है। वृत्तिकारों ने "धिन्विकृण्व्योरच" सूत्र के आधार पर पाणिनि की भी प्रकृत सूत्र के प्रति विशेष अभिरुचि प्रकट नहीं की है। धिन्विकृण्व्यो० सूत्र से धिन्व् और कृण्व् धातुओं से उ प्रत्यय और प्रत्यय सन्नियोग से धातु के वकार के स्थान पर अकार आदेश का विधान होता है। आर्धधातुक उ के परे वकार स्थानिक अकार का अतो लोपः से लोप होता है। लोप होने पर धिन् + उ / कृण् + उ में लघुपध गुण प्राप्त है, जो अलोप को स्थानिवत् (अचः परस्मिन् पूर्वविधौ) करने पर अकारादेश और उसका लोप करने की अपेक्षा वकार का लोप कर धिन्विकृण्व्योलोपश्च ऐसा सूत्रन्यास करने पर इष्ट सिद्धि हो सकती है। धिन् + उ / कृण् + उ में प्राप्त लघूपध गुण का "न धातुलोपः" से बाध हो ही जाता किन्तु सूत्रकार इस प्रक्रिया की अपेक्षा वलोप अकारादेश और उ का स्थानिवद्भाव करते हुए लघुपध गुण की निवृत्ति का समर्थन करते हैं। इससे प्रतीत होता है कि सूत्रकार भी "न धातु लोप०" की उपयोगिता का समर्थन नहीं करते। अष्टाध्यायी में इसका यथास्थान पाठ होता है क्योंकि सूत्रकार की वह शैली है कि एक बार कोई सूत्रारम्भ कर दिया उसे बाद में खण्डित नहीं करते। **(न चेदानीमाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति। - पस्पशा)** शब्दरत्नकार के शब्दों में "एतदेवाभिप्रेत्य धिन्विकृण्व्योरच इति सूत्रे किमर्थमत्वं विधीयते वलोप एवास्तु इत्याशङ्क्य अत्वे अत्लोपे तस्य स्थानिवत्वेन गुणाभावाय तत्। न च वलोपेऽपि न धातु इति गुणनिषेधः सिद्ध इति वाच्यम्। तत्प्रत्याख्यान पक्षे गुणप्राप्ते रित्युक्तम्। अनेन सूत्रमतात् प्रत्याख्यानवादिमत्तं प्रबलमिति प्रत्याख्यान वादि संमत लक्ष्यमेव कथञ्चित् सूत्रमते ऽपि साध्यम्। .... प्रत्याख्यानं सूत्रसंमतमिति च ध्वनितम्।"

स्वाभिमत - सूत्रकार के पक्ष में यह विचारणीय है कि भविष्य में आने वाले वार्तिककार और भाष्यकार की दृष्टि में न धातु लोप० सूत्र प्रत्याख्येय हो सकता है, इस आशंका से आचार्य पाणिनि धिनोति, कृणोति की सिद्धि के लिए "धिन्विकृण्व्योर्लोपश्च" सूत्र न्यास नहीं करते वरन् धिन्विकृण्व्योश्च सूत्र पढ़ते हैं। यह प्रतिपादन तर्क संगत प्रतीत नहीं होता। सूत्रकार के मत से प्रत्याख्यान वादियों का मत प्रबल होता है। यह मानकर न धातुलोप० सूत्र के प्रत्याख्यान में सूत्रकार की सम्मति मानना शास्त्रीय दृष्टिकोण से उचित नहीं है। आचार्य चन्द्रमानिन आदि प्रमुख अर्वाचीन वैयाकरणों ने अपने-अपने ग्रन्थों में इस सूत्र को स्थान दिया है।[८] यदि यह सूत्र पूर्णतः प्रत्याख्यान योग्य होता तो इन व्याकरण ग्रन्थों में इनका उल्लेख नहीं मिलता।

<u>सार - संकलन</u>

न लोप आर्धधातुके हि सूत्रमेतदस्ति यद्
वृद्धिरेषिकापि गुणश्च तेन बाध्यते ध्रुवं हि
न चास्ति तत्प्रयोजनं यङो यकश्च वाक्ययो-
रनेन लोप एष इष्यते विधेहि मन्यतां तम्॥ १॥

वस्तुतश्चतुषु तेषु च स्थलेषु निश्चितं हि
स्थानिवत्वहेतुनैव नो गुणादिके भवेद्यतः
प्रश्रथः स्यादादिकं निपातनेन सिद्ध्यति
स जीरदानुशब्द एष सम्प्रसारणाद् भवेत्॥ २॥

स्थानिवत्वहेतुनैव लोलुवादि सिद्ध्यति
योग भाग संश्रयाल्लुको ऽवकाश एव नास्ति
भिन्न वर्ण संश्रयाल्लुगत्र लोप बाधिता
सन्निपात लक्षणान्न कश्चिदस्ति दोष एव ॥ ३ ॥

❀❀❀

शब्द संकेत

१. इकोगुण वृद्धी सूत्र के अनन्तर तत्काल न धातुलोप० यह निषेध सूत्र पठित है अतः स्वभावतः इकोगुण वृद्धी न धातुलोप० इसप्रकार सूत्र पाठानुसार धातुलोपनिमित्ते आर्धधातुके परे इको गुणवृद्धी न भवतः। ऐसा अर्थ निष्पन्न होना चाहिए।

गुण अथवा वृद्धि विधायक सूत्र परिभाषा दृष्टि से संस्कार्य है। इको गुणवृद्धी परिभाषा सूत्र - विधिसूत्रों का संस्कारक है अथवा उपकारक है अतः गौण कहा जाता है। तथापि "गुण वृद्धी" पद ही परिभाषा की उपस्थिति का लिङ्ग हैं, अतः प्रधान माना जाता है, यही कारण है कि कैयटादि ने "गुणवृद्धयो प्राधान्यादय निषेधो न तु तद्गुणभावादिक् परिभाषायाः।" कहा है। इस विषय में मीमांसकों का न्याय ध्यातव्य है, जिसके अनुसार वे तिङ् वाच्य भावना के द्वारा कर्ता का आक्षेप होने से कर्ता में क्रिया के प्रति गुणी भाव होता है - तथापि कर्ता में प्राधान्य माना जाता है। उसी प्रकार प्रकृत प्रसङ्ग में गुण-वृद्धि कार्य भी गुणीभूत होने पर भी संस्कार्य होने से प्रधान कहे जाते हैं। (परिभाषाणां स्ववृत्तिलिङ्गचिह्नितोपस्थितित्व नियमात्)

यदि न धातुलोप० सूत्र "इकोगुणवृद्धी" का निषेधक होता तो "दीधीवेवीटाम्" - (१.१.६.) सूत्र व्यर्थ हो जाता। इस स्थिति में दीधी० आदि धातुओं के गुण-वृद्धि की कर्तव्यता में इक् पद की उपस्थिति का निषेध होता। इस निषेध के लिए पृथक् सूत्रारम्भ की कोई आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि यह निषेध अलोऽन्त्यस्य परिभाषा से अन्यथा सिद्ध था। अतः प्रकृत सूत्र इक् स्थानिक गुणवृद्धि का निषेधक माना गया है। इक् - पदोपस्थिति का निषेधक नहीं।

२. बेभिदः और मरीमृजः में बेभिद्य और मरीमृज्य यङन्त धातु है। भिद् विदारणे और मृज शुद्धौ धातुओं से यङ् - (३.१.२२.), द्वित्व - (६.१.९.) और अभ्यासादि कार्य करने पर सनाद्यन्ता धातवः - (३.१.३२.) से इनकी धातु संज्ञा होती है। ये धातुएँ पचादि गण पठित होने के कारण "नन्दिग्रहि पचादिभ्यो०" - सूत्र से अच् प्रत्यय होता है। "यङोचिच" - (२.४.७४.) सूत्र से यङ् का लोप होने पर बेभिद और मरीमृजः प्रातिपदिकों की सिद्धि होती है।

लोलुपः पोपुवः में लुञ् छेदने और पूञ् पवने धातुओं से "यङ्" - (३.१.२२.),

"द्वित्व" - (६.१.९.) और अभ्यास कार्य पचादित्वात् अच् प्रत्यय और "यङो चि च" से यङ् लुक् होकर लोलू + अच् पोपू + अच् स्थिति में "अचि श्नु धातु०" सूत्र से उवङादेश होकर लोलुवः, पोपुवः रूप सिद्ध होते हैं।

३. लोलुवः - पुनः पुनः लुनाति, पोपुवः - पुनः पुनः पुनाति।

४. मरीमृजः - पुनः पुनः मार्ष्टि
पौनः पुन्य अर्थ में (धातोरेकाचोहलादेः क्रिया समभिहारे० - ३.१.२२.) धातु से यङ् प्रत्यय होता है।

५. नुम् का तात्पर्य नकार से है। संभवतः पूर्वाचार्यों ने नकार की नुम् संज्ञा की हो जिसका प्रयोग भाष्यकार ने किया।

६. स्यदः में स्यन्द् धातु से भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय "स्यदो जवे" से निपातनात् न लोप होता है। प्रश्रयः हिमश्रथः, में श्रन्थ, ग्रन्थ सन्दर्भे धातु से प्र उपसर्ग या हिम उपपद पूर्व में होने पर घञ् प्रत्यय - "अवो दधौ०" से नकार का लोप होता है। इन तीनों उदाहरणों में उपधा वृद्धि की प्रसक्ति है।

७. जीरदानुः में जीव् धातु से रदानु प्रत्यय और लोपो व्यो० से वकार का लोप होता है। यह व लोप आर्धधातुक (रदानु) निमित्तक नहीं है अपितु र - निमित्तक है, अतः "न धातु०" सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती और फलस्वरूप ईकार को गुण की प्राप्ति होती है, जिसके निवारणार्थ जीव् धातु से रक् प्रत्यय की कल्पना की गई है।

८. चान्द्रव्याकरण - अतिङ्याच्च तल्लोपे
जैमिनीय व्याकरण - न घुरवेऽगे
शाकटायन व्याकरण - अविङ्ल्लुग्धेतौ
सारस्वत व्याकरण - यङ् यक् क्यलोपे वृद्धिश्चातिङि
हैम व्याकरण - न वृद्धिश्चाविति विङल्लोपे।

❀❀❀

क्ङिति च
(१.१.५)

सूत्रार्थ - कित्, ङित् अथवा गित् प्रत्ययों को निमित्त मानकर प्राप्त होने वाली इग्लक्षण गुण या वृद्धि का निषेध होता है। "क्ङिति" पद में निमित्त सप्तमी है। "तस्मिन्निति०" परिभाषा की उपस्थिति यहाँ नहीं होती। यदि तस्मिन्निति० परिभाषा की सहायता से प्रकृत सूत्र का अर्थ निष्पन्न किया जाए तो कित्, ङित् प्रत्ययों से अव्यवहित पूर्व में ही प्रकृत निषेध की प्रवृत्ति होगी और चितम्-स्तुतम् में तो गुण का निषेध सिद्ध हो जाएगा किन्तु भिन्नः भिन्नवान् आदि प्रयोगों में गुण का निषेध नहीं हो पाएगा क्योंकि कित् प्रत्यय के अव्यवहित पूर्व में इक् नहीं है। दूसरा प्रयोजन रोरवीति में प्राप्त है। यङ् लुगन्त रोरु धातु से तिप् करने पर उकार को गुण - (७.३.८४.) की प्राप्ति है। यङ् लुक् को प्रत्यय लक्षण करने पर ङित् प्रत्यय पर में प्राप्त होता है। ङित् होने से प्रकृत सूत्र गुण का निषेध कर सकता है किन्तु निमित्त सप्तमी मानने से यह दोष निवृत्त हो जाता है। सार्वधातुकार्ध० सूत्र से प्राप्त गुण ङित् निमित्तक नहीं है अतः गुण का निषेध नहीं होता और रोरवीति रूप सिद्ध हो जाता है। वार्तिककार के शब्दों में - **"क्ङितिप्रतिषेधे तन्निमित्तग्रहणम् उपधा रोरवीत्यर्थम्।"**

अतिव्याप्ति दोष - सूत्र में तन्निमित्त ग्रहण करने से श प्रत्ययान्त और चङ् प्रत्ययान्त प्रयोगों में दोषापत्ति संभावित है। उदाहरणार्थ - रियति, पियति, धियति आदि प्रयोगों में रि, पि और धि धातुओं से लट्, तिप् और तुदादि का श विकरण करन पर धातु के इकार को गुण - (७.३.८४.) प्राप्त होता है। तिप् को मानकर रिअ + ति, धिअ + ति आदि में लघूपध गुण भी प्राप्त है। दोनों गुणों का प्रकृत सूत्र से निषेध अभीष्ट है। तन्निमित ग्रहण करने से तिप् को मानकर प्राप्त लघूपध गुण का निषेध नहीं हो पाएगा क्योकि तिप् प्रत्यय कित् या ङित् नहीं है।

प्रादुद्रुवत्, प्रासुस्रुवत् आदि प्रयोगों में द्रु और स्रु धातुओं से लुङ् और चङ् प्रत्यय होता है। "चङि" - (६.१.११.) से द्वित्व और उवङ् होकर प्रादुद्रुवत्, प्रासुस्रुवत् रूप सिद्ध होते हैं। इन रूपों में भी सार्वधातुकार्ध० और पुगन्तलघूपध० से प्राप्त दोनों गुणों का निषेध होता है। तन्निमित्त ग्रहण से लघुपध गुण जो तिप् निमित्तक है, निषिद्ध नहीं हो पाएगा क्योंकि तिप् प्रत्यय ङित्, कित् नहीं है।

अतिव्याप्ति दोष का निरसन - तन्निमित्त ग्रहण के पक्ष में संभावित उपर्युक्त दोषों का निवारण "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" परिभाषा से संभव है। रियति, पियति आदि प्रयोगों में श प्रत्यय को मानकर प्राप्त इयङ् आदेश (अचिश्नुधातु० - ६.४.७७.) अन्तरङ्ग है और तिप् प्रत्यय को मानकर प्राप्त लघुपध गुण बहिरङ्ग है अतः इयङ् की दृष्टि से असिद्ध हो जाता है और अन्तरङ्ग इयङ् आदेश बहिरङ्ग लघुपध गुण का बाध कर देता है। सार्वधातुकार्ध० से प्राप्त गुण प्रकृत सूत्र से निषिद्ध हो जाता है। इस प्रकार रियति, पियति आदि प्रयोगों की निर्बाध सिद्धि हो जाती है। प्रादु प्रादुद्रुवत् प्रासुस्रवत् आदि में भी अन्तरङ्गत्वात् उवङादेश की सिद्धि हो जाती है और गुणों का निषेध हो जाता है।

तन्निमित्त ग्रहण के अन्य प्रयोजन - प्रकृत सूत्र में तन्निमित्त ग्रहण न करने पर सूत्रार्थ होगा - "कित् - ङित् परे रहते गुण वृद्धि का प्रयोग नहीं होता।" **(क्ङित् परे गुणवृद्धी न प्रयोक्तव्ये**

इति सूत्रार्थः - उद्योत) इस स्थिति में हतः, हथः, उपोयते, औयत, लौयमानिः, पौयमानिः इत्यादि प्रयोगों में असाधुत्व की प्रसक्ति हो जाएगी क्योंकि हतः, हथः में तस्, थस् प्रत्यय ङित् हैं, उसके परे रहते हकार में उच्चरित गुण संज्ञक ह्रस्व अकार असाधु सिद्ध हो जाएगा। उपोयते का ओकार भी यक् प्रत्यय के परे असाधु हो जाएगा। औयते आदि प्रयोगों में वृद्धिसंज्ञक औकार का उच्चारण यक् के परे रहते असाधु हो जाएगा।

भगवान् पतञ्जलि ने उपर्युक्त अनुपपत्ति का निवारण इस प्रकार किया है कि हतः - हथः आदि प्रयोगों में धातु से अकार का विधान नहीं है। प्राप्तस्यैव निषेधः न्याय के अनुसार विधि सूत्र से प्राप्त गुण या वृद्धि का ही प्रकृत सूत्र से निषेध होता है। **(प्रसक्तस्यानभिनिवृत्तस्य प्रतिषेधेन निवृत्तिः शक्या कर्तुम्। अत्र च धातूपदेशावस्थायामेवाकारः - महाभाष्य)** ओयते, औयत इत्यादि प्रयोगों में उप + ऊयते, आ + ऊयत स्थिति में प्राप्त गुण (आद् गुणः) और वृद्धि (आटश्च) कार्य उभय पदाश्रित होने के कारण बहिरङ्ग है और प्रकृत सूत्र अन्तरङ्ग है, अतः निषेध सूत्र की दृष्टि से गुण वृद्धि असिद्ध हो जाते हैं। परिणाम स्वरूप इन प्रयोगों में असाधुत्व की आशंका उपस्थित नहीं होती। लौयमानिः, पौयमानिः इत्यादि रूपों में भी तद्धित इञ् प्रत्यय के परे आदिवृद्धि बहिरङ्ग है जो प्रकृत निषेध की दृष्टि से असिद्ध हो जाती है, अतः अभीष्ट रूपों की सिद्धि में प्रकृत निषेध से कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती। "नेनिक्ते" आदि उदाहरणों में भी अभ्यास में श्रूयमाण एकार रूप गुण, आत्मनेपद में त प्रत्यय ङित् होने के कारण अनुपपन्न हो सकता है जो तन्निमित्त ग्रहण के कारण साधु सिद्ध हो सकता है - यह कथन उचित नहीं है। अभ्यास में उच्चरित गुण और ङित् प्रत्यय के मध्य व्यवधान होने के कारण दोष की संभावना नहीं है।

निष्कर्षतः वार्तिककार के अनुसार तन्निमित्त ग्रहण के दो प्रयोजन प्रतिपादित हैं। **(उपधा रोरवीत्यर्थम्)** भाष्यकार ने इस तन्निमित्त ग्रहण का अनेक उदाहरणों में उपयोग प्रदर्शित कर स्वतः ही उनकी अन्यथा सिद्धि कर दी है। भाष्यकार ने वार्तिकोक्त प्रयोजनों की अन्यथा सिद्धि प्रतिपादित की है।

भिन्नः भिन्नवान् प्रयोगों में उपधा को गुण निषेध की प्रवृत्ति के लिए तन्निमित्त ग्रहण की आवश्यकता प्रतिपादित करना व्यर्थ है। क्ङिति च सूत्र में पूर्व सूत्र से धातु पद की अनुवृत्ति होती है, जिससे सूत्रार्थ यह निष्पन्न होता है - धातु से विहित कित् अथवा ङित् प्रत्यय के परे रहने पर पूर्व में प्राप्त गुण या वृद्धि का निषेध होता है। इस अर्थ निष्पत्ति में भिन्नः भिन्नवान् आदि प्रयोगों में गुण निषेध की प्रवृत्ति हो जाती है क्योंकि भिद् धातु से कित् प्रत्यय (क्त) विहित है, जिसके परे रहते धातु की उपधा को गुण प्राप्त है। इको रूप उपधा में और त प्रत्यय में दकार का व्यवधान होने पर भी धातु और कित् तकार में व्यवधान नहीं है अतः निषेध प्रवृत्त हो जाता है।

क्ङिति का परिभाषात्व - संज्ञा अथवा परिभाषा का विधियों के द्वारा आकर्षण होता है। **(कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्)** इस न्याय के आधार पर गुण विधायक "पुगन्तलघूपधस्य" सूत्र के पास "क्ङिति च" की उपस्थिति होती है। **"यत्र गुणवृद्धी विधीयेते तत्र क्ङिति नेत्युपतिष्ठते इत्येवमिदं परिभाषा भवति"** कैयट ने स्पष्ट रूप से इसे परिभाषा स्वीकार कर विधि के साथ एकवाक्यता प्रतिपादित की है। भाष्यकार के शब्दों में - **"अथवा कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्। यत्र कार्यं तत्र द्रष्टव्यम्।**

पुगन्तलघूपधस्य गुणो भवतीत्युपस्थितमिदं भवति क्ङिति नेति ।" कार्यकाल पक्ष में संज्ञा और परिभाषाएँ विधि सूत्रों के पास उपस्थित होकर अर्थबोध कराती हैं । इस नियम के अनुसार "क्ङिति च" सूत्र "पुगन्तलघूपधस्य०" के प्रदेश में उपस्थित होकर एकवाक्यता करता है और लक्ष्य सिद्धि में सहायक होता है । इससे स्पष्ट है कि भाष्यकार को "क्ङिति च" में परिभाषाधर्म स्वीकार है।

निषेध सूत्रों को निषेध्य की आकांक्षा होती है। क्ङिति च निषेध को भी निषेध्य अर्थात् गुण वृद्धि विधायक सूत्रों की आकांक्षा होगी। यह व्यवस्था यथोद्देश पक्ष में प्रस्तावित है। भाष्यकार ने प्रस्तुत निषेध सूत्र में यथोद्देश पक्ष का आश्रय कर लक्ष्य सिद्धि का अन्य विकल्प भी प्रस्तुत कर दिया है। "अथवा यदेतस्मिन् योगे क्ङिद् ग्रहणं क्रियते तदनवकाशम्। तस्यानवकाशत्वाद् गुणवृद्धी न भविष्यत:" भाष्यकार की यह उक्ति यथोद्देश पक्ष में चरितार्थ होती है । **(अथवा यथोद्देशपक्षश्रयेण भाष्यम्। - कैयट)**

"क्ङिति च" सूत्र से इष्ट सिद्धि - प्रकृत सूत्र में वार्तिककार ने तन्निमित्त ग्रहण की आवश्यकता प्रतिपादित की है और उसके दो प्रयोजन - १. उपधा, २. रोरवीति, प्रदर्शित किए हैं। सिद्धान्तत: ये दोनों प्रयोजन अन्यथा सिद्ध हैं। आचार्य पाणिनि ने "त्रसिगृधि०" - (३.२.१४०.) सूत्र में क्नु प्रत्यय में ककार अनुबन्ध लगाया है अथवा "हलन्ताच्च" - (१.२.१०.) सूत्र में सन् प्रत्यय को कित्त्व का अतिदेश किया है, जो यह ज्ञापित कराता है कि क्ङिति च सूत्र से उपधा लक्षण गुण का निषेध होता है। यदि उपधा लक्षण गुण का निषेध न होता तो कित् करण निरर्थक हो जाता।

रोरवीति रूप की सिद्धि में भी तन्निमित्त ग्रहण का फल दृष्टिगोचर नहीं होता। रोरवीति में कित् अथवा ङित् प्रत्यय विद्यमान नहीं है। यङ् का लुक् होने पर न "लुमताङ्गस्य" - (१.१.६३.) से प्रत्यय लक्षण का निषेध हो जाता है।

रोरवीति के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण समाधान यह है कि रोरवीति प्रयोग छान्दस है। छान्दस प्रयोगों के विषय में "दृष्टानुविधिश्च छन्दसि भवति" नियम के अनुसार वैदिक प्रयोगों को यथावत् मानकर उनकी सिद्धि की जाती है । सूत्रों की प्रवृत्ति के अनुसार उनमें रूप निष्पत्ति प्रदर्शित नहीं की जाती। अत: रोरवीति में "क्ङिति च" से गुण निषेध नहीं होता और अभीष्ट रूप सिद्ध हो जाता है।

"असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे" के अनुसार तिप् प्रत्यय को मानकर प्रवृत्त होने वाले गुण (रोरु + यङ् + ति) बहिरङ्ग है तथा यङ् को मानकर प्राप्त क्ङिति च सूत्र का निषेध अन्तरङ्ग है। अत: अन्तरङ्ग निषेध की दृष्टि से बहिरङ्ग गुण असिद्ध हो जाता है। इसके फलस्वरूप निषेधक सूत्र को गुण सूत्र दृष्टिगोचर ही नहीं होता तब निषेध का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

न धातुलोप० सूत्र में आर्धधातुक ग्रहण के सामर्थ्य से रोरवीति प्रयोग में गुण निषेध की प्रवृत्ति हो जाती है। यदि इस सूत्र में आर्धधातुक ग्रहण न करें तो धातु के अवयव का लोप होने पर

गुण वृद्धि नहीं होती यही सूत्रार्थ निष्पन्न हो जाता। उसके निवारण के लिए आर्धधातुक ग्रहण सार्थक है।

लैंगवायनः कामयते आदि प्रयोगों में आदि वृद्धि और उपधा वृद्धि के निषेध की आशंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि प्रकृत सूत्र से केवल इग्लक्षण गुण-वृद्धि का ही निषेध होता है। लैंगवायनः में लिंगु शब्द से तद्धित का फक् प्रत्यय फ को आयन आदेश और "किति च" - (७.२.११८.) सूत्र से आदि अच् को वृद्धि विहित है। यह वृद्धि इग्लक्षण नहीं है। कामयते प्रयोग में कम् धातु से णिङ् प्रत्यय करने पर प्राप्त उपधावृद्धि (अत उपधाया - ७.२.११६.) इग्लक्षण नहीं है अतः प्रकृत निषेध की प्रवृत्ति नहीं होती।

स्थानिवद्भाव से ङित्व धर्म का अतिदेश - अचिनवम्, असुनवम्, अकरवम् आदि उदाहरणों में स्थानिभूत लङ् लकार के ङित्व का तिबादि आदेशों में अतिदेश करने पर अ + चिनु + अम्। असुनु + अम्, अकृ + उ + अम् आदि स्थितियों में उकार को गुण का निषेध संभावित है। इस दोष का निवारण सूत्रकार के एक ज्ञापन द्वारा संभव है। "यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च" - (३.४.१०३.) सूत्र में लिङादेश को होने वाले यासुट् आगम में ङित्व का अतिदेश किया गया। इस ङित्व के अतिदेश से ज्ञापित होता है कि स्थानिवद्भाव के द्वारा ङित्व धर्म का अतिदेश नहीं हो सकता यदि स्थानिवद्भाव से ङित्व का अतिदेश होता तो सूत्र में ०ङिच्च ग्रहण न करते।

स्थानिवद् भाव से ङित्व धर्म का अतिदेश न मानने पर ङितः - (३.४.९९.), इतश्च - (३.४.१००.) आदि सूत्रों की प्रवृत्ति में अनुपपत्ति की संभावना होती है। भवेम, भवेत् आदि उदाहरणों में ङितः सूत्र से स का लोप और इतश्च से इकार का लोप तिबादि को स्थानिवद्भाव से ङित् मानकर ही होता है।

इसकी उपपत्ति के लिए भाष्यकार एक युक्ति प्रस्तुत करते हैं, जिसके अनुसार स्थानिवद्भाव से ङित्व का अतिदेश हो सकता है यदि आदेश को ही कार्य कर्तव्य हो। यदि ङित् को निमित्त मानकर पूर्व को कोई कार्य प्राप्त है तब ङित्व धर्म का अतिदेश नहीं हो सकता। (**ङितो यत्कार्यं तद् भवति ङिति यत्कार्यं तन्न भवति**) या सुट् को ङित्व का अतिदेश करते समय सूत्रकार का यही उद्देश्य है। सूत्रकार को यह अच्छी तरह ज्ञात था कि स्थानिवद्भाव से ङित्व का अतिदेश कर प्रत्यय को ङित् मानकर उसमें प्राप्त विधियाँ निष्पन्न हो जाती हैं, किन्तु ङित्व ङित् प्रत्यय के परे यदि कोई कार्य अपेक्षित हो तो उसके लिए यत्न करना होगा। फलतः सूत्रकार यासुट् में ङित्व का अतिदेश करते हुए यह निदेशित करते हैं कि सामान्यतः अतिदिष्ट ङित्व को निमित्त मानकर कार्य नहीं होता। यदि ऐसा कार्य अभीष्ट है तब यत्न करना होगा। इस प्रकार यासुट् का ङित् करण सार्थक हो जाता है।

देविका शिंशपा दित्यवाड् दीर्घसत्र श्रेयसामात्
(७.३.१)

सूत्रार्थ - देविका, शिंशपा, दित्यवाट्, दीर्घसत्र और श्रेयस् शब्दों से ञित्, णित् या कित् प्रत्यय परे रहते आदि अच् की वृद्धि का प्रसङ्ग होने पर आत्व होता है। उदाहरणार्थ देविका शब्द से तत्र भवः अर्थ में अण् करने पर देविका + अण् = दाविकम्। इसी प्रकार शिंशपा + अण् = शांशपः। दित्यौह् + अण् = दात्यौहम्। दीर्घसत्र + अण् = दार्घसात्रम्। श्रेयस् + अण् = श्रायसम्।

"तद्धितेष्वचामादेः" सूत्र से देविकादि शब्दों के आदि अच् को ऐकार रूप वृद्धि प्राप्त होती है। प्रकृत सूत्र से उसका बाध होकर आकार आदेश का विधान होता है।

परिभाषा पक्ष - प्रकृत सूत्र स्थाने ऽन्तरतमः का अपवाद है। पदमंजरीकार ने इस सूत्र के परिभाषात्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है - **"अनारभ्यमाणे एतस्मिन्, देविकादीनामादेरचो वृद्धिर्भवन्ती स्थाने ऽन्तरतमवचनादैकारः प्राप्नोति। तदपवादेनाकारः प्राप्यते, तत्राङ्गं भवतु देविकादयः पूर्वपदमुत्तरपदं वा सर्वथा यत्र देविकादीनामचामादेरचौ वृद्धिप्रसङ्गः तत्राकारो भवतीति परिभाष्यते।**[१] " इसका अभिप्राय यह है कि देविकादि शब्दों के आदि अच् को वृद्धि प्राप्त होने पर आकार रूप वृद्धि ही होती है, ऐकारादि नहीं।

सूत्र की व्याख्या - प्रकृत सूत्र अङ्गाधिकार में पठित है अतः अङ्गस्य के साथ देविकादि शब्दों का विशेषण-विशेष्य भाव संबंध है। चूँकि विशेष्य-विशेषण भाव कामचार या यादृच्छिक होता है, अतः देविकादि शब्दों के विशेषण और अङ्ग को विशेष्य मानकर सूत्रार्थ निष्पन्न हो सकता है। इसके विपरीत अङ्ग को विशेषण और देविकादि को विशेष्य मानकर भी अर्थबोध किया जा सकता है। दोनों स्थितियों में समानाधिकरण और वैयाधिकरण के भेद से पुनः दो प्रकार से सूत्रार्थ निष्पत्ति संभव है। इसलिए पदमञ्जरीकार ने चार पक्षों का समर्थन किया है। **(अत्र विशेषण विशेष्यभावे कामचाराद् देविकादिभिरङ्गं विशेष्यते तेन वा तानि, तत्रापि सामानाधिकरण्येन, वैयधिकरण्येन वा - इति चत्वारः पक्षाः - पदमञ्जरी)**

प्रथम पक्ष के अनुसार देविका आदि शब्दों का अङ्ग के साथ समानाधिकरण में अन्वय करते हुए अङ्ग का विशेषण मानते हैं तब सूत्र का अर्थ होता है - देविका आदि शब्दों से युक्त देविकाद्यन्त अङ्ग के आदि अच् को वृद्धि का प्रसङ्ग होने पर आकार आदेश होता है। इस पक्ष में अव्याप्ति दोष की आशंका है। देविका आदि शब्दों से युक्त देविकान्त अङ्ग में तो सूत्र की प्रवृत्ति होगी किन्तु केवल देविका आदि शब्दों में सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा क्योंकि देविकान्त अङ्ग के आदि अच् को आकार का विधान है, मात्र देविका को नहीं। यहाँ व्यपदेशिवद्भाव से देविका को देविकान्त नहीं मान सकते क्योंकि प्रतिपादकों के विषय में व्यपदेशिवद्भाव का निषेध किया गया है। **(व्यपदेशिवद्भावो ऽप्रातिपदिकेन)**

यदि यह निषेध प्रत्यय विधि विषयक मानें तो प्रकृत स्थल पर अनुपपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि प्रकृत सूत्र से विहित कार्य प्रत्यय विधि विषयक नहीं है। इस स्थिति में देविका शब्द में तो सूत्र की

प्रवृत्ति हो जाएगी किन्तु देविका आदि शब्द आदि में होने पर तदादि अङ्ग को आकार विधान नहीं हो पाएगा। जैसे - "देविका कूले भवा:" अर्थ में "दाविकाकूला: शालय:" प्रयोग में आदि अच् को आत्व की उपपत्ति नहीं हो पाएगी, क्योंकि यहाँ न तो देविका शब्द है और न देविकान्त शब्द है।

इस पक्ष में अतिव्याप्ति दोष की भी संभावना है। उदाहरणार्थ सुदेविकाया भवः अर्थ में निष्पन्न सौदेविक: प्रयोग में आदि वृद्धि की कर्तव्यता में आत्व की प्रप्ति हो जाएगी और अनिष्ट रूप की निष्पत्ति हो जाएगी क्योंकि "सुदेविका" यह देविकान्त अङ्ग है।

देविका आदि शब्दों का अङ्ग के साथ वैयधिकरण अन्वय करते हैं तब सूत्रार्थ होगा - देविका आदि शब्दों से युक्त जो अङ्ग उनके आदि अच् को वृद्धि की कर्तव्यता में आत्व होता है। इस स्थिति में देविका आदि शब्द जिन अङ्गों में अवयवभूत हैं ऐसे अङ्ग के आदि अच् को वृद्धि प्रसङ्ग में आकार आदेश होगा। इसके फलस्वरूप पुनः केवल देविका शब्द से सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी क्योंकि स्वयं देविका शब्द देविका रूप अङ्ग का अवयव नहीं हो सकता। व्यपदेशिवद् भाव से स्वयं को स्वयं का अवयव मान भी लें और इस न्याय को प्रत्यय मात्र विषयक माने तो यह दोष निवारण संभव है किन्तु सुदेविका में सूत्र की अतिप्रसक्ति यथावत् रहेगी।

देविका आदि शब्दों का अङ्ग के साथ सामानाधिकरण्य - यदि देविका आदि शब्दों को विशेष्य और अङ्ग को विशेषण मानकर समानाधिकरण में अन्वय करते हैं तब देविका आदि शब्दस्वरूप जो अङ्ग उसके आदि अच् को वृद्धि का प्रसङ्ग होने पर आत्व का विधान होगा। इस पक्ष में सुदेविका + अण् में प्रसक्त दोष का निवारण तो हो जाएगा क्योंकि सुदेविका देविकारूप अङ्ग नहीं है। किन्तु इस पक्ष में तदादि (देविकादि) का ग्रहण न होने से देविकाकूल + अण् में सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार चारों पक्ष दोष ग्रस्त हैं। तदादि ग्रहण की सिद्धि के लिए न्यासकार ने सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत किया है।

सिद्धान्त पक्ष - इसके अनुसार अङ्ग सम्बन्धी देविका आदि शब्दों के आदि अच् को आकार होता है। इस अर्थ निष्पत्ति में तदादि (देविकादि) तदन्त (देविकान्त) और केवल देविका शब्द का भी ग्रहण सिद्ध है। **(देविकादीनां सम्बन्धिनामचां मध्ये य आदिरिति। तृतीयेतु पक्षे आश्रीयमाणे विनापि यत्नान्तरेण केवलस्य तदादेस्तदन्तस्य भवति। सर्वत्राचामादेरचो देविकादिसम्बन्धित्वात्।)**

इस पक्ष में अङ्ग और देविकादि शब्दों में विशेषण विशेष्य भाव न होकर आदि अच् के साथ अङ्ग और देविकादि शब्दों का विशेषणीभाव है अर्थात् आदि अच् विशेष्य और अङ्ग तथा देविकादि शब्द विशेषण हैं।

भाष्यकार का अभिमत - भाष्यकार के विचार से प्रकृत सूत्र को स्वतन्त्र विधि सूत्र न मानकर नियम सूत्र मानें तो सूत्र प्रवृत्ति में कोई अव्याप्ति दोष की संभावना नहीं रहती।[१] वार्तिककार ने दाविका: और दाविकाकूला: आदि रूपों की सिद्धि के लिए तदादि ग्रहण का उपसंख्यान किया है।

टीकाकारों ने प्रकृत सूत्र पर पठित वार्तिक को अन्यथा सिद्ध करते हुए कहा है कि यदि इस सूत्र को नियम सूत्र मानते हैं तो औत्सर्गिक रूप से ञित्, णित् और कित् की अनुवृत्ति कर इनके परे आदि अच् को वृद्धि होगी। "स्थाने अन्तरतमः" परिभाषा की सहायता से देविका के आदि अच् एकार को ऐकार रूप वृद्धि प्राप्त होगी किन्तु प्रकृत नियामक सूत्र में आत् ग्रहण के सामर्थ्य से ऐकार रूप वृद्धि की निवृत्ति होती है और एकार के स्थान पर आकार रूप वृद्धि होती है। इस प्रकार स्थानेऽन्तरतमः परिभाषोक्त नियम की बाधिका प्रकृत परिभाषा मानी जा सकती है।

इस विषय में उद्योतकार[3] की उक्ति महत्वपूर्ण है। उनके अनुसार - प्रकृत सूत्र का पाठ परिभाषा प्रकरण में करना चाहिए क्योंकि उस प्रकरण में अङ्गस्य का अधिकार नहीं है। अङ्गस्य के अधिकार से बाहर होने पर देविकादि शब्दों का अङ्ग के साथ विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध का प्रश्न उपस्थित नहीं होता।

परिभाषा मानने पर देविकादि शब्दों को वृद्धि का प्रसङ्ग होने पर आकार वृद्धि होगी। सुदेविका में तो देविका के आदि अच् को वृद्धि का प्रसङ्ग ही नहीं है, अतः अनिष्ट रूप की आपत्ति का प्रश्न ही नहीं है।

परिभाषा सूत्र का प्रवृत्ति विषय या लिङ्ग - देविका आदि शब्दों के आदि अच् को वृद्धि का प्रसङ्ग होना ही प्रकृत परिभाषा सूत्र की प्रवृत्ति का लिङ्ग है। सुदेविका + अण् में यह लिङ्ग विद्यमान नहीं है, अतः परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती और सौदेविकः रूप सिद्ध हो जाता है।

यथोद्देश पक्ष में परिभाषा सूत्र की प्रवृत्ति - परिभाषा प्रकरण में प्रकृत सूत्र का पाठ करने पर यथोद्देश पक्ष ही ग्राह्य हो सकता है, कार्यकाल पक्ष नहीं। क्योंकि कार्यकाल पक्ष में परिभाषा विधि सूत्र प्रदेश में प्रवृत्त होती है। प्रकृत सूत्र भी अङ्गाधिकार में पठित विधि सूत्रों में प्रवृत्त होगी और पूर्व में प्रतिपादित अव्याप्ति-अतिव्याप्ति दोष प्रसक्त हो जाएँगे। उदाहरणार्थ देविकादि को अङ्ग का विशेषण मानने पर तदन्त विधि से देविकादि शब्दान्त अङ्गों के आद्यच् को तो आकार विधान होगा, किन्तु केवल देविका शिंशपादि शब्दों में सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी। दाविकाकूलः आदि प्रयोगों की सिद्धि के लिए तदादि ग्रहण की आवश्यकता बनी ही रहेगी। देविकादि शब्दों को विशेष्य और अङ्ग को विशेषण मानने पर सुदेविका में सूत्र की अतिव्याप्ति हो जाएगी।

उपर्युक्त दोषों की निवृत्ति के लिए प्रकृत सूत्र को परिभाषा मानकर यथोद्देश पक्ष में विधि सूत्रों के साथ एक वाक्यता करना ही श्रेयस्कर है। कैयट के शब्दों में - **"यथोद्देशं च परिभाषाश्रीयते न कार्यकाला। अन्यथाऽङ्गप्रकरण देविकादीनामादित्यस्योपस्थानादव्याप्त्यतिव्याप्त्योः पूर्ववदन्यतर प्रसङ्गः स्यात्।"**

प्रकृत प्रकरण में सूत्रारम्भ करने पर अर्थात् यथान्यास मानने पर प्रकृत सूत्र विधिसूत्र होगा और देविकादि शब्दों के एकार को आत्व आदेश होकर ऐकार रूप वृद्धि की निवृत्ति होगी। इस पक्ष में अव्याप्ति-अतिव्याप्ति दोषों की निवृत्ति के लिए तदादि ग्रहण करना आवश्यक होगा, अन्यथा

दाविकाकूलाः, शांशपाः, स्थलाः, देवाः इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि नहीं हो पाएगी। जिस स्थल पर तदादि ग्रहण नहीं होता, वहाँ उस शब्दस्वरूप का अथवा तदन्त का ग्रहण होता है। देविकाकूले भवाः, दाविकाकूलाः आदि प्रयोगों में प्रकृतिभूत शब्द न तो सूत्र पठित हैं और न तदन्त ग्रहण से प्राप्त हैं। अतः इनके ग्रहणार्थ तदादि ग्रहण आवश्यक है।

तदादि ग्रहण का उपसंख्यान न करना हो तो देविकादि को आदि अच् का विशेषण मानना होगा। **"आद्यज् विशेषणत्वात् सिद्धम्।"** देविकादि शब्दों के (अङ्गों के) आदि अच् को आत्व होता है। - ऐसा सूत्रार्थ न कर नियम के रूप में सूत्रार्थ निष्पन्न करना होगा अर्थात् जित् या णित् या कित् प्रत्यय के परे रहते अङ्ग के आदि अच् को यदि आकार रूप वृद्धि होती है तो देविका आदि अच् को ही हो अन्य को नहीं। **(ञ्णित्यङ्गस्याचामादेराकारो भवति स चेद् देविकादीनामाद्यज्भवतीति)**

भाष्यकार इस संबंध में एक युक्ति यह प्रस्तुत करते हैं कि प्रकृत सूत्र को संज्ञा प्रदेश में पठित किया जाए। "वृद्धिरादैच्" - (१.१.१.) सूत्र के बाद "देविकानामाकारः" ऐसा पाठ किया जाए।

इस प्रकार सूत्र न्यास करने पर अभीष्ट सिद्धि हो जाती है किन्तु न्यासान्तर कल्पना से अपाणिनीय दोष की आपत्ति होती है, अतः यथान्यास ही सूत्र पाठ होना चाहिए।

(अष्टाध्यायी लक्षणं सूत्रं संनिवेशान्तराश्रयणेभिद्यते - प्रदीप)

❀❀❀

शब्द संकेत

१. पदमञ्जरीकार ने दो कारिकाओं में इस सूत्र के परिभाषात्व का संकेत किया है।

"कस्तर्हि वृत्तिकारस्य पक्षोऽयमभिधीयते।
परिभाषेयमान्तर्यपरिभाषापवादिनी ॥"

"देविकादेरचामादेर्यत्र वृद्धिः प्रसज्यते।
तत्रोपतिष्ठते, तेन सर्वमिष्टं प्रसिध्यति ॥ इति ॥"

२. "देविकादिषु तदादिग्रहणम्" - (वा.-१.) वार्तिक को "आद्यज् विशेषणत्वात् सिद्धम्" कहकर अन्यथा सिद्ध किया गया है - "ञ्णित्यङ्गस्याचामादेराकारो भवति स चेद् देविकादीनामाद्यज्भवतीति" इस भाष्यवचन से सूत्र का नियमरूपत्व स्पष्ट होता है।

३. "अन्तरतमनिवर्तकत्वाद् वा" - (वा.-४) वार्तिक के द्वारा भाष्यकार ने अन्य परिहार प्रस्तुत किया है, जिसके अनुसार प्रकृत सूत्र "स्थाने ऽन्तरतमः" का बाधक मानना चाहिए। इस आधार पर उद्योतकार और प्रदीपकार लिखते हैं - "परिभाषेयम्। देविकादीनां वृद्धिर्विधीयमानाऽकार एव भवतीति केवलानां तदादिनां च वृद्धिर्देविकादीनां भवतीति तत्रैव परिभाषाप्रवृत्तिः। सुदेविकायां तु या वृद्धिर्न सा देविकादिशब्दस्य किन्तु तदन्तस्येति परिभाषानुपस्थानादौकार एव भवति।" - प्रदीप।

उद्योतकार नागेश के शब्दों में - "परिभाषा प्रकरण इदं पाठ्यम्।"

❀❀❀

परश्च
(३.१.२)

सूत्रार्थ - अधिकार सूत्र मानकर वृत्तिकारों ने इस सूत्र का अर्थ प्रतिपादित किया है। आगामी सूत्रों में जिस प्रकृति से जो प्रत्यय विहित है वह प्रत्यय प्रकृत सूत्र के बल से पर में होता है। इस प्रकार "पर" पद अधिकृत है, जो आगामी सूत्रों में उपस्थित होता है। इसके पूर्व "प्रत्ययः" - (३.१.१.) सूत्र पठित है जो संज्ञाधिकार है। प्रत्यय संज्ञा आगामी सूत्रों में अधिकृत है।

सूत्र का प्रयोजन और परिभाषात्व - प्रत्यय का विधान प्रकृति से पर ही होता है इस नियम के प्रतिपादनार्थ प्रकृत सूत्र का आरम्भ है। वस्तुतः सूत्र का यह प्रयोजन युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जो प्रत्यय प्रकृति से पूर्व में अभीष्ट होते हैं, उन्हें सूत्रकार पुरस्तात आदि शब्दों के द्वारा स्पष्ट रूप से पूर्व में विहित करते हैं। जैसे - "विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु" - (५.३.६८.) आदि। जहाँ प्रकृति के मध्य में प्रत्यय अभीष्ट हों वहाँ सूत्रकार प्राक टेः आदि शब्दों का निर्देश कर देते हैं। जैसे - "अव्यय सर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः" - (५.३.७१.) प्रत्यय विधान की उपर्युक्त दोनों स्थितियों का तत्तत् सूत्रों में स्पष्ट निर्देश होने से अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि जहाँ सूत्रों में कोई निर्देश उपलब्ध न हो वहाँ प्रत्यय पर में ही होंगे।[1] इस प्रकार प्रत्ययों का परत्व स्वतः सिद्ध है। इसकी सिद्धि के लिए परश्च सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है।

इस प्रसङ्ग में एक आशंका उपस्थित हो सकती है कि जिन स्थलों पर प्रत्ययों का प्रदेश नियत है (पूर्व या मध्य) उन स्थलों पर तो प्रत्यय विधान में संदेह उपस्थित नहीं हो सकता किन्तु जहाँ सूत्रों में प्रत्ययों का प्रदेश निर्धारित नहीं है वहाँ प्रत्यय के स्थान के विषय में यह व्यवस्था उपस्थित हो सकती है। वह इस प्रकार कि अमुक प्रत्यय कभी प्रकृति से पूर्व में होगा अथवा कदाचित् मध्य में अथवा कभी पर में भी हो सकता है।[2] तात्पर्य यह हुआ कि - अनियत प्रदेश वाले प्रत्यय यथेष्ट स्थान पर हो सकते हैं। इस अव्यवस्था या अनियम का निवारण प्रकृत सूत्र से सम्भव है। इसी अनियम में नियमकारित्व रूप लक्षण के आधार पर वृत्तिकारों ने प्रकृत सूत्र को परिभाषा सूत्र माना है। इसलिए न्यासकार परश्च के लिए लिखते हैं - **"अधिकारः परिभाषा वा। लिङ्गवती परिभाषा। प्रत्ययसंज्ञा च लिङ्गम्।"** प्रत्यय संज्ञा ही परिभाषा प्रवृत्ति का लिङ्ग है।

सूत्र की अन्यथा सिद्धि - प्रकृत सूत्र के औचित्य पर भाष्यकार और वार्तिककार ने पर्याप्त विचार व्यक्त किया है। तस्मादित्युत्तरस्य - (१.१.६७.) परिभाषा के अनुसार पञ्चमी निर्देश के द्वारा विहित कार्य अव्यवहित पर को होता है। जैसे - "द्व्यन्तरुपसर्गेभ्यो ऽप ईत्" - (६.३.९७.) सूत्र से द्वि-अन्तर और उपसर्ग से परे अप् के अ को ईत्व आदेश होता है। "गुप् तिज् किद्भ्यः सन्" - (३.१.५.) सूत्र में गुप्, तिज् और किद् धातुओं से सन् का विधान होता है। इस सूत्र में "गुप् तिज् किद्भ्यः" इस पञ्चमी के आधार पर तस्मादिति० परिभाषा के बल से पर शब्द का अध्याहार होता है।

इस स्थल पर शंकाकार का कथन है कि तस्मादिति० परिभाषा तो वहीं प्रवृत्त होती है, जहाँ पञ्चम्यन्त पद के पर में विद्यमान किसी शब्द को कार्य कर्तव्य हो। गुप् तिज्० सूत्र में गुपादि धातुओं से पर

तो अभी सन् विद्यमान ही नहीं है। गुपादि धातुओं से पर में सन् प्रत्यय का विधान करने के बाद ही तस्मादिति० की प्रवृत्ति हो सकती है। यह कार्य परश्च के सामर्थ्य से सम्भव है। इस प्रकार परश्च सूत्र की उपयोगिता स्पष्ट होती है।

सिद्धान्ततः सन् प्रत्यय के पर विधान के लिए परश्च सूत्र की उपयोगिता प्रतिपादित करना अनुचित है। सन् प्रत्यय स्वाभाविक रूप से गुपादि के पर में ही होगा। क्योंकि कोई भी प्रत्यय प्रकृति से पर में होने पर ही उसमें "प्रत्ययः" - (३.१.१.) सूत्र की प्रवृत्ति होगी और प्रत्यय संज्ञा की सिद्धि होगी। यदि सन् प्रत्यय प्रकृति से पूर्व या मध्य में होता तो उसकी प्रत्यय संज्ञा ही न हो पाती।

इस प्रसङ्ग में यह विचारणीय है कि तस्मादिति० परिभाषा की प्रवृत्ति उसी स्थल पर होती है जहाँ विद्यमान स्थानी में किसी कार्य का विधान होता है। जैसे - "द्व्यन्तरूपसर्गेभ्योऽप ईत्" - (६.३.९७.) सूत्र से द्वि - अन्तर और उपसर्ग से उत्त या पर में विद्यमान अप् के अकार को ईत्व का विधान होता है। यहाँ तस्मादिति० की प्रवृत्ति इसलिए होती है कि द्वि आदि शब्दों के बाद अप् शब्द विद्यमान है। परिभाषा के सामर्थ्य से यह अप् शब्द द्वि आदि पञ्चम्यन्त निर्देश के द्वारा पठित शब्दों से उत्तर या पर में निश्चित किया जाता है।

गुप् तिज् किदभ्यः० सूत्र में पञ्चम्यन्त गुपादि के बाद किसी शब्द की विद्यमानता ही नहीं है, जिसे कार्यी मानकर तस्मादिति० के द्वारा उसकी उत्तरवर्तिता या परवर्तिता निर्धारित की जा सके। गुपादि से सन् का विधान हो जाने के बाद ही तस्मादिति० की प्रवृत्ति हो सकती है। अतः गुपादि से पर सन् प्रत्यय की उत्पत्ति के लिए "परश्च" परिभाषा की आवश्यकता है। निष्कर्षतः परश्च सूत्र का प्रत्याख्यान करना युक्तिसंगत नहीं है।

भाष्यकार इस प्रसङ्ग में शब्द नित्यत्व की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि - स्वाभाविक रूप से सनादि प्रत्यय तो धातु से पर में है ही। शब्द नित्य होने के कारण गुपादि धातुओं से पर में सन् का प्रयोग होता ही है। शास्त्र तो मात्र उसके साधुत्व का अन्वाख्यान करते हैं। शास्त्र से सन् की उत्पत्ति नहीं कराई जाती। कैयट के शब्दों में - "तस्मादिति०" सूत्र में पठित "उत्तरस्य" की षष्ठी के दो आशय हैं। जिस स्थल पर उत्तरवर्ती शब्द की विद्यमानता है, वहाँ उस उत्तवर्ती शब्द में स्थानित्व बोधिका षष्ठी मानना चाहिए। यदि उत्तर में शब्द विद्यमान नहीं है तब षष्ठी का अर्थ उत्पत्ति मानना चाहिए। **(नित्याः शब्दाः प्रयोगस्थास्तत्र स्वभावत एव गुपादिभ्यः परस्य सनादेः साधुत्वमात्रं प्रतिपाद्यते। यत्र सदेव कार्यित्वेनोपादीयते तत्र उत्तरस्य कार्यं भवतीति कार्यापेक्षा सम्बन्धे षष्ठी। यत्र त्वसत एवोत्पत्तिः क्रियते तत्रोत्तरस्य भावो भवतीति भावापेक्षया कर्तृषष्ठी विज्ञायते। - म.भा. प्रदीप - ३.१.२.)**

परश्च का अन्य प्रयोजन - जहाँ सूत्रों में पञ्चमी निर्देश नहीं है ऐसे स्थलों पर तथा आगम और आदेश विधायक सूत्रों में परत्व की उपपत्ति के लिए परश्च सूत्र की आवश्यकता है। आगम एवं आदेश विधायक सूत्रों में पञ्चमी निर्देश नहीं होता, अतः तस्मादिति० प्रवृत्त नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ - "हनस्त च" - (३.१.१०८.) और "त्रपुजनुनो षुक्" - (४.३.१३८.) सूत्रों में

पञ्चमी निर्देश नहीं है, अतः हन् धातु के न को होने वाला तकार आदेश पर में नहीं होगा। पर में न होने से उसमें प्रत्ययत्व धर्म नहीं आ सकता। त्रपु और जतु शब्दों से अण् प्रत्यय और षुक् आगम होता है। यह षुगागम भी पञ्चम्यन्त निर्देश के द्वारा विहित नहीं है अतः उसमें परत्व नहीं होगा और परत्व न होने से प्रत्ययत्व नहीं आएगा।

अन्यथा सिद्धि - विकार और आगम में प्रत्ययत्व की उपपत्ति हेतु अन्य समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है अर्थात् परश्च सूत्र के अभाव में भी यहाँ इष्ट सिद्धि हो सकती है। "हनस्त च" - (३.१.१०८.) सूत्र में पञ्चम्यन्त धातोः पद की अनुवृत्ति होती है और "त्रपुजतुतो०" - (४.३.१३८.) सूत्र में "प्रातिपदिकात्" - (४.१.१.) की अनुवृत्ति मानकर इष्ट सिद्धि की जा सकती है। अथवा प्रत्यय संज्ञा के अन्वर्थ मानकर विकार और आगम की भी प्रत्यय संज्ञा की जा सकती है। "प्रत्याययति इति प्रत्ययः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार - जो अर्थ बोध कराता है वह प्रत्यय है। इसके अनुसार विकार और आगम में भी अर्थ बोधक क्षमता होने से वे प्रत्यय संज्ञक हैं। स्वार्थ बोधक क आदि प्रत्ययों में प्रत्ययत्व की सिद्धि के लिए प्रत्यय शब्द में कर्मार्थक प्रत्यय करने पर **"प्रत्याय्यते य स प्रत्ययः"** अर्थ निष्पन्न होता है। इसका तात्पर्य यह होगा कि प्रकृति के द्वारा ही जिसका अर्थ प्रतीत कराया जाता है वह स्वार्थिक प्रत्यय ही है। भाष्यकार के शब्दों में - **"प्रत्यय इति महती संज्ञा क्रियते। संज्ञा च नाम यतो न लाघीयः। कुत एतत्। लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्। तत्र महत्याः, संज्ञायाः, करण एतत् प्रयोजनमन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायते। प्रत्याययतीति प्रत्ययः। यदि प्रत्याययतीति प्रत्ययोऽविकादीनां प्रत्यय संज्ञा न प्राप्नोति। न हि ते किञ्चित् प्रत्याययन्ति। एवं तर्हि प्रत्याय्यते प्रत्यय इति।" - म. भा. - (३.१.१.)**

अत्यन्तापरदृष्टानां वा परभूतलोपार्थम् - उपर्युक्त व्याख्यान के अनुसार परश्च सूत्र निष्प्रयोजन प्रतीत हो रहा है अतः भाष्यकार अन्य प्रयोजन प्रदर्शित करते हैं। क्विप् आदि प्रत्ययों के लिए परश्च सूत्र की सार्थकता है। क्विप् आदि प्रत्यय प्रत्यक्ष उपलब्ध या दृष्टिगोचर नहीं होते। पर में होने के बाद इसका सर्वापहारी लोप हो जाता है। शब्द नित्यत्व पक्ष में इन प्रत्ययों की सत्ता तो नहीं होती अतः इन प्रत्ययों के परत्व विधान में तस्मादिति० परिभाषा सहायक नहीं हो सकती। ऐसे क्विप् आदि प्रत्ययों के पर विधान के लिए परश्च सूत्र सार्थक है। क्विबादि को पर विधान का फल अग्नि चित् आदि प्रयोगों में प्रत्यय लक्षण के द्वारा धातु से विहित क्विप् के कित्व मानकर "ह्रस्वस्य पिति कृतितुक्" - (६.१.७१.) से तुगागम सिद्ध हो जाता है। परिवीः आदि प्रयोगों में परि उपसर्ग पूर्वक व्याधातु से क्विप् प्रत्यय करने पर उसका सर्वापहारि लोप, प्रत्ययलक्षण से कित्व का अतिदेश कर य को सम्प्रसारण (६ + १५) होता है। इसी प्रकार अंशभाक् आदि में भज् धातु से ण्वि प्रत्यय - (३.२.६२.) करने पर उसका सर्वापहारि लोप होता है। प्रत्यय लक्षण के द्वारा णित् परक मानकर भज् धातु के अकार को वृद्धि - (७.२.११६.) हो जाती है।

इस स्थल पर परश्च सूत्र के खण्डनकर्ता का कथन है कि - तस्तादिति० सूत्र में ०उत्तरस्य की षष्ठी के दो आशय हो सकते हैं - १. कार्यापेक्षा षष्ठी, २. भावापेक्षा षष्ठी। इन दोनों में लक्ष्यसिद्धि की दृष्टि से भावापेक्षा षष्ठी मानना उचित है। इसका तात्पर्य है कि क्विणादि प्रत्ययों की उत्तर में उपस्थिति विषयक भाव-बुद्धि मानना चाहिए। क्विबादि का विधान करने वाले सूत्र क्विबादि की सत्ता या अस्तित्व प्रतिपादित

करते हैं। यही भाव बुद्धि है। इसके फलस्वरूप तस्मादिति० सूत्र की प्रवृत्ति क्विबादि में भी सम्भव है और क्विप् आदि प्रत्ययों का परत्व विधान अन्यथा सिद्ध है । निष्कर्षतः **"अत्यन्तापरदृष्टानां वा परभूतलोपार्थम्"** वार्तिक में प्रतिपादित प्रयोजन निरर्थक है । आचार्य प्रवृत्ति के द्वारा ज्ञापित होता है कि प्रयोगावस्था में कभी भी दृष्टिगोचर न होने वाले क्विप् आदि प्रत्यय का प्रकृति से पर में विधान होने पर ही लोप होता है। क्विबादि में कित् आदि अनुबन्धों का आसञ्जन इसका प्रमाण है। प्रकृति से पर में इनका विधान होने पर ही कित् - णित् आदि चरितार्थ हैं अन्यथा इनका कोई प्रयोजन नहीं है।

प्रयोग नियमार्थं वा - परश्च सूत्र दूसरा महत्वपूर्ण प्रयोजन प्रयोग नियमार्थ है। वही प्रकृति प्रयोगार्ह है, जिससे पर में प्रत्यय विहित हो । जिस प्रकृति से पर में प्रत्यय का विधान नहीं होता ऐसी प्रकृति प्रयोगार्ह नहीं होती - यह नियम प्रकृत सूत्र "परश्च" से प्रस्थापित होता है। इसी प्रकार वे प्रत्यय भी प्रयोगार्ह नहीं हैं जो किसी प्रकृति से विहित नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि केवल प्रकृति का अथवा केवल प्रत्यय का प्रयोग नहीं होता । यही नियम परश्च सूत्र से ज्ञापित होता है । इसी आधार पर **"न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न केवलः प्रत्ययः।"** अथवा **"अपदं न प्रयुञ्जीत"** वचन प्रसिद्ध हैं। अपरिनिष्ठित प्रयोग साधु नहीं होते यही इसका तात्पर्य है।

उपर्युक्त नियमारम्भ आवश्यक है क्योंकि लोक में कभी-कभी केवल प्रकृति का अथवा केवल प्रत्यय का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। जैसे - बभ्रु, मण्डु या लमक गोत्रोत्पन्न व्यक्ति को बाभ्रव्य, माण्डव्य (४.१.१०५. से यञ् प्रत्ययान्त) और लामकायन (४.१.९९. से फक् प्रत्यय करने पर) न कहकर केवल बभ्रु, मण्डु और लमक कह दिया जाता है। लोक में तो ऐसे प्रयोगों से अर्थ बोध हो जाता है किन्तु शास्त्र में इस प्रकार के प्रयोग में, जिसमें केवल प्रकृति का प्रयोग है, साधुत्व नहीं माना जा सकता। अर्थात् केवल प्रकृति से प्रत्ययार्थ का बोध नहीं हो सकता। इन प्रयोगों में असाधुत्व प्रतिपादन हेतु परश्च सूत्र सार्थक है। लोक में "सो ऽयं बभ्रुः देवदत्तः" कहकर बभ्रु प्रकृति से अपत्य प्रत्यय के अर्थ का अर्थात् देवदत्त का बोध करा दिया जाता है। शास्त्र में यह प्रयोग असाधु होता है। परश्च सूत्र के द्वारा बभ्रु प्रकृति है और ब्राभ्रव्य अपत्यार्थ प्रयोग है। इस स्थल पर यह आशङ्का व्यक्त की जा सकती है कि बभ्रु और बाभ्रव्य में अभेदोपचार से बाभ्रव्य के अर्थ में बभ्रु का प्रयोग किया गया है। अतः बभ्रुः देवदत्तः प्रयोग का असाधु कहना युक्तिसंगत नहीं है। इस आशङ्का का समाधान आचार्य भर्तृहरि ने इस वाक्यपदीय की कारिका के द्वारा किया है -

> **"सोऽयमित्यभिसम्बन्धात् तद्धितेन विना यदि**
> **बभ्रवादयः प्रयुञ्जेरन्नापत्ये नियमो भवेत् ।"**

इसका अभिप्राय है कि अभेदोपचार के द्वारा यदि बभ्रु से बाभ्रव्य की प्रतीति हो सकती है तो भृत्यादि की भी प्रतीति संभव है। उपचार या लक्षणा का प्रयोग साहचर्य सम्बन्ध में भी तो हो सकता है। बभ्रु पद को अपत्यार्थ में लाक्षणिक मानें तो बभ्रु के भृत्य अर्थ में भी लाक्षणिक मानकर प्रयोगार्ह हो सकता है।

परश्च सूत्र का दूसरा प्रयोजन यह है कि इस सूत्र के अभाव में केवल प्रत्ययों का प्रयोग होने

लगेगा। जैसे - किमस्य प्रमाणम् के अर्थ में किमस्य द्वयसम्। या किमस्य मात्रम् आदि अनिष्ट प्रयोग निष्पन्न हो जाएँगे। (५.२.३७., ५.२.५२.) इसी प्रकार "का अद्य तिथी" प्रयोग में भी तिथुक् प्रत्यय मात्र का प्रयोग है जो अशास्त्रीय या असाधु है। सूत्र "बहुपूग गण संघस्य तिथुक्" - (५.२.४८.) से पूरणार्थक तिथुक प्रत्यय होता है। इसमें प्रकृति का प्रयोग ही नहीं है अतः का ऽद्य तिथी का अर्थ है - आज कौन सी है।

वावचने चानुत्पत्यर्थम् - वार्तिककार इस वार्तिक के द्वारा परश्च सूत्र का प्रयोजन प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि प्रत्यय विधायक सूत्रों में जहाँ विकल्प का विधान है, वहाँ प्रत्यय का विधान वैकल्पिक है, प्रत्यय का परत्व वैकल्पिक नहीं है, इसका संकेत परश्च सूत्र से प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ - "धातोः कर्मणः०" - (३.१.७.) सूत्र से विधीयमान सन् प्रत्यय धातु से पर में होता है और "वा" पद के सामर्थ्य से विकल्प से होता है। यहाँ वा पद का सम्बन्ध परः पद से होता है, जिसके फलस्वरूप सन् प्रत्यय विकल्प से होता है। यदि प्रकृत सूत्रारम्भ न होता तो वा पद का सम्बन्ध सन् से न होकर प्रत्यय संज्ञा के साथ होता क्योंकि सन् प्रधानीभूत विधेय है अतः उससे अन्वित होने की अपेक्षा प्रत्यय संज्ञा के साथ अन्वित होकर प्रत्यय संज्ञा का विकल्प हो जाता और सम्पूर्ण सूत्र का अर्थ होता - धातु से पर में होने वाले सन् की विकल्प से प्रत्यय संज्ञा होती है। यह अर्थ अभीष्ट नहीं है। परश्च सूत्र के सामर्थ्य से वा पद का पर के साथ सम्बन्ध होता है और सन् की विकल्प से विधि सिद्ध हो जाती है।

वस्तुतः धातोः कर्मणः सूत्रोक्त वा का सम्बन्ध सन् के साथ करते हुए परश्च सूत्र का औचित्य प्रतिपादन करना अयुक्त है क्योंकि "धातोः कर्मणः०" सूत्र में पठित वा वचन प्रत्याख्यात है। **(वा वचनानर्थक्यं च तत्र नित्यत्वात् सनः - ३.१.७. वा. - ९.)** लोक में अथवा शास्त्र में दो पक्ष होते हैं - १. वृत्ति पक्ष, २. वाक्य पक्ष। - ये दोनों पक्ष स्वाभाविक हैं। वृत्ति पक्ष में सन् तो नित्य अभीष्ट है। इस स्थिति में वा पद तो निरर्थक ही है।

सिद्धान्ततः प्रयोग नियम के लिए अर्थात् केवल प्रकृति का अथवा केवल प्रत्यय का प्रयोग न हो - इसके प्रतिपादन के लिए प्रकृत सूत्र सार्थक है। प्रयोग नियम का सम्बन्ध प्रकृति और प्रत्यय दोनों से है। जैसे - १. प्रकृति से पर ही प्रत्यय का प्रयोग होना चाहिए और २. प्रत्ययार्थ की विवक्षा में प्रत्यय युक्त प्रकृति का ही प्रयोग करना चाहिए। प्रकृति से सम्बन्धित नियम होने से बभ्रु के गोत्रापत्य देवदत्त के अर्थ में केवल बभ्रु का प्रयोग नियमित होगा अर्थात् प्रतिषिद्ध होगा और प्रत्यय विषयक नियम करने पर प्रकृति रहित केवल किमस्य द्वयसम्, किमस्य मात्रम्, काद्य तिथी जैसे प्रयोग नियन्त्रित हो जाएँगे। ये दोनों नियम परश्च सूत्र से निष्पन्न हो जाएँगे। तस्मादिति० परिभाषा के बल से प्रकृति से परे प्रत्यय सिद्ध होता है। परश्च सूत्र के सामर्थ्य से प्रकृति से परे प्रत्यय होता ही है - इसकी सिद्धि होगी। इसप्रकार केवल प्रकृति या केवल प्रत्यय कभी भी प्रयोगार्ह नहीं होंगे।

"सिद्धे तस्मादिति वचनात्परत्वे नित्यं परः प्रत्ययो यथा स्यान्मा कदाचित्परो न प्रयोजीत्येवं सामर्थ्यादुभयनियमलाभः।" - (म. भा. प्रदीप - ३.१.२.)

शब्द संकेत

१. इस प्रसङ्ग में भाष्यकार एक प्रचलित लौकिक दृष्टान्त देते हैं। अनिर्धारित स्थान वाले प्रत्यय उसी प्रकार प्रकृति के पूर्व में पर में अथवा मध्य में हो सकते हैं जिस प्रकार छोटा बालक माँ के साथ चलते हुए कभी माँ के आगे, कभी माँ के पीछे या कभी साथ-साथ होता है।

"मातुर्वत्सः कदाचिदग्रतः, कदाचित् पृष्ठतः, कदाचित् पार्श्वतो भवति।"

\- म. भा.

❀❀❀

आद्युदात्तश्च
(३.१.३)

सूत्रार्थ - प्रत्यय संज्ञक का आदि अच् उदात्त होता है। जैसे - कर्तव्यम्, तैत्तिरीयम् आदि प्रयोगों में तव्यादि प्रत्यय का आदि उदात्त है। परिणामतः सम्पूर्ण शब्द मध्योदात्त हो जाता है।

सूत्र का प्रयोजन - सूत्र के प्रयोजनों पर विचार करने से यह प्रकट होता है कि सूत्र के अभाव में भी इष्ट सिद्धि संभव है। जहाँ सूत्रकार को प्रत्यय में अन्तोदात्तत्व अभीष्ट है वहाँ वे प्रत्यय को चकार अनुबंध लगाकर "चितः" - (६.१.१६३.) सूत्र का आरम्भ करते हैं। प्रत्यय को मध्योदात्त अभीष्ट होने पर रेफ अनुबंध लगाकर "उपोत्तमं रिति" - (६.१.२१७.) का आरम्भ करते हैं। प्रत्यय को अनुदात्त कर्तव्य हो तो "अनुदात्तौ सुप्पितौ" - (३.१.४.) सूत्र पठित है। स्वरित की कर्तव्यता में "तित्स्वरितम्" - (६.१.१८५.) सूत्र है। अतः उपर्युक्त चार स्वरों की अतिव्याप्ति की संभावना स्वतः निराकृत हो जाती है। परिशेष न्याय से प्रत्यय को आद्युदात्त स्वर ही अन्यथा सिद्ध है। प्रकृत सूत्र की कोई आवश्यकता परिलक्षित नहीं होती।

उपर्युक्त आशङ्का का समाधान करते हुए भाष्यकार का कथन है कि जहाँ पर प्रत्ययों का स्वर तत्तत् सूत्रों से निर्धारित है वहाँ तो अनुपपत्ति की कोई आशङ्का नहीं होती, किन्तु जहाँ स्वर का निर्धारण न हो वहाँ कामचार होने से प्रत्ययादि को कदाचित् आद्युदात्त कभी मध्योदात्त तो कभी अन्तोदात्त या स्वरित उच्चारण सम्भव है। इस अनियम की स्थिति में नियम की स्थापना के लिए प्रकृत सूत्र आवश्यक है। इस प्रकार "अनियमे नियमकारिणी - परिभाषा" के अनुसार प्रकृत सूत्र को परिभाषा सूत्र की संज्ञा दी जा सकती है। यही कारण है कि काशिकाकार ने इसे **"अयमप्यधिकारः परिभाषा वा"** कहकर परिभाषा की कोटि में ही रखा है।

सूत्र का परिभाषात्व - सामान्यतः यह सूत्र अधिकार सूत्र कहा जाता है। किन्तु उपर्युक्त नियमकारित्व के आधार पर इसे परिभाषा सूत्र भी माना जाता है। भाष्यकार के शब्दों में - **"येषामेव प्रत्ययानां स्वरो नियम्यते त एव नियत स्वराः स्युर्य इदानीमनियत स्वरः स कदाचिदाद्युदात्तः, कदाचिदन्तोदात्तः, कदाचिन्मध्योदात्तः, कदाचिदनुदात्तः, कदाचित्स्वरितः स्यात्। आद्युदात्त एव यथा स्यादित्येवमर्थ मिदमुच्यते।" - (म. भा. - ३.१.३.)** काशिकाकार के शब्दों में - "अनियत स्वरप्रत्ययप्रसङ्गे ऽनेकाक्षु च प्रत्ययेषु देशस्यानियमे सति वचनमिदमादे रुदात्तार्थम्।" - (३.१.३.)

नागेश इस सूत्र को किसी भी अंश में परिभाषा मानने के पक्ष में नहीं हैं। "प्रत्ययः" - (३.१.१.), "परश्च" - (३.१.२.), और "आद्युदात्तश्च" - (३.१.३.) इन तीनों सूत्रों के सम्बन्ध में वे कहते हैं - **"एते त्रयोप्यधिकाराः। यत्तु परश्चाद्युदात्तश्चेत्यनयोः परिभाषात्वमुक्तं तन्न। लिङ्गाभावात्। न च प्रत्ययसंज्ञैव लिङ्गम्, एकवाक्यतया त्रयाणामपि विधानेनान्यतरस्या ऽन्यतरलिङ्गत्वायोगात्।" - (उद्योत - ३.१.३.)**

प्रत्ययसंज्ञा के सन्नियोग में आद्युदात्त विधान का प्रयोजन - प्रत्यय संज्ञा के प्रकरण में प्रकृत सूत्र से आद्युदात्त का विधान करने का अथवा सुप्-पित् को अनुदात्त का विधान करने का ("अनुदात्तौ सुप्पितौ" - ३.१.४.) क्या उद्देश्य हो सकता है ? अन्यत्र स्वर प्रकरण में जहाँ "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" - (६.१.१९७.) आदि सूत्र पठित हैं वहीं प्रत्ययस्य च कह सकते थे। इसी प्रकार "तास्यनुदात्तेत्" - (६.१.१८८.) सूत्र से अनुदात्त विहित है। - इसके आगे "सुप्पितौ च" कह सकते थे। इस प्रकार सूत्र न्यास से लाघव भी हो जाता। आद्युदात्त और अनुदात्त शब्दों का पुनः उच्चारण नहीं करना पड़ता अनुवृत्ति से इनकी प्राप्ति हो जाती। वार्तिककार इस आशङ्का का निवारण करते हुए कहते हैं[1] - "प्रत्यय संज्ञा के साथ ही आद्युदात्त आदि के विधान का प्रयोजन यही है कि जिसकी प्रत्यय संज्ञा है उसे ही आद्युदात्त हो, अन्यथा तदन्त ग्रहण के बल से प्रत्ययान्त के आदि को अर्थात् प्रकृति के आदि को आद्युदात्त हो जाएगा और प्रत्यय अनुदात्त रह जाएगा।" प्रत्यय संज्ञा के सन्नियोग में आद्युदात्त या अनुदात्त का विधान करने से तदन्त ग्रहण की प्रवृत्ति सम्भव नहीं है क्योंकि प्रत्ययः, परश्च, आद्युदात्तश्च ये अधिकार भी हैं। अतः आगामी सूत्रों में तीनों अधिकार उपस्थित होते हैं और एकवाक्यता कर अर्थ निष्पन्न कराते हैं। उदाहरणार्थ कर्तव्यम् आदि प्रयोग में कृ धातु से परे तव्य आदि होते हैं। "तव्यत् तव्यानीयरः" - (३.१.९६.) जो प्रत्यय संज्ञक है और आद्युदात्त है। इसी तरह सुप् पित् भी प्रत्यय संज्ञक होते हुए अनुदात्त होते हैं। इस अर्थबोध प्रक्रिया में प्रत्यय उत्पन्न होते ही उदात्त, आद्युदात्त और अनुदात्त - (सुप् - पित्) हो जाता है। प्रत्ययान्त में आद्युदात्त या अनुदात्त की प्रसक्ति नहीं होती। जिस प्रकार लोक व्यवहार में घट निष्पन्न होने के बाद ही वह पानी भरने के लिए उपयोगी होता है।

ज्ञापन के द्वारा दोष निवारण - "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" - (६.१.१९९.) सूत्र से पाणिनि ने ञित् प्रत्ययान्त और नित्प्रत्ययान्त को आद्युदात्त का विधान किया है यह इस बात का ज्ञापक है कि प्रत्ययान्त को आद्युदात्त नहीं होता। उसी प्रकार "धातोः" - (६.१.१६२.) सूत्र से धातु का अन्तिम स्वर उदात्त कहा गया है और "फिट्" सूत्र फिषोऽन्त उदात्तः से प्रातिपदिक का अन्तिम स्वर उदात्त होता है, इससे ज्ञापित होता है कि सुप् प्रत्ययान्त और पित् प्रत्ययान्त शब्दों को, अनुदात्त नहीं होता। यदि अनुदात्तौ० सूत्र से तदन्त को अनुदात्त होता तो धातु को या प्रातिपदिक को अन्तोदात्त का विधान करना व्यर्थ होता। धातु और प्रातिपदिक को अन्तोदात्त का विधान करना उसी स्थिति में सार्थक है जब सुप् और पित् प्रत्ययों को अनुदात्त का विधान होता हो।

प्रत्यय संज्ञा के साथ आद्युदात्त का प्रयोजन यदि आगमों के लिए सार्थक मानें अर्थात् प्रत्ययों को आद्युदात्त करने से शेष निघात (अनुदात्त पदम्० - ६.१.१५८.) के द्वारा आगम में अनुदात्त की सिद्धि हो जाए। प्रत्यय की अपेक्षा आगम पश्चात् वर्ती अर्थात् बाद में आता है। अतः शेष निघात - (६.१.१५८.) से आगम अनुदात्त हो जाता है। अन्यथा लवितव्यम् आदि उदाहरणों में परत्वात् इडागम (आर्धधातुकस्येड् - ७.२.३५.) होकर वह प्रत्यय का आदि अवयव मानने पर (आद्यन्तौ०) इडागम को ही आद्युदात्त की प्राप्ति हो जाएगी। प्रत्यय संज्ञा सन्नियोग से आद्युदात्त करने पर यह दोष प्रसक्त नहीं होगा।

आगमों का अनुदात्तत्व - उपर्युक्त व्याख्यान के अनुसार प्रत्यय संज्ञा के साथ आद्युदात्तत्व

का विधान करने पर आगमों के आद्युदात्तत्व का निराकरण तो हो जाता है। तथापि आगमों के अनुदात्तत्व का विधान स्वतन्त्र रूप से करना आवश्यक है। इस वचन की उपयोगिता सीयुट् आगम में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। लविषीय आदि प्रयोगों में लू धातु आशीर्लिङ् और सीयुट् - (३.४.१०२.) उत्तम पुरुष एक वचन में इट् प्रत्यय होता है। इस इट् प्रत्यय को आद्युदात्त कर्तव्य है किन्तु सीयुट् इसका आदि अवयव होने से सीयुट् को आद्युदात्तत्व की प्रसक्ति संभव है। **"आगमा: अनुदात्ता:"** कहने से ही इसकी निवृत्ति होती है।

ज्ञापन द्वारा अन्यथा सिद्धि - आचार्य पाणिनि ने परस्मैपद में लिङ् लकार को यासुट् आगम और उसे ङित् तथा उदात्त का विधान किया है। इससे सिद्ध होता है कि आगम अनुदात्त ही होते हैं। यासुट् आगम लिङ् को होता है अत: लिङ् के स्थान पर होने वाले तिङ् आदि प्रत्यय उत्सर्गत: आद्युदात्त हो ही जाते। तथापि सूत्रकार उनमें आद्युदात्तत्व का विधान करते हैं, जिसमें वे ज्ञापित करना चाहते हैं कि आगम उदात्त नहीं होते, अनुदात्त होते हैं। इस स्थल पर यासुट् को उदात्त करने का प्रयोजन तिप् सिप् प्रत्ययों के लिए सार्थक मानना युक्ति संगत नहीं है। यदि सूत्रकार को यही अभीष्ट होता तो वे यासुट् को उदात्त का विधान न कर उसमें अपित्व का अतिदेश कर देते और सम्पूर्ण सूत्र **"यासुट् परस्मैपदेष्वपिच्च"** - (३.४.१०३.) बना देते। इस सूत्र न्यास से लाघव भी हो जाता। अत: यथापठित सूत्र (यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च) से यह ज्ञापित होता है कि आगमों में उदात्तत्व नहीं होता।

स्वर विधि में आगमों का अविद्यमानवद् भाव - ज्ञापन के द्वारा अथवा वचनारम्भ से आगमों को अनुदात्त करने पर भी प्रकृति और प्रत्यय के मध्य उसका व्यवधान होने से प्रत्यय का आ प्रत्ययादित्व तो नष्ट होता ही है। तब आद्युदात्तश्च से प्रत्यय के आदि को उदात्तत्व की प्राप्ति कैसे सम्भव है ? इस शंका का समाधान आगम को अविद्यमानवत् मानकर किया जा सकता है। यह अविद्यमानवद् भाव भी निरपेक्ष रूप से नहीं माना जा सकता अन्यथा लविता आदि उदाहरणों में लू + इ + ता, लो + इ + ता स्थिति में ओकार को अवादेश (एचोऽयवा० - ६.१.७८.) नहीं हो पाएगा। अत: अविद्यमानता केवल स्वरविधि की कर्तव्यता में ही माननी चाहिए।

वस्तुत: इस अविद्यमानता के लिए वचनारम्भ आवश्यक नहीं है। यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च - (३.४.१०३.) सूत्र से लिङ् को यासुट् आगम: यासुट् को उदात्त विधान और ङित्व का अतिदेश करना यही इसका ज्ञापक है कि आगम अविद्यमानवत् होते हैं।

प्रत्यय संज्ञा के सन्नियोग में आद्युदात्तत्व के विधान का दूसरा प्रयोजन स्रौघ्नी - माथुरी आदि ङीवन्त प्रयोगों में उदात्त निवृत्ति स्वर की सिद्धि होती है। इन प्रयोगों में अण् - (४.३.५३.) को प्रत्यय संज्ञा करने के बाद, ङीप् निमित्तक अकार लोप - (६.१.१४८.) होता है। यह उदात्त अकार का लोप है, अत: ङीप् को उदात्त निवृत्तिस्वर सिद्ध होता है। - (६.१.१६१.) यदि ञ्नित्यादि० - (६.१.१९७.) के प्रकरण में प्रकृत सूत्रों को "प्रत्ययस्यच" - इस रूप में पढा जाता तो परत्वात् अकार लोप हो जाता और ङीप् को उदात्तनिवृत्ति स्वर सिद्ध न हो पाता।

प्रत्ययसंज्ञा के साथ आद्युदात्तत्व के विधान का उपर्युक्त प्रयोजन भी प्रत्याख्येय है। "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" परिभाषा से अकारलोप बहिरङ्ग होने से अन्तरङ्ग लक्षण आद्युदात्त स्वर के द्वारा बाधित या असिद्ध होता है। अतः आद्युदात्त स्वर पहले होता है और यस्येतिलोप बाद में होता है। इस प्रकार उदात्त निवृत्ति स्वर अन्यथा सिद्ध होता है।

विप्रतिषेध की सिद्धि के लिए आद्युदात्तश्च को धातोः - (६.१.१६२.) के पूर्व पठित करना आवश्यक है। यह प्रत्यय संज्ञासन्नियोगत्व का प्रयोजन माना जा सकता है। आद्युदात्तत्व को समत्वम् - सिमत्वम् में अवकाश है। पचति - पठति में धातोः सूत्र से विहित अन्तोदात्त को अवकाश है। "गोपायति" प्रयोग में आय प्रत्यय में दोनों सूत्रों की युगपत् प्रवृत्ति है। यहाँ विप्रतिषेध न्याय से धातोः सूत्र परत्वात् बली होता है और अन्तोदात्त स्वर की सिद्धि हो जाती है। इसी प्रकार अनुदात्तौ सुप्पितौ - (३.१.४.) सूत्र से विहित पित्व के अनुदात्तत्व को पचति - पठति में अवकाश है और तित् स्वर को कार्यम् - हार्यम् में अवकाश है। कार्या - हार्या में दोनों की युगपत् प्रवृत्ति है। विप्रतिषेध न्याय से परत्वात् तित्स्वर होता है। इसी प्रकार चाप् प्रत्यय के प्रयोग स्थल में चित्वात् अन्तोदात्त - (६.१.१६३.) और पित्वात् अनुदात्त - (३.१.४.) प्राप्त है। विप्रतिषेध से परत्वात् चित्स्वर बली होकर आम्बष्ठ्या - सौवीर्या आदि प्रयोग अन्तोदात्त होते हैं।

सिद्धान्ततः भाष्यकार ने उपर्युक्त विप्रतिषेध को अयुक्त माना है। प्रत्ययसंज्ञासन्नियोग में आद्युदात्तत्व का विधान करने पर अर्थात् यथान्यास की स्थिति में विधान सामर्थ्य से आद्युदात्त स्वर करने के पश्चात् ही धातुस्वरं की प्रसक्ति होती है। गोपायति में आय को पहले आद्युदात्त स्वर होगा और पश्चात् धातोः से धातु स्वर की अर्थात् अन्तोदात्त की प्रसक्ति होगी। पित् और तित् के विषय में भी कार्या, हार्या, आम्बष्ठया, सौवीर्या प्रयोगों में ण्यत् को स्वरित करने के बाद उस स्वरित के साथ टाप् का एकादेश होता है। यह एकादेश स्थानिवत् होने से - (१.१.५०.) स्वरित ही होगा।

आम्बष्ठया, सौवीर्या आदि प्रयोगों में चाप् प्रत्यय में इत्संज्ञक चकार के सामर्थ्य से अन्तोदात्त - (६.१.१६३.) की सिद्धि हो जाएगी। यदि चकार का कोई प्रयोजन सूत्रकार की दृष्टि में होता तो टाप् के प्रकरण में ही "यङष्टाप्" सूत्र बना देते।

निष्कर्षतः प्रत्यय संज्ञा सन्नियोग में आद्युदात्तत्व विधान के सभी प्रयोजन अन्यथा सिद्ध प्रतीत होते हैं। मात्र आगमों में उदात्तत्व की प्रवृत्ति न हो जाए अर्थात् आगम अनुदात्त रहें यही प्रयोजन अन्ततोगत्वा अप्रत्याख्यात है अतः वार्तिकोक्त **"आगमाऽनुदात्तार्थं वा"** - प्रयोजन ही सिद्धान्त उक्ति माननी चाहिए। उद्योतकार कहते हैं -

"आगमानुदात्तार्थ वेत्येवोपक्रमोक्ता सिद्धान्त्युक्तिः" - (उद्योत म. भा. - ३.१.३.)

सार-संक्षेप - प्रत्यय में अनियत स्वर की प्रसक्ति में आद्युदात्तत्व स्वर को नियमित करने में प्रकृत सूत्र की सार्थकता सिद्ध है। तृतीय अध्याय में प्रकृत सूत्र पाठ का प्रयोजन विचारणीय है। सभी स्वर विधायक सूत्र षष्ठाध्याय में पठित हैं वहीं इस सूत्र का पाठ भी होना चाहिए।

जैसे - "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" - (६.१.१९७.) के बाद "प्रत्ययस्य च" पठित करने से सन्दर्भ शुद्धि भी होती है और आद्युदात्तत्व की उपलब्धि भी हो जाती है। जिससे लाघवं सिद्ध होता है। (**"ञ्नित्यादिर्नित्यम्" - ६.१.१९७. प्रत्ययस्य च ...... इति षष्ठ एव सूत्र्यताम्। एवं स्वर प्रकरणे पाठात् सन्दर्भ शुद्धिः आद्युदात्तानुदात्तशब्दयोस्तत्रत्योरेवोपजीवनाल्लाघवं च। - शब्दकौस्तुभ - ३.१.३.**) षष्ठाध्याय में पाठ करने से तदादि तदन्त विधि संभावित है, जिससे तदन्त को आद्युदात्त की प्रसक्ति हो सकती है। इस प्रकरण में अर्थात् तृतीयाध्याय में प्रत्यय संज्ञा सन्नियोग में तदन्तविधि की संभावना नहीं रहती - यह आशङ्का व्यर्थ है। षष्ठाध्याय में पाठ करने पर भी ज्ञापन के द्वारा तदन्त विधि का निराकरण हो जाता है। अतः स्वर प्रकरण में प्रकृत सूत्र का पाठ उचित है। (**तस्मात् षष्ठे सूत्रकरणमेवोचितम् - शब्द कौस्तुभ**) सिद्धान्त रूप से तृतीयाध्याय में प्रकृत सूत्र के पाठ का प्रयोजन गोपायति आदि प्रयोगों में परिलक्षित होता है। प्रत्ययसंज्ञा सन्नियोग में ही आय को आद्युदात्त करने के पश्चात् "सनाद्यन्ताः०" - (३.१.३२.) से धातु संज्ञा और "धातोः" - (६.१.१६२.) से अन्तोदात्त की सिद्धि होती है, जो अभीष्ट है। "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" के बाद "प्रत्ययस्य च" न्यास करने से "धातु स्वर" - (६.१.१६२.) का बाध होकर परत्वात् प्रत्ययस्वर बली होगा और गोपाय धातु अन्तोदात्त नहीं हो सकेगा।

(गोपायतीत्यत्र उत्पत्तिसन्नियोगेनाद्युदात्तत्वे कृते ततः "सनाद्यन्ताः०" - ३.१.३२. इति धातुत्वे "धातोः" - ६.१.१६२. इत्यन्तोदात्तो भवति। यदि तु "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" - ६.१.१९७. प्रत्ययस्य च इच्युच्येत। तदा परत्वाद्धातुस्वरं प्रत्ययस्वरो बाधेत। - शब्द कौस्तुभ)

आगमों में आद्युदात्तत्व की निवृत्ति के लिए प्रत्यय संज्ञा संनियोग में आद्युदात्तत्व का विधान सार्थक है - यह कथन उचित नहीं है क्योंकि आगमों को अनुदात्त का विधान दोनों पक्षों में आवश्यक है। यदागम न्याय से प्रत्यय के आदि को विधीयमान आद्युदात्त स्वर आगम में भी प्रसक्त हो सकता है। शेष निघात के द्वारा आगम को अनुदात्त की सिद्धि संभव नहीं है, क्योंकि शेष निघात स्वरविधि विषयक कार्य है। शब्द कौस्तुभ के शब्दों में -

"नायं शेष निघातस्य विषयः स्वर विधिशेषत्वात्तस्य। यस्मिन्पदे यस्यामवस्थायां सन्निहितमजन्तरं निहन्यते इत्यर्थः। न चाय प्रकारोऽत्र सम्भवति। तस्मादिटो ऽनुदात्तत्वं नात्र सूत्रारम्भस्य फलम्।"

स्रौघ्नी इत्यादि प्रयोगों में उदात्त निवृत्ति स्वर की प्राप्ति के लिए प्रकृत सूत्र के तृतीयाध्याय में पाठ का फल मानना भी युक्तिसंगत नहीं है। स्रौघ्न + ई में यस्येति च से प्राप्त लोप बहिरङ्ग होने से प्रत्यय स्वर (ङीप् को प्राप्त स्वर) के द्वारा बाधित होता है और उसकी पूर्व प्रवृत्ति नहीं हो पाती। अतः षष्ठाध्याय में पाठ करने पर भी ङीप् में उदात्त की सिद्धि हो सकती है।

निष्कर्षतः यह प्रतिपाद्य है कि आद्युदात्तश्च सूत्र का षष्ठाध्याय में "ञ्नित्यादिर्नित्यम् - प्रत्ययस्य च " - इस रूप में न्यास करने पर मात्र एक स्वर प्रकरण में पाठ और लाघव रूप दो फलों की (**सन्दर्भशुद्धिः लाघवं च**) सिद्धि होती है। तथापि सूत्रकार ने इसे तृतीयाध्याय में प्रत्यय संज्ञासंनियोग

में ही पठित किया है इसके दो ही प्रयोजन हैं - १. धातु स्वर की सिद्धि - (गोपायति में), २. तदन्तग्रहण की निवृत्ति।

उपर्युक्त प्रयोजनों के परिप्रेक्ष्य में आचार्य पाणिनि ने स्वर प्रकरण को छोड़कर और गौरव को स्वीकार करते हुए प्रत्यय संज्ञा संनियोग में आद्युदात्तश्च का पाठ किया है।

"भित्वा प्रकरणं सोढ़वा गौरवं चेह सूत्रर्णे फलं धातुस्वरस्तद्वत् तदन्ताग्रहणे स्थितम्।"

- शब्द कौस्तुभ

❀❀❀

शब्द संकेत

१. असंनियोगे हि यस्मात् स तदादेराद्युदात्तत्वं तदन्तस्य चानुदात्तत्वम्।

- (म.भा. - ३.१.३., वा. - २.)

❀❀❀

यथासंख्यमनुदेशः समानाम्
(१.३.१०)

सूत्रार्थ - किसी सूत्र में स्थानी आदेश और निमित्तों में कोई भी दो सम संख्यक होने पर उनका सम्बन्द क्रमशः करना चाहिए। जैसे - "टाङसिङसामिनात्स्याः" - (७.१.१२.) सूत्र में टा, ङसि और ङस् ये तीन स्थानी हैं और इन, आत्, स्य - ये तीन आदेश हैं। इनका क्रमशः सम्बन्ध होने से टा के स्थान पर इन, ङसि के स्थान पर आत् और ङस् के स्थान पर स्य आदेश होते हैं। इसी प्रकार "एतेतौरथोः" - (५.३.४.) सूत्र से इदम् के स्थान पर रेफादि प्रत्यय के परे एत आदेश और थकारादि प्रत्यय के परे इत आदेश होता है। इस सूत्र में आदेश और निमित्त में यथा संख्य है। "समूलाकृतजीवेषु हन् - कृञ् - गृहः" - (३.४.३६.) सूत्र में भी निमित्त और आदेश में यथासंख्य कार्य होते हैं। (समूल अकृत और जीव उपपद होने पर क्रमशः हन् - कृञ् और ग्रह् धातु से णमुल् प्रत्यय होता है और समूलघातम्, अकृतकारम् तथा जीवग्राहम् रूप सिद्ध होते हैं। इकोयणचि में यद्यपि चार इक् और चार ही यण हैं और क्रमशः इनका सम्बन्ध होता है अर्थात् इ को य - उ को व, ऋ को र और लृ को ल आदेश होते हैं तथापि इकोयणचि को यथासंख्य का उदाहरण नहीं मान सकते क्योंकि वहाँ "स्थानेऽन्तरतमः" - (१.१.५०.) परिभाषा से इष्ट सिद्धि होती है।

"तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः" - (३.४.१०१.) सूत्र भी यथा संख्य का उदाहरण नहीं है। इसमें स्थानी और आदेश में अर्थकृत सादृश्य होने से "स्थानेऽन्तरतमः" परिभाषा से अभीष्ट सिद्ध हो जाता है। भाष्यकार ने "तुदीशलातुर वर्मती कूचवाराड्ढकेछण्ढञ्यकः" - (४.३.९४.) सूत्र को यथासंख्य के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। इसके अनुसार तुदी - शलातुर - वर्मती और कूचवार शब्दों से "सोऽस्याभिजनः" अर्थ में क्रमशः ढक् - छण् - ढञ् और यक् प्रत्यय होते हैं और तौदेयः - शालातुरीयः - वार्मतेयः और कौचवार्यः रूप सिद्ध होते हैं।

पदार्थ विवरण - सूत्र पठित संख्या पद क्रम का वाचक है, अतः यथासंख्यम् का आशय यथाक्रमम् है। अनुदेश का तात्पर्य पश्चात् उच्चार्यमाण से है। यह सम्बन्धीवाचक शब्द है, अतः इससे उद्देशी का आक्षेप होता है और इस प्रकार उद्देश्य अनुदेश शब्द क्रमशः पूर्वोच्चार्यभाव और पश्चादुच्चार्यभाव के वाचक हैं। समानाम् में सम पद संख्या साम्य का वाचक है - सर्व का पर्याय नहीं है। संख्या का तात्पर्य गणना से है। **(संख्यानं गणनम्। अनुदेशशब्दस्य सम्बन्धिशब्दत्वादुद्देश्याक्षिप्तः। तेनायमर्थः समानां सम संख्यानामध्ये यथागणनमुद्देशिभिः सहानुदेशिनः सम्बन्ध्यन्ते। - म.भा. प्रदीप - १.३.१०.)**

नागेश भट्ट ने संख्या शब्द को ज्ञानार्थक माना है और यथासंख्य का तात्पर्य "क्रमवैशिष्ट्येन ज्ञानम्" कहा है। "यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानम्" - (गीता - ५.५.) में सांख्य शब्द का ज्ञानार्थक प्रयोग है।

नियमकारिता - जहाँ विधि सूत्रों में अनेक उद्देशी और अनुद्देशी विद्यमान होते हैं, वहाँ अनियम की स्थिति सम्भव है। इसे नियमित करने के लिए प्रकृत सूत्रारम्भ है। इस दृष्टि से

"अनियमे नियमकारिणी" परिभाषा के अनुसार यह परिभाषा सूत्र कहा जा सकता है। न्यासकार भी कहते हैं - **"यत्रानेके उद्देशिनोऽनुद्देशिनश्च, तत्रानियमेन सम्बन्धे प्राप्ते नियमार्थमिदमारभ्यते।"**

व्याकरण सिद्धान्त सुधानिधिकार ने भी इसके परिभाषात्व को स्वीकार किया है। (तदंशे यथासंख्यपरिभाषायाः पाठविरहात्)

सूत्र का प्रयोजन - अनेक विधिसूत्रों में उद्देश और अनुदेश का क्रमानुसार सम्बन्ध अभीष्ट होने पर भी सूत्रकार कदाचित् संज्ञा के द्वारा या कदाचित् समास के द्वारा इनका निर्देश करते हैं। जैसे - "परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः" - (३.४.८२.) सूत्र में उद्देश का निर्देश "परस्मैपद" - इस संज्ञा शब्द के द्वारा किया है। "तुदीशलातुर०" इत्यादि सूत्र में उद्देश और अनुदेश दोनों का निर्देश द्वन्द्व समास के द्वारा किया है। इस स्थिति में यथाक्रम की व्यवस्था सम्भव नहीं है। परस्मैपद संज्ञा के द्वारा सभी संज्ञियों का युगपत् बोध होगा और क्रम की व्यवस्था नहीं होगी। जैसे - लोक में "अजाविधनौ देवदत्तयज्ञदत्तौ" कहने पर देवदत्त की अजा और यज्ञदत्त का अवि - धन है - यह क्रमशः बोध निश्चित रूप से नहीं होता क्योंकि अजा + अवि में द्वन्द्व समास है और देवदत्त - यज्ञदत्त में द्वन्द्व है। इस समाहार द्वन्द्व में अनेक अवयव वाले समुदाय का बोध एक ही पद से होता है अतः उसमें क्रम नियम का बोध कैसे हो सकता है ?

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि "परस्मैपदानाम्०" - (३.४.८२.) आदि सूत्रों में उद्देश तथा अनुदेश का निर्देश संज्ञा व समास के द्वारा क्यों किया जाता है ? वार्तिककार ने इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा है - **"संज्ञासमासनिर्देशःपृथग्विभक्तिसंज्ञ्यनुच्चारणार्थः - म. भा. वा. - २."** इसका आशय है कि यदि शब्दों का समास नहीं करते तो प्रत्येक शब्दों में विभक्ति विधान करना पड़ता और संज्ञा (परस्मैपद) का उच्चारण न करते तो सभी संज्ञियों का पृथक् - पृथक् उच्चारण करना पड़ता। इसके अतिरिक्त आगामी सूत्रों में अनुवृत्ति के लिए संज्ञा और समास युक्त पाठ आवश्यक है। "परस्मैपदानाम्०" सूत्र में यदि संज्ञा का उच्चारण न करें तो तिपो णल, तसो ऽ तुस्, झेरूस् - इस प्रकार मसो म तक सभी स्थानी और आदेशों का पृथक् - पृथक् उच्चारण करना पड़ता। इसके फलस्वरूप "विदो लटो वा" - (३.४.८३.) में अन्तिम स्थान्यादेश "मसो म" की ही अनुवृत्ति होती, अन्य की नहीं।

समानाम् का तात्पर्य - सूत्र पठित समानाम् पद उद्देश और अनुदेश के संख्या साम्य का वाचक है। यह साम्य दो प्रकार का हो सकता है। - १. शब्दगत साम्य, २. अर्थगत साम्य।

सूत्र में यदि शब्दगत साम्य की विवक्षा मानते हैं तो "परस्मैपदानाम्०" - (३.४.८२.), "०प्रथमस्य डारौरसः" - (२.४.८५.), "एचोऽयवायावः" - (६.१.७८.) आदि सूत्रों में क्रम व्यवस्था सिद्ध नहीं हो पाती। परस्मैपदानाम् एक शब्द है और णल् - अतुस् - उस् आदि अनेक शब्द हैं, इनमें यथासंख्य नहीं हो पाएगा। डा - रौ - रस् ये तीन शब्द हैं और प्रथमस्य एक शब्द है - इनमें संख्या साम्य न होने से यथासंख्य व्यवस्था नहीं हो पाएगी। अयादि में अय् - अव् - आय् - आव् अनेक हैं और एचः शब्द एक है अतः संख्या साम्य नहीं है। दूसरे पक्ष में यदि अर्थ साम्य के आधार पर यथासंख्य

करते हैं तो "स्यतासी लृलुटोः" - (३.१.३३.), "नन्दिग्रहि०" - (३.१.१३४.), "वुञ् छण् वुठ जिल०" - (४.२.८०.), "सिन्धु तक्षशिलादिभ्यो०" - (४.३.९३.) आदि में दोष संभावना होती है। प्रथम सूत्र में स्य - तास् दो अर्थ हैं और लृ - लुङ् के लृट् - लृङ् और लुङ् ये तीन अर्थ हैं। यहाँ यथासंख्य नहीं हो पाएगा। नदि आदि में अनेक अर्थ विवक्षित हैं और ल्यु णिनि और अच् - ये तीन ही अर्थ हैं। यहाँ अर्थतः संख्या साम्य न होने से यथासंख्य संभव नहीं है। वुञ् छण्० इत्यादि सूत्र में अरीहणादि गण में अनेक शब्द हैं और वुञ् छण् आदि प्रत्यय सत्रह हैं, अतः अर्थ की दृष्टि से संख्या साम्य नहीं है, अतः क्रमशः अन्वय नहीं हो सकता। सूत्र - (४.३.९३.) में "सिन्धुतक्षशिलादि" शब्द अनेक हैं, उनसे विहित अण् और अञ् दो ही प्रत्यय हैं। यहाँ भी संख्या वैषम्य है, अतः क्रमान्वय नहीं हो सकता।

अर्थतः संख्या साम्य से अतिव्याप्ति दोष - अर्थगत संख्या साम्य मानने से उपर्युक्त सूत्रों में यथासंख्य की अव्याप्ति होती है और आत्मनेपदविधि आदि में अतिव्याप्ति हो जाती है। जैसे - "अनुदात्त ङित् आत्मनेपदम्" - (१.३.१२.) सूत्र में अनुदात्त और ङित् मिलकर दो अर्थ हैं और आत्मनेपद के भी तङ् और आन् मिलकर दो अर्थ हैं, (तङानावत्मनेपदम् - १.४.१००.) यहाँ संख्या साम्य के आधार पर यदि क्रमशः अन्वय करते हैं तो अनिष्ट की आपत्ति हो सकती है।

निष्ठा प्रत्ययों में भी दोष संभावित है। "रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः" - (८.२.४२.) सूत्र में रेफ और दकार मिलकर दो अर्थ और निष्ठा के भी दो अर्थ क्त और क्तवतु हैं, इनका क्रम से अन्वय करने पर अनिष्ट की आपत्ति होगी। सार्वधातुक ग्रहण में दोष की संभावना है। सार्वधातुक पद से तिङ् और शित् का बोध होता है। (३.४.११३.), "श्नसोरल्लोपः" - (६.४.१११.) सूत्र में श्नम् और अस् मिलकर दो का बोध होता है। इनमें यथासंख्य करने पर क्रमशः अन्वय की प्रसक्ति हो जाएगी। "एङः पदान्तादति" - (६.१.१०९.) और "ङसि ऽसोश्च" - (६.१.११०.) सूत्रों में एङ् से बोध्य ए और ओ तथा ङसि और ङस् में परस्पर अर्थ की दृष्टि से संख्या साम्य होने से संख्यातानुदेश की प्रसक्ति हो जाएगी।

अर्थपक्ष में उपर्युक्त दोषों की संभावना से यदि शब्द साम्य पक्ष स्वीकार किया जाए तो "णलादयः परस्मैपदानाम्", "डारौरसः प्रथमस्य", "अयवायाव एचः" में दोष प्रसक्ति होती है। भाष्यकार इन दोषों का निवारण "स्थानेऽन्तरतमः" के द्वारा करते हैं। सभी सूत्रों में स्थानी और आदेश में किसी न किसी प्रकार का आन्तर्य है।

परस्मैपदानाम्० और लुटः प्रतमस्य० उदाहरणों में अर्थसाम्य है। अतः एकत्वार्थक प्रत्ययों के स्थान पर एकत्वबोधक प्रत्यय ही आदिष्ट होंगे। द्वित्वार्थक प्रत्ययों के स्थान पर द्वित्वार्थक और बहुत्वार्थक के स्थान पर बहुत्वार्थक आदेश होंगे। "एचोऽयवायावः" में संवृत अकार से युक्त ए - ओ के स्थान पर संवृत अकार युक्त अय् - अव् आदेश होंगे तथा विवृत्त अकार युक्त ऐ - औ के स्थान पर विवृत्त अवर्ण युक्त आय् और आव् आदेश होंगे।

क्ङिति च - (१.१.५.) - सूत्र में यथासंख्य की अतिप्रसक्ति की आशङ्का नहीं करनी चाहिए। पूर्वपक्ष के अनुसार सूत्र में गुण-वृद्धि दो शब्द हैं और कित् - ङित् भी दो हैं, अतः यहाँ यथासंख्य

की प्रवृत्ति संभव है। वस्तुतः सूत्र में कित् - ङित् के साथ गित् का भी उच्चारण है, "चर्त्वं" - (८.४.५५.) के कारण उसका श्रवण नहीं होता।

उदि कूले रूर्जिवहोः - (३.२.३१.) - सूत्र में उद् और कूल मिलकर दो उपपद हैं और रुज् - वह् मिलकर दो धातुएँ हैं। यहाँ संख्या साम्य होने से क्रमान्वय की प्रसक्ति हो सकती है। इस अतिप्रसक्ति दोष का निवारण इस प्रकार किया जा सकता है कि उद् को उपपद न मानकर रुज् और वह् धातु का विशेषण माना जाए। उपपद केवल एक ही है (कूल)। अतः सम्पूर्ण सूत्र का अर्थ है - कूल उपपद होने पर उद्उपसर्ग पूर्वक रुज् और वह् धातु से (उद्रुज् और उद्वह्) खश् प्रत्यय होता है और कूलमुद्रुजः तथा कूलमुदवहः रूप सिद्ध होते हैं।

ताच्छील्यादि अर्थो में विद् - भिद् और छिद् धातुओं से कुरच् प्रत्यय - (३.२.१६२.) के विधान में भी यथासंख्य की अतिप्रसक्ति संभाव्य है क्योंकि विद् - भिद् और छिद् ये तीन धातुएँ और तच्छील, तद्धर्म और तत्साधुकारित्व रूप तीन अर्थ हैं।

"निर्भ्योः पूल्वोः" - (३.३.२८.) सूत्र में निर् और भिस् दो उपसर्ग और पू तथा लू दो धातुएँ पठित हैं। यहाँ संख्या साम्य होने से क्रमान्वय की अति प्रसक्ति है। वस्तुतः यह इष्टापत्ति है, क्योंकि यहाँ यथासंख्य अभीष्ट है। यही कारण है कि निर् उपसर्ग पूर्वक पू धातु से घञ् प्रत्यय करने पर निष्पावः और अभि उपसर्ग पूर्वक लू धातु से घञ् प्रत्यय करने पर अभिलावः रूप सिद्ध होते हैं। "अकर्तरि कारके" - (३.३.१९.) और "भावे" - (३.३.१८.) अर्थ में पू और लू धातुओं से घञ् की प्रवृत्ति में यथासंख्य प्राप्त है, जो अनिष्ट है। यहाँ यथासंख्य करने पर अकर्तरि अर्थ में पू धातु से और भाव अर्थ में लू धातु में घञ् का विधान होगा, जिसके फलस्वरूप भाव अर्थ में पू धातु से और अकर्ता अर्थ में लू धातु के घञन्त रूप उपलब्ध नहीं हो पाएँगे।

इसके अतिरिक्त तृ और स्तृ धातु से करण और अधिकरण अर्थ में घञ् करते समय (अवे तृस्तोर्घञ् करणाधिकरणयोश्च - ३.३.१२०-११७.) भू और कृ धातुओं से कर्ता और कर्म उपपद होने पर खल् प्रत्यय ("कर्तृकर्मणोश्च०" - ३.३.१२७.) अनवक्लृप्ति और अमर्ष अर्थ में किंवृत्त और अकिंवृत्त उपपद से लिङ् - लृट् की प्राप्ति में ("अनवक्लृप्यमर्षयोः" - ३.३.१४५.), "स्वाङ्गे तस् प्रत्यये०" - (३.४.६१.) सूत्र में कृ - भू का क्त्वा और णमुल् के साथ छन्दो ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि - (४.२.६६.) सूत्र में छन्द और ब्राह्मण का अधीते और वेद क्रियाओं के साथ; "रोपधेतोः प्राचाम्" - (४.२.१२३.) सूत्र में और "तद्गच्छति पथिदूतयोः" - (४.३.८५.) सूत्रों में रोपध और ईकारान्त के साथ पन्था और दूत का; "क्रतुयेज्ञभ्यश्च" - (४.३.६८.) और "तत्र भवः" - (४.३.५३.) "तस्य व्याख्यान०" - (४.३.६६.) अर्थो में क्रतु और यज्ञ का; तत्र भवः और तस्य व्याख्यान० अर्थो में; "संधाङ्कलक्षणेषु०" - (४.३.१२७.) सूत्र में अञ् प्रत्ययान्त - यञ् प्रत्ययान्त और इञ् प्रत्ययान्त का संघ अङ्क और लक्षण अर्थो के साथ संख्यातानुदेश की अति प्रसक्ति संभाव्य है।

अन्तिम सूत्र "संधाङ्क लक्षणेषु०" में वार्तिककार घोष शब्द का उपसंख्यान करते हैं अतः यथासंख्य बाधित हो जाता है। "वेशोयश आदेर्भगाद्यल्खौ" - (४.४.१३१-१३२.) में

अवधिभूत वेशोभग और यशोभग के साथ यल् और ख का संख्या साम्य होने से क्रमान्वय की प्रसक्ति है। "ख्यत्यात्परस्य" - (६.१.११२.) में ङसि और ङस् के साथ ख्य और त्य का संख्यातान्वय प्राप्त है। इस दोष के निवारणार्थ यदि समसंख्यक शब्दों का एक सूत्र में उच्चारण आवश्यक माने तो ख्यत्यात्० का दोष परिहार तो हो जाएगा किन्तु "विदो लटो वा" - (३.४.८३.) आदि सूत्रों में दोष प्रसक्ति हो जाएगी। क्योंकि यहाँ विद् धातु से परे लट् के स्थान पर विहित तिबादि का उच्चारण नहीं है, अतः तिबादि के साथ णलादि का यथासंख्य नहीं हो पाएगा। "नाडीमुष्टयोश्च" - (३.२.३०.) में ध्मा और धेट् का उच्चारण नहीं है, अतः नाडी और मुष्टि का ध्मा और धेट् के साथ यथासंख्य नहीं हो पाएगा। "इनित्रकट्यचश्च" - (४.२.५१.) में खल् - गो - रथ के साथ यथासंख्य अन्वय नहीं होगा क्योंकि दोनों एक सूत्र में नहीं हैं। "अणञौ च" - (४.३.३३.) में सिन्धु और अपकर शब्द पठित नहीं हैं, अतः इनका क्रमान्वय नहीं हो पाएगा। (सिन्धु और अपकर शब्द पूर्व सूत्र - ४.३.३२. में पठित हैं।) "बहुवचनस्य वस्नसौ" - (८.१.२१.) और "तुभ्यमह्यौ ङयि" - (७.२.९५.) में युष्मद्, अस्मद् शब्दों का उच्चारण नहीं है अतः आदेशों के साथ उनका क्रमान्वय नहीं हो पाएगा।

निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि उद्देश और अनुदेश में संख्या साम्य हो और दोनों का एक ही सूत्र में उच्चारण हो तभी संख्यातानुदेश करना चाहिए। इस पक्ष में जो दोष संभाव्य हैं उनका अनभिधान आदि के द्वारा निरसन करना चाहिए। भाष्यकार का भी यही मत है। **(यस्मिन् पक्षे ऽल्पीयांसो दोषास्तमास्थाय प्रतिविधेयं दोषेषु)** कैयट के शब्दों में - **"दोष प्रतिविधानं तु क्वचिदान्तर्याद्व्यवस्था, क्वचिदभिधानाऽनभिधानाभ्यामिति कर्तव्यम्" - (प्रदीप)**

इस सम्बन्ध में भाष्यकार एक सिद्धान्त समाधान प्रस्तुत करते हैं, जिसके अनुसार "यथासंख्यमनुदेशः समानां स्वरितेन" - यह सूत्र बनाया जाए और इसके अनन्तर अधिकारः सूत्र पढ़ा जाए। पाणिनीय सूत्र पाठ के अनुसार "यथासंख्यमनुदेशः समानाम्" - (१.३.१०.) और "स्वरितेनाधिकारः" - (१.३.११.) सूत्र पठित हैं। इस संशोधित सूत्र पाठ में प्रथम सूत्र का अर्थ होगा - "स्वरितत्व धर्म से युक्त होने पर ही समसंख्याक उद्देश अनुदेश शब्दों का क्रमशः अन्वय होता है।" अर्थात् जहाँ सूत्रों में क्रमान्वय अभीष्ट है वहीं स्वरित धर्म युक्त उच्चारण किया गया है। आगामी सूत्र "अधिकारः" में स्वरितेन की अनुवृत्ति होकर यथेष्ट अर्थ का बोध होगा।

उपर्युक्त योग विभाग करने पर भी निर्दुष्ट व्यवस्था नहीं होगी। समसंख्याक शब्दों में स्वरितत्व को देखकर यह संदेह उपस्थित हो सकता है कि यह स्वरितत्व संख्यातानुदेश के लिए है अथवा अधिकार के रूप में आगामी सूत्रों में उपस्थिति के लिए किया गया है।

वस्तुतः उपर्युक्त संदेह के निवारणार्थ **"व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्ति र्न हि संदेहादलक्षणम्"** परिभाषा का आश्रय लेकर इष्ट सिद्धि करनी चाहिए। आचार्यो के व्याख्यान द्वारा यह निर्णय करना चाहिए कि किसी सूत्र में स्वरित धर्म संख्यात्तानुदेश या क्रमशः अन्वय के लिए संकेतित है और कहीं अधिकार के लिए है।

❀❀❀

विप्रतिषेधे परं कार्यम्
(१.४.२)

सूत्रार्थ - तुल्यबल वाले दो अथवा दो से अधिक सूत्रों की किसी लक्ष्य में युगपत् प्राप्ति होने पर उनमें विरोध की स्थिति उत्पन्न होती है, इस स्थिति में पर सूत्र से विहित कार्य करना चाहिए। उदाहरणार्थ - वृक्षेभ्यः में वृक्ष + भ्यस् - स्थिति में दीर्घ ("सुपि च" - ७.३.१०२.) और एत्व ("बहुवचने झल्येत्" - ७.३.१०३.) की युगपत् प्राप्ति है। प्रकृत सूत्र के द्वारा पर सूत्र के द्वारा एत्व होकर वृक्षेभ्यः रूप सिद्ध होता है। तुल्य बल का तात्पर्य है - अन्यान्य स्थलों पर चरितार्थ होने वाले सूत्रों का किसी स्थल पर युगपत् प्रवृत्त होना।

"अन्यत्रान्यत्र लब्धावकाशयोरेकत्र समावेशस्तुल्य बल विरोधः"

सूत्र का परिभाषात्व - षड्विध सूत्रों में "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" की गणना नियम सूत्रों में होती है। "अन्य निवृत्तिफलकत्वे सति सिद्धार्थ प्रतिपादकत्व लक्षणकम्" इस लक्षण के अनुसार प्रकृत सूत्र नियम की कोटि में ही आता है। "सिद्धे सत्यारम्यमाणो विधिर्नियमाय" इस सर्व सम्मत लक्षण के अनुसार नियमकारिता भी नियम सूत्र का व्यवच्छेदक धर्म है। यही नियम कारित्व परिभाषाओं में भी होता है। ("अनियमे नियम कारिणी परिभाषा") इस दृष्टि से नियम सूत्र और परिभाषा सूत्रों में सादृश्य होता है। सम्भवतः यही कारण है कि नियम सूत्रों के लिए भी कदाचित् परिभाषा पद का प्रयोग आचार्यों द्वारा किया जाता है। पुरुषोत्तम वृत्ति-टीका में टीकाकार परिभाषा को दो प्रकार से वर्गीकृत करते हैं। प्रथम - लिङ्गवती और द्वितीय - विध्यङ्ग शेषभूता।

इसमें लिङ्गवती परिभाषा विधि की अङ्गभूता होती है, इसके अभाव में विधिसूत्र का अर्थबोध नहीं होता। जैसे - "आदेः परस्य" - (१.१.५४.) के बिना "ईदासः" - (७.२.८३.) सूत्र का वाक्यार्थबोध नहीं होता और उसकी लक्ष्य में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। दूसरी परिभाषा जो विधिशेष भूता है, वह विधि सूत्रों की पूरक होती है। जैसे - "विप्रतिषेधे परं कार्यम्।"

परिभाषात्व - उपर्युक्त अभिमत से यह प्रतीत होता है कि प्राचीन आचार्य सूत्रों के बलाबलत्व का निर्णय करने वाले नियम सूत्रों को परिभाषा की कोटि में परिगणित करते हैं। इसी आधार पर पाश्चात्य समीक्षक गोल्डस्टूकर भी विप्रतिषेधे को परिभाषा ही मानते हैं। (A परिभाषा contains either a special mark, which enables the reader to recognise at once the सूत्र to which it refers or it is delivered without such a criterion......... Again, when a परिभाषा teaches that - If two rules connected with one another but of a different purport, apparently apply to the same case, the later rule only is valid. पाणिनि - This place in Sanskrit Literature)

काशिकाकार ने स्पष्ट शब्दों में इसे परिभाषा कहा है। "पूर्वत्रासिद्धम्" - (८.२.१.) की वृत्ति में वे लिखते हैं -

"विप्रतिषेधे परम् इत्येषा नु परिभाषा येन पूर्वेण लक्षणेन सह स्पर्धते परं लक्षणं तत्प्रति तस्यासिद्धत्वान्न प्रवर्तते ।" पदमञ्जरी और न्यास ने भी "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" को परिभाषा मानकर "पूर्वत्रासिद्धम्" के क्षेत्र से उसे पृथक् रखा है।[१]

विप्रतिषेध - ही परिभाषा की प्रवृत्ति का निमित्त है।

"विप्रतिषेधो हि तस्या निमित्तम्" - (न्यास - ८.२.१.)

"विप्रतिषेधे परं कार्यम्" के आधार पर ही इसकी विधि परक व्याख्या करते हुए महाभाष्यकार ने "सकृद् गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव" परिभाषा की निष्पत्ति की है और नियम मुखेन व्याख्या के द्वारा "पुनः प्रसङ्ग विज्ञानात् सिद्धम्" - परिभाषा सिद्ध की है। नागेश भट्ट भी परिभाषेन्दुशेखर में भाष्यकार का अनुकरण करते हैं।

सूत्र की व्याख्या - सर्व प्रथम सूत्र पठित विप्रतिषेध पद का भाव समझना आवश्यक है। वार्तिककार के शब्दों में **"द्वौ प्रसङ्गावन्यार्थावेकस्मिन् स विप्रतिषेधः"** - अर्थात् अन्यत्र अपने - अपने विषय में चरितार्थ दो विधि सूत्र यदि कदाचित् एक लक्ष्य में युगपत् प्रवृत्त होते हैं तब उनमें "विप्रतिषेध" होता है। जैसे - वृक्षेभ्यः में वृक्ष + भ्यस् में दीर्घ विधि - (७.३.१०२.) और एत्व विधि - (७.३.१०३.) युगपत् प्राप्त हैं। इस विप्रतिषेध की स्थिति में पर सूत्र (७.३.१०३.) से कार्य का नियम प्रकृत सूत्र से किया जाता है।

सूत्र का प्रयोजन - एक लक्ष्य में दो सूत्रों की युगपत् प्राप्ति होने पर दो स्थितियाँ सम्भव हैं।[२] :-

१. दोनों सूत्र क्रम से अपना - अपना कार्य निष्पन्न करेंगे और इस प्रकार दो - दो रूपों की सिद्धि होगी। जैसे - तृच् और ण्वुल प्रत्यय (३.१.१३३.) एक ही धातु से प्राप्त होने पर क्रमशः दोनों से कृदन्त रूपों की निष्पत्ति होती है। कृ धातु से एक बार तृच् प्रत्यय होकर कर्ता रूप सिद्ध होता है और एक बार ण्वुल प्रत्यय से कारकः भी सिद्ध हो जाता है। यही नियम "वृक्षेभ्यः" में घटित करने से एक बार वृक्ष + भ्यस् में दीर्घ और एक बार एत्व होकर दो रूपों की आपत्ति हो सकती है। **(तृजादिभिस्तुल्यम् - म. भा. वा. - ३.)**

२. द्वितीय स्थिति में दोनों सूत्रों की युगपत् प्राप्ति में दोनों से कार्य करना सम्भव न होने के कारण दोनों की निवृत्ति हो जाएगी। **(अप्रतिपत्तिर्वोभयोस्तुल्य बलत्वात् - म. भा. वा. - ५.)**

उपर्युक्त दोनों अनुपपत्तियों के निवारणार्थ प्रकृत सूत्र से यह व्यवस्था की जाती है कि युगपत् प्राप्त दोनों सूत्रों में पर सूत्र से कार्य सम्पन्न किया जाए। प्रथम दृष्टान्त में जहाँ दोनों सूत्र पर्याय से (तृजादि के समान) प्रवृत्त हो रहे हैं, वहाँ "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" सूत्र नियम का कार्य करता है और पर सूत्र से ही कार्य का विधान करने की व्यवस्था करता है। इसी नियम कारिता के आधार पर भाष्योक्त

"सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव" वचन की सिद्धि होती है। द्वितीय स्थिति में जहाँ दोनों सूत्रों में तुल्य बलत्व के कारण अप्रवृत्ति की आशङ्का होती है, वहाँ "विप्रतिषेध०" सूत्र विधि के रूप में पर सूत्र से कार्य विधान करता है। (विधिरत्यन्तमप्राप्तौ) पर सूत्र से कार्य निष्पन्न हो जाने के पश्चात् यदि पूर्व सूत्र की प्रवृत्ति सम्भव हो तो पूर्व सूत्र से भी कार्य किया जा सकता है। "पुनः प्रसङ्ग विज्ञानात् सिद्धम्" वचन का यही तात्पर्य है।

अङ्गाधिकार में पूर्व शास्त्र का बलीयस्त्व - "अङ्गाधिकार" - (६.४.१.) के अन्तर्गत कतिपय स्थलों पर विप्रतिषेध की स्थिति में पूर्व सूत्र का बलीयस्त्व अभीष्ट होता है और कतिपय विधियों में पर सूत्र बली होता है। इस दृष्टि से वार्तिककार ने पूर्व विप्रतिषेध परक वार्तिकारम्भ किए हैं। उदाहरणार्थ - गुण, वृद्धि, औत्व, तृज्वद्भाव की अपेक्षा नुमागम बली होता है यद्यपि नुमागम पूर्वसूत्र से विहित है। **(गुण - वृद्धयौत्वतृज्वद्भावेभ्यो नुम् पूर्व विप्रतिषेधेन - म. भा. वा. - ७.१.९६.)** दूसरे वार्तिक में नुम् - अच् परे र आदेश और तृज्वद्भाव की अपेक्षा नुट् आगम् पूर्व विप्रतिषेध से बली होता है। (**"नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्व विप्रतिषेधेन"** - इस अनुपपत्ति के निवारणार्थ भाष्यकार एक सुझाव देते हैं, जिसके अनुसार "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" के अनन्तर "अङ्गाधिकारे पूर्वम्" सूत्र पाठ किया जाए। इस पाठ से उपर्युक्त दोनों वार्तिकों की आवश्यकता नहीं होगी और वे अन्यथा सिद्ध हो जाएँगे।)

वस्तुतः भाष्यकार का उपर्युक्त अभिमत सिद्धान्त कोटि का नहीं है। सिद्धान्ततः उन्हें पाणिनीय सूत्र न्यास में कोई परिवर्तन अभीष्ट नहीं है। अतः विप्रतिषेधे० सूत्र से ही पूर्व विप्रतिषेध की सिद्धि की युक्ति प्रस्तुत करते हैं। विप्रतिषेधे परम्० सूत्र में पठित परम् शब्द अनेकार्थक है। कभी वह व्यवस्था का वाचक होता है। जैसे - "अयं पूर्वः अयं परः" इत्यादि। कभी पर शब्द अन्य अर्थ का वाचक होता है। जैसे - परपुत्रः - परभार्या आदि प्रयोगों में पर का तात्पर्य अन्य से है। कभी प्राधान्य अर्थ में पर का प्रयोग होता है। जैसे इस परिवार में यह ब्राह्मणी पर है अर्थात् प्रधान है। कभी पर शब्द इष्ट अर्थ का द्योतक है। जैसे - "परं धाम गतः" कहने से पर का भाव इष्ट से है। प्रकृत सूत्र में यही इष्टार्थ वाचक पर शब्द प्रयुक्त है। अतः विप्रतिषेध होने पर इष्ट सूत्र से कार्य करना चाहिए। इस व्याख्या से सभी पूर्व विप्रतिषेध वचनों की अन्यथा सिद्धि हो जाती है। इष्ट और अनिष्ट का प्रविभाग आचार्यो के व्याख्यान से समझना चाहिए। **(इष्टानिष्ट विभागश्च व्याख्यानाद् बोध्यः - म. भा. प्रदीप)**

विप्रतिषेध परम्० के अपवाद स्थल - विप्रतिषेध की स्थिति में पर सूत्र की बलवत्ता को अङ्गाधिकार में गुण-वृद्धि आदि कार्यो की कर्तव्यता में पूर्व सूत्र (नुम्) को तथा नुमादि की दृष्टि से नुट् को (पूर्वसूत्र) बली बताकर पूर्वविप्रतिषेध की स्थापना की गई है। उसी प्रकार अन्तरङ्ग कार्य को भी बलिष्ठ सिद्ध करने के लिए भाष्यकार "अन्तरङ्गं च" वार्तिकारम्भ करते हैं। इसका तात्पर्य है कि अन्तरङ्ग शास्त्र - पर शास्त्र से बली होता है। (अन्तरङ्गं बलीयः)

अन्तरङ्गं बलीयः के प्रयोजन - पर शास्त्र की अपेक्षा अन्तरङ्ग शास्त्र बली होता है - इस परिभाषा के अनेक [१] प्रयोजन भाष्य में परिगणित हैं। उदाहरणार्थ - स्योनः में सिव् धातु से न प्रत्यय (३.३.१.) और ऊठ् (६.४.१९.) करने पर सि ऊ न स्थिति में न प्रत्यय के निमित्त से

लघूपध गुण (७.३.८६.) प्राप्त है और ऊठ् निमित्तक यण् (६.१.७७.) प्राप्त है। परत्वात् गुण प्राप्त है किन्तु अन्तरङ्ग परिभाषा के बल से यणादेश होता है।

द्यौकामिः इत्यादि प्रयोगों में दिव् और काम का बहुव्रीहि समास और इञ् प्रत्यय- (४.१.९५.), उत्व - (६.१.१३१.) करने पर दि उ काम + इञ् स्थिति में आदि वृद्धि - (७.२.११७.) और इकार को ही यण् की प्राप्ति है। वृद्धि पर है तथापि यणादेश अन्तरङ्ग होने से यणादेश ही होता है और इष्ट रूप सिद्ध होता है।

द्वित्व कार्य की अपेक्षा यणादेश अन्तरङ्ग होने से पहले होता है। इसीलिए दुद्यूषति में दिव् + सन् + ऊठ् - (३.१.७. और ६.४.१९.) करने पर दि + ऊ + स स्थिति में दि को द्वित्व - (६.१.९.) और इकार को यण् प्राप्त है। यण् अन्तरङ्ग होने से बली होता है।

स्वर सम्बन्धी कार्य की दृष्टि में भी यणादेश अन्तरङ्ग होने से बली होता है। द्यौकामिः आदि उदाहरणों में दि के इकार को आद्युदात्त - (६.१.१९७.) प्राप्त है और यण् भी प्राप्त है। अन्तरङ्गत्वात् यण् ही पहले होता है।

एकादेश भी अन्तरङ्ग होने से गुण - वृद्धि द्वित्व - अल्लोप और स्वर कार्य की अपेक्षा पहले होता है। उदाहरणार्थ - काद्रवेयः प्रयोग में कद्रु + ऊङ् + ढक् स्थिति में ढ को एयादेश करने पर कद्रु के उकार को गुण - (६.४.१४६.) और एयादेश (६.१.१०१.) दोनों युगपत् प्राप्त हैं। अन्तरङ्गत्वात् एयादेश होकर बाद में गुण और आवादेश होता है तथा काद्रवेय रूप सिद्ध होता है।

सौस्थितिः आदि प्रयोगों में सु + उत्थित + इञ् स्थिति में आदि वृद्धि - (७.२.११७.) और एकादेश - (६.१.१०१.) में से अन्तरङ्गत्वात् एकादेश पहले होता है और सौस्थितिः की सिद्धि होती है।

द्वित्व और एकादेश की युगपत् प्राप्ति में एकादेश अन्तरङ्ग होने से प्रथम होता है और तब ज्ञा + ओदन + क्यच् - (३.१.८.) में सन् प्रत्यय - (३.१.७.), इत्व - (७.४.३३.), इडागम - (७.२.३५.) होने पर आ + ओ में एकादेश - (६.१.८८.) प्राप्त है और ज्ञा को द्वित्व - (६.१.९.) भी प्राप्त है। एकादेश अन्तरङ्ग है अतः ज्ञौदनीय इ + स में ज्ञौ को द्वित्व करने पर "जुज्ञौदनीयिषति" - रूप सिद्ध होता है।

अल्लोप से एकादेश अन्तरङ्ग है अतः शुना शुने आदि उदाहरणों में श्वन् + टा स्थिति में व को सम्प्रसारण - (६.४.१३३.) करने पर शु अन् आ में अल्लोप - (६.४.१३४.) और उकार अकार में एकादेश - (६.१.१०८.) की युगपत् प्राप्ति है। पूर्वरूप एकादेश अन्तरङ्ग है, अतः पहले होता है।

स्वर कार्य की दृष्टि से एकादेश अन्तरङ्ग होता है। इसका उदाहरण सौस्थितिः इत्यादि

प्रयोगों में उपलब्ध होता है। सु + उत्थित + इ स्थिति में आद्युदात्त - (६.१.१९७.) और एकादेश - (६.१.१०१.) युगपत् प्राप्त है। एकादेश अन्तरङ्ग होने से पहले होता है।

इत्व अथवा उत्व कार्य वृद्धि से अन्तरङ्ग होता है। जैसे - स्तैर्णिः और पौर्णिः में स्तॄ और पॄ धातुओं से क्त प्रत्ययः - (३.२.१०२.) और इञ् प्रत्यय - (४.१.९५.) करने पर स्तॄ + त + इ, पॄ + त + इ स्थिति में ऋ को क्रमशः इत्व - (७.१.१००.) और उत्व - (७.२.१०२.) प्राप्त है और आदि वृद्धि - (७.१.११७.) भी प्राप्त है। इत्व - उत्व अन्तरङ्ग हैं अतः पहले होते हैं और स्तिर् + त + इ, पूर् + त + इ होकर पश्चात् आदि वृद्धि होती है।

द्वित्व कार्य की दृष्टि में भी इत्व - उत्व अन्तरङ्ग होता है। आतेस्तीर्यते - आपोपूर्यते में आ उपसर्ग पूर्वक स्तॄ और पॄ धातुओं से यङ् प्रत्यय - (३.१.२२.) आ + स्तॄ + य, आ + पॄ + य स्थिति में द्वित्व - (६.१.९.) की अपेक्षा इत्व - उत्व - अन्तरङ्गत्वात् पहले होते हैं और अभीष्ट रूपों की सिद्धि हो जाती है।

अन्तरङ्ग को बली मानने का दूसरा उपयोग इट् (आत्मने के उत्तम पुरुष एक वचन का प्रत्यय - ३.४.७८.) सप्तम्येकवचन का ङि प्रत्यय और शी - (७.१.१७. और ७.१.१९.) के स्थान पर प्राप्त गुण (६.१.८७.) सवर्ण दीर्घ की अपेक्षा अन्तरङ्ग होता है। उदाहरणार्थ [४] आयज + इ + इन्द्रम्, वृक्ष + इ + इन्द्रम्, य + इ + इन्द्रम् में इकार पूर्ववर्ती अकार के साथ गुण प्राप्त है और पश्चाद्वर्ती इकार के साथ सवर्ण दीर्घ प्राप्त है। गुण कार्य अन्तरङ्ग होने से पहले देता है।

वस्तुतः गुण कार्य अन्तरङ्गत्वात् बली नहीं अपितु निरवकाशत्वात् बली होता है। इसीलिए भाष्यकार ने अन्तरङ्ग बलीयस्त्व के इस प्रयोजन को प्रत्याख्यात किया है। **(न वा सवर्णदीर्घत्वस्यानवकाशत्वात्)**

अन्तरङ्गं च - वचन का अन्य प्रयोजन अङ् और आप् के एकादेश में प्राप्त होता है। यह एकादेश ईत्व की अपेक्षा अन्तरङ्ग है। उदाहरणार्थ - खट्वीयति आदि में खट्व + टाप् - (४.१.४.) क्यच् - (३.१.८.) करने पर खट्व + आ + य स्थिति में आकार को ईत्व - (७.४.३३.) और अकार-आकार को एकादेश की युगपत् प्राप्ति है। एकादेश अन्तरङ्ग होने से पहले होता है। लोप की अपेक्षा एकादेश की अन्तरङ्गता कामण्डलेयः आदि प्रयोगों में उपलब्ध होती है। कमण्डलु शब्द से "ऊङ् प्रत्यय" - (४.१.७१.) और ढक् करने पर - (४.१.२०.) व ढ को एय - आदेश करने पर कमण्डलु + ऊ + एय - इस स्थिति में "ढे लोपो०" - (७.४.४७.) से ऊकार का लोप तथा उ + ऊ में सवर्ण दीर्घ एकादेश युगपत् प्राप्त है। अन्तरङ्ग एकादेश पहले होकर कामण्डलेयः रूप सिद्ध होता है। ऊङ् के साथ एकादेश के समान आप् के साथ एकादेश भी अन्तरङ्ग होता है। इसीलिए चौडिः आदि रूपों में चूड + टाप् + इञ् स्थिति में पहले एकादेश होता है और बाद में लोप - (६.४.१४८.) होकर चौडिः रूप सिद्ध होता है।

आत्व - नपुंसकह्रस्वत्व और उपसर्जन ह्रस्व भी अयादि आदेश, एकादेश और तुग् विधि की

दृष्टि में अन्तरङ्ग है। उदाहरणार्थ - वानीयम् में वे धातु से अनीयर् प्रत्यय करने पर वे + अनीय में "अयादेश" - (६.१.७८.) और "आदेच् उपदेशे०" - (६.१.४५.) से एजन्त धातु को आत्व - दोनों कार्य युगपत् प्राप्त होते हैं। आत्व कार्य अन्तरङ्ग हैं, अतः पहले होता है और वानीयम् रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार शो धातु से शानीयम् - ग्लै से ग्लानीयम् - म्लै से म्लानीयम् की सिद्धि होती है।

ग्लै, म्लै धातुओं से क्विप् - (३.२.७६.) करने पर छत्र शब्द के साथ षष्ठी तत्पुरुष समास होकर ग्लाछत्रम् - म्लाछत्रम् रूप सिद्ध होते हैं। इस स्थल पर भी आत्व और तुग् विधि की युगपत् प्राप्ति है। आत्व अन्तरङ्ग होने से पहले प्रवृत्त होता है। नपुंसकह्रस्व और उपसर्जन ह्रस्व भी अन्तरङ्ग होने से पूर्व प्रवृत्त होते हैं। नपुंसकह्रस्व का उदाहरण अतियेत्र अतिन्वत्र आदि में प्रदर्शित है। इनमें अति शब्द का रे और नौ शब्दों के साथ द्वितीया तत्पुरुष - (२.२.१८. वा. - ४.) करने पर अत्र शब्द से विशिष्ट प्रयोग है। रै को नपुंसक ह्रस्व - (१.२.४७.) कार्य पहले निष्पन्न होता है।

निष्कौशाम्बिच्छत्रम् आदि रूपों में निर् का कौशाम्बी के साथ पञ्चमी तत्पुरुष - (२.२.१८. वा. - ४.) करने के पश्चात् छत्रम् के साथ सम्बद्ध किया गया है। यहाँ उपसर्जन ह्रस्व अन्तरङ्ग होने से पहले होता है और तुगागम बाद में होता है।

अन्तरङ्ग कार्य को बलीयस्त्व का विधान करने पर तुगागम के बलीयस्त्व से निम्नलिखित विधियों की सिद्धि होती है। यण्, एकादेश, गुण, वृद्धि, औत्व, दीर्घ, ईत्व, मुम्, एत्व और री।[५]

- अग्निचिदत्र - सोमसुदत्र आदि में यण् की अपेक्षा तुग् विधि - (६.१.७१.) का अन्तरङ्गत्व स्पष्ट है।

- अग्निचिदीदम् - सोमसुदुदकम् में सवर्ण दीर्घ की अपेक्षा तुग् बली है।

- अग्निचिते - सोमसुते में गुण - (७.३.१११.) की दृष्टि में तुगागम बली है, क्योंकि अन्तरङ्ग है।

- प्र + ऋच्छकः = प्रार्च्छकः में वृद्धि से - (६.१.९१.) तुक् अन्तरङ्ग है।

- अग्निचिति - सोमसुति में औत्व की अपेक्षा तुक् अन्तरङ्ग होने से बली है।

- जगद्भ्याम् - जनगद्भ्याम् आदि में दीर्घ - (७.३.१०२.) की अपेक्षा अन्तरङ्गत्वात् तुगागम पहले होता है।

- जगत्यति - जनगत्यति में ईत्व - (७.४.३३.) से तुगागम बली है। (अन्तरङ्ग होने से)

मुमागम की दृष्टि में तुगागम की अन्तरङ्गता का उदाहरण अग्निचिन्मन्यः - सोमसुन्मन्यः में प्राप्त होता है। यहाँ पर सूत्र "अरुर्द्विषद०" - (६.३.६७.) से प्राप्त मुमागम पर होने पर भी अन्तरङ्ग तुक् से बाधित हो जाता है।

एत्व विधि (७.३.१०३.) से अन्तरङ्ग की बलवत्ता - जगद्भ्यः - जनगद्भ्यः रूपों में दृष्टिगत होती है।

री विधि से तुगागम की अन्तरङ्गता सुकृत्यति - पापकृत्यति में दिखाई पड़ती है। अनङ् और आनङ् आदेश की दृष्टि में भी लुक् कार्य अन्तरङ्ग होता है। जैसे - सुकृत् - दुष्कृतौ।

इयङादेश भी अन्तरङ्ग होने से गुण कार्य के पूर्व होता है। उदाहरणार्थ - छियति - रियति। उवङादेश की अपेक्षा भी गुण में अन्तरङ्गता विद्यमान है। जैसे - प्रासुस्त्रुवत् आदि।

श्वि धातु से निष्पन्न रूपों में यण् की अपेक्षा पूर्वरूप अन्तरङ्ग होता है और शुशुवतुः - शुशुवुः आदि रूप सिद्ध होते हैं।

ह्वा धातु में आकार लोप - (६.४.६४.) से सम्प्रसारण और पूर्वरूप - (६.१.१५., ६.१.१०८.) अन्तरङ्गत्वात् पहले होते हैं, जिसके फलस्वरूप जुहुवतुः - जुहुवुः आदि रूप सिद्ध होते हैं।

लोप की अपेक्षा स्वर विषयक कार्य अन्तरङ्ग होता है। जैसे - औपगवी - सौदामनी आदि प्रयोगों में अण् प्रत्यय को आद्युदात्त - (३.१.३.) और उसका लोप - (६.४.१४८.) प्राप्त है। इनमें स्वर विधि अन्तरङ्ग है अतः पहले होती है।

प्रत्यय विधि एकादेश की अपेक्षा अन्तरङ्ग होता है। उदाहरणार्थ अग्निरिन्द्रः - वायुरुदकम् आदि रूपों में अग्नि + इन्द्र और वायु + उदकम् स्थिति में सवर्ण दीर्घ रूप एकादेश की अपेक्षा प्रत्यय विधि (स्वौजस्० - ४.१.२.) पहले होती है और अग्निरिन्द्रः - वायुरूदकम् रूप सिद्ध होते हैं। अग्नि + अत्र इत्यादि प्रयोगों में यणादेश से भी प्रत्यय विधि अन्तरङ्ग होने से बलीयान् है। अतः अग्निरत्र प्रयोग निष्पन्न होता है।

वर्ण विधि की अपेक्षा लादेश अन्तरङ्ग होता है। जैसे - पचति + अत्र में "एरुः" - (३.४.८६.) सूत्र से ति प्रत्यय के इकार को उकार आदेश अन्तरङ्गत्वात् पहले होता है। वर्ण विधि अर्थात् यणादेश बाद में होता है। इस प्रकार पचत्वत्र रूप सिद्ध हो जाता है।

पूर्वपद प्रकृति स्वर की अपेक्षा तत्पुरुषान्तोदात्त स्वर अन्तरङ्ग होता है। अतः पूर्वशालाप्रियः समास में पूर्वा शाला प्रिया यस्य - इस त्रिपदवहुव्रीहि में बहुव्रीहौ प्रकृत्या० - (६.२.१.) सूत्र से पूर्वपद को प्रकृति स्वर प्राप्त है और पूर्वशाला इस अवान्तर तत्पुरुष - (२.१.५१.) को अन्तोदात्त - (६.१.२२३.) प्राप्त है। अन्तरङ्गत्वात् अन्तोदात्त ही होता है।

निष्कर्षतः **"अन्तरङ्गं बलीयः"** - परिभाषा के उपर्युक्त प्रयोजन हैं। कतिपय प्रयोगों की निष्पत्ति में यह परिभाषा अपर्याप्त प्रतीत होती है। जैसे - पचाव + इदम् में गुण होकर पचावेदम् रूप सिद्ध होता है। गुण कार्य के बाद एत ऐ - (३.४.९३.) से ए को ऐत्व की प्राप्ति है - यह ऐत्व कार्य गुण की अपेक्षा अन्तरङ्ग है। इस अन्तरङ्ग कार्य की दृष्टि में गुण रूप बहिरङ्ग को असिद्ध करना आवश्यक है। अतः "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" - यह परिभाषा का आरम्भ भी आवश्यक है।

सिद्धान्ततः अन्तरङ्ग की बलवत्ता और उसकी दृष्टि में बहिरङ्ग की असिद्धता के लिए दो भिन्न - भिन्न परिभाषाओं का आरम्भ गौरव मूलक है। **"असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे"** - से ही अभीष्ट सिद्धि हो सकती है।

असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे - के अपवाद - भाष्यकार ने असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे परिभाषा की आवश्यकता प्रतिपादित की है, किन्तु इसके लिए स्वतन्त्र वचनारम्भ आवश्यक नहीं मानते, क्योंकि पाणिनि के सूत्र "वाह आर्" - (६.४.१३२.) से यह ज्ञापित होती है।[६]

भाष्यकार ने "असिद्धं बहिरङ्गलक्षणमन्तरङ्गलक्षणे" - परिभाषा को अठ् ग्रहण - (६.४.१३२.) से ज्ञापित किया है और ज्ञापित करने के पश्चात् इसके अपवाद स्थलों का भी परिगणन किया है। जैसे - अच् के तत्काल पश्चात् विद्यमान निमित्त के कारण कोई अन्तरङ्ग कार्य प्राप्त हो तो उसकी दृष्टि से बहिरङ्ग को असिद्ध नहीं मानना चाहिए। (नाजानन्तर्ये बहिष्ट्व प्रक्लृप्तिः) इसका संकेत भी पाणिनीय सूत्र "षत्वतुकोरसिद्धः" - ६.१.८६.) से प्राप्त हो जाता है।[७]

पूर्वपद और उत्तरपद के सम्बन्ध से प्राप्त वृद्धि और स्वर की कर्तव्यता में अन्तरङ्ग परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती। जैसे - पूर्वेषुकामशमी या गुडोदकम् आदि में पूर्व + इषुकामशमी में अन्तरङ्ग गुणैकादेश पहले करने से "प्राचा ग्रामनगराणाम्" - (७.३.१४.) से उत्तरपद वृद्धि नहीं हो सकती। गुडोदकम् में गुड् + उदकम् अन्तरङ्ग गुणैकादेश पहले नहीं होता अपितु "उदकेऽकेवले" - (६.२.९६.) से पूर्वपद को अन्तोदात्त ही पहले होता है।

लोप यण् अय् अव् आय् आव् और एकादेश अन्तरङ्ग होने पर भी बहिरङ्ग लुक् इनसे बलीयान् होता है। **(लोप यणयवा यावेकादेशेभ्यो लुग्बलीयान्)** उदाहरणार्थ - गोमान् प्रियो यस्य अर्थ में गोमत् प्रियः की सिद्धि करते समय गोमत् + सु + प्रिय + सु स्थिति में "सुपो धातु०" - (२.४.७१.) सूत्र से लुक् प्राप्त है और "हल्ङ्या०भ्यो०" - (६.१.६८.) से सु का लोप भी प्राप्त है। सुलोप अन्तरङ्ग होने पर भी पहले नहीं होता। यदि सुलोप पहले करते हैं तब "प्रत्यय लक्षण" - (१.१.६२.) से नुमागम - (७.१.७०.) और दीर्घ - (६.४.१४.) हो जाएगा और अनिष्ट रूप की आपत्ति हो जाएगी।

ग्रामण्यः कुलम् = ग्रामणीकुलम् आदि प्रयोगों में ग्रामणी + ङस् + कुल स्थिति में यणादेश और लुक् की युगपत् प्राप्ति है। यणादेश अन्तरङ्ग है तथापि लुक् का बाधक नहीं होता।

अय - अव - आय - आव और एकादेश विधियाँ भी लुक् से पूर्व नहीं होती। इनके उदाहरण गोहितम् (गो + ङस् + हितम्), रायः कुलम् = रैकुलम् (रै + ङस् + कुलम्), नौकुलम् (नौ + ङस् + कुलम्), वृकाद् भयम् = वृकभयम् (वृक् + ङस् + भयम्) प्रयोगों में दृष्टिगत होते हैं। इन सभी प्रयोगों में लुक् - (२.४.७१.) भी प्राप्त है और अयादि विधियाँ भी प्राप्त हैं। अन्तरङ्गत्वात् अयादि कार्य ही बलीयान् हो जाएँगे किन्तु लुक् कार्य अभीष्ट है अतः उसकी सिद्धि के लिए "लुग्बलीयान्" कथन आवश्यक है।

सार संक्षेप - विप्रतिषेधे परम्० सूत्र के द्वारा परसूत्र की बलवता को नियन्त्रित करने हेतु भाष्यकार ने जिन वार्तिकों का आरम्भ किया है तथा उनकी सोदाहरण व्याख्या प्रस्तुत की है, उन्हीं भाष्यवचनों के आधार पर नागेश भट्ट ने परिभाषाएँ पठित की हैं। अन्तरङ्ग शास्त्र की बलवत्ता के लिए -"असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" परिभाषा पठित है। इसके अपवाद स्वरूप - "नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग्बाधते, पूर्वोत्तर निमित्त कार्यात् पूर्वमन्तरङ्गो प्येकादेशो न। अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो ल्यप् बाधते। वार्णादाङ्गं बलीयो भवति।"

उपर्युक्त सभी परिभाषाएँ ज्ञापक सिद्ध हैं। नागेश भट्ट ने इनके ज्ञापक सूत्रों का निर्देश परिभाषेन्दुशेखर में किया है। असिद्धं बहिरङ्गम् और नाजानन्तर्ये० के ज्ञापकों का उल्लेख स्वयं भाष्यकार ने भी किया है।

अन्त में यह निर्विवाद है कि "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" सूत्र के कारण अनेक परिभाषाओं का निर्माण हुआ जिनसे विप्रतिषेधे परम्० सूत्र का कार्यक्षेत्र नियमित हो सका। अतः प्रकृत सूत्र को परिभाषा मानना असंगत नहीं होगा।

❀❀❀

शब्द संकेत

१. यदि "कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्", "विप्रतिषेधे परम्" इत्येषापि परिभाषात्रोपतिष्ठते ततश्च विस्फोर्यम् - अवगोर्यम् - इत्यत्र गुणं बाधित्वा परत्वात् "हलि च" इति दीर्घत्वं स्यात्। .... एषा तु न प्रवर्तत इति सम्बन्धः। - **(पदमंजरी - ८.२.१.)**

न्यासकार के शब्दों में - "..... अतो ऽतुल्यबलत्वाद् - विप्रतिषेधो नास्तीति विप्रतिषेधे परम् - इत्येषा परिभाषा न प्रवर्तते।" - न्यास - (८.२.१.)

२. इस प्रसङ्ग को भाष्यकार ने एक लौकिक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया है। "द्वयोस्तुल्यबलयोरेकः प्रेष्यो भवति (स तयोः पर्यायेण कार्यं करोति। यदा तमुभौ युगपत् प्रेषयतो नानादिक्षु च कार्ये भवतस्तदा यद्यसावविरोधार्थी भवति तत उभयोर्न करोति। यौगपद्या संभवात्।" इसका आशय है कि जब समान बल वाले दो स्वामियों का एक ही सेवक हो तो वह दोनों स्वामियों का कार्य एक - एक करके कर सकता है। किन्तु यदि दोनों स्वामी उस सेवक को एक ही समय में भिन्न - भिन्न दिशाओं के कार्य करने हेतु आदिष्ट करते हैं तब वह सेवक दोनों स्वामियों के कार्य नहीं करता क्योंकि दोनों के कार्य एक साथ करना उसके लिए सम्भव नहीं है।

३. प्रयोजनं यणेकादेशेत्वोत्त्वानि गुण - वृद्धिद्विर्वचनाल्लोप स्वरेभ्यः। - (म. भा. वा. - ९.)

इण्ङिशीनामाद्गुणः सवर्ण दीर्घत्वात्। - (म. भा. वा. - १०.)

४. यज् धातु का लङ् लकार उत्तम पुरुष एकवचन में अयजे रूप सिद्ध होता है। वृक्ष शब्द की सप्तमी एकवचन में वृक्षे रूप निष्पन्न होता है। यत् सर्वनाम का प्रथमा बहुवचन में ये रूप होता है। तीनों स्थलों पर प्रत्यय के इकार का पूर्व अकार के साथ गुण होता है। गुण के साथ ही पश्चात् स्थित इन्द्र के इकार के साथ सवर्ण दीर्घ की भी प्राप्ति है।

५. **"तुग्यणेकादेश गुण वृद्धयौत्त्वदीर्घत्त्वेत्त्वमुमेत्वरीविधिभ्यः" - (म. भा. वा. - १४.)** इस वार्तिक के अन्तर्गत प्रदत्त उदाहरणों में "अग्निचिदत्र" में अग्नि उपपद पूर्वक चि धातु से क्विप् प्रत्यय - (६.२.९१.) विहित है। इसके परे अत्र शब्द आने पर यण् और तुक् युगपत् प्राप्त है। सोमसुत् में सु धातु से क्विप् प्रत्यय - (३.२.९०.) विहित है। जगदभ्याम् - जनगद्भ्याम् उदाहरणों में गम् धातु से क्विप् प्रत्यय और द्वित्व - (३.२.१७८.वा.-३.) और मकार का लोप - (६.४.४०.) हुआ है। जनगद्भ्याम् से जन उपपद पूर्वक गम् धातु से क्विप् प्रत्यय - (३.२.७६.) किया गया है। सुकृत्यति - पापकृत्यति में सु और पाप शब्द पूर्वक कृ धातु से क्विप् प्रत्यय - (३.२.८९.) और क्यच् - (३.१.८.) विहित है।

६. **वाह उठ्** - विश्व उपपद पूर्वक वह् धातु से ण्वि प्रत्यय - (३.२.६४.), वृद्धि - (७.२.११६.), शस् प्रत्यय - (४.१.२.) के वाह् के वकार को सम्प्रसारण संज्ञक ऊठ् - (६.४.१३२.) पूर्वरूप - (६.१.१०८.) और वृद्धि - (६.१.८९.) करने पर विश्वौहः रूप सिद्ध होता है। वाह् ऊठ् सूत्र में ऊठ् विधान न कर केवल सम्प्रसारण ही करते तो उस सम्प्रसारण संज्ञक ह्रस्व उकार को लघूपध गुण और वृद्धि - (६.१.८८.) होकर विश्वौह रूप सिद्ध हो सकता था। किन्तु असिद्धं बहिरङ्गम्० परिभाषा से सम्प्रसारण असिद्ध होता है और इस प्रकार लघूपध गुण् की प्राप्ति ही नहीं होती। अतः ऊठ् का विधान किया गया। यह ऊठ् विधान ही असिद्धं बहिरङ्गम्० परिभाषा के अस्तित्व का ज्ञापक है।

❀❀❀

अनुपसर्जनात्
(४.१.१४)

सूत्र का स्वरूप - वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी में श्री भट्टोजी दीक्षित ने स्पष्ट रूप से "अनुपसर्जनात्" को अधिकार सूत्र कहा है और "यूनस्तिः" - (४.१.७७.) सूत्र तक इसको अधिकृत माना है। **(अधिकारोऽयम्। यूनस्तिरित्यभिव्याप्य)** वस्तुतः अनुपसर्जनात् सूत्र महाभाष्य में प्रत्याख्यात है। भाष्यकार की दृष्टि में सूत्र के प्रत्याख्यान का क्या आधार हो सकता है ? - इसका निश्चय सूत्र की व्याख्या के द्वारा ही सम्भव है।

सूत्र की व्याख्या - ङीप् आदि स्त्री प्रत्यय अनुपसर्जन प्रातिपदिक से होते हैं, उपसर्जन से नहीं। यहाँ उपसर्जन पद पारिभाषिक या शास्त्रीय अर्थ **(प्रथमा निर्दिष्टं समास उपसर्जनम् - १.२.४३.**आदि) का वाचक नहीं है। उपसर्जन का अर्थ गौण या अप्रधान है। ङीबादि स्त्री प्रत्यय उपसर्जनीभूत प्रातिपदिक से नहीं होते। जैसे - कुरुचर प्रातिपदिक टित् प्रत्ययान्त - (३.२.१६.) होने से "टिड्ढाणञ्०" (४.१.१५.) सूत्र से ङीप् प्रत्यय होकर कुरुचरी रूप सिद्ध होता है। कुरुचर - शब्द टित् प्रत्ययान्त है और कुरुषु चरति - इस प्रधान अर्थ का वाचक है, अतः अनुपसर्जन होने से ङीप् प्रत्यय के योग्य है। बहुकुरुचराः, मथुराः प्रयोग में अन्य पदार्थ प्रधान बहुव्रीहि समास में कुरुचर का अर्थ प्रधान नहीं है, क्योंकि "बहवः कुरुचराः यस्यां नगर्यां सः बहुकुरुचरा मथुरा नगरी" में नगरी के प्रति कुरुचर शब्द गौण हो गया है, अतः "टिड्ढाणञ्" (४.१.१५.) से ङीप् न होकर टाप् प्रत्यय - (४.१.४.) होता है और बहुकुरुचरा प्रयोग सिद्ध होता है।

सूत्र का प्रयोजन - उपसर्जनीभूत अथवा गुणीभूत प्रातिपदिक से ङीबादि प्रत्ययों की निवृत्ति के लिए सूत्रारम्भ किया गया है यह उपर्युक्त (बहुकुरुचरा नगरी) उदाहरण द्वारा स्पष्ट होता है। वस्तुतः "तदन्त विधि" - (१.४.२.) के प्रसङ्ग में "समास प्रत्यय विधौ प्रतिषेधः" - वार्तिक वचन द्वारा प्रातिपदिक से प्रत्यय विधान में तदन्त विधि का निषेध किया गया है। अतः बहुकुरुचर में तदन्त विधि का निषेध होने से ङीप् प्रत्यय की प्राप्ति ही नहीं है। जब ङीप् प्रत्यय की प्राप्ति ही नहीं है तब उसके निषेध के लिए "अनुपसर्जनात्" - सूत्र की क्या सार्थकता है ? भाष्यकार ने इस स्थल पर "अनुपसर्जनात्" - सूत्र के सामर्थ्य से यह ज्ञापित किया है कि स्त्री प्रत्यय प्रकरण में इस सूत्र के पूर्व में तदन्त विधि का निषेध नहीं लगता। इस ज्ञापक के परिणाम स्वरूप "उगितश्च" - (४.१.६.) से तदन्त विधि होकर इष्ट रूपों की सिद्धि होती है।

वस्तुतः प्रकृत सूत्र प्राक् पाणिनीय आचार्यों के सूत्र पाठ में पठित है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने अप्रधान की उपसर्जन संज्ञा की है। अतः स्त्री प्रत्यय प्रधान से ही उत्पन्न होता है, अप्रधान से नहीं। इसी अर्थ में अनुपसर्जनात् सूत्र का आरम्भ किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि उपसर्जन पद से शास्त्रीय उपसर्जन का ग्रहण नहीं करना चाहिए।

आपिशलमधीते ब्राह्मणी आपिशला ब्राह्मणी - प्रयोग में आपिशल - शब्द अणन्त होने पर भी टिड्ढाणञ् - (४.१.१५.) से ङीप् की प्रसक्ति नहीं होती क्योंकि अनुपसर्जन पद अण् प्रत्ययान्त का

विशेषण नहीं है अपितु अण् प्रत्यय का विशेषण है। इसीलिए अनुपसर्जन जो अण् प्रत्यय तदन्त से ङीप् का विधान समझना चाहिए।

अवन्ती - कुन्ती - गान्धारी आदि जाति वाचक शब्दों में ङीप् प्रत्यय की प्रसक्ति की संभावना नहीं करनी चाहिए। अवन्ति और कुन्ति शब्दों से उनका स्त्री प्रत्यय अर्थ में ष्यङ् प्रत्यय - (४.१.७१.) ष्यङ् का लुक् (अतश्च - ४.१.१७७.) होता है। इन रूपों में मूल प्रकृति का अर्थ प्रत्यय के अर्थ के प्रति विशेषण या अप्रधान हो जाता है। अत: गौण होने से जाति वाचक से होने वाले ङीप् प्रत्यय - (४.१.६५.) की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यह आशङ्का करना व्यर्थ है, क्योंकि जाति कभी भी उपसर्जन नहीं होती।

अनुपसर्जनात् सूत्र के प्रयोजनों पर विचार करते हुए भाष्यकार आपिशला ब्राह्मणी प्रयोग का उदाहरण देते हैं। यह उदाहरण भी अन्यथा सिद्ध है। क्योंकि आपिशला शब्द से प्रोक्त अर्थ में "अण् प्रत्यय" - (४.३.१०१.) विहित है और आपिशला व्याकरण का अध्ययन करने वाली अर्थ में दूसरा अण् - (४.२.५९.) तथा स्त्रीलिङ्ग का टाप् - (४.१.४.) प्रत्यय होता है। यहाँ ङीप् की अतिप्रसक्ति की आशङ्का की गई थी, जो अनुचित है। इस प्रकरण में स्त्रियाम् - (४.१.३.) की अनुवृत्ति है, जिसका सम्बन्ध अण् प्रत्यय से करने पर "आपिशलिना प्रोक्तं व्याकरणम्" - अर्थ में अण् का विधान है, इस अण् में स्त्रीत्व दृश्यमान नहीं है। इस प्रकार ङीप् की अति प्रसक्ति संभाव्य नहीं है।

"काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा" - अर्थ में विहित अण् प्रत्यय में स्त्रीत्व गम्यमान है तथापि ङीप् की आशङ्का नहीं होती क्योंकि "तदधीते तद्वेद" - (४.२.५९.) से विहित अण् प्रत्यय - जो अध्ययन करने वाली ब्राह्मणी का बोधक था - वह लुप्त हो गया है। प्रोक्ता अर्थ का अण् प्रत्यय शेष है, जिससे ङीप् होता ही है इसीलिए काशकृत्स्नी मीमांसा रूप सिद्ध होता है।

निष्कर्षत: अनुपसर्जनात् सूत्र के प्रयोजन के रूप में प्रदर्शित उपर्युक्त सभी उदाहरण अन्यथा सिद्ध हैं। अन्त में भाष्यकार ने इस सूत्र के मूर्धाभिषिक्त प्रयोजन के रूप में "कौम्भकारेय:" - उदाहरण प्रस्तुत किया है। कुम्भं करोति अर्थ में कुम्भकार: - उसकी स्त्री कुम्भकारी। कुम्भकारी का अपत्य कौम्भकारेय: रूप सिद्ध होता है। यहाँ कुम्भकार शब्द में कुम्भ शब्द उपपद होने पर कृ धातु से "कर्मण्यण्" - (३.२.१.) से अण् प्रत्यय होता है। "अचोञ्णिति" - (७.२.११५.) से वृद्धि होने पर कार यह अण्णन्त शब्द सिद्ध होता है। प्रत्यय ग्रहण परिभाषा के अनुसार कार शब्द तो अण्णन्त है, कुम्भकार नहीं। "कृद् ग्रहणे गति कारक पूर्व स्यापि ग्रहणम्" - परिभाषा के अनुसार भी कुम्भकार शब्द को अण्णन्त नहीं माना जा सकता क्योंकि यह परिभाषा केवल कृत् ग्रहण में प्रकृत होती है, कृत् और अकृत् में नहीं। अण् प्रत्यय कृत् संज्ञक - (३.२.१.) और अकृत संज्ञक - (४.१.८३.) अर्थात् तद्धित भी है। अनुपसर्जनात् सूत्र के अभाव में अण् प्रत्ययान्त कार शब्द से "टिड्ढाणञ्०" - (४.१.१५.) सूत्र से ङीप् होकर कारी यह स्त्री प्रत्ययान्त रूप सिद्ध होगा और कुम्भ के साथ कारी का समास होने पर कुम्भकारी शब्द भी निष्पन्न होगा किन्तु यह सम्पूर्ण स्त्री प्रत्ययान्त नहीं कहा जा सकता। कुम्भकारी का अपत्य विवक्षित होने पर "स्त्रीभ्यो ढक्" - (४.१.१२०.) सूत्र से ढक् प्रत्यय कारी से तो हो सकता है। कुम्भकारी से नहीं हो सकता। इसके परिणाम स्वरूप "किति च" - (७.२.११८.) से होने वाली

आदि वृद्धि कारी के आदि अच् को होगी, कुम्भ के आदि अच् को नहीं होगी। अतः "कुम्भकारेयः" - यह अनिष्ट रूप की आपत्ति होगी और "कौम्भकारेभ्यः" - यह अभीष्ट रूप सिद्ध नहीं हो सकेगा।

अनुपसर्जनात् सूत्र के कारण अण् प्रत्ययान्त कार से तदन्त विधि होकर अण्णन्तान्त अनुपसर्जन प्रातिपदिक कुम्भकार से ङीप् प्रत्यय होता है और स्त्री प्रत्ययान्त कुम्भकारी शब्द से ढक् प्रत्यय होने पर कुम्भ के आदि अच् को वृद्धि होकर कौम्भकारयः यह अभीष्ट रूप सिद्ध हो जाता है।

सार रूप में यह वक्तव्य है कि प्रधान प्रातिपदिक से तदन्त विधि द्वारा ङीप् प्रत्यय करने के लिए "अनुपसर्जनात्" - सूत्र की आवश्यकता है। **(तस्मादनुपसर्जनाधिकारः - म. भा. - ४.१.१४.)**

सूत्र की समीक्षा - प्रकृत सूत्र के भाष्य में सूत्र के अधिकार पक्ष की व्याख्या कर उसके औचित्य की स्थापना की गई है। वस्तुतः भाष्यकार ने "सर्वादीनि सर्वनामानि" - (१.१.२७.) के भाष्य में "अनुपसर्जनात्" की विशेष चर्चा की है। सर्वादीनि सर्वनामानि सूत्र पर पठित वार्तिक - "संज्ञोपसर्जनप्रतिषेधः" की समीक्षा करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यह वार्तिक पूर्णतः व्यर्थ है। संज्ञा प्रतिषेध के लिए "पूर्व परावर०" - (७.१.२५.) सूत्र से "संज्ञायाम्" का योग - विभाग किया जा सकता है। उपसर्जन प्रतिषेध के लिए "अनुपसर्जनात्" की प्रकारान्तर से व्याख्या कर सकते हैं। जैसे - अनुपसर्जन् अ अत्। भाष्यकार का आशय यह है कि "अनुपसर्जनात्" सूत्र तो प्रत्याख्येय है। उस सूत्र का इस प्रसङ्ग में अभिसम्बन्ध करते हुए सूत्र की सार्थकता सिद्ध हो सकती है। इस व्याख्या में भाष्यकार अनुपसर्जनात् को पञ्चम्यन्त नहीं मानते अपितु अनुपसर्जन अ अ अत् - इस प्रकार अविभक्तिक सौत्र निर्देश मानते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि अकारान्त से विहित अकार (त्यदादीनामः - ७.२.१०२.) और "अदड्डतरादिभ्यः पञ्चम्यः" - (१.२.२५.) से विहित अदड् (अत्) आदेश दोनों उपसर्जन से होते हैं। इस अर्थ निष्पत्ति से "तमतिक्रान्तः अतितत् और कतरदतिक्रान्तं कुलम् अतिकतरं कुलम्" - प्रयोगों में तद् और कतर शब्दों के उपसर्जन होने के कारण क्रमशः "त्यदादीनामः" - (७.२.१०२.) से अकार और "अदड्डतरादिभ्यः पञ्चम्यः" - (७.१.२५.) से अदड् आदेश नहीं होंगे और इष्ट सिद्धि हो जाएगी। इस प्रकार सर्वनाम संज्ञा में उपसर्जन प्रतिषेध की आवश्यकता नहीं रहेगी। इस प्रसङ्ग में शब्दकौस्तुभकार की उक्ति द्रष्टव्य है - **".....अनुपसर्जनादिति योगं प्रकारान्तरेण व्याख्याय तद् बलेनैवान्तर्गण कार्यं वारितं भाष्ये। तद्यथा - अनुपसर्जन इति लुप्तषष्टीकं पदम्। अः आदितिचच्छेदः। अश्च अश्च तयोः समाहारः आत्। अकारात्परौ अ अत् इत्यादेशौ यत्र क्रियेते तत्रानुपसर्जनस्य ग्रहणम् इति परिभाषार्थः।[१]"**

उपर्युक्त भाष्यवचन तथा शब्दकौस्तुभकार की टिप्पणी से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि "अनुपसर्जनात्" - (४.१.१४.) अष्टाध्यायी में जिस प्रसङ्ग में और जिस रूप में पठित है वह प्रत्याख्येय होने पर भी सर्वादीनि० सूत्र में उपसर्जन प्रतिषेध की अन्यथा सिद्धि के लिए वह उपादेय है।

अनुपसर्जनात् सूत्र की उपर्युक्त व्याख्या में अव्याप्ति दोष प्रतीत होता है। क्योंकि इस व्याख्या में त्यदादीनामः से विहित अकार की और अदड्डतरा० से विहित अदड् की उपसर्जन को निवृत्ति तो हो जाएगी किन्तु सर्वनाम्नः स्मै - (७.१.१४.) आदि सूत्रों से विहित स्मै आदि आदेशों की उपसर्जन में

निवृत्ति कैसे हो सकेगी ? क्योंकि "अनुपसर्जनात्" की व्याख्या में तो मात्र अ और अत् ही निर्दिष्ट माने गए हैं, स्मै आदि नहीं। इस अनुपपत्ति के कारण सर्वमतिक्रान्तः अतिसर्वः तस्मै अतिसर्वाय - प्रयोग में अतिसर्वाय के स्थान पर अतिसर्वस्मै की प्रसक्ति हो जाएगी। अतः "उपसर्जन प्रतिषेधः" की अन्यथा सिद्धि के लिए अनुपसर्जनात् सूत्र की इस व्याख्या को निर्दुष्ट नहीं मान सकते।

अनुपसर्जनात् सूत्र का प्रत्याख्यान - भाष्यकार ने स्पष्ट शब्दों में अनुपसर्जनात् का प्रत्याख्यान नहीं किया है। वे कौम्भकारेयः रूप की सिद्धि के लिए इसकी उपादेयता प्रदर्शित करते हैं। किन्तु टीकाकारों ने तथा वृत्तिकारों ने "कौम्भकारेयः" रूप की सिद्धि को भी अन्यथा सिद्ध करते हुए सूत्र को प्रत्याख्येय माना है। सर्वादीनि० सूत्र के भाष्य में कैयट का मन्तव्य है कि "स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न" परिभाषा से प्रत्यय ग्रहण में तदादि नियम का अभाव होता है। अतः कारी शब्द से अण्णन्त मानकर होने वाला ढक् प्रत्यय (स्त्रीभ्यो ढक् - ४.१.१२०.) कुम्भकारी से हो सकता है और इस प्रकार अनुपसर्जनात् सूत्र के न रहने पर भी कौम्भकारेयः की सिद्धि सम्भव है। अनुपसर्जनात् के प्रभाव से इसकी सिद्धि प्रतिपादित करना अनुचित है। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या अनुपसर्जनात् को पूर्णतः प्रत्याख्यात माना जाए ? कैयट ही इस शङ्का का समाधान करते हैं, जिसके अनुसार स्त्रीप्रत्यय में और अनुपसर्जन में तदादिनियम का अभाव मानने से "कौम्भकारेयः" की निष्पत्ति तो हो जाएगी किन्तु कार शब्द से भी ङीप् की प्राप्ति हो सकती है और इस प्रकार "कौम्भकारेयः" और "कुम्भकारेयः" दोनों रूप सिद्ध हो जाएँगे। मात्र "कौम्भकारेयः" रूप ही सिद्ध हो - एतदर्थ सूत्रारम्भ सार्थक है। उद्योतकार के शब्दों में -

"अतएव सूत्रारम्भे न कदाचिदपि कार शब्दात् ङीप्।"

डॉ. देवस्वरूप मिश्र - ने "महाभाष्य - निगूढाकूतयः" ग्रन्थ में अनुपसर्जनात् सूत्र पर विस्तृत विचार किया है। उनके मतानुसार वैयाकरण सम्प्रदाय में अनुपसर्जनात् अधिकार सूत्र के रूप में प्रसिद्ध है। भाष्यकार ने स्पष्ट रूप से इसका प्रत्याख्यान किया है, जिसे वे सर्वादि० सूत्र के भाष्य में **"अनुपसर्जनात् - इत्येष योगः प्रत्याख्यायते"** - कहकर स्वीकार करते हैं। इस प्रसङ्ग में यह सन्देह उपस्थित हो सकता है कि जब सूत्र प्रत्याख्येय है तब भाष्यकार उसका उपयोग सर्वादि० सूत्र में उपसर्जन प्रतिषेध के लिए कैसे कर सकते हैं ? भाष्य वचन में परस्पर विरोध का समाधान करते हुए डॉ. मिश्र का कथन है कि - भाष्यकार ने अनुपसर्जनात् सूत्र का खण्डन नहीं किया है अपितु उसके अधिकारत्व का खण्डन किया है। अनियम स्थिति में नियमारम्भ के लिए उसकी विद्यमानता आवश्यक है। इसका अभिप्राय यह है कि - अनुपसर्जनात् सूत्र परिभाषा के रूप में स्वीकार्य है और अधिकार के रूप में प्रत्याख्येय है। अधिकार मानने पर सर्वादि० सूत्र में उसकी उपस्थिति नहीं हो सकती। परिभाषा मानने पर सर्वत्र अनुपसर्जन रूप लिङ्ग के आधार पर उसकी प्रवृत्ति सम्भव है।

(एवञ्चाधिकारत्वमात्रमस्य खण्डितं भगवता महाभाष्यकारेण न तु सूत्रमेव खण्डितम्।...... अधिकार सूत्रत्वे हि सर्वादिगणे ऽ प्रसरान्नोपसर्जन व्यावृत्ति सम्भवः। परिभाषारूपत्वे तु कुत्रापि कस्मिंश्चदपि कार्ये विधेये विधायक सूत्रेषु अस्याः परिभाषायाः उपस्थितेरावश्यकत्वादुपसर्जन स्थले प्रसक्तायाः सर्वनामसंज्ञायाः वारणं सुशकमेव। - महाभाष्य निगूढाकूतयः - प्रथमाध्याय)

निष्कर्ष - "सर्वादीनि सर्वनामानि" - (१.१.२७.) के भाष्य के आधार पर "अनुपसर्जनात्" सूत्र के अधिकार पक्ष का प्रत्याख्यान कर, प्रकारान्तर से सूत्र की व्याख्या की गई है तथा यह प्रतिपादित किया गया है कि प्रकृत सूत्र "उपसर्जन प्रतिषेधः" - वार्तिक की अन्यथा सिद्धि कर सकता है। वस्तुतः प्रकृत सूत्र के भाष्य में भाष्यकार स्वयं कहते हैं -

"इदं तर्हि प्रयोजनम् प्रधानेन तदन्तविधिर्यथा स्यात् - कुम्भकारी - नगरकारी। अत्र हि प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणं भवतीति अवयवात् कारी शब्दादुत्पत्तिः प्राप्नोति। अवयवादुत्पत्तौ सत्यां को दोषः ? कौम्भकारेयो न सिद्धयति। अवयवस्य वृद्धिस्वरौ स्याताम्। तस्मादुपसर्जनाधिकारः।"

अर्वाचीन वैयाकरणों में चन्द्रगोमी और पूज्यपाद देवनन्दी ने भी सूत्र की सार्थकता को स्वीकार किया है।

❀❀❀

शब्द संकेत

१. उद्योतकार भी यही मत व्यक्त करते हैं -

"स्त्रीप्रत्ययप्रकरणस्थमपि सूत्रं तत्रानुपयुज्यमानं कार्यान्तरार्थं परिभाषा रूपं ज्ञातव्यमिति भावः" - म.भा. - ४.१.१४.

❀❀❀

आद्यन्तवदेकस्मिन्
(१.१.२१)

सूत्र का स्वरूप - जिस वर्ण के आगे वर्ण हों और पूर्व में कोई वर्ण न हो, उस वर्ण को आदि कहा जाता है और जिसके पूर्व में वर्ण हो और बाद में न हो वह अन्त वर्ण कहा जाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आदि और अन्त शब्द सापेक्ष हैं। सूत्रों में जहाँ आदि या अन्त वर्ण को कोई कार्य विहित हो वह कार्य एक मात्र वर्ण को नहीं हो सकता किन्तु उस वर्ण को कार्य तो अभीष्ट है। इसकी सिद्धि के लिए प्रकृत अतिदेश का आरम्भ किया गया है। इस अतिदेश के अनुसार एक वर्ण को भी आदिवत् या अन्तवत् माना जा सकता है। उदाहरणार्थ आभ्याम् - प्रयोग में अ + भ्याम् स्थिति में एकमात्र अकार को अकारान्त अङ्ग मानकर "सुपिच" (७.३.१०२.) से दीर्घ सिद्ध हो जाता है। औपगवम् इत्यादि में अ (अण्) प्रत्यय को "आद्युदात्तत्व" (३.१.३.) की सिद्धि हो जाती है। ससहाय में अथवा एक से अधिक वर्णो के समुदाय में प्रयगार्ह आदि और अन्त शब्दों को एक वर्ण में भी प्रयोगार्ह सिद्ध करने वाले प्रकृत सूत्र को अतिदेश सूत्र की कोटि में ही रखा जाता है। काशिकाकार के शब्दों में - "असहायस्य आद्यन्तोपदिष्टानि कार्याणि न सिद्ध्यन्तीत्ययमतिदेश आरभ्यते।" अतिदेश होने पर भी प्रकृत सूत्र को परिभाषा सूत्र की कोटि में रखने का संकेत स्वयं भाष्यकार के शब्दों में प्राप्त होता है। "निपात एकाजनाङ्" (१.१.१४.) सूत्र के भाष्य में वे लिखते हैं - "इयमिह परिभाषा भवति", "आद्यन्तवदेकस्मिन्निति" इयं च न भवति - "येन विधिस्तदन्तस्येति।"

भाष्यकार के उपर्युक्त निर्देश के आधार पर प्रकृत अतिदेश सूत्र को परिभाषा के अन्तर्गत सम्मिलित कर उसके परिभाषा धर्म की व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

सूत्र की व्याख्या - सात [१] प्रकार के अतिदेशों में प्रकृत सूत्र को व्यपदेशातिदेश के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है। इस अतिदेश में असहाय में आदि और अन्त का व्यवहार किया जाता है, अर्थात् एक में भी आदि और अन्त का व्यवहार करते हुए कार्य किया जाता है। भाष्यकार ने सूत्र के प्रयोजन की चर्चा करते हुए कहा है कि - आदि उसे कहते हैं जिसके पूर्व में कुछ न हो और पर में अवश्य कुछ न कुछ हो तथा अन्त उसे कहते हैं जिससे परे कुछ न हो किन्तु पूर्व में अवश्य हो। आदि और अन्त के ये लक्षण एक असहाय वर्ण में घटित होता सम्भव नहीं है, क्योंकि वह तो एक ही है, उसके पूर्व और परे कुछ भी नहीं है। प्रकृत सूत्र के सामर्थ्य से उस अकेले असहाय वर्ण में भी आदि और अन्त को विहित कार्य सम्भव है अर्थात् उस वर्ण में आदिवत् और अन्तवत् भाव का व्यपदेश हो जाता है। सूत्र में पठित् एकस्मिन् का यही आशय है कि अकेले या असहाय वर्ण में आद्यन्तवत् भाव हो जाए। यदि सूत्र में एक ग्रहण नह करें तो ससहाय में भी प्रकृत अतिदेश की प्रसक्ति हो जाएगी और समासन्नयने भवः अर्थ में सभासन्नयनः प्रयोग में भकारोत्तरवर्ती आकार को भी आदिवत् मानकर "वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्" - (१.१.७३.) सूत्र से उक्त शब्द की वृद्ध संज्ञा प्राप्त हो जाएगी और "वृद्धाच्छः" - (४.२.११४.) से शैषिक छ प्रत्यय प्राप्त हो जाएगा, जो कि अनिष्ट है। भकारोत्तवर्ती आकार अकेला नहीं है वरन् उसके आगे पीछे अन्य अच् भी विद्यमान है।

सूत्र की अन्यथा सिद्धि - "सत्यन्यस्मिन्नाद्यन्तवद् भावादेकस्मिन्नाद्यन्तवद् वचनम्" वार्तिक के द्वारा अतिदेश सूत्र का प्रयोजन प्रतिपादित करने के पश्चात् भाष्यकार ने प्रकृत अतिदेश की अव्याप्ति या संकुचित प्रवृत्ति की ओर दृष्टिपात किया है। क्योंकि यह सूत्र केवल आदि और अन्त सम्बन्धी कार्यों के विषय में ही अतिदेश कर सकता है। इससे अधिक अन्य विषयों में इसकी व्याप्ति नहीं है। अतः इसके स्थान पर **"व्यपदेशिवदेकस्मिन्"** सूत्रारम्भ करना अधिक श्रेयस्कर होगा। व्यपदेशिवत् कहने से केवल आदि और अन्त विषय ही गृहीत न होकर अनेक विषयों में अतिदेश की व्याप्ति हो सकती है। व्यपदेशिवद्भाव का तात्पर्य - मुख्य के समान अमुख्य को मानकर कार्य करना है। निमित्त होने के कारण जिसका मुख्य व्यपदेश होता है वह व्यपदेशी होता है। जैसे - पठ् धातु में एक अच् होने से वह एकाच् धातु कहा जाता है, अर्थात् एकाच् उसका मुख्य व्यपदेश है। इ (इण्) धातु स्वयं अच् रूप ही है - उसे एकाच् नहीं कह सकते तथापि एकाच् कहे जाने वाले पठ् धातु के समान इ धातु में भी कार्य होते हैं। यही व्यपदेशिवद् भाव है। यह व्यपदेशिवद् भाव मानना आवश्यक है। भाष्यकार ने इसके दो प्रयोजन बताए हैं - **"एकाचो द्वे प्रथमार्थम्। षत्वे चादेश सम्प्रत्ययार्थम्।"** सूत्र "एकाचो द्वे प्रथमस्य" - (६.१.१.) में "एकाचो द्वे प्रथमस्येति बहुव्रीहि निर्देशः" वार्तिक के द्वारा एकाचः पद में बहुव्रीहि माना गया है। बहुव्रीहि मानने पर एकाच् का अर्थ होगा - "एकोऽज् विद्यते यस्मिन् स एकाच्" - अर्थात् एक अच् वाला धातु। इस व्युत्पत्ति के अनुसार पच् - पठ् धातु एकाच् होने से उनमें "द्वित्व" - (६.१.८.) की सिद्धि हो जाएगी और पपाठ-पपाच रूप सिद्ध हो जाएँगे किन्तु इयाय आर आदि रूपों की सिद्धि न हो पाएगी, क्योंकि इनमें इ और ऋ धातु स्वयं एक अच् रूप हैं। एक अच् वाला कहलाने के लिए इनमें कुछ अन्य वर्ण भी चाहिए। "व्यपदेशिवदेकस्मिन्" यह परिभाषारम्भ करने से अज्रूप इ और ऋ धातु भी एक अच् वाले माने जा सकते हैं।

इस प्रकार "आदेश प्रत्यययोः" - (८.३.५९.) सूत्र से प्रत्यय के अवयव भूत सकार को षत्व का विधान है, सकार रूप प्रत्यय को नहीं है। इससे करिष्यति में स्य प्रत्यय के सकार को तो षत्व हो जाएगा किन्तु यक्षत् - वक्षत्० इत्यादि लेट् लकार के रूपों में मात्र सकार रूप प्रत्यय है। इसमें षत्व की सिद्धि के लिए व्यपदेशिवद् भाव आवश्यक है। इस व्यपदेशिवद् भाव के द्वारा एक वर्ण में आदि और अन्त के कार्य भी सिद्ध हो सकते हैं।

व्यपदेशिवद् भाव की अन्यथा सिद्धि - उपर्युक्त व्यपदेशिवद् भाव की सिद्धि लोक व्यवहार द्वारा हो सकती है। जैसे - लोक में जहाँ अनेक घरों के समुदाय की ग्राम संज्ञा होती है वहाँ यदि किसी ग्राम में एक ही घर हो तो भी एक घरवाला ग्राम - ऐसा व्यवहार हो जाता है। इसी प्रकार वर्ण समुदाय की पद संज्ञा - पद समुदाय की ऋक् और ऋक् समुदाय की एक सूक्त संज्ञा होती है। परन्तु कभी - कभी एक वर्ण पदम् - एकपदा ऋक् एकर्च सूक्तम् प्रयोग भी होते हैं। एक प्रचलित लोकोक्ति के अनुसार देवदत्त का एक ही पुत्र होने पर वही ज्येष्ठ, वही कनिष्ठ और वही मध्यम कहा जाता है। शास्त्र में भी इस प्रवृत्ति के अनुसार एक वर्ण में आदि और अन्त व्यवहार सम्पन्न हो सकता है। अन्य अनेक लौकिक दृष्टान्तों के द्वारा इस व्यवहार की पुष्टि भाष्यकार ने की है। [२]

वार्तिककार ने आदि और अन्त शब्दों का भिन्न शब्दों में लक्षण प्रस्तुत प्रकृत कर सूत्र का

प्रत्याख्यान किया है इनके मतानुसार आदि वह है जिसके पूर्व में कुछ न हो और अन्त वह है जिसे परे कुछ न हो। आदि और अन्त के ये दोनों लक्षण अकेले असहाय वर्ण में पूर्णतः घटित हो जाते हैं। **(अपूर्वानुत्तर लक्षणत्वादाद्यन्तयोः सिद्धमेकस्मिन्)**

अतिदेश सूत्र का औचित्य - भाष्यकार और वार्तिककार ने आदि और अन्त शब्दों के भिन्न प्रकार से लक्षण प्रस्तुत किए हैं। भाष्य द्वारा प्रदत्त लक्षण के अनुसार - **"सत्यन्यस्मिन यस्मात्पूर्वं, नास्ति परमस्ति स आदिरित्युच्यते। सत्यन्यस्मिन् यस्मात्पर नास्ति पूर्वमस्ति सो ऽन्त इत्युच्यते"** सूत्र की आवश्यकता सिद्ध होती है। वार्तिक में पठित लक्षण के अनुसार आदि और अन्त को क्रमशः अपूर्व और अनुत्तर मानने पर सूत्र प्रत्याख्येय प्रतीत होता है। वस्तुतः वार्तिकोक्त लक्षण परस्पर व्यभिचरित होने के कारण स्वीकार्य नहीं हो सकता। अर्थात् आदि का लक्षण अपूर्व मानने पर वह अन्त में भी व्यभिचरित हो सकता है और अन्त को अनुत्तर मानने पर वह आदि मे भी जा सकता है। वस्तुतः आदि और अन्त शब्द तो दोनों तरफ एक-दूसरे की सत्ता या असत्ता में ही चरितार्थ होते हैं। अकेले को आदि या अन्त कैसे कहा जा सकता है ? इस दृष्टि से आद्यन्तवदेकस्मिन् सूत्र उपयोगी एवं आवश्यक है।

सूत्र के उदाहरण - प्रत्यय के आदि को उदात्त का विधान किया गया है। (३.१.३.) वह उदात्त जिस प्रकार तत्यत् के आदि को होता है उसी प्रकार प्रकृत अतिदेश के बल से औपगवः आदि प्रयोगों में अ (अण्) रूप प्रत्यय को आदि मानकर हो जाता है। वलादि आर्धधातुक को इडादि का विधान (आर्धधातुकस्येड् वलादेः - ७.२.३५.) होता है। वह करिष्यति आदि में होता है। जोषिवत् आदि वैदिक रूपों में सकार रूप वलादि के परे भी इडागम हो जाता है। "यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे" - (१.२.७२.) वार्तिक से तदादि विधि होकर "अचि श्नुधातुभ्रुवाम्" - (६.४.७७.) सूत्र से इयड् - उवड् श्रियः भ्रुवः में होते हैं,उसी प्रकार श्रियौ भ्रुवौ में भी एक वर्णात्मक औ प्रत्यय को तदादि मानकर निष्पन्न हो जाते हैं।

"आडजादीनाम्" - (६.४.७२.) सूत्र से विहित आट आगम ऐहिष्ट - ऐक्षिष्ट ये होता है और ऐत् अध्यैष्ट में भी एक अच् रूप इ धातु होने पर भी सम्भव हो जाता है।

अन्तवत् भाव के उदाहरण - "ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्" - (१.१.११.) से विहित प्रगृह्य संज्ञा पचेते आदि प्रयोगों में एकारान्त द्विवचन होने के कारण सुलभ है। खट्वे + इति, माले + इति आदि प्रयोगों में एकार को ही एकारान्त मानकर प्रगृह्य की सिद्धि होती है।

"मिदचोऽन्त्यात्परः" - (१.१.४७.) सूत्र से मित् आगम अन्तिम अच् के बाद विहित है अतः कुण्डानि - वनानि आदि प्रयोगों में अन्तिम अच् स्पष्ट रूप से दृश्यमान है किन्तु तानि - यानि आदि में त + इ में त रूप प्रकृति में एक ही अच् है। उसे ही अन्तवत् मानकर नुमागम की सिद्धि होती है। "अचोऽन्त्यादि टि" - (१.१.६४.) से टि संज्ञा की सिद्धि कुर्वाते - कुर्वाथे प्रयोगों में आताम् - आथाम् प्रत्ययों में होती है और "टित आत्मनेपदानां टेरे" - (३.४.७९.) टि को एत्व हो जाता है। कुरुते - कुर्वे आदि रूपों में भी त और इ प्रत्ययों में टि संज्ञा की सिद्धि होकर एत्व निष्पन्न हो जाता है।

"अलोऽन्त्यस्य" - (१.१.५२.) की सहायता से अन्तिम अल् को होने वाला कार्य घट - पट में होता है और केवल अ में भी होता है। इसीलिए "अतो दीर्घो यञि" - (७.३.१११.) सूत्र से घटाभ्याम्, पटाभ्याम् के समान आभ्याम् रूप भी निष्पन्न होता है। "अचो यत्" - (३.१.९७.) सूत्र से अजन्त चि - जि धातुओं को यत् की प्राप्ति होकर चेयम् जेयम् रूप सिद्ध होते हैं उसी प्रकार इ धातु को भी यत् होने से एयम् अध्येतव्यम् आदि रूपों की निष्पत्ति होती है।

निष्कर्षतः प्रकृत अतिदेश की लक्ष्य सिद्धि में परम् आवश्यकता है। इसे अन्यथा सिद्ध अथवा प्रत्याख्यात नहीं किया जा सकता। चान्द्र व्याकरण में परिभाषा सूत्र पाठ में प्रस्तुत सूत्र पठित है।

❀❀❀

शब्द संकेत

१. निमित्तातिदेश, व्यपेदशातिदेश, तादात्म्यातिदेश, शास्त्रातिदेश, कार्यातिदेश, रूपातिदेश, अर्थातिदेश।

२. यथा तर्हि बहुषु पुत्रेष्वेतदुपपन्नं भवति - अयं मे ज्येष्ठोऽयं में मध्यमो ऽयं में कनीयानितिं। भवति चैतदेकस्मिन्नप्ययमेव मे ज्येष्ठो ऽयमेव मे मध्यमो ऽयमेव मे कनीयानिति।

तथासूतायामसोष्यमाणायां च भवति प्रथमगर्भेण हतेति। - इसका आशय है कि कोई स्त्री प्रथमतः प्रसूत होकर मृत हो जाए वह न पहले प्रसूता थी और न भविष्य में प्रसूता होने की सम्भावना ही है - उसके लिए प्रथम गर्भ से ही मृत ऐसा व्यवहार होता है।

अथवा कोई सुदूर देश में प्रथमतः प्रवेश करता है वह पूर्व में कभी उस देश में नहीं गया और न ही भविष्य में ही कभी उस देश में जाएगा - तथापि वह कहता है कि यह मेरा प्रथम आगमन है। (तथानेत्यानाजिगमिषुराहेदं मे प्रथममागमनमिति।)

❀❀❀

पूर्वत्रासिद्धम्
(८.२.१)

सूत्र का स्वरूप - प्रकृत सूत्र को सामान्यतः अधिकार सूत्र मानकर ही वृत्तिकारों ने अर्थ निष्पन्न किया है। कौमुदीकार अथवा काशिकाकार **"अधिकारो ऽयम्"** कहकर इसकी वृत्ति में कहते हैं - "सपाद सप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्यसिद्धा त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परं शास्त्रमसिद्धं स्यात् ।" काशिकाकार ने अष्टम अध्याय के द्वितीय पाद के इस प्रथम सूत्र को अधिकार सूत्र कहते हुए अष्टम अध्याय की परिसमाप्ति तक इसका अधिकार माना है और पूर्वत्र का तात्पर्य सपाद सप्ताध्यायी मानकर उसमें त्रिपादी को असिद्ध माना है। अधिकार होने से यही सूत्र त्रिपादी के सूत्रों में भी उपस्थित होकर पूर्व - पूर्व सूत्र की दृष्टि में उत्तर - उत्तर सूत्र को असिद्ध करता है। असिद्ध होने का आशय असिद्ध वत् से है।

इस प्रसङ्ग में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि ग्रन्थकारों ने प्रकृत सूत्र को स्पष्ट रूप से अधिकार सूत्र कहा है और असिद्धवत् कहने से इसे अतिदेश भी कहा जा सकता है किन्तु इसमें परिभाषात्व का क्या लक्षण है ? जिसके आधार पर इसे परिभाषा सूत्र भी कहा जाए ? न्यास एवं पदमंजरीकार इस सूत्र के विषय में विचार करते हुए यह प्रतिपादित करते हैं कि यदि प्रकृत सूत्र को स्वतन्त्र विधि सूत्र मानते हैं तो वक्ष्यमाण त्रिपादी के सूत्र पूर्वत्र अर्थात् सपादी के सूत्रों में असिद्ध तो हो जाएँगे, किन्तु त्रिपादी के सूत्रों में पूर्व सूत्र के प्रति परसूत्र में असिद्धता नहीं आ पाएगी। इस असिद्धता के अभाव में गोधुङ्मान् इत्यादि प्रयोगों में गोदुह + मतुप् स्थिति में घत्व (दादेर्धातोः० - ८.२.३२.) करने के बाद "झयः" - (८.२.१०.) सूत्र से मतुप् के म को व की प्राप्ति हो जाएगी। पर सूत्र से विधीयमान घत्व को झयः की दृष्टि में असिद्ध करने पर उसके स्थान पर पुनः हकार की दृश्यमानता में झयः की प्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि हकार झय् प्रत्याहार में नहीं आता। निष्कर्षतः त्रिपादी में भी पूर्व सूत्र की दृष्टि में पर सूत्र की असिद्धता आवश्यक है। इस असिद्धता की सिद्धि पूर्वत्रासिद्धम् को विधि मानने पर नहीं होती।

यदि प्रकृत सूत्र को परिभाषा मानते हैं तो परिभाषा अपने लक्षण के आधार पर **(एक देशस्थिता शास्त्र भवने यातिदीपताम्)** सर्वत्र अष्टाध्यायी में प्रवृत्त हो जाएगी, जिसके परिणाम स्वरूप सपादी में भी पूर्व के प्रति पर सूत्र असिद्ध हो जाएगा और तेन, तैः, तस्य इत्यादि प्रयोगों में तद् के दकार को "त्यदादीनामः" - (७.२.१०२.) से अत्व करने के बाद "टाङसिङसाम्०" - (७.१.१२.) इत्यादि सूत्र से अकारान्त के बाद टा को विहित इन आदेश नहीं हो पाएगा, क्योंकि इस सूत्र के प्रति अत्व असिद्ध हो जाएगा। सिद्धान्ततः इसे अधिकार ही माना जाए। **(तस्मादधिकारः - पदमञ्जरी)** अधिकार होने से "पूर्वत्रासिद्धम्" के द्वारा अभीष्ट अर्थ की सिद्धि होती है।

न्यासकार ने प्रकृत सूत्र के विषय में स्पष्ट रूप से दो पक्ष प्रस्तुत किए हैं। वे कहते हैं - "एष योगः परिभाषा वा स्यात् अधिकारो वेति पक्ष द्वयं सम्भाव्यते ।" परिभाषा मानने पर पूर्वोक्त अनुपपत्ति प्रदर्शित करते हुए अधिकार पक्ष का ही समर्थन करते हैं। **(तत्र यद्ययं परिभाषा स्यात् सर्वस्यामष्टाध्यायाम् पूर्वस्मिन्नुत्तरमसिद्धं स्यात् ततश्च .... तैः यैः इत्यत्रैस्**

भावो न स्यादितीमं परिभाषापक्षे दोषं दृष्ट्वा स्वरितत्वेनाधिकारत्वमस्येति ....)

कतिपय अर्वाचीन वैयाकरण [1] प्रकृत सूत्र के अधिकारत्व और परिभाषात्व को स्पष्ट रूप से वर्गीकृत करते हुए कहते हैं कि - जब यह सूत्र अष्टम अध्याय के द्वितीय पाद का प्रथम सूत्र होकर अर्थ निष्पादित करता है तब यह परिभाषा सूत्र होता है और परिभाषा पक्ष में इसका अर्थ होता है - सपाद सप्ताध्यायी के सूत्रों के प्रति त्रिपादी के सूत्र असिद्ध होते हैं। जब यह सूत्र अधिकार हो जाता है तब आगामी सूत्रों में जाकर बैठता है और वहाँ बैठा - बैठा अर्थ करता है कि तुम पूर्वत्र (पूर्व सूत्रों में) असिद्ध हो अर्थात् त्रिपादी के सूत्रों में भी पूर्व के सूत्रों में पर के सूत्र असिद्ध हैं।

भाष्यकार का अभिमत - प्रकृत सूत्र के अर्थ के सम्बन्ध में व्याकरण ग्रन्थकारों ने जो मत प्रतिपादित किया है वह भाष्यानुमोदित है। प्रकृत सूत्र के भाष्य में भाष्यकार लिखते हैं कि सपादी की दृष्टि में यदि त्रिपादी असिद्ध हो जाती है तब त्रिपादी में पठित सप्तमी निर्देश, पञ्चमी निर्देश और षष्ठी निर्देश किए गए हैं, वे भी सपादी की दृष्टि में असिद्ध हो जाएँगे। इस स्थिति में यह अनुपपत्ति सम्भावित है कि "झलो झलि" - (८.२.२६.), "ह्रस्वादङ्गात्" - (८.२.२७.), "संयोगान्तस्य लोपः" - (८.२.२३.) सूत्रों में दृश्यमान सप्तमी निर्देश पञ्चमी निर्देश और षष्ठी निर्देश असिद्ध हो जाने से इन सूत्रों में क्रमशः "तस्मिन्निति०" - (१.१.६६.), "तस्मादिति" - (१.१.६७.) और "षष्ठी स्थाने" - (१.१.४९.) परिभाषाएँ प्रवृत्त नहीं हो पाएगी। इस अनुपपत्ति के निवारणर्थ संज्ञा और परिभाषाओं की कार्यान्विति के लिए कार्यकाल पक्ष की उद्भावना की गई है। इस पक्ष में संज्ञा और परिभाषाएँ तत्तत् विधिसूत्रों के पास आकर्षित हो जाती है। टीकाकारों ने इस पक्ष को बोधगम्य करने के लिए "अदृष्टपिशाच न्याय" का दृष्टान्त दिया है। जिस प्रकार मनुष्य की दृष्टि में पिशाच अदृश्य होता है तथापि पिशाच मनुष्य को देख सकता है और अपनी इच्छानुसार मनुष्य का अपकर्षण करता है। उसी प्रकार सपादी की परिभाषाओं को (तस्मिन्निति० आदि) त्रिपादि के शास्त्र दृष्टिगत नहीं होते किन्तु त्रिपादी के झलोझलि इत्यादि सूत्रों को सपादी के सूत्र दृश्यमान हैं। अतः त्रिपादी में पठित विधि सूत्र (झलो झलि आदि) सपादी की संज्ञा, परिभाषाओं को अपने समीप आकर्षित करते हुए अभीष्ट सिद्धि करते हैं। यही कार्यकाल पक्ष है। इस पक्ष में "झलो झलि" - (८.२.२६) के समीप तस्मिन्निति०, ह्रस्वादङ्गात् के पास तस्मादिति० और संयोगान्तस्य के पास षष्ठी स्थाने० परिभाषा आकर एकवाक्यता के द्वारा अर्थ बोध कराती है और इष्ट सिद्धि में सहायक होती है।

विप्रतिषेध की व्याप्ति - कार्यकाल पक्ष में संज्ञा और परिभाषाओं की त्रिपादी में प्रवृत्ति मानने पर विप्रतिषेध सूत्र की त्रिपादी में प्रवृत्ति हो जाएगी क्योंकि "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" भी परिभाषा सूत्र है। यदि "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" परिभाषा त्रिपादी में उपस्थित हो गई तो अनेक स्थलों पर अनुपपत्ति की प्रसक्ति हो जाएगी। जैसे - "विस्फोर्यम् - अवगोर्यम्" इत्यादि उदाहरणों में गुण और दीर्घ में विप्रतिषेध होने से परत्वात् दीर्घ की प्रसक्ति हो जाएगी। विस्फोर्यम् में वि उपसर्ग पूर्वक स्फुर् धातु और अवगोर्यम् में अव उपसर्ग पूर्वक गुर् धातु है। इनमें "ऋ हलोर्ण्यत्" - (३.१.१२३.) सूत्र से ण्यत् करने पर "हलि च" - (८.२.७७.) से दीर्घ प्राप्त है। वह "पुगन्त०" - (७.३.८६.) की दृष्टि से असिद्ध होता है, अतः गुण ही होता है, किन्तु अब विप्रतिषेध० परिभाषा की त्रिपादी में उपस्थिति से गुण का बाध होकर परत्वात् दीर्घ होने लगेगा। इस आशङ्का का समाधान **"पूर्वत्रासिद्धे नास्ति विप्रतिषेधो ऽभावादुत्तरस्य"**

वार्तिक वचन के द्वारा किया गया है। इसका तात्पर्य है कि त्रिपादी में पूर्व के प्रति पर शास्त्र असिद्ध हैं, अतः विप्रतिषेध० की प्रवृत्ति का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता।

वस्तुतः विप्रतिषेध० न्याय तुल्य बल विरोध होने पर प्रवृत्त होता है। त्रिपादी में तो परसूत्र असिद्ध ही है, अतः पूर्व शास्त्र (सपादी का) और पर शास्त्र में तुल्यबलता का अभाव होता है। इसके फलस्वरूप "विस्फोर्यम्" - (७.३.८६.) आदि उदाहरणों में "त्रिपादीस्थ दीर्घ" - (८.२.७७.) गुण की दृष्टि में असिद्ध होने से दीर्घ न होकर गुण की ही प्रवृत्ति होती है।

अपवाद - "दोग्धा" आदि रूपों में दुह् धातु से तृच् प्रत्यय, उपधा को गुण - (७.३.८६.) करने पर "होढः" - (८.२.३१.) से ढत्व की प्राप्ति है और "दादेर्धातोर्घः" - (८.२.३२.) से घत्व की भी प्राप्ति है। परत्वात् घत्व प्राप्त है किन्तु त्रिपादीस्थ होने से वंह पूर्व सूत्र की दृष्टि में असिद्ध है। अतः ढत्व की प्रवृत्ति सम्भव है। ढत्व करने पर अनिष्ट रूप की आशङ्का है। इसी प्रकार काष्ठतद् आदि प्रयोगों में काष्ठतक्ष् शब्द में "स्कोः संयोगाद्यो०" - (८.२.२९.) से संयोगादि सकार के लोप और "संयोगान्तस्य लोपः" - (८.२.२३.) से संयोगान्त षकार का लोप प्राप्त है। "त्रिपादीस्थ पर सूत्र" - (८.२.२९.) को यदि असिद्ध कर दें तो संयोगान्त लोप होकर अनिष्ट रूप की आपत्ति होती है।

उपर्युक्त दोनों अनुपपत्तियों के निवारणार्थ भाष्यकार ने घत्व और संयोगादि लोप को चरितार्थ न होने से अपवाद कहा है और अपवादत्वात् ये विधियाँ क्रमशः ढत्व और संयोगान्त लोप की बाधक हैं। **(अपवादो वचन प्रामाण्यात्)**

असिद्धता का तात्पर्य - असिद्ध वचन के तात्पर्य होते हैं - १. आदेश निमित्तक कार्यो का निषेध होना, २. स्थानी निमित्तक कार्य की प्रवृत्ति होना। जैसे - "षत्वतुकोरसिद्धः" - (६.१.८६.) सूत्र से षत्व विधि और तुगागम की कर्तव्यता में एकादेश असिद्ध होता है। इसीलिए "कोऽसिचत्" आदि प्रयोगों में पूर्वरूप एकादेश को असिद्ध होने से आदेश निमित्तक षत्व कार्य का निषेध ("आदेश प्रत्ययोः" - ८.३.५९.) होता है और स्थानि विषयक को + असिचत् की स्थिति में प्राप्त कार्य हो सकते हैं। भाष्यकार ने इस प्रसङ्ग में आदेश निमित्तक कार्य के निषेध के उदाहरण स्वरूप राजभिः - तक्षभिः, राजभ्याम् - तक्षभ्याम्, राजसु - तक्षसु प्रयोग उद्धृत किए हैं। इन रूपों में नकार का लोप होने के पश्चात् (न लोपः सुप्स्वर संज्ञा तुग्विधिषु कृति - ८.२.७.) ह्रस्व अकार निमित्तक ऐस् आदेश प्राप्त होते हैं। परन्तु नकार लोप असिद्ध होने से ऐस् आदेश - (७.१.९.) नहीं हो पाता।

स्थानि निमित्तक कार्य के उदाहरण अमुष्मै - अमुष्मात् - अमुष्य - अमुष्मिन् इत्यादि हैं। इन प्रयोगों में मुत्व कार्य (अदसो ऽसेः - ८.२.८६.) करने के बाद ह्रस्व अकार निमित्तक स्मै आदि आदेश (सर्वनाम्नः स्मै - ७.१.१४.) प्राप्त नहीं होते। किन्तु मुत्व को त्रिपादीस्थ होनेके कारण असिद्ध मानने से स्मै आदि आदेश निष्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार सुपर्वाणौ - सुपर्वणः आदि उदाहरणों में णत्व - (८.४.२.) करने के बाद "सर्वनाम स्थाने०" - (६.४.८.) सूत्र से नकारान्त की उपधा

को प्राप्त दीर्घ नहीं हो सकता, किन्तु णत्व असिद्ध होने से उपधा दीर्घ हो जाता है और अभीष्ट रूपों की सिद्धि हो जाती है।

सपाद सप्ताध्यायी के प्रति त्रिपादी की असिद्धता और त्रिपादी में पूर्व शास्त्र के प्रति परशास्त्र की असिद्धता का यही भाव है।

(पूर्वत्रासिद्धवचनमादेशलक्षणप्रतिषेधार्थमुत्सर्गलक्षणभावार्थं च)

❀❀❀

शब्द संकेत

१. महामहोपाध्याय पण्डितराज डॉ. श्री गोपाल शास्त्री "दर्शन केशरी"

❀❀❀

प्राग्दीव्यतो ऽण्
(४.१.८३)

पूर्व प्रकरण में उभयविध सूत्रों के अन्तर्गत अष्टाध्यायी के ऐसे सूत्रों की समीक्षा प्रस्तुत की गई जो सामान्यत: संज्ञा - विधि - नियम - अतिदेश या अधिकार सूत्र के रूप में विख्यात हैं। प्रस्तुत सूत्र के सम्बन्ध में वृत्तिकारों का मत है कि - इस सूत्र को अधिकार सूत्र, विधि सूत्र अथवा परिभाषा सूत्र भी माना जा सकता है। तीनों दृष्टियों से इस पर विचार किया जा सकता है। काशिकाकार के शब्दों में - **"अधिकार: परिभाषा विधिर्वेति त्रिष्वपि दर्शनेष्वपवादविषयं परिहृत्याण् प्रवर्तते।"** इसी आधार पर प्रकृत सूत्र को त्रिविधसूत्रों की कोटि में रखा गया है।

काशिकाकार के उपर्युक्त उक्ति का प्रमुख उद्देश्य है कि प्रकृत सूत्र को अधिकार माने, परिभाषा मानें अथवा विधि मानें, तीनों पक्षों में इसकी प्रवृत्ति (अपवाद स्थलों को छोड़कर) करना चाहिए। **"अपवाद विषयं परिहत्य उत्सर्गो ऽभिनिविशते"** न्याय के अनुसार प्रस्तुत उत्सर्ग सूत्र की प्रवृत्ति करनी चाहिए। इस न्याय का पालन इसलिए आवश्यक है कि अधिकार मानने पर आगामी प्रत्येक सूत्र में इसकी उपस्थिति होगी और अपवाद विषय में भी अण् प्रत्यय उपस्थित हो जाएगा। जैसे - अत इञ् के बाद अण् च उपस्थित हो जाएगा। इसके निवारणार्थ उपर्युक्त न्याय को उद्धृत किया गया है। परिभाषा पक्ष में प्राग्दीव्यतीय अर्थो में अविशेष रूप से या सामान्य रूप से अण् की प्रवृत्ति या उपस्थिति होगी। जिस प्रकार परिभाषाएँ अपने लिङ्ग या चिह्न को देखकर तत्तत् विधियों में प्रवृत्त हो जाती है उसी प्रकार इस परिभाषा सूत्र की प्रवृत्ति हो जाएगी। तब अपवाद विषय के परिहार का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होगा। फलस्वरूप पुन: अनिष्ट की आपत्ति हो जाएगी।

विधि पक्ष में दीव्यति० के पूर्व तक सभी प्रकृतियों से अण् का विधान हो जाएगा। निष्कर्षत: **"नापवादविषये ऽण् भवति"** परिभाषा का ध्यान रखते हुए प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति करनी चाहिए। पदमञ्जरीकार ने स्पष्ट शब्दों में इसका प्रतिपादन किया है - **"प्राग्दीव्यतो ये ऽर्थास्तेष्वेवास्य त्रिष्वपि पक्षेषु व्यापार:। तत्र समाने ऽर्थे प्रकृतिविशेषादुत्पद्यमानो ऽपवादो ऽणं बाधत इति सिद्धमिष्टम्।"**

काशिकाकार अथवा न्यास पदमञ्जरीकार के वचनों से यह निष्कर्ष निकलता है कि "प्राग्दीव्यतो ऽण्" सूत्र की अधिकार, विधि या परिभाषा सूत्र की दृष्टि से व्याख्या की जा सकती है। अधिकार और विधि पक्ष तो स्पष्ट हैं, परिभाषा पक्ष में प्राग्दीव्यतीय अर्थ ही इसकी प्रवृत्ति के लिङ्ग हैं। इन समस्त अर्थो में (तस्यापत्यम्, तेन रक्तं रागात् - इत्यादि में) अण् प्रत्यय की उपस्थिति होगी। इस प्रसङ्ग में मात्र यह ध्यातव्य है कि तस्यापत्यम् अर्थ में ही विधीयमान इञ् प्रत्यय के विषय में अर्थात् "अत इञ्" - (४.१.९५.) में इसकी उपस्थिति न हो जाए। इसी दृष्टि से "अपवाद विषयं परिहृत्य अण् प्रवर्तते" परिभाषा की उपस्थापना की है।

सूत्र की व्याख्या - "तेन दीव्यति खनति जयति जितम्" (४.४.२.) सूत्र में पठित दीव्यति अर्थ से पूर्व निर्दिष्ट सभी अर्थो में अण् प्रत्यय का अधिकार हैं। अर्थात् उन सभी अर्थों में अण् का विधान होता है। जैसे - "तस्यापत्यम्" - (४.१.९२.), "तेन रक्तं रागात्" - (४.२.१.) इत्यादि अर्थों की विवक्षा में अण् प्रत्यय होता है और "उपगोः अपत्यम्" के अर्थ में "औपगवः" अथवा "कषायेण रक्तं वस्त्रम्" को "काषायम्" कहा जाता है।

सूत्र में पठित "दीव्यतः" पद के विषय में यह आशङ्का उपस्थित हो सकती है कि "प्राग्दीव्यतः" का तात्पर्य - दीव्यत् शब्द के पूर्व है, किन्तु किसी सूत्र में दीव्यत् शब्द उपस्थित नहीं है। "तेन दीव्यति०" सूत्र में पठित दीव्यति तक यदि अण् का अधिकार अभीष्ट है तब सूत्रकार को "प्राग्दीव्तेः" शब्द का उच्चारण करना था। दीव्यति के पञ्चम्यन्त के स्थान पर दीव्यत् का पञ्चम्यन्त रूप उच्चारित किया गया, इससे यह ज्ञापित होता है कि सूत्रकार को "एकदेशविकृतमनन्यवद् भवति" परिभाषा मान्य थी। परिभाषा कार नागेश भट्ट ने इसी निर्देश के आधार पर (दीव्यति के स्थान पर दीव्यत्) उक्त परिभाषा को ज्ञापक सिद्धा कहा है। भाष्यकार ने इस प्रसङ्ग में एक और युक्ति प्रस्तुत की है, जिसके अनुसार दीव्यत् शब्द को दीव्यति ("तेन दीव्यति" - ४.४.२.) के इकार को हटा कर उसका एक अंश नहीं मानना चाहिए अपितु सम्पूर्ण दीव्यति शब्द का ही इसमें ग्रहण किया गया है। शास्त्र प्रक्रिया के अन्तर्गत उसका ग्रहण करते हुए जव उसका प्रथमान्त के साथ समानाधिकरण विवक्षित हुआ तब लट् के स्थान पर "शतृ प्रत्यय" - (३.२.१२४.) न होकर तिङ् प्रत्यय (लकार) हुआ और तेन दीव्यति० सूत्र में दीव्यति प्रयुक्त हुआ। प्रकृत सूत्र में दीव्यत् का पञ्चमी के साथ समानाधिकरण्य होने से (अप्रथमा समानाधिकरण में) शतृ प्रत्यय होकर दीव्यत् रूप सिद्ध हुआ और पञ्चमी में दीव्यतः रूप निष्पन्न हुआ।

तात्पर्य दोनों सूत्रों में (प्राग्दीव्यतः और तेन दीव्यति०) में मूल प्रकृति दिव् धातु ही है। प्रकृत सूत्र में उसका शत्रन्त रूप है और तेन दीव्यति० में तिङन्त है।

पद कृत्य - प्रकृत सूत्र को यदि अधिकार सूत्र माना गया है तब सूत्र में प्राक् वचन का क्या प्रयोजन है ? - इस प्रश्न के समाधान में भाष्यकार कहते हैं कि प्रकृत सूत्र में एक बार अण् का उच्चारण करने से आगामी तत्तत् अर्थो में दीव्यति तक अण् प्रत्यय का विधान हो जाता है। प्राक् न कहने पर प्रत्येक सूत्र में अण् का उच्चारण करना पड़ता। यही कार्य अधिकार से भी हो सकता है, क्योंकि अधिकार भी "प्रतियोगं तस्यानिर्देशार्थम्" होता है तथापि अधिकार करने से "अत इञ्" - (४.१.९५.) आदि सूत्रों में भी अण् की उपस्थिति हो जाएगी। जैसा कि पूर्व में काशिकादि वृत्तियों में कहा गया है। इस के फलस्वरूप अकारान्त शब्दों से अपत्य अर्थ में इञ् और अण् - दोनों प्रत्यय होने लगेंगे।

प्राग्दीव्यतः पद से दो अर्थो का बोध हो सकता है। - १. दीव्यति शब्द के पूर्व में प्रत्यय विधान हेतु जितनी प्रकृतियों का उल्लेख है - वे सभी प्रकृतियाँ प्राक् पद से अभीष्ट है, अथवा २. दीव्यति अर्थ के पूर्व में जितने अर्थो में प्रत्यय विवक्षित हैं वे सभी अर्थ प्राक् पद से अभीष्ट हैं। अर्थात् उन सभी अर्थो में अण् प्रत्यय का विधान होता है।

उपर्युक्त दोनों अर्थो में यदि प्राक् पद से शब्दों का बोध विवक्षित माने तो इत् आदि प्रत्यय के विषय में अण् की भी प्रवृत्ति हो जाएगी अर्थात् अपवाद के विषय में अण् प्रसक्त हो जाएगा। यदि दीव्यति शब्द के पूर्व में निर्दिष्ट सभी अर्थो में अण् का विधान करते हैं। तब उपर्युक्त दोष की संभावना नहीं होती। क्योंकि एक ही अर्थ में अकारान्त से विहित इञ् प्रत्यय के द्वारा अण् का बोध हो जाएगा। यही सिद्धान्त पक्ष है। क्योंकि सूत्र में दिशा वाचक प्राक् शब्द की अवधि के रूप में दीव्यतः अर्थ का निर्देश है। यदि प्राक् पद से शब्द रूप अवधि विवक्षित होती तो - ४.४.४. आदि सूत्रों में शब्द पठित कुलस्थ शब्द का निर्देश कर सकते थे और **"प्राक् कुलत्थादण्"** सूत्र पढ़ सकते थे।

वस्तुतः प्राक् पद से दीव्यति के पूर्व में पठित शब्दों का बोध करने पर भी पूर्वोक्त दोष की संभावना करना युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि कतिपय सूत्रों में वा का उच्चारण किया गया है। जैसे - "पीलाया वा" - (४.१.११८.), "उदश्वितोऽन्यतरस्याम्" - (४.२.१९.) इन सूत्रों में वा - अन्यतरस्याम् आदि शब्दों से आचार्य यह ज्ञापित करना चाहते हैं कि अत इञ् आदि अपवाद प्रसङ्ग में औत्सर्गिक अण् की प्रवृत्ति नहीं होगी।

प्रकृत सूत्र के सम्बन्ध में एक आशङ्का यह भी उत्पन्न हो सकती है कि अवधि के रूप में दीव्यतः शब्द का उच्चारण न करते हुए यदि प्रत्यय का ही उच्चारण किया जाए। जैसे - प्राक्ठकः कहते। इसका अर्थ होता - ठक् प्रत्यय तक अण् अधिकृत है। सूत्रकार ने इस प्रकार का सूत्र पाठ नहीं किया। अवधि के रूप में दीव्यतः का ही निर्देश किया। इस निर्देश सामर्थ्य से ही अपवाद के विषय में अर्थात् इञ् के विषय में अण् की प्रवृत्ति नहीं होती।

❀❀❀

अध्याय - 4

"परिभाषाओं के ज्ञापक सूत्र"

- (अ) शास्त्रत्व सम्पादक परिभाषाओं के ज्ञापक सूत्र
- (इ) शास्त्रत्वावच्छिन्नोद्देश्यक अथवा बाधबीजप्रकरणस्थ परिभाषाओं के ज्ञापक सूत्र
- (उ) तन्त्रशेष प्रकरणस्थ परिभाषाओं के ज्ञापक सूत्र

परिभाषाओं के ज्ञापक सूत्र

अष्टाध्यायी में साक्षात् सूत्र रूप में पठित परिभाषाओं के अतिरिक्त कतिपय सूत्र ऐसे भी हैं - जो आपाततः विधिसूत्र हैं किन्तु उनकी समीक्षा करने से उनके द्वारा परिभाषाओं के संकेत प्राप्त होते हैं। ऐसे सूत्रों को "ज्ञापक सूत्र" कहा गया है। इन सूत्रों से ज्ञापित होने वाली परिभाषाओं को "ज्ञापक सिद्ध परिभाषा" कहा जाता है। नागेश भट्ट ने परिभाषेन्दुशेखर के प्रतिज्ञा वचन में घोषित किया है -

"प्राचीन वैयाकरणतन्त्रे वाचनिकानि अत्र पाणिनीयतन्त्रे ज्ञापक न्यायसिद्धानि भाष्य वार्तिकयोरूप निबद्धानि यानि परिभाषारूपाणि तानि व्याख्यायन्ते।"

इसका तात्पर्य है कि परिभाषेन्दुशेखर में व्याख्यात परिभाषाएँ प्राचीन वैयाकरणों द्वारा सूत्र रूप में पठित थीं। पाणिनीय अष्टाध्यायी में ये ही परिभाषाएँ सूत्रों से ज्ञापित होती हैं। अथवा न्याय सिद्ध हैं तथा भाष्य और वार्तिकों में उपनिबद्ध हैं। आचार्यों ने इन परिभाषाओं को तीन वर्गों में विभक्त किया है :-

१. **वाचनिकी परिभाषा** - इसके अन्तर्गत - (अ) सूत्रसिद्ध वाचनिकी और (इ) स्वतन्त्र वाचनिकी परिभाषाएँ आती हैं।

सूत्र सिद्ध वाचनिकी का उदाहरण "निर्दिश्यमानस्यादेशाः भवन्ति" परिभाषा है। यह परिभाषा "षष्ठी स्थाने योगा" - (१.१.४९.) सूत्र से सिद्ध होती है।

स्वतन्त्र वाचनिकी परिभाषा "व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तिर्न हि संदेहादलक्षणम्" है। भाष्य में भाष्यकार ने इसे स्वतन्त्र रूप से उद्धृत किया है।

२. **न्याय सिद्ध परिभाषा** - इसके अन्तर्गत - (अ) लौकिक न्यायसिद्धा और (इ) शास्त्रीय न्याय सिद्धा परिभाषा का अन्तर्भाव है।

लोक न्याय "यो ह्यवयवः स कदाचित्तत्रोपलभ्यते" पर आधारित "अनेकान्ता अनुबन्धाः" आदि परिभाषाएँ पठित हैं। शास्त्रीय न्याय पर आधारित "परान्नित्यं बलवत्" इत्यादि परिभाषाएँ पठित हैं। "अक्लृप्ताभावस्य अभाव कल्पनापेक्षयाक्लृप्ताभावकस्यैव तत्कल्पनमुचितम्" इस लाघव मूल शास्त्रीय न्याय पर यह आश्रित है।

३. **ज्ञापक सिद्धा परिभाषाएँ** - तृतीय भेद ज्ञापक सिद्ध परिभाषाओं का है। पाणिनीय सूत्रों से ज्ञापित होने वाली परिभाषाएं इस वर्ग में हैं। प्रकृत अध्याय में ये परिभाषाएं पाणिनीय सूत्र से किस प्रकार ज्ञापित होती हैं? इनके ज्ञापन से सूत्रकार का परिभाषा के सम्बन्ध में क्या दृष्टिकोण है? - इसकी समीक्षा की गई है।

(अ) शास्त्रत्व सम्पादक परिभाषाओं के ज्ञापक सूत्र

अनेकाल शित् सर्वस्य
(१.१.५५)

यह स्वयं एक परिभाषा सूत्र है, जिसकी विस्तृत व्यवस्था अध्याय - २ में की गई है। इस सूत्र में पठित शित् ग्रहण के द्वारा एक और व्याख्या की ओर संकेत किया गया है, जिसे नागेश ने ज्ञापक कहा है। शित् का तात्पर्य शकार इत् संज्ञक है। जिसमें ऐसा आदेश जो निश्चित ही अनेक अलों वाला होगा अतः अनेकाल् से उसका ग्रहण हो ही जाएगा। किन्तु सूत्रकार शित् ग्रहण करके यह ज्ञापित करना चाह रहे हैं कि शकारेत् संज्ञक आदेश श् के कारण अनेकाल् नहीं होता। इसी आधार पर नागेश ने परिभाषेन्दुशेखर में "नानुवन्धकृतमनेकाल्त्वम्" परिभाषा पठित की है।

इस परिभाषा का उदाहरण "अर्वण स्त्रसावनञः" - (६.४.१२७.) सूत्र से कहा गया तृ आदेश अर्वन् शब्द को सर्वादेश नहीं होता अपितु अलोऽन्त्यस्य के अनुसार अन्तिम न के स्थान पर होता है। तृ आदेश अनेक अल् वाला प्रतीत होता है किन्तु उसका ऋ इत् संज्ञक होने के कारण प्रकृत परिभाषा से वह अनेकाल् नहीं माना जा सकता।

❀❀❀

उदीचां माङो व्यतिहारे
(३.४.१९)

यह विधि सूत्र है जिसका आशय है - उदीच्य आचार्यो के मत में व्यतिहार अर्थ में माङ् को क्त्वा प्रत्यय होता है। इस सूत्र में सूत्रकार माङः पद का उच्चारण करते हैं धातु पाठ में पठित मेङ् धातु को आदेच उपदेशेऽशिति से आत्व कर माङ् पढ़ा गया है। वस्तुतः मेङ् में जब तक ङ् अनुबन्ध स्थित है तब तक मेङ् को एजन्त नहीं कह सकते एजन्त न होने से आदेचः० सूत्र से ए के स्थान पर आत्त्व नहीं हो सकता। किन्तु सूत्रकार ङ् अनुबन्ध की उपस्थिति में भी ए को आत्त्व करते हैं इससे यह ज्ञापित होता है कि अनुबन्ध की उपस्थिति से धातु के एजन्तत्व का विधान नहीं होता। इस अर्थ में नागेश भट्ट "नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम्" परिभाषा ज्ञापित करते हैं। इस ज्ञापित परिभाषा के फलस्वरूप अवदातं मुखम् आदि प्रयोगों में दैप् धातु को आत्त्व होकर दाप् रूप प्राप्त होता है और "दाधाघ्वदाप्" - (१.१.२०.) सूत्र से दाप् को घु संज्ञा का निषेध होकर अवदा + क्त में अच उपसर्गात्तः - (७.४.४७.) सूत्र से आलोप होकर अवत्तम् रूप बन जाता है। प्रकृत ज्ञापित परिभाषा के बल से दाप् को किया गया घ्रु संज्ञा का निषेध दैप् को होकर दैप् से निष्पन्न अवदातम् रूप में अच उपसर्गात्तः सूत्र की प्रवृत्ति बाधित हो जाएगी। अच उपसर्गात्तः का आशय है - अजन्त उपसर्ग से पेर घु संज्ञक दा धातु के अच् को त होता है तकारादि कित् प्रत्यय परे रहते।

❀❀❀

ददातिदधात्योर्विभाषा
(३.१.१३९)

इस विधि सूत्र से दा और धा धातु को विकल्प से श प्रत्यय विहित है। यह प्राप्त विभाषा है। "श्याद्व्यधा०" - (३.१.१४१.)सूत्र से आकारान्त धातुओं का विहित ण प्रत्यय की इनमें प्राप्ति है, किन्तु (विभाषा पद के सामर्थ्य से) अपवाद सूत्र ददातिदधात्यो० से श प्रत्यय विहित है। विभाषा पद के सामर्थ्य से यह श प्रत्यय विकल्प से होता है। अतः दा और धा धातुओं को श और ण दोनों प्रत्यय हो सकते हैं। वस्तुतः ण और श प्रत्यय आपाततः असमान प्रतीत हो रहे हैं, अतः "वासरूपोऽस्त्रियाम्" - (३.१.९४.) सूत्र के अनुसार इसे विकल्प प्राप्त ही था किन्तु सूत्रकार प्रकृत सूत्र में विभाषा शब्द का ग्रहण करते हैं, जो इसका प्रमाण है कि वे किसी नियम या व्यवस्था का संकेत कर रहे हैं। परिभाषेन्दुशेखर में यही नियम "नानुबन्धकृतमसारूप्यम्" द्वारा निर्दिष्ट है।

इस का अभिप्राय है कि अनुबन्धों के कारण प्रत्ययों में असमानता नहीं आती। इसीलिए ण और श प्रत्ययों में ण् और श् अनुबन्ध हैं। इनके कारण ये प्रत्यय असमान नहीं कहे जा सकते। दोनों में अ ही शेष रहता है। अतः दोनों प्रत्यय सरूप हैं, इनमें वैकल्पिक बाधकता नहीं मानी जा सकती। ण औत्सर्गिक है श प्रत्यय अपवाद है, जो ण का नित्य बाध करता है।

दा और धा धातु में दोनों अभीष्ट होने से सूत्रकार को विभाषा पद पढ़ना आवश्यक है।

❀❀❀

संख्यायाः अतिशदन्तायाः कन्
(५.१.२२)

संख्यावाचक शब्दों के अन्त में ति या शत् हो तो संख्या वाचक से कन् प्रत्यय नहीं होता। यहाँ संख्या पद कृत्रिम अर्थ का वाचक नहीं है। शास्त्र के नियमानुसार **"कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमस्यैव ग्रहणम्"** - अर्थात् शास्त्र में कोई शब्द कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों अर्थो का वाचक हो तो शास्त्रीय कार्य करते समय कृत्रिम अर्थ का ही ग्रहण होता है। जैसे - संख्या शब्द से एक, द्वि, त्रि आदि अकृत्रिम अर्थो का बोध भी होता है और "बहु गण वतुडति संख्या०" सूत्र से बहु, गण, वतु प्रत्ययान्त और डति प्रत्ययान्त इस कृत्रिम अर्थ का भी ग्रहण होता है। उपर्युक्त न्याय के अनुसार संख्या शब्द कृत्रिम अर्थ का अर्थात् बहु, गण, वतु और डति प्रत्ययान्त का बोधक होगा और इस प्रकार कोई संख्या वाचक शब्द ति या शदन्त उपलब्ध नहीं होगा। अतः त्यन्त और शदन्त संख्यावाचक को कन् का निषेध करना व्यर्थ है। यह व्यर्थता और त्यन्त तथा शदन्त संख्या का निषेध इस का ज्ञापक है कि - व्याकरण शास्त्र शब्दों से कभी कृत्रिम अर्थ का, कभी अकृत्रिम अर्थ का या कभी दोनों अर्थो का ग्रहण होता है। इसीलिए "कर्तरिकर्मव्यतिहारे०" में कर्म का अकृत्रिम अर्थ (क्रिया) है, "शब्दवैर कलहाभ्रकण्व मे घेभ्यः करणे०" - (३.१.१७.) में करण का अकृत्रिम अर्थ (क्रिया) वाच्य है। "तस्य परमाम्रेडितम्०" - (८.१.२.) में आमेडित पद केवल कृत्रिम अर्थ का ही वाचक होगा।

❀❀❀

स्थण्डिलाच्छयितरि व्रते
(४.२.१५)

सूत्र में शयितरि पद में शीङ् धातु के ईकार को सार्वधातुकार्धधातुकयोः से गुण और एचोऽयवायावः से अयादेश करने पर शयितृ शब्द की सप्तमी एकवचन में शयितरि रूप सिद्ध होता है। यहाँ शीङ् धातु ङित् होने पर भी सूत्रकार ने ईकार को गुण किया है - इससे ज्ञापित होता है कि किसी कार्य का स्थानी उस कार्य की कर्तव्यता में स्वयं निमित्त नहीं हो सकता। नागेश के शब्दों में - **"कार्यमनुवन् हि कार्यी निमित्ततया नाश्रीयते।"** सूत्रकार ने क्ङिति च सूत्र के द्वारा कित् या ङित् के परे गुण का निषेध किया है, किन्तु शीङ् में ङित् होने पर भी गुण कार्य करके शयितरि पद का प्रयोग करते हैं, जो उपर्युक्त परिभाषा को संकेतित करता है।

इस परिभाषा में यह ध्यातव्य है कि परिभाषा में कार्यी से तात्पर्य सम्पूर्ण स्थानी से नहीं है अपितु जितने अंश में कार्य हो रहा है उतना अंश ही कार्यी है वही उस कार्य की सम्पन्नता निमित्त नहीं बन सकता।

उदाहरणार्थ - उर्णुनविषति में उर्णु + इस् यह सन्नन्त प्रकृति है - इसमें सन्यङोः सूत्र से द्वित्व प्राप्त है यदि उर्णु + इस् सम्पूर्ण प्रकृति या कार्यी के एक अंश इस् को निमित्त न मानें तो द्विर्वचनडेचि सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकती थी।

वस्तुतः समवायिकरण और निमित्त कारण भिन्न - भिन्न ही होते हैं, यह तथ्य लोक में व शास्त्र में सर्व विदित ही है, अतः प्रकृत परिभाषा के लिए पाणिनि के सूत्र की ज्ञापकता आवश्यक नहीं है। भाष्यकार भी इसे लोक न्याय से ध्वनित किया है। (सूत्र द्विर्वचनेऽचि का भाष्य)

❀❀❀

ज्यदादीयसः
(६.४.१६०)

ज्यादादीयसः सूत्र में आत् ग्रहण से **"भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न"** यह परिभाषा ज्ञापित होती है।

ज्यादादीयसः सूत्र से ज्य पर ईयस् आने पर ई के स्थान पर आकार आदेश होकर ज्य + आयस् = ज्यायस् - यह इष्ट रूप सिद्ध होता है।

प्रकृत सूत्र में ज्याद ईयस कहने से भी ईयस् के ई के स्थान पर अन्तरतम् आ आदेश अन्यथा सिद्ध था। क्योंकि ज्य + ईयस् में ज्य के परे ईयस् के ई के स्थान पर अणुदित्० की सहायता से

दीर्घ आकार हो ही जाता। उसके लिए सूत्र में ज्यादात् कहने की आवश्यता नहीं थी। किन्तु सूत्रकार सूत्र में आत् का ग्रहण करके यह ज्ञापित करना चाहते हैं कि विधीयमान ह्रस्व अ से सवर्ण का ग्रहण नहीं होता है। इसी आधार पर परिभाषाकारों ने "भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहण न" परिभाषा का आरम्भ किया है। - (७.२.१०२.)

इस परिभाषार्थ की क्रियान्विति "त्यदादीनामः" आदि सूत्रों में परिलक्षित होती है। इदम इमम् इत्यादि प्रयोगों में त्यदादीनामः से इदम् के म को अ आदेश अतो गुणे से पर रूप होकर इद + अम् में दश्च सूत्र से द को म और अमि पूर्व से पूर्वरूप होकर इमम् रूप सिद्ध होता है। यदि प्रकृत परिभाषा न होती तो इदम् के मकार के स्थान पर, मवर्ण अनुनासिक होने के कारण अनुनासिक अकार आदेश की आपत्ति हो जाती।

इस परिभाषा का संकेत "अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः" - सूत्र के अप्रत्यय पद से भी प्राप्त हो जाता है। इसकी विस्तृत चर्चा परिभाषा खण्ड में की गई है।

❀❀❀

दिव उत् - ऋत - उत्
(४.२.१५) (६.१.१११)

इन सूत्रों का तपरकरण **"भाव्यभावोऽप्युकारः सवर्णान् गृह्णाति"** - परिभाषा का ज्ञापक है। इन सूत्रों के उ को तपरकरण होने के कारण "तपरस्तत्कालस्य" - सूत्र के द्वारा ह्रस्व उकार का ग्रहण ही होता है। वस्तुतः सूत्रकार जब भाव्यमान या विधीयमान से सवर्णों का ग्रहण नहीं होने का संकेत पूर्व परिभाषा के ज्ञापक सूत्र में दे चुके हैं, तब इस उ को तपरकरण व्यर्थ है, किन्तु व्यर्थत्वात् यह ज्ञापित होता है कि भाव्यमान उकार सवर्णो का ग्रहण करता है यदि कहीं उकार से सवर्णो का ग्रहण अभीष्ट नहीं है तो तपरकरण किया जाए।

विधीयमान उकार में सवर्ण ग्रहण का सामर्थ्य है इसीलिए अमू इत्यादि उदाहरणों में अदस् + औ में त्यदादीनामः और अतो गुणे सूत्र प्रवृत्त कर अद + और में वृद्धि होकर (वृद्धिरेचि) अदौ रूप बनता है। यहाँ अदसोसेर्दादुदोमः से द के स्थान पर म और औ के स्थान पर दीर्घ ऊ होकर अमू रूप सिद्ध होता है। यदि सूत्र पठित ह्रस्व उकार से दीर्घ ऊकार का ग्रहण न होता तो औ के स्थान पर ह्रस्व उ होकर अमु - यह विकृत रूप सिद्ध हो जाता।

अतः सूत्रकार को यह परिभाषा अभीष्ट होगी।

❀❀❀

अतः कृ कमि कंस कुम्भपात्र कुशा कर्णीष्वनव्ययस्य (८.३.४६)

कैयटादि के मत से यह सम्पूर्ण सूत्र **"उणादयो ऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि"** - इस परिभाषा का ज्ञापक है। प्रकृत सूत्र में कमि शब्द का ग्रहण है तब पुनः उसी कमि शब्द से निष्पन्न कंस शब्द का ग्रहण करना व्यर्थ है क्योंकि कंस शब्द में कम् धातु से उणादि का स प्रत्यय है, अतः कमि से कंस का ग्रहण हो सकता है किन्तु सूत्रकार कंस का पृथक् ग्रहण करते हैं, जिससे ज्ञापित होता है कि कंस शब्द स्वतन्त्र प्रकृति है। उणादि प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों को अव्युत्पन्न प्रातिपदिक मानना चाहिए।

आचार्य शाकटायन यद्यपि सभी प्रातिपदिकों को व्युत्पन्न मानते हैं। पाणिनि को उणादि प्रातिपदिकों के विषय में अव्युस्पति पक्ष ही मान्य है।

❀❀❀

हृदयस्य हृल्लेखयदण् लासेष्विति (६.३.५०)

इस सूत्र में पठित लेख शब्द **"उत्तरपदाधिकारे प्रत्यय ग्रहणे न तदन्त ग्रहणम्"** - परिभाषा का ज्ञापक है। सूत्र में अण् प्रत्यय का उल्लेख है, इससे अण् प्रत्ययान्त का ग्रहण अन्यथा सिद्ध है, अतः अण्णन्त लेख शब्द का उल्लेख करना आवश्यक नहीं है, किन्तु सूत्रकार इसके द्वारा यह ज्ञापित करना चाहते हैं कि उत्तर पदाधिकार में प्रत्यय से प्रत्ययान्त का ग्रहण नहीं होता। प्रत्यय केवल प्रत्यय का ही बोधक होता है। इसीलिए कुमारी ब्राह्मणीरूपा इत्यादि उदाहरणों में "घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्यानेकाचो ह्रस्वः" - सूत्र से कुमारी को ह्रस्व नहीं होता। अन्यथा रूपप् प्रत्यय से रूपप् प्रत्ययान्त ब्राह्मणिरूपा शब्द परे रहते कुमारी में ह्रस्व की प्रवृत्ति हो जाती और कुमारि ब्राह्मणीरूप यह अनिष्ट रूप सिद्ध हो जाता। प्रकृत सूत्र में अण् और लेख के पृथक् - पृथक् उल्लेख से संकेतित परिभाषा के द्वारा "घरूपकल्प०" सूत्र उत्तर पदाधिकार में पठित होने से कुमारी के अन्तिम ईकार को ह्रस्व नहीं होता।

❀❀❀

सुप्तिङन्तं पदम् (१.४.१४)

प्रकृत सूत्र में "सुप्तिङ् पदम्" कहने पर भी प्रत्यय के द्वारा प्रत्ययान्त का ग्रहण होकर "सुबन्तं तिङन्तं च पद संज्ञं स्यात्" - यह अर्थ निष्पन्न हो जाता है। किन्तु सूत्रकार को यह नियम

ज्ञात रहा होगा कि संज्ञा विधायक सूत्रों में पठित प्रत्यय से प्रत्ययान्त का ग्रहण नहीं होता अर्थात् **"संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्त ग्रहणं नास्ति"** - इस परिभाषा से वे अवगत थे। अतः प्रकृत सूत्र में अन्तः शब्द का ग्रहण करना पड़ा। इस परिभाषा के कारण ही "तरप् तमपौ घः" सूत्र से विहित घ संज्ञा तरबन्त और तमबन्त को नहीं होती। अन्यथा यदि प्रत्यय ग्रहण परिभाषा से तरबन्त और तमबन्त की ध संज्ञा होती तो गौरी ब्राह्मणितरा इत्यादि उदाहरणों में गौरी शब्द से परे तरबन्त ब्राह्मणितरा शब्द आने पर गौरी के अन्त्य ईकार को ह्रस्व की प्रसक्ति (घरूपकल्पचेलड्० - ६.३.४३.) हो जाती और अनिष्ट रूप की आपत्ति हो जाती।

❀❀❀

गतिरनन्तरः
(६.२.४९)

गतिरनन्तरः - (६.२.४९.) सूत्र से कर्मणि क्तान्त उत्तरपद होने पर उससे तत्काल पूर्व में विद्यमान गतिसंज्ञक को प्रकृतिस्वर का विधान होता है। उदाहरणार्थ -

उद् उपसर्ग का "हृतम्" इस क्तान्त पद के साथ "कुगतिप्रादयः" - (२.२.१८.) सूत्र से समास होता है और समासोत्तर "समासस्थ" - (६.१.२२३.) सूत्र से "उद्धृतम्" अन्तोदात्त सामासिक शब्द सिद्ध होता है। उद्धृतम् का पुनः अभि के साथ समास (कुगति०) करने पर "अभ्युद्धृतम्" में अभि पूर्वपद है, इसे क्तान्त उत्तर पद से पूर्व मानकर प्रकृति स्वर प्राप्त होता है जिसके बाधनार्थ सूत्र में अनन्तर ग्रहण होता है। अनन्तर ग्रहण के सामर्थ्य से क्तान्त उत्तरपद के तत्काल पूर्व में विद्यमान उद् को ही प्रकृति स्वर किया जाता है। अभि को नहीं क्योंकि "अभि" क्तान्त उत्तरपद "हृतम्" के तत्काल पूर्व में नहीं है, बीच में उद् का व्यवधान है।

सारांश "अभ्युद्धृतम्" में उद् को प्रकृतिस्वर के विधान के लिए "अनन्तरः" शब्द पठित है।

परिभाषाग्रन्थकारों ने इस प्रसङ्ग में अनन्तरः शब्द को **"कृद्ग्रहणे गतिकारक पूर्वस्यापि ग्रहणम्"** परिभाषा का ज्ञापक माना है। सूत्र पठित किसी पद को परिभाषा का ज्ञापक तभी माना जाता है, जब वह परिभाषा की अविद्यमानता में व्यर्थ प्रतीत होता है। अनन्तर पद भी परिभाषा के अभाव में व्यर्थ है। मात्र "गतिः" सूत्रारम्भ होने पर भी उद्धृतम् को आद्युदात्त विधान हो जाता। अभि के साथ उद्धृतम् का समास करने पर "गति कारकोपपदात् कृत्" - (६.२.१३९.) सूत्र से उद् का आद्युदात्तत्व यथावत् रहता। (गतिकारकोपपदात्० सूत्र का आशय है - गतिपूर्व क्तान्त शब्द कारक के बाद होने पर ही वह समास अन्तोदात्त होता है। अभि + उद्धृतम् में उद्धृतम् यह गतिपूर्वक क्तान्त शब्द अभि के उत्तर में है, कारक के नहीं। अतः प्रकृत सूत्र की यहाँ प्रवृत्ति नहीं है।)

निष्कर्षतः "गतिः" सूत्र से भी उद् का आद्युदात्तत्व यथावस्थित रहता है तथापि सूत्रकार को अनन्तर ग्रहण की आवश्यकता प्रतीत हुई। इससे ज्ञापित होता है कि सूत्रकार को **"कृद्ग्रहणे गतिकारक पूर्वस्यापि ग्रहणम्"** - परिभाषा स्वीकार्य होगी। प्रकृत परिभाषा से "उद्धृतम्" - यह सम्पूर्ण शब्द क्तान्त सिद्ध होता है। यदि मात्र "गतिः" सूत्रारम्भ होता तो उद्धृतम् के पर पूर्ववर्ती गतिसंज्ञक "अभि" को प्रकृति स्वर की प्राप्ति हो जाती। इसके निवारणार्थ आचार्य पाणिनि अनन्तरः शब्द का पाठ करते हैं। अनन्तर ग्रहण के सामर्थ्य से अभि को प्रकृति स्वर की निवृत्ति संभव होती है।

❀❀❀

पूर्वादिनिः, सपूर्वाच्च
(५.२.८६), (५.२.८७)

अष्टाध्यायी में सूत्रकार ने "पूर्वादिनिः" - (५.२.८६.) सूत्र से पूर्व शब्द को इनि प्रत्यय का विधान किया है और पूर्वी शब्द की सिद्धि की है। इसके अनन्तर द्वितीय सूत्र में "सपूर्वाच्च" - (५.२.८७.) कहकर "पूर्व" - शब्द के पूर्व में कोई शब्द होने पर अर्थात् पूर्वान्त शब्द से भी इनि का विधान किया है। इस प्रसङ्ग में सूत्रकार एक ही सूत्र के द्वारा उपर्युक्त लक्ष्य की सिद्धि कर सकते थे। "पूर्वात् सपूर्वादिनि" इसप्रकार सूत्रारम्भ के द्वारा पूर्वान्त शब्द से इनि प्रत्यय विहित होता और व्यपदेशिवद् भाव के द्वारा केवल पूर्व शब्द से भी इनि की सिद्धि हो सकती थी। किन्तु सूत्रकार ने दो पृथक् - पृथक् सूत्रों का आरम्भ करते हुए यह माना है कि एक ही सूत्र का पाठ करने पर केवल पूर्व शब्द से इनि प्रत्यय नहीं हो सकता क्योंकि व्यपदेशिवद् भाव की प्रवृत्ति प्रातिपदिक में नहीं होती। इसी आशयं से परिभाषाकारों ने **"व्यपदेशिवद्भावो ऽ प्रातिपदिकेन"** परिभाषा का पाठ किया है। "पूर्वात् - सपूर्वादिनिः" - इस योग विभाग के द्वारा आचार्य पाणिनि भी इस परिभाषा को ज्ञापित करना चाहते हैं।

इस प्रसङ्ग में कतिपय वैयाकरणों का मन्तव्य है कि "इष्टादिभ्यश्च" - (५.२.८८.) सूत्र से इष्टादिगण पठित शब्दों को इनि प्रत्यय होता है। यदि इष्टादिगण में पूर्व शब्द का पाठ किया जाता तो पूर्व से इनि की सिद्धि हो जाती और पूर्वी आदि रूप सिद्ध हो जाते किन्तु केवल पूर्वान्त शब्दों से इनि की प्रवृत्ति न हो पाती जिसके फलस्वरूप कृतपूर्वी आदि प्रयोगों की निष्पत्ति नहीं हो पाती। इसकी निष्पत्ति के लिए सूत्रकार ने "पूर्वादिनिः सपूर्वाच्च" यह योगविभाग किया है। योग विभाग सामर्थ्य से इष्टादिभ्यश्च सूत्र में सपूर्वाच्च की अनुवृत्ति होती है और कृतपूर्वी आदि रूप सिद्ध होते हैं।

सिद्धान्ततः यह प्रतिपाद्य है कि "व्यपदेशिवद्भावो ऽप्रातिपदिकेन" परिभाषा पाणिनि को स्वीकार्य थी। इसका ज्ञापक प्रमाण किस सूत्र में प्राप्त होता है यह गवेषणा का विषय है। नागेश भट्ट स्पष्ट रूप से पूर्वात् सपूर्वादिनिः सूत्रों के योग विभाग को इसका ज्ञापक मानते हैं।

(पूर्वात् सपूर्वादिनिरित्येकयोग एव कर्तव्ये पृथग्योगकरणमस्याज्ञापकम्)

भूतिकार महामहोपाध्याय श्री तात्याशास्त्री पटवर्धन के शब्दों में योगविभाग (पूर्वादिनिः - सपूर्वाच्च) को परिभाषा का ज्ञापक न मानकर इष्टादि गण में पूर्व शब्द को न पढ़ते हुए "पूर्वादिनिः सपूर्वाच्च" सूत्रारम्भ करना परिभाषा का ज्ञापक माना जा सकता है।

(गणे पूर्वशब्दं प्रपठ्य इष्टाद्यन्तेभ्य इनिरिति वक्तव्ये पूर्वादिनिः सपूर्वाच्चेति सूत्रकरणमस्या ज्ञापकम्)

❀❀❀

क्षियो दीर्घात्
(८.२.४६)

"क्षियो दीर्घात्" - (८.२.४६.) सूत्र में क्षियः प्रयोग के साधुत्व के सम्बन्ध में यह आशङ्का उपस्थित होती है कि इसमें इयङ् आदेश किस सूत्र से किया गया है ? सूत्रकार ने इयङ् आदेश विधायक "अचि श्नुधातुभ्रुवाम्०" - (६.४.७७.) में धातु के इकार - उकार को अच् के परे रहते क्रमशः इयङ् और उवङ् का विधान किया है। "क्षियः" प्रयोग में क्षि धातु न होकर धातु का अनुकरण वाचक शब्द है इसमें इयङ् आदेश नहीं हो सकता। तथापि आचार्य पाणिनि धातु के अनुकरण वाचक शब्द को भी धातुवत् मानकर इयङ् आदेश की अनुमति देते हैं। इससे ज्ञापित होता है कि अनुकरण वाचक शब्द भी अनुकार्य के समान अर्थात् प्रकृति के समान माना जाता है। इसी अर्थ में **"प्रकृतिवदनुकरणं भवति"** परिभाषा पठित की जाती है।

"क्षियो दीर्घात्" - (८.२.४६.) सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने इसका उल्लेख किया है और इसे अनित्य भी कहा है। अनित्य मानने का कारण यह है कि धातु के अनुकरण धातु मानकर इयङ् आदेश होता है। इस नियम के अनुसार धातु की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होनी चाहिए। किन्तु क्षि में इयङ् आदेश के बाद उसकी प्रातिपदिक संज्ञा भी होती है और षष्ठी एक वचन में क्षियः रूप की निष्पत्ति होती है। इस प्रक्रिया से सिद्ध होता है कि "प्रकृति वदनुकरणं भवति" नियम अनित्य है। क्षि धातु के अनुकरण को अनुकार्य के समान मानकर धातु का कार्य होता है और अनुकार्य से भिन्न मानकर उसमें अधातुत्व की कल्पना से प्रातिपदिकत्व की सिद्धि भी की जाती है।

❀❀❀

तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे बहुवचनस्य द्विवचनं नित्यम्
(१.२.६३)

प्रकृत सूत्र में "बहुवचनस्य" पद से परिभाषाकारों ने यह ज्ञापित किया है कि सभी द्वन्द्व विकल्प से एकवचनान्त अर्थात् समाहार द्वन्द्व होते हैं। **(सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद् भवति)** तिष्य नक्षत्र एक और पुनर्वसु नक्षत्र दो होते हैं। इनका द्वन्द्व समास करने पर स्वभावतः नित्य बहुवचन ही होता है।

सूत्र में पुनः "बहुवचनस्य" शब्द पठित करना व्यर्थ है। तथापि "बहुवचनस्य" के पाठ सामर्थ्य से उपर्युक्त परिभाषा ज्ञापित होती है। इसके फलस्वरूप तिष्य और पुनर्वसु का समाहार करने पर एकवचनान्त सामासिक रूप निष्पन्न होता है। उस स्थिति में प्रकृत सूत्र से द्विवचन की प्राप्ति नहीं होती। इसका अभिप्राय यह है कि तिष्य-पुनर्वसु का समाहार द्वन्द्व समास और इतरेतर द्वन्द्व - दोनों होते हैं। समाहार द्वन्द्व में तिष्यपुनर्वसु रूप सिद्ध होता है और इतरेतर द्वन्द्व में तिष्यपुनर्वसवः निषपन्न होता है। इस बहुवचनान्त सामासिक रूप में बहुवचन के स्थान पर द्विवचन होकर "तिष्यपुनर्वसू" प्रयोग सिद्ध होता है। परिभाषा ज्ञापित होने पर "बहुवचनस्य" पद चरितार्थ हो जाता है।

परिभाषाकार इस प्रसङ्ग में यह आशङ्का प्रकट करते हैं कि बहुवचनस्य पद से परिभाषा ध्वनित होने पर भी "बहुवचनस्य" की सार्थकता सिद्ध नही होती क्योंकि "जातिरप्राणिनाम्" - (2.4.6.) सूत्र से प्राणीवाचक न होने से तिष्य और पुनर्वसु नक्षत्रों का द्वन्द्व समाहार ही होता है - बहुवचनान्त या इतरेतर द्वन्द्व की प्राप्ति ही नहीं है। जब बहुवचन की प्राप्ति ही नहीं है तब सूत्र में बहुवचनस्य का कोई औचित्य नही है। नागेशभट्ट ने इसका समाधान करते हुए कहा है कि - बहुवचनस्य पद के पाठ सामर्थ्य से सूत्रकार यह भी ध्वनित करना चाहते हैं कि "जातिरप्राणिनाम्" सूत्र वैकल्पिक है और इस प्रकार वैकल्पिक होने से अप्राणीवाचकों का द्वन्द्व समास विकल्प से इतरेतर योगरूप भी होता है।

❀❀❀

(ङ) शास्त्रत्वावच्छिन्नोद्देश्यक अथवा बाधबीजप्रकरणस्थ परिभाषाओं के ज्ञापक सूत्र

वृद्धभ्यः स्यसनोः
(१.३.९२)

इस सूत्र से वृत्तादि पाँच धातुओं को स्य प्रत्यय के परे रहते विकल्प से परस्मैपद होता है। इस सूत्र में विभाषा पद की अनुवृत्ति कर परस्मैपद के प्रत्ययों का विकल्प विधान किया। यदि विकल्प विधान न भी करते तो भी धातु से (वृत्तादि धातुओं से) लृट् होने पर परत्वात् रूप विकरण होकर बाद में तिबादि प्रत्यय प्राप्त थे। यहाँ पर "अनुदात्तङित आत्मनेपदम्" - (१.३.१२.) इस नियामक सूत्र की प्रवृत्ति सम्भव न थी क्योंकि अनुदात्तेत् धातु और लकार के बीच स्य का व्यवधान है। अतः तिबादि प्रत्ययों की प्राप्ति स्वतः सिद्ध थी। उभय विध - तिबादिप्रत्ययों की प्रवृत्ति होकर आत्मने पद और परस्मैपद के रूप (वर्तिष्यते - वतिष्यति) अन्यथा सिद्ध थे। सूत्र में विभाषा पद का ग्रहण व्यर्थ था व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि धातु से होने वाले स्य आदि विकरण की अपेक्षा लृकार के स्थान पर होने वाले तिवादि प्रत्यय बलवत्तर होते हैं। अतः वृत्तादि धातुओं को "अनुदात्त ङितः" इस नियामक से आत्मने पद के प्रत्यय प्राप्त होते हैं। अर्थात् नियामक सूत्र की प्रवृत्ति प्रथम होती है और विकरण विधायक स्यतासी० - (३.१.३३.) आदि की प्रवृत्ति बाद में होती है। इसी अर्थ में नागेश ने **"विकरणेभ्यो नियमो बलीयान्"** - इस परिभाषा का उल्लेख किया है। परिभाषा ज्ञापित होने से वृत्तादि धातुओं से स्यविकरण के पूर्व नियामक सूत्र "अनुदात्त ङितः" प्रवृत्त होकर मात्र आत्मने पद की प्राप्ति होती, विकल्प से परस्मैपद की प्राप्ति न हो पाती किन्तु विभाषा पद के वल से अभीष्ट सिद्धि हो जाती है।

भाष्यकार "शतेः शितः" - (१.३.६०.) सूत्र के भाष्य में "वृद्भ्यः स्यसनोः" - (१.३.९२.) से भिन्न प्रकार की परिभाषा ध्वनित करते हैं। जिसका आशय है कि विकरण का व्यवधान होने पर भी नियामक सूत्रों की प्रवृत्ति हो जाती है। ("विकरण व्यवधाने ऽपि नियमः प्रवर्तते।") अतः वृत्तादि में स्य विकरण की पूर्व प्रवृत्ति होने पर भी अनुदात्त ङितः इस नियामक सूत्र की प्रवृत्ति होकर आत्मने पद की प्राप्ति हो जाती है, जिसे विकल्प करने हेतु "वृद्भ्यः स्यसनोः" सूत्र में विभाषा पद सार्थक है।

❀❀❀

वाह ऊठ्
(६.४.१३२)

"विश्वौहः" रूप की सिद्धि में विश्व उपपदपूर्वक ण्वि प्रत्ययान्त वाह् का शस् प्रत्यय के परे विश्व + वाह् + शस् इस स्थिति में वाह ऊठ् सूत्र से व् को सम्प्रसारण, सम्प्रसारणाच्च से पूर्वरूप होकर विश्व + उह् + शस् में "एत्येधत्यूठ्सू" - (६.१.८९.) सूत्र से वृद्धि होकर विश्वौहः रूप सिद्ध होता है। प्रकृत सूत्र के ऊठ् ग्रहण पर वैयाकरणों ने विचार किया है कि यदि ऊठ् ग्रहण न करते और केवल वाहः इतना ही सूत्र बनाते तो पूर्व सूत्र "वसोः सम्प्रसारणम्" से सम्प्रसारणम् की अनुवृत्ति होकर सम्पूर्ण सूत्र का अर्थ होता - भ संज्ञक वाह् को सम्प्रसारण होता है। उदाहरण स्वरूप विश्व + वाह् + शस् में व को सम्प्रसारण, सम्प्रसारणाच्च से पूर्वरूप पुगन्त लघूपधस्य च से उपधा गुण होकर विश्व + ओह् + शस् में वृद्धि एकादेश होकर विश्वौहः रूप सिद्ध हो सकता था। किन्तु अन्तरङ्ग कार्य की दृष्टि में बहिरङ्ग कार्य असिद्ध होता है, इस अर्थ की **"असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे"** परिभाषा की उपस्थिति के कारण सम्प्रसारण कार्य गुण की दृष्टि से बहिरङ्ग होने से असिद्ध हो जाता और विश्व + उह् + शस् स्थिति में "आद् गुणः" - (६.१.८७.) से गुण एकादेश होकर "विश्वोहः" इस अनिष्ट रूप की आपत्ति हो जाती। वाह ऊठ् सूत्र में ऊठ् ग्रहण के सामर्थ्य से सम्प्रसारण असिद्ध नहीं होता। "एत्येधत्यूठ्सु" - (६.१.८९.) सूत्र से वृद्धि रूप एकादेश होकर विश्वौहः रूप की सिद्धि हो जाती है।

नागेश भट्ट ने इस परिभाषा को लोक न्याय सिद्ध भी कहा है।

❀❀❀

षत्वतुकोरसिद्धः
(६.१.८६)

इस सूत्र का तुग् ग्रहण **"नाजानन्तर्ये बहिष्ट्व प्रक्लृप्ति०"** - परिभाषा का ज्ञापक है। सूत्र के अनुसार षत्व और तुक् विधि की कर्तव्यता में एकादेश असिद्ध होता है। उदाहरणार्थ - "को ऽसिचत्" इत्यादि प्रयोगों में "ओकारके बाद सिचत्" के सकार को "आदेश प्रत्यययो" - (८.३.५९.) से षत्व प्राप्त होता है। (सिच् धातु मूलतः तुदादिगण में

"षिच् क्षरणे" - इस रूप में षकारादि पठित है। उसे धात्वादेः षः से एत्व होता है। इस प्रकार सकार आदिष्ट होने से आदेश प्रत्यययोः से षत्व की प्राप्ति होती है।) प्रकृत सूत्र से षत्व की कर्तव्यता में एकादेश (पूर्वरूप एकादेश) असिद्ध होने के कारण ओकार और सकार के मध्य अकार का व्यवधान उपस्थित हो जाता है। और परिणाम स्वरूप षत्व बाधित होता है। इसी प्रकार अधीत्य इत्यादि उदाहरणों में "अधि + इ + त्वा" इस स्थिति में धातु और उपसर्ग का समास अन्तरङ्ग होने से पहले होता है। समास करने पर सवर्ण दीर्घ "अकः सवर्णे दीर्घः" - (६.१.१०१.) होकर अधी + त्वा में त्वा को त्यप् आदेश सूत्र "समासे ऽनञ्पूर्वे क्त्वोल्र्यप्" - (७.१.३७.) होकर अधीय यह अशुद्ध रूप सिद्ध होता है। प्रकृत सूत्र से तुगागम की दृष्टि से सवर्णदीर्घ एकादेश असिद्ध होकर अधि + इ + त्यप् में इ को तुगागम (ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् - ६.१.७१.) हो जाता है और अधीत्य आदि रूपों की सिद्धि हो जाती है।

प्रकृत सूत्र में तुगागम की दृष्टि से एकादेश को असिद्ध किया गया है जो अनावश्यक है। अधि + इ + ल्यप् में एकादेश कार्य बहिरङ्ग है तथा तुगागम अन्तरङ्ग है। अन्तरङ्ग की अपेक्षा बहिरङ्ग असिद्ध होता है। "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्ग" - यह परिभाषा सूत्रकार को भी मान्य है। ("वाह उठ्" - ६.४.१३२. सूत्र के ज्ञापन से) अतः अन्तरङ्ग तुगागम पहले होगा तत्पश्चात् सवर्ण दीर्घ रूप बहिरङ्ग की प्रवृत्ति होगी तथा अधीत्य यह अभीष्ट रूप की सिद्धि होगी। सूत्र में तुक् ग्रहण व्यर्थ है। सूत्रों में यदि कोई शब्द या पद व्यर्थ प्रतीत होता है तो वह निश्चित ही किसी परिभाषा का संकेत करता है। परिभाषाकारों ने इस तुग् ग्रहण के आधार पर यह परिभाषा ज्ञापित की है कि अच् से परे किसी निमित को मानकर अन्तरङ्ग कार्य भी हो तो वह अन्तरङ्ग कार्य बहिरङ्ग को असिद्ध नहीं करता। (नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः) इसीलिए "अक्षद्यूः" आदि प्रयोगों में अक्ष + दिव् + क्विप् + सु में क्विप् के परे "छ्वोः शूडनुनासिके च" - (६.४.१९.) से व् को ऊठ् होता है। अक्ष + दिऊ + स् (क्विप् सर्वापहारि लोप होता है।) में इकोयणचि से इ को यण् होकर अक्षद्यूः रूप सिद्ध होता है। यदि यहाँ अन्तरङ्ग यणादेश की दृष्टि में बहिरङ्ग यण् को असिद्ध माना जाता तो व् को होने वाला ऊठ् असिद्ध हो जाता और यणादेश की प्राप्ति ही न होती। अतः प्रकृत परिभाषा को मानना आवश्यक है। इसकी उपस्थिति या स्वीकृति मे ही "न लोपः सुस्वर संज्ञातुग्विधिषु कृति" - (८.२.२.) सूत्र का तुग्ग्रहण चरितार्थ होता है। अन्यथा वृत्रहन् + भ्याम् में "न लोपः०" - (८.२.७.) से न लोप करने के बाद तुगागम की दृष्टि में वह बहिरङ्ग होने से असिद्ध होता और तुगागम की स्वतः ही निवृत्ति हो जाती किन्तु प्रकृत परिभाषा के कारण न लोप बहिरङ्ग होने पर भी ह्रस्व अच् के तत्काल बाद वाले क्विप् को निमित्त मानकर प्राप्त तुगागम में न लोप को असिद्ध करने का सामर्थ्य नहीं है। अतः उसकी असिद्धि के लिए पाणिनि को "नलोपः सुप्स्वर संज्ञा०" सूत्र का आरम्भ करना पड़ा।

❀❀❀

प्रत्ययोत्तर पदयोश्च
(७.२.८७)

"प्रत्ययोत्तरपदयोश्च" - (७.२.८७.) सूत्र से "अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग्बाधते" परिभाषा ज्ञापित होती है। "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" परिभाषा की अपवाद स्वरूपा यह परिभाषा है। लुक् कार्य बहिरङ्ग होने पर भी अन्तरङ्ग कार्य विधायक सूत्र का बाधक होता है। उदाहरणार्थ - गोमत् प्रियः प्रयोग में "सुपो धातु प्रतिपदिकयोः" - (२.४.७१.) से सु का लुक् प्राप्त है और "हल्ड्याब्भ्यो०" - (६.१.६८.) से सु का लोप प्राप्त है। लुक् और लोप में लुक् कार्य बहिरङ्ग है अतः लोप के द्वारा "असिद्धं बहिरङ्गम्०" परिभाषा के बल से बाधित या असिद्ध होना चाहिए, किन्तु प्रकृत परिभाषा के कारण लुक् बाधित नहीं होता, लोप ही लुक् की दृष्टि से बाधित हो जाता है और "गौमत् प्रियः" रूप सिद्ध होता है। यदि यहाँ सु का हल्ङ्यादि० से लोप करते तो प्रत्यय लक्षण से प्रत्यय लक्षण के द्वारा सुप्त्व का अतिदेश कर "उपधादीर्घ" - (६.४.८.) "अत्वसन्तस्य०" - (६.४.१४.) की प्रसक्ति हो जाती।

सूत्रकार को प्रकृत परिभाषा स्वीकार्य रही होगी इसीलिए "प्रत्ययोत्तरपदयोश्च" सूत्र की आवश्यकता अनुभूत हुई। अन्यथा त्वया कृतम् = त्वत्कृतम् इत्यादि की सिद्धि के लिए प्रत्ययोत्तर० सूत्र की आवश्यकता न थी। त्वत्कृतम् में युष्मद् + टा + कृतम् स्थिति में "सुपो धातु०" - (२.४.७१.) सूत्र से प्राप्त टा प्रत्यय का लुक् पदद्वय निमित्तक होने से बहिरङ्ग है और मात्र टा को मानकर प्राप्त त्व - म आदेश ("त्वमावेकवचने" - ७.२.९७.) अन्तरङ्ग है। अतः "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" - परिभाषा के अनुसार अन्तरङ्ग कार्य प्रथम होता अर्थात् युष्म के स्थान पर त्व आदेश त्व + अद् + टा कृतम् स्थिति में सुपो धातु० सूत्र - (२.४.७१.) से टा का लुक् होकर त्वत्कृतम् सिद्ध हो सकता है। प्रत्ययोत्रपदयोश्च सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है तथापि आचार्य पाणिनि जानते थे कि टा लुक् बहिरङ्ग होने पर भी अन्तरङ्ग का बाध कर प्रथम होता है। टा का लुक् होने के बाद विभक्ति प्रत्यय सामने न होने से "त्वमावेकवचने" की प्रवृत्ति नहीं होगी और युष्म के स्थान पर त्व आदेश नहीं हो पाएगा। इसकी सिद्धि के लिए प्रत्ययोत्तरपदयोश्च चरितार्थ है।

प्रकृतप्रसङ्ग में शङ्काकार का यह कथन है कि प्रत्ययोत्तरपदयोश्च सूत्र को ज्ञापक न मानकर केवल उस सूत्र में "मपर्यन्तस्य" की अनुवृत्ति को प्रकृत परिभाषा का ज्ञापक माना जा सकता है। प्रत्ययोत्तरपदयोश्च सूत्र के अभाव में त्वत्कृतम् आदि तो सिद्ध हो जाएँगे किन्तु तव पुत्रः अर्थ में त्वपुत्रः प्रयोग सिद्ध नहीं हो पाएगा। यहाँ पर युष्म + अद् + पुत्रः में अन्तरङ्गत्वात् तव आदेश प्रथम हो जाएगा और विभक्ति का लुक् बहिरङ्ग होने से बाद में होगा। इस प्रकार त्वत्पुत्रः सिद्ध न होकर तवपुत्रः ही निष्पन्न होगा। इसके निवारणार्थ प्रत्ययोत्तर० सूत्र सार्थक है, अतः इसे ज्ञापक नहीं माना जा सकता। इसके स्थान पर मपर्यन्तस्य की अनुवृत्ति को ज्ञापक मान सकते हैं। उसे इस रूप में समझा जा सकता है कि "प्रत्ययोत्तरपदयोश्च" सूत्र "तवममौ ङसि" या "तुभ्यमह्यौ ङयि" का बाधक होने से **"उत्सर्ग समानदेशा अपवादा भवन्ति"** नियम के अनुसार तव ममादि आदेशों के समान त्व - म आदेश भी म पर्यन्त को ही होंगे। प्रत्ययोत्तर० सूत्र में पुनः मपर्यन्तस्य कहने की आवश्यकता नहीं है तथापि यदि सूत्रकार या व्याख्याकार मपर्यन्तस्य की

अनुवृत्ति करते हैं तो निश्चित रूप से वे यह ज्ञापित करते हैं कि लुक् बहिरङ्ग होने पर भी अन्तरङ्ग का बाधक होता है अर्थात् प्रथम होता है। जब विभक्ति का लुक् हो जाएगा तब प्रत्ययोत्तरपदयोश्च में "तवममौ ङसि" के प्रति अपवादत्व नहीं रहेगा। इसके फलस्वरूप "उत्सर्ग समान देशा०" न्याय भी प्रवृत्त नहीं हो पाएगा। सिद्धान्ततः मपर्यन्त को त्व - म आदेश की सिद्धि के लिए अनुवृत्ति आवश्यक है।

❀❀❀

नेन्द्रस्य परस्य
(७.३.२२)

"नेन्द्रस्य परस्य" - (७.३.२.) सूत्र वृद्धि निषेधक सूत्र है। "देवताद्वन्द्वे च" - (७.३.२१.) सूत्र से पूर्व पद और उत्तरपद के आदि अच् को ञित् कित् या णित् के परे रहते वृद्धि का विधान है। इसके अपवाद के रूप में "नेन्द्रस्य परस्य" सूत्र के द्वारा सोम + इन्द्र + अण् - स्थिति में उत्तर पद में इन्द्र शब्द रहने पर उसके आदि अच् को वृद्धि का निषेध किया गया है।

"असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" परिभाषा को स्वीकार करने पर प्रस्तुत सूत्र की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती क्योंकि सोम + इन्द्र + अण् में गुण एकादेश अन्तरङ्ग है और उभयपद वृद्धि बहिरङ्ग है। अन्तरङ्गत्वात् गुण एकादेश प्रथम करने पर उत्तर पद के आदि अच् का वृद्धि का प्रसङ्ग ही नहीं है। इस प्रकार नेन्द्रस्य परस्य सूत्र से उत्तरपद में विद्यमान इन्द्र के आदि अच् को वृद्धि निषेध व्यर्थ है। व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि पूर्वपद और उत्तरपद को निमित्त मानकर प्राप्त कार्य (जैसे - एकादेश आदि) अन्तरङ्ग होने पर भी बहिरङ्ग कार्य से प्रथम नहीं होता। **(पूर्वोत्तरपद निमित्त कार्यात् पूर्वमन्तरङ्गोप्येकादेशो न)** नागेश भट्ट ने इसी सूत्र के आधार पर उपर्युक्त परिभाषा ज्ञापित की है। ज्ञापित होने पर सोम + इन्द्र + अण् में एकादेश अन्तरङ्ग होने पर भी प्रथम नहीं होता अपितु "देवता द्वन्द्वे च" - (७.३.२१.) से उभय पद वृद्धि ही पहले प्राप्त है। उत्तर पद में इन्द्र के आदि अच् को वृद्धि अभीष्ट नहीं है। अतः नेन्द्रस्य परस्य सूत्र सार्थक है।

उक्त परिभाषा में एकादेश पद सन्धिकार्य का उपलक्षण है। इसीलिए रात्रि मटति अर्थ में रात्र्यटः और रात्रिमटः दोनों रूप सिद्ध होते हैं। इस प्रयोग में रात्रि उपपद पूर्वक अट् धातु से क प्रत्यय (मूलविभूजा दिभ्य उपसंख्यानम्), रात्रेः कृति विभाषा - (६.३.७२.) से रात्रि को मुमागम करने से रात्रिभटः सिद्ध होता है। रात्रि + अट् + क स्थिति में "इकोयणचि" - (६.१.७७.) से प्राप्त यणादेश अन्तरङ्ग होने पर भी प्रथम नहीं होता। मुमागम रूप कार्य बहिरङ्ग होने पर भी प्रकृत परिभाषा के सामर्थ्य से पहले होता है और रात्रिमटः रूप वैकल्पिक रूप से सिद्ध होता है। यदि पहले यणादेश करते तो उक्त रूप की सिद्धि संभव न थी।

निष्कर्षतः पूर्वोक्त परिभाषा पाणिनि सम्मत थी।

❀❀❀

अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति
(२.४.३६)

प्रकृत सूत्र से अद् धातु के स्थान पर जग्धि आदेश होता है ल्यप् प्रत्यय या कित् प्रत्यय परे रहने पर। उदाहरणार्थ - प्र + अद् + क्त्वा - स्थिति में अद् के स्थान पर जग्द आदेश और क्त्वा के स्थान पर "समासे ऽनञ्पूर्वे क्त्वोर्ल्यप्" - (७.१.३७.) सूत्र से ल्यप् आदेश होता है और प्रजग्ध्य रूप सिद्ध होता है। इस प्रसङ्ग में अदो जग्धि० सूत्र में पठित ल्यप् ग्रहण का प्रयोजन विचारणीय है। ल्यप् ग्रहण के अभाव में क्त्वा प्रत्यय के कित्व के आधार पर "अदो जग्धिर्किति" मात्र कहने से भी अद् के स्थान पर जग्धि आदेश सिद्ध हो सकता है ल्यप् ग्रहण व्यर्थ है। किन्तु सूत्र में किसी शब्द को व्यर्थ मानना युक्ति संगत नहीं है। अतः व्यर्थ होकर वह यह ज्ञापित कराता है कि प्र + अद् + क्त्वा स्थिति में क्त्वा के स्थान पर होने वाला ल्यप् आदेश बहिरङ्ग होने पर भी प्रथम होता है और जग्धि आदेश अन्तरङ्ग होकर भी बहिरङ्ग ल्यप् आदेश के द्वारा बाधित हो जाता है। इसी अर्थ में **"अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो ल्यब् बाधते"** - परिभाषा को ज्ञापित किया गया है। इस परिभाषा के अन्य उदाहरण प्र + धा + क्त्वा में प्रथम क्त्वा को ल्यप् आदेश हो जाता है और प्रधाय की सिद्धि हो जाती है। यदि असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे की बाधिका प्रस्तुत परिभाषा न होती तो "अन्तरङ्गत्वात्" पहले धा के स्थान पर "दधातेर्हि" - (७.४.४२.) सूत्र से हि आदेश हो जाता और बाद में क्त्वा को ल्यप् करने पर प्रहि + य में "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" - (६.१.७१.) सूत्र से तुगागम होकर "प्रहित्य" इस अनिष्ट रूप की सिद्धि हो जाती।

सूत्र में पठित "ल्यपि" ग्रहण की यही सार्थकता है। भाष्यकार ने एक श्लोक वार्तिक में उपर्युक्त अर्थ को प्रकट किया है।

जग्धौ सिद्धे ऽन्तरङ्गत्वात् तिकितीति ल्यबुच्यते
ज्ञापयत्यन्तरङ्गाणां ल्यपा भवति बाधनम् ॥

❀❀❀

अभ्यासस्यासवर्णे
(६.४.७८)

सूत्रार्थ - असवर्ण अच् के परे रहते अभ्यास को इयङ् आदेश होता है। जैसे - इ धातु का लिट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन में इ + इ + णल् की स्थिति में णल् के परे धातु को वृद्धि ("अचोञ्णिति" - ७.२.११५.) करने पर इ + ऐ + अ इ + आ + अ स्थिति में "अभ्यासस्यासवर्णे" सूत्र से अभ्यास के इ को इयङ् आदेश होकर इय् आय् अः-इयाय रूप सिद्ध होता है। प्रकृत सूत्र के औचित्य पर विचार करते हुए कतिपय वैयाकरणों का मत है कि सामान्यतः असिद्धम् परिभाषा की उपस्थिति में प्रकृत सूत्र व्यर्थ ही प्रतीत होता है क्योंकि कोई भी एकाच् धातु द्वित्व और हलादिशेष - (६.१.१८., ७.४.६०.) करने पर अभ्यास के परे असवर्ण अच् आने का प्रश्न ही

उपस्तित नहीं होता। इकारादि को द्वित्व करने पर इ + इ और उकारादि को द्वित्व करने पर उ + उ - ही दृष्टिगत होंगे, जो सवर्ण होने से इनमें सवर्ण दीर्घ की प्राप्ति होगी। अतः असवर्ण अच् प्राप्त ही नहीं हो सकता। यहाँ ध्यातव्य है कि सवर्णदीर्घ कार्य अन्तरङ्ग है और "अचि श्नु०" - (६.४.७७.) से प्राप्त इयङ् या उवङ् बहिरङ्ग है। अतः सवर्ण दीर्घ ही प्रथम होगा। निष्कर्षतः "अभ्यासस्यासवर्णे" सूत्र की प्रवृत्ति के लिए कहीं भी विषय नहीं है अतः सम्पूर्ण सूत्र व्यर्थ हो जाता है। किन्तु पाणिनि का कोई सूत्र व्यर्थ नहीं हो सकता। व्यर्थ प्रतीत होकर वह ज्ञापित कराता है कि अङ्गाधिकार में पठित कार्य बहिरङ्ग होने पर भी वार्णकार्यों की अपेक्षा अर्थात् सन्धि नियमों के अनुसार प्राप्त दीर्घादि कार्यो की अपेक्षा बलवान् होते हैं।

नागेश के शब्दों में "वार्णादाङ्गं बलीयो भवति"

परिभाषा ज्ञापित होने पर इयाय आदि रूपों में इ + इ + णल् की स्थिति में अङ्ग सम्बन्धी "अचोञ्णिति" से प्राप्त वृद्धि कार्य यद्यपि सवर्ण दीर्घ की अपेक्षा बहिरङ्ग है, तथापि परिभाषा के बल से प्रथम होता है। सवर्ण दीर्घ नहीं हो पाता और इ + ऐ + णल् में अभ्यासस्या० सूत्र से अभ्यास को इयङ्गादेश होकर तथा ऐ को आयादेश होतर इयाय रूप सिद्ध होता है।

परिभाषा ज्ञापित होने से अभ्यासस्या० सूत्र सार्थक सिद्ध हो जाता है।

❀❀❀

समर्थानां प्रथमाद् वा
(४.१.८२)

"समर्थानां प्रथमाद् वा" - (४.१.८२.) सूत्र में "पठितं समर्थानाम्" - पद से **"अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः"** - परिभाषा को ज्ञापित किया जाता है। सूत्र में समर्थानाम् पद का यह प्रयोजन है कि सूत्थित आदि प्रयोगों से सु + उत्थित में सन्धि कार्य प्रथम करने के बाद ही तद्धित प्रत्यय की उत्पत्ति करनी चाहिए। अन्यथा सु + उत्थित + इञ् (अत इञ् - ४.१.९५.) स्थिति में समर्थानाम् पद के सामर्थ्य से सवर्ण दीर्घ प्रथम होता है और "तद्धितेष्वचामादेः" - (७.२.११७.) से प्राप्त वृद्धि बाद में होती है तथा सौत्थितिः रूप सिद्ध होता है। इस स्थल पर समर्थानाम् पद के औचित्य पर विचार करने से प्रतीत होता है कि इसके अभाव में भी सवर्ण दीर्घ कार्य अन्तरङ्ग और आदि वृद्धि बहिरङ्ग होने से सवर्ण दीर्घ की ही पूर्व प्राप्ति है। "समर्थानाम्" का ग्रहण करना व्यर्थ है। यही व्यर्थता इस परिभाषा का संकेत कराती है - **"अकृतव्यूहा पाणिनीयाः"** - इस परिभाषा का आशय है कि पाणिनि के अनुयायी वैयाकरणों का यह मत है कि यदि प्राप्त होने वाले बहिरङ्ग कार्य के द्वारा पूर्व में सम्पन्न अन्तरङ्ग कार्य का निमित्त नष्ट होता हो तो ऐसा अन्तरङ्ग कार्य नहीं करना चाहिए। सिद्धान्त कौमुदीकार के शब्दों में - "निमित्तं विनाशोन्मुखं दृष्ट्वा तत्प्रयुक्तं कार्यं न कुर्वन्ति।"

प्रकृत उदाहरण में सु + उत्थित + इञ् में बहिरङ्ग आदि वृद्धि के द्वारा अन्तरङ्ग सवर्ण दीर्घ के निमित्त का नाश संभावित है। अतः अन्तरङ्ग होने पर भी सवर्ण - दीर्घ कार्य नहीं किया जाता, बहिरङ्ग कार्य ही किया जाता है। इस सामान्य नियम के अनुसार यदि बहिरङ्ग कार्य पहले करते हैं तो अनिष्ट प्रयोग की आपत्ति होती है। इसके निवारणार्थ प्रकृत परिभाषारम्भ है। इस परिभाषा का संकेत समर्थानाम् पद से प्राप्त होता है।

सिद्धान्ततः भाष्यकार ने और उसी आधार पर परिभाषाकार नागेश भट्ट ने इस परिभाषा का खण्डन किया है। भाष्यकार के अनुसार प्रकृत स्थल में "असिद्धं बहिरङ्गम्" - परिभाषा की प्रवृत्ति ही नहीं होती क्योंकि यह परिभाषा वहीं प्रवृत्त होती है जहाँ बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग कार्य युगपत् प्राप्त है अथवा बहिरङ्ग कार्य पूर्व में हो चुका है।

"जातं तत्काल प्राप्तिकं च बहिरङ्गमसिद्धम्"

❀❀❀

दीर्घो ऽकितः
(७.४.८३)

सूत्रार्थ - अकित् अभ्यास को दीर्घ का विधान होता है। सूत्र में अकित् ग्रहण का यह प्रयोजन है कि कित् अभ्यास को दीर्घ न हो। जैसे - यंयम्यते उदाहरण में अदन्त अभ्यास को "नुगतोऽनुनासिकान्तस्य" सूत्र से नुगगम किया गया। नुगागम के कारण अभ्यास में कित्व धर्म आ जाने से दीर्घोऽकितः सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती और यंयम्यते रूप सिद्ध होता है। यदि सूत्र में अकित् ग्रहण न करें तो अभ्यास को दीर्घ होकर यायंम्यते - इस अनिष्ट रूप की आपत्ति हो जाएगी।

परिभाषा ग्रन्थकारों ने प्रस्तुत सूत्र में पठित अकित् ग्रहण के प्रयोजन पर विचार करते हुए उसे व्यर्थ घोषित किया है। यंयम्यते आदि उदाहरणों में नुगागम करने के बाद अभ्यास अजन्त न मिलने के कारण दीर्घ की प्राप्ति ही नहीं है। अतः "प्राप्तौ सत्यां निषेधः" न्याय से दीर्घ की प्राप्ति ही नहीं है तो निषेध का क्या प्रयोजन ? अकित् ग्रहण की यह व्यर्थता ही **"अभ्यासविकारेषु बाध्य बाधक भावो नास्ति"** - परिभाषा को ज्ञापित कराती है।

यंयम्यते में "नुगतोऽनुनासिकान्तस्य" - (७.४.८५.) सूत्र से नुमागम और "दीर्घो ऽकितः" - (७.४.८३.) से दीर्घ - दोनों कार्यो की युगपत् प्राप्ति है। नुगागम विधायक सूत्र पर और अपवाद होने के कारण दीर्घ के पूर्व ही प्रवृत्त होता और नुगागम होने के बाद यन् अभ्यास में अजन्तत्व नष्ट हो जाने से दीर्घ की प्राप्ति ही न थी। अतः दीर्घो ऽकितः के स्थान पर केवल "दीर्घः" सूत्रारम्भ से भी इष्ट सिद्ध हो सकता था। तथापि सूत्रकार अकित् ग्रहण करते हैं - इससे यह ज्ञापित होता है कि - अभ्यास विकारों में बाध्य-बाधक भाव नहीं होता। "नुगतोऽनुनासिकान्तस्य" और "दीर्घो ऽकितः" सूत्र अभ्यास विकार से संबद्ध है। परिभाषा के अनुसार इनमें बाध्यबाधक भाव नहीं अतः नुगत० सूत्र से अभ्यास को पहले नुमागम करने पर अभ्यास "यन्" हो जाता है।

इसके पश्चात् दीर्घ कार्य भी प्रवृत्त होकर अभ्यास को दीर्घ का विधान कर सकता है। यदि दीर्घ करते हैं तब "यायंभ्यते" - यह अनिष्ट रूप सिद्ध होता है। इसके निवारणार्थ सूत्र में अकित् ग्रहण सार्थक है।

❀❀❀

निन्दहिंसक्लिशखादविनाश परिक्षिप-परिरट् परिवादि-व्याभाषा-सूञोवुञ् (३.२.१४६)

प्रकृत सूत्र से निन्द, हिंस, क्लिश और खाद धातुओं से तच्छीलादि अर्थ में वुञ् प्रत्यय होता है और निन्दकः, हिंसकः, क्लेशकः और खादकः रूपों की सिद्धि होती है। इन रूपों की सिद्धि ण्वुल्तृचौ - (३.१.१३३.) सूत्र से भी संभव थी। तथापि इसकी सिद्धि के लिए पृथक् सूत्रारम्भ करते हुए सूत्रकार यह ज्ञापित करना चाहते हैं कि तच्छीलादि अर्थो में वासरूपविधि नहीं होती। **(ताच्छीलिकेषु वासरूपविधिर्नास्ति)** ण्वुल् और वुञ् प्रत्ययों में अनुबन्धों के भेद से स्वरों में भेद हो सकता है यह आशङ्का नहीं करनी चाहिए क्योंकि ण्वुल् प्रत्यय के लित् के कारण और वुञ् के ञित् के कारण स्वर स्वर संबंधी कोई भेद नहीं होता। "लिति" - (६.१.१९३.) सूत्र से लित् के परे धातु का स्वर उदात्त होता है। चूँकि निन्द, हिन्स् आदि सभी धातुएँ एकाच् हैं, अतः वही उदात्त होगा। वुञ् प्रत्यय करने पर "ञ्निर्नित्यादिर्नित्यम्" - (६.१.१९७.) सूत्र से ञिदन्त या निदन्त का आदि अच् उदात्त होता है। सारांशतः धातु का स्वर उदात्त ही रहता है। वुञ् और ण्वुल् प्रत्ययों से स्वर में कोई अन्तर नहीं आता।

निष्कर्षतः निन्दहिंस० सूत्र का आरम्भ व्यर्थ प्रतीत होता है। व्यर्थ होकर वह ज्ञापित करता है कि ताच्छील्यादि अर्थों में विहित अपवादस्वरूप तृन् इत्यादि प्रत्यय उत्सर्ग रूप ण्वुल् से असरूप होने पर भी विकल्प से बाधक नहीं होते अपितु नित्य बाधक होते हैं। अर्थात् "वासरूपो ऽस्त्रियाम्" - (३.१.९४.) सूत्र की अपवादात्मक यह परिभाषा कही जा सकती है। परिभाषा के परिणामस्वरूप निन्दहिंस इत्यादि धातुओं को तच्छीलादि अर्थो में तृन् - (३.२.१३५.) होने के बाद ण्वुल् उत्सर्ग प्रत्यय का नित्य बाध होता है और निन्दकः आदि रूपों की सिद्धि सम्भव नहीं होती। भाषा में निन्दकः, हिंसकः आदि रूपों की सिद्धि के लिए पृथक् सूत्रारम्भ करना आवश्यक है। अतः सूत्रकार ने "निन्दहिंसक्लिशखाद०" - (३.२.१४६.) सूत्र का पाठ किया है। उपर्युक्त परिभाषा को ज्ञापित करने पर ही सूत्र की चरितार्थता है।

❀❀❀

हशश्वतोर्लङ् च
(३.२.११६)

प्रकृत सूत्र में ह और शश्वत् शब्दों का प्रयोग होने पर लङ् और लिट् लकार का विधान किया गया हैं। सूत्र में विहित लङ् लकार से यह ज्ञापित होता है कि लादेशों में वासरूप विधि नही होती। "अनद्यतने लङ्" - (3.2.31.) सूत्र से अनद्यतन भूत काल के अर्थ औत्सर्गिक लङ् का विधान है। इसका बाधक सूत्र "परोक्षे लिट्" - (3.2.35.) है जिसके अनुसार परोक्ष भूत अर्थ में लिट् लकार होता है। "वासरूपोऽस्त्रियाम्" - (3.1.94.) सूत्र के अनुसार अपवाद स्वरूप लिट् असरूप होने से लङ् का विकल्प से बाधक होता है। अतः लिट् के अभाव में लङ् की स्वभावतः प्राप्ति हो जाती। प्रकृत सूत्र से पुनः लङ् का विधान करना व्यर्थ है। व्यर्थ होने से "लादेशेषु वासरूपविधिर्नास्ति" परिभाषा का संकेत प्राप्त होता है। परिभाषा के कारण ही श्वःपक्ता आदि प्रयोगों में पच् धातु से अनद्यतन भविष्य अर्थ में लुट् ("अनद्यतने लुट्" - 3.3.15.) लकार सामान्य भविष्य काल के अर्थ में विहित लृट् का नित्य बाधक होता है। यदि लकारों में वासरूप - परिभाषा प्रवृत होती तो लृट् लकार के स्थान पर आदिष्ट, स्यति, स्यतः, स्यन्ति और लुट् के स्थान पर होने वाले ता, तारौ, तारः में असारूप्य होने के कारण लुट् स्थानिक आदेश स्यति-स्यतः आदि आदेशों के विकल्प से बाधक हो जाते। इसके फलस्वरूप अनद्यतन भूत अर्थ में श्वः पक्ता और श्वः पक्ष्यति - इन दोनो रूपों की विकल्प से प्राप्ति हो जाती। श्वः पक्ता के स्थान पर श्वः पक्ष्यति रूप भी सिद्ध न हो जाए इस हेतु वासरूप० विधि को लादेशो में प्रतिबंधित करना आवश्यक है। **"लादेशेषु वासरूपविधिर्नास्ति"** परिभाषा का यही फल है।

❀❀❀

(उ) तन्त्रशेष प्रकरणस्थ परिभाषाओं के ज्ञापक सूत्र
कुमारः श्रमणादिभिः
(२.१.७०)

इस सूत्र में पठित स्त्रीलिङ्ग श्रमणा पाठ इस परिभाषा का ज्ञापक है कि - **"प्रातिपदिक ग्रहणे लिङ्ग विशिष्टस्यापि ग्रहणम् ।"** - परिभाषा का तात्पर्य है - यदि किसी सूत्र में प्रातिपदिक का ग्रहण किया गया हो तो उस प्रातिपदिक से लिङ्गविशिष्ट प्रातिपदिक का भी ग्रहण करना चाहिए। जैसे - "अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्णनत्व्यस्य" - सूत्र में कुम्भ शब्द से कुम्भी का भी ग्रहण होकर अयः कुम्भी में विसर्ग को सत्व होता है और अयस्कुम्भी प्रयोग सिद्ध होता है।

सूत्रकार इस परिभाषा से परिचित थे इसीलिये कुमार श्रमणादिभिः सूत्र में श्रमणा - यह स्त्री प्रत्ययान्त शब्द पठित है। श्रमणादि गण में श्रमणा, प्रव्रजिता, कुलटा, गर्भिणी, तापसी, दासी और बन्धकी ये स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द पठित हैं। प्रकृत सूत्र समानाधिकरण के अधिकार में पठित हैं। अतः स्त्रीप्रत्ययान्त श्रमणा शब्द का समानाधिकरण कुमारी के साथ ही हो सकता है। सूत्र में यद्यपि कुमारः शब्द पठित है किन्तु प्रकृत परिभाषा के बल से कुमार शब्द से कुमारी शब्द का भी ग्रहण होता है।

"ङ्याप् प्रातिपदिकात्" - (४.१.१.) सूत्र के भाष्य में इस परिभाषा की कतिपय स्थानों पर अप्रवृत्ति बताई गई है। जैसे - "द्विषत् परयोस्तापे:" - (३.२.३९.) सूत्र से द्विषत् और पर उपपद होने पर तप् को खच् विहित है, यहाँ द्विषत् और पर से द्विषती और परा इन स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों का ग्रहण अभीष्ट नहीं है अत: द्विषती + ताप: में खच् न होने से द्विषती ताप: और पराताप: रूप ही सिद्ध होंगे। (द्रष्टव्य ङ्याप् प्रातिपदिकात् - ४.१.१. सूत्र का भाष्य)

❀❀❀

अर्धं नपुंसकम्
(२.२.२)

इस सूत्र का नपुंसक ग्रहण ज्ञापित करता है कि **"सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्"** - अर्थात् सूत्र में लिङ्ग और वचन विवक्षित नहीं होंगे। लिङ्ग और वचन के बिना शब्द प्रयोग संभव नहीं, अत: सूत्र में कोई न कोई लिङ्ग और वचन प्रयुक्त करना होगा किन्तु लक्ष्य सिद्धि के समय उन लिङ्ग और वचन की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। इसीलिए "तस्यापत्यम्" - (४.१.९२.) सूत्र में एकवचन नपुंसकान्त निर्देश के होने पर भी स्त्रीलिङ्ग व नपुंसकलिङ्ग के शब्दों से तथा द्विवचनान्त या बहुवचनान्त शब्दों से भी अपत्यार्थक प्रत्यय होते हैं। इसीलिए सुमातु: अपत्यम् सौमात्र:, क्षत्रस्यापत्यम् क्षात्रि: इत्यादि रूप सिद्ध होते हैं।

अर्धं नपुंसकम् - सूत्र में नपुंसकम् पद के प्रयोग से उक्त परिभाषा ज्ञापित होती है। सूत्र में अर्धम् पद नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त है ही उसी से नपुंसक लिङ्ग का बोध हो सकता है, पुन: नपुंसकम् कहना व्यर्थ है। अत: व्यर्थ होकर ज्ञापित होता है कि सूत्र में उच्चरित अर्धम् पद का लिङ्ग विवक्षित नहीं है।

इसी प्रकार सूत्र प्रयुक्त वचन भी विवक्षित नहीं होते। जैसे - "गर्गादिभ्यो यञ्" से गर्गादि शब्दों से गोत्रार्थक यञ् विहित है। इसमें "गर्गस्य गोत्रापत्यम् गार्ग्य: " - यह एकवचनान्त रूप सिद्ध होता है। साथ-साथ गर्गस्य गोत्रापत्ये - गार्ग्यो या गर्गस्य गोत्रापत्यानि गर्गा: रूप भी सिद्ध होते हैं। (बहुवचन में गर्ग + यञ् + जस् में यञिञोश्च सूत्र से यञ् का लुक् हो जाने के कारण गर्गा: रूप सिद्ध होता है।)

इस परिभाषा के कारण ही "आकडारादेका संज्ञा" - (१.४.१.) सूत्र में सूत्रकार ने एका शब्द का प्रयोग किया है अन्यथा केवल संज्ञा कहने से वचन विवक्षित न होने से एका का बोध नहीं हो सकता था।

❀❀❀

उपपदमतिङ्
(२.२.१९)

सूत्र के अतिङ् ग्रहण से यह परिभाषा ज्ञापित होती है कि **"गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचन प्राक् सुबुत्पत्तेः"** - अर्थात् गति कारक और उपपदों का कृदन्तों के साथ जो समास होता है वह सुप् विभक्ति प्रत्यय होने के पूर्व ही होता है। जैसे - व्याघ्री, कच्छपी इत्यादि प्रयोगों में - जिघ्रति इति घः में घ्रा से क प्रत्यय करने पर घ्र इस कृदन्त से वि और आ इन गतिसंज्ञकों के साथ "कुगति प्रादयः" - (२.२.१८.) सूत्र से समास करते समय इसी प्रकार कच्छपी में पाति इति प - इस क प्रत्ययान्त प कृदन्त का कच्छेन इस उपपद के साथ उपपद समास करते समय नियमानुसार घ्र और प को अन्तरंगत्वात् विभक्ति प्रत्यय पहले प्राप्त होते हैं, इनसे भी पूर्व लिङ्ग बोधक टाप् प्रत्यय प्राप्त होता है। टाप् प्रत्यय करने के पश्चात् विभक्ति प्रत्यय होकर घ्रा और पा का क्रमशः गति और उपपद समास करने पर व्याघ्रा और कच्छपा इस प्रकार विकृत रूप सिद्ध हो सकते हैं, किन्तु प्रकृत ज्ञापन के आधार पर घ्र और प में सुप् प्रत्यय तथा स्त्रीवाचक प्रत्यय के पूर्व ही गति और उपपद समास होकर व्याघ्र तथा कच्छप ये जाति वाचक अदन्त प्रातिपदिक निष्पन्न हो जाते हैं, इनसे "जाते रस्त्री०" सूत्र से ङीष् प्रत्यय होकर व्याघ्री तथा कच्छपी रूप सिद्ध होते हैं।

"उपपदमतिङ्" सूत्र में अतिङ् पद के द्वारा सूत्रकार यह परिभाषा ज्ञापित करते हैं - प्रकृत सूत्र का आशय है कि उपपद और गति समास अतिङन्त होते हैं। इस सूत्र में "कुगतिप्रादयः" सूत्र से गति शब्द का आकर्षण होता है अतः गतिरतिङ् और उपपदमतिङ् इस प्रकार दो सूत्रो की प्राप्ति होती है। इनमें सहसुपा से सुपा की अनुवृत्ति करने से अतिङ् पद व्यर्थ हो जाता है और व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि - ये दोनो समास सुबन्त के साथ (सुपा) न होकर सुबुत्पत्ति के पूर्व अतिङन्त से होते हैं अतः इन्हे अतिङन्त समास कहा गया है।

कुछ वैयाकरण इसे अनित्य मानते हैं क्योंकि कहीं - कहीं यह समास सुबुत्पत्ति के बाद अर्थात् सुबन्त के साथ भी हो जाता है। जैसे - धनक्रीता प्रयोग में (यह प्रयोग भाष्य में पठित है।) इसमें "धनेन क्रीता" अर्थ में धनेन इस करणरूपी कारक का कृदन्त क्रीत शब्द के साथ सुबुत्पत्ति के पूर्व समास करने पर "धनक्रीत" शब्द अदन्त होने से "क्रीतात्करण पूर्वात्" - (४.१.५०.) से ङीष् की प्राप्ति हो जाएगी और धनक्रीती - यह विकृत रूप सिद्ध हो जाएगा। अतः प्रकृत परिभाषा को अनित्य मानकर धनक्रीता में सुबुत्पत्ति के बाद समास करके धनेन क्रीता - धनक्रीता समास सिद्ध हो जाता है। इस अनित्यता का ज्ञापक "अम्बाम्ब गोभूमि०" आदि सूत्र - (८.३.९७.) को माना जा सकता है। इस सूत्र में गो भूमि इत्यादि शब्दों के परे स्थ शब्द आने पर स्थ के स को षत्व कहा गया है। वस्तुतः इस सूत्र में गो - भूमि आदि शब्दों का ग्रहण न होता फिर भी गोष्ठः भूमिष्ठः में आदि में "आदेश प्रत्यययोः" - (८.३.५९.) से षत्व हो ही जाता। "सात्पदाद्योः" - (८.३.१११.) से निषेध की संभावना न थी क्योंकि प्रकृत परिभाषा से स्थ का सुबुत्पत्ति के पूर्व समास होने से स्थ पदादि न होता और सात्पदाद्योः से निषेध नहीं होता।

इस प्रकार सूत्र पठित गोभूमि आदि शब्द यह ज्ञापित करते हैं कि - कभी - कभी सुबुत्पत्ति के बाद भी समास हो जाता है।

कतिपय अन्य वैयाकरणों के अनुसार उपर्युक्त ज्ञापन अनुचित है गो भूमि इत्यादि शब्दों का ग्रहण नियमार्थ है, जो इस प्रकार है कि -समास में यदि पूर्वपद में इष् के बाद स्थ आने पर गो भूमि शब्दों के इष् का ही ग्रहण करना चाहिए। इसीलिए "हृदिस्थ:" आदि प्रयोगो में षत्व नहीं होता।

इसी प्रकार "सात्पदाद्यो:" - (७.३.१११.) सूत्र में पदादि में "पदस्य आदि:" इस प्रकार षष्ठी समास न होकर पदात् आदि: पदादि: ऐसा पञ्चमी तत्पुरूष समास मानने पर गोष्ठः भूमिष्ठः आदि प्रयोगो में पद से परे स्थ के आदि सकार को षत्व की प्राप्ति नहीं होती। उसके विधानार्थ अम्बाम्ब० सूत्र में गो भूमि शब्दों का ग्रहण चरितार्थ है अतः परिभाषा की अनित्यता का ज्ञापक नहीं माना जा सकता।

❀❀❀

अव्यवे ऽयथाभिप्रेताख्याने कृञ: क्त्वाणमुलौ (३.४.५९)

प्रकृत सूत्र में पूर्व सूत्र "स्वादुमिणमुल्" - (३.४.१२६.) से णमुल् की अनुवृत्ति हो सकती थी किन्तु फिर भी सूत्रकार णमुल का पुनः उच्चारण करते है जिससे यह ज्ञापित होता है कि यदि इस सूत्र में ०कृञ: क्त्वा च - इस प्रकार च के द्वारा पूर्व सूत्र से णमुल् की अनुवृत्ति करते तो च के द्वारा अनुवृत्त उस णमुल का उत्तर सूत्र " तिर्यच्यपवर्गे " - (३.४.६०.) में अनुवर्तन नही हो सकता था केवल क्त्वा की अनुवृत्ति हो जाती। किन्तु सूत्र में क्त्वा और णमुल दोनो पद आवश्यक होने के कारण सूत्रकार " कृञ: क्त्वाणमुलौ" कहकर णमुल का पुनः ग्रहण करते हैं। इसी आधार पर परिभाषाकारों ने **"चानु कृष्टं नोत्तरत्र"** - इस परिभाषा की कल्पना की है।

वस्तुतः यह परिभाषा सार्वत्रिक या नित्य नही मानी जा सकती क्योंकि "कर्मणि द्वितीया" - (२.३.२.) सूत्र से "तृतीया च होश्छन्दसि" - (२.३.३.) सूत्र में द्वितीया की अनुवृत्ति चकार से की गई है और इस चकारानुकृष्ट द्वितीया को आगे "अन्तरान्तरेणयुक्ते" - (२.३.४.) सूत्र में भी अनुवृत्त किया है।

"लृटि च क्लृप:" - (१.३.९३.) सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने उन सभी सूत्रों में पठित चकार का प्रत्याख्यान किया है जो पूर्व सूत्र से पदों की अनुवृत्ति के उद्देश्य से पठित है। अतः प्रकृत परिभाषा भाष्य विरुद्ध सिद्ध होती है।

❀❀❀

नोत्तरपदेऽनुदात्तादावपृथिवीरुद्रपूणमन्थिषु (६.२.१४२)

इस सूत्र के अनुसार देवता द्वन्द्व में पृथिवी आदि शब्दों को छोड़कर उत्तर पद अनुदातादि होने पर दोनों पदों को प्रकृति स्वर नहीं होता। सूत्र पठित "अपृथिवीरुद्रपूषमन्थिषु" पर्युदास यह ज्ञापित करता है कि सूत्र में स्वरोद्देश्यक कार्य की कर्तव्यता में व्यंजन को अविद्यमानवत् माना जाता है। प्रकृत पर्युदास में पृथिवी रुद्र - पूषन् मन्थिन् ये सभी प्रातिपदिक व्यंजनादि होने से अनुदात्तादि तभी माने जा सकते हैं, जब आदि के व्यंजन को अविद्यमानवत् माने, अन्यथा पर्युदास व्यर्थ हो जाएगा। व्यर्थ होकर **"स्वरविधौ व्यंजनमविद्यमानवत्"** परिभाषा को ज्ञापित करताहै।

❀❀❀

यतोऽनावः (६.१.२१३)

सूत्र का आशय है कि नौ शब्द का यत् प्रत्यतान्त रूप छोड़कर अन्य यत् प्रत्ययान्त द्वयच्क शब्दों का आदि उदात्त होता है। नाव्यम को उदात् का निषेध है। यह निषेध ज्ञापित करता है कि व्यंजन को यदि स्वर प्राप्त हो रहा हो तो वह स्वर उस व्यंजन के पूर्व अथवा परवर्ती अच् को होता है। यही अर्थ **"हल् स्वर प्राप्तौ व्यंजनमविद्यमानवत्"** परिभाषा द्वारा व्यक्त किया गया है। यदि सूत्रकार को यह परिभाषा अभीष्ट न होती तो अनावः ऐसा प्रतिषेध न करते, क्योंकि नाव्यम् में आदि वर्ण न् है जो हल् है - इसे स्वर की प्राप्ति ही नहीं है। न् के बाद आकार स्वर है किन्तु वह आदि में नहीं है अतः उदात्त स्वर की प्राप्ति ही नहीं है तब निषेध करना व्यर्थ ही है। व्यर्थ होकर यह परिभाषा को ज्ञापित करता है तथा परिभाषा को ज्ञापित करने के बाद स्वयं चरितार्थ हो जाता है।

इस स्थल पर शंकाकार यह शंका उपस्थित करते हैं कि अनावः प्रतिषेध को परिभाषा का ज्ञापक नहीं माना जा सकता क्योंकि वह व्यर्थ नही है, उसकी चरितार्थता इस प्रकार है कि यदि अनावः ग्रहण न होता तो "यतः" - यह सूत्र होता और इस सूत्र से नाव्य की आदि नकार को स्थान साम्य से उदात्त लृकार आदेश हो जाता। इस आपत्ति के निवारणार्थ सूत्र में अनावः प्रतिषेध आवश्यक है अतः अनावः पद से परिभाषा ज्ञापित करना युक्तिसंगत नहीं है।

वस्तुतः उपर्युक्त शंका निर्मूल है क्योंकि न के स्थान पर स्थान साम्य से लृ आदेश करने पर उदात्त स्वर का निमित्त द्वयच्कत्व नष्ट हो जाएगा। लृ + आव्य में तीन अच् हो जाएंगे तथा "उपजीव्य विरोधस्यायुक्तत्वम्" इस न्याय के अनुसार उदात्त स्वर की प्राप्ति नही हो पायेगी, क्योंकि आद्युदात्त स्वर की प्राप्ति का द्वयच्क रूपी यिमित नष्ट हो जाएगा। अतः आद्युदात की जब प्राप्ति ही नही है तो निषेध व्यर्थ हो जाएगा किन्तु प्रकृत परिभाषा की विद्यमानता में यह निषेध चरितार्थ हो जाता है। इस स्थल पर पुनः यह शंका हो सकती है कि तीन अचों में दो अचों का

अन्तर्भाव तो होता ही है अतः त्र्यच्क लृ नाव्य को द्वयच्क मान सकते है किन्तु यह शंका उचित नही क्योंकि "उत्तरा संख्या पूर्वा संख्यां बाधते" इस न्याय से त्र्यच्क को द्वयच्क नहीं माना जा सकता। लोक में जिस प्रकार यदि किसी व्यक्ति के तीन पुत्र हैं तो उसके दो पुत्रहैं ऐसा नही कहा जा सकता।

❀❀❀

वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ
(४.२.९)

इस सूत्र में ड्य और ड्यत् प्रत्ययों को डित् किया गया है। इस डित् करण का प्रयोजन यह है कि "ययतोश्चातदर्थे "- (६.२.१५६.) सूत्र में पठित य और यत् प्रत्ययों के द्वारा ड्य और ड्यत् प्रत्ययों का ग्रहण न हो जाए। यदि प्रकृत सूत्र में डित् न करते (तो ययतोश्चातदर्थे से वामदेव्यम् या अवामदेव्यम्) अर्थात् वामदेव से य और यत् प्रत्यय का विधान करते तो ययतोश्चातदर्थे सूत्र से य + यत् उदात्त स्वर की प्राप्ति हो जाती और अवामदेव्यम् में प्रयोग अन्तोदात्त सिद्ध हो जाता। वस्तुतः अवामदेव्यम् में "तत्पुरुषे तुल्यार्थ तृतीया० " (६.२.२.) सूत्र से आद्युदात्त होना चाहिए।

इस प्रकार डित् करण से सूत्रकार निम्नलिखित परिभाषाओं की ओर संकेत करते है -

१. निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य
२. तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुबन्धकस्य

प्रथम परिभाषा का तात्पर्य है कि अनुबंधरहित शब्द के द्वारा अनुबंध सहित शब्द का ग्रहण नहीं होता। जैसे - तव्य प्रत्यय के द्वारा तव्यत् का ग्रहण नहीं होता। तव्यत् - तकार अनुबन्ध का प्रयोजन "तित् स्वर" - (६.१.८५.) है।

द्वितीय परिभाषा का आशय है कि विशिष्ट अनुबन्ध युक्त शब्द के द्वारा अन्य अनुबन्ध से युक्त शब्द का ग्रहण नहीं होता। जैसे - यत् प्रत्यय से ण्यत् प्रत्यय का ग्रहण नहीं होता, यद्यपि ण्यत् में भी त् अनुबन्ध है जो यत् में भी दृश्यमान है। किन्तु त् के साथ णकार भी अनुबन्ध के रूप में पठित है। इसी प्रकार अङ् प्रत्यय में ङकार अनुबन्ध है और चङ् में ङकार के साथ चकार भी अतिरिक्त अनुबन्ध है, अतः प्रकृत परिभाषा के बल से अङ् के द्वारा चङ् का ग्रहण नहीं हो सकता।

महाभाष्य में इसी आशय की एक कारिका उद्धृत की गई है -

"सिद्धे यस्येति लोपेन किमर्थं ययतौङित्तौ
ग्रहणं माऽतदर्थे भूद् वामदेवस्य नञ्स्वरे।"

प्रकृत परिभाषाओं की प्रवृत्ति प्रत्यय और अप्रत्यय दोनों में होती है। इसीलिए "दिव औत्" - (७.१.८४.) सूत्र में पठित अनुबन्ध रहित दिव् प्रातिपदिक के द्वारा अनुबन्ध सहित क्विप् प्रत्ययान्त दिव् का ग्रहण नहीं होता। क्विप् प्रत्ययान्त दिव् शब्द में दिवु धातु है, जिसमें उकार अनुबन्ध है। प्रकृत परिभाषा के सामर्थ्य से अनुबन्ध रहित दिव् प्रातिपदिक से अनुबन्ध सहित दिव् का ग्रहण नहीं होता। इसके फलस्वरूप अक्ष + दिव् + क्विप् + सु में ऊठ होकर (च्छ्वोः शूड़नुनासिके च - ६.४.१९.) अक्षद्यूः रूप सिद्ध होता है। "दिव औत्" - (७.१.८४.) सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। अन्यथा व के स्थान पर औ आदेश होकर "अक्षद्यौः" - यह अनिष्ट रूप सिद्ध हो जाता।

❀❀❀

णचः स्त्रियाम्
(५.४.१४)

"णचः स्त्रियाम्" - (५.४.१४.) सूत्र में पठित स्त्रियाम् पद से परिभाषाकारों ने "क्वचित् स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते" परिभाषा ज्ञापित की है। परिभाषा का तात्पर्य है - कहीं - कहीं स्वार्थिक प्रत्ययों का विधान होने पर प्रत्ययान्त शब्दों के लिङ्ग और वचन मूल प्रकृति से भिन्न हो जाते हैं, जैसे - कुटीर शब्द में "कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः" - (५.३.८८.) सूत्र से कुटी शब्द से स्वार्थ में "र" प्रत्यय किया गया है। प्रकृति के लिङ्ग और वचन के समान स्वार्थिक प्रत्ययान्त शब्दों के भी लिङ्ग और वचन होते हैं। **(स्वार्थिकाश्च प्रकृतितो लिङ्ग वचनान्यनुवर्तन्ते)** यह सामान्य नियम है। इस नियम के अनुसार कुटी शब्द स्त्रीलिङ्ग का है। इससे स्वार्थिक र प्रत्यय का विधान होने पर कुटीर शब्द भी स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयोज्य है किन्तु वास्तविक रूप में कुटीरः पुल्लिङ्ग में प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनान्त अप् शब्द से स्वार्थ में कल्यप् प्रत्यय "ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः" - (५.३.६७.) करने पर "ईषदूनाः आपः अप्कल्पम्" - यह नपुंसक लिङ्ग और एक वचन में प्रयोग किया जाता है। इस विसंगति की उपपत्ति के लिए प्रकृत परिभाषा की अवतारणा की है। इस परिभाषा में सूत्रकार की भी सम्मति है जो "णचः स्त्रियाम्" सूत्र में पठित स्त्रियाम् पद से ज्ञापित होती है।

"कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम्" - (५.४.१३.) सूत्र से कर्मव्यतिहार अर्थ में स्त्रीलिङ्ग में ही णच् प्रत्यय विहित है। णचःस्त्रियाम् सूत्र में पुनः स्त्रियाम् कहने की आवश्यकता नही है। तथापि सूत्रकार स्त्रियाम् का उच्चारण करते हैं इससे ज्ञापित होता है कि कदाचित् स्वार्थिक प्रत्यय होने के बाद प्रकृति के लिङ्ग में परिवर्तन हो जाता है। प्रकृत प्रसंग में णचः स्त्रियाम् से अञ् करते समय प्रकृति के लिङ्ग (स्त्रीलिङ्ग) में परिवर्तन न हो जाए एतदर्थ "स्त्रियाम्" पद का ग्रहण किया गया है। स्त्रियाम् के पाठ सामर्थ्य से अब अञ् प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयुक्त होता है।

❀❀❀

प्रतेरंश्वादयस्तत्पुरुषे
(६.२.१९३)

सूत्रार्थ - तत्पुरूष समास में "प्रति" पूर्वपद होने पर तथा अंश्वादि गणपठित शब्द चरमावयव होने पर समास अन्तोदात्त होता है। अंश्वादि गण में राजन् शब्द का पाठ यह ज्ञापित करता है कि समासान्त प्रत्ययो का विधान अनित्य है। (**"समासान्त विधि रनित्य:"**) तत्पुरूष समास में राजन् शब्द उत्तरपद होने पर "राजाहः सखिभ्यष्टच्" - (५.४.९१.) सूत्र से समासान्त टच् प्रत्यय होता है। टच् प्रत्यय चित् होने के कारण "चितः" - (६.१.१६३.) सूत्र से समास को अन्तोदात्त का विधान होता है। इस प्रकार राजन् शब्दान्त तत्पुरूष में अन्तोदात्तत्व अन्यथा सिद्ध है तथापि अंश्वादि गण में राजन् का पाठ करते हुए सूत्रकार पुनः "प्रतेरंश्वादयः" - सूत्र से उसमें अन्तोदात्तत्व के विधान की आवश्यकता मानते हैं इससे ज्ञापित होता है कि समासान्त विधियाँ अनित्य होती हैं। अर्थात् कदाचित् राजन् शब्दान्त तत्पुरुष समास में "टच् प्रत्यय" - (५.४.९१.) की प्रवृत्ति नहीं होती। यदि टच् नहीं होना होता तो चितः सूत्र भी प्रवृत्त नहीं होगा। किन्तु यह समास अन्तोदात्त ही अभीष्ट है तब इसके लिए विशेष यत्न कर्त्तव्य है। अतः अंश्वादि गण में राजन् शब्द का समावेश किया गया है और इस प्रकार वह सार्थक या चरितार्थ होता हुआ प्रकृत परिभाषा (समासान्त विधिरनित्यः) का ज्ञापक सिद्ध होता है। "द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धस" - (६.२.१९७.) सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा पठित है।

❀❀❀

बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक्
(६.४.१५३)

"बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक्" - सूत्र का छ ग्रहण **"सन्नियोग शिष्टानामन्यतरापाय उभयोरप्यपाय:"** परिभाषा को ज्ञापित करता है। परिभाषा का आशय है कि, किसी सूत्र में दो कार्यो का युगपत् विधान किया गया हो और उनमें से किसी भी एक कार्य का नाश हो रहा हो तो दूसरे कार्य का भी नाश स्वाभाविक रूप से हो जाता है। जैसे "इन्द्रवरुणभवरूद्र०" - (४.१.४९.) सूत्र से इन्द्र आदि शब्दों को स्त्रीलिङ्ग में आनुक् आगम और ङीष् प्रत्यय युगपत् विहित है। इस स्थिति में "पञ्च इन्द्राण्यो देवताः अस्य स पञ्चेन्द्रः!" प्रयोग में "द्विगोर्लुगनपत्ये" - (४.१.८८.) सूत्र से अण् प्रत्यय का लुक् "लुक् तद्धित लुकि" - (१.२.४९.) सूत्र से स्त्रीप्रत्यय का लुक् होता है। स्त्री प्रत्यय ङीष् के साथ आनुक् का भी लोप हो जाता है क्योंकि आनुक् आगम और ङीष् प्रत्यय युगपत् विहित हैं। यदि प्रकृत परिभाषा न होती तो मात्र ङीष् का लुक् हो जाता और आनुक् आगम शेष रह जाता। इससे अनिष्ट रूप की आपत्ति हो जाती। इस आपत्ति के निवारणार्थ प्रकृत परिभाषा को स्वीकार करना आवश्यक है। परिभाषा के सामर्थ्य से ङीष् के लुक् के साथ आनुक् आगम का भी लुक् हो जाता है और पञ्चेन्द्रः रूप सिद्ध होता है।

पाणिनीय सूत्र "बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक्" - (८.४.१५३.) में छ ग्रहण इस परिभाषा का ज्ञापक है। सूत्र में छ ग्रहण करने का यह प्रयोजन है कि बिल्वकादि शब्दों से "नडादीनां कुक च" - (४.२.९१.) सूत्र के द्वारा "तत्र भवः" - (४.३.५३.) आदि अर्थो में छ प्रत्यय और कुक् का आगम होता है और बिल्वाः यस्यां सन्ति सा बिल्वकीयाः प्रयोग निष्पन्न होता है। बिल्वकीय शब्द से अन्य तद्धित प्रत्यय आने पर छ प्रत्यय का लुक् प्रकृत सूत्र से विहित है। जैसे - "बिल्वकीयायां भवाः" अर्थ में पुनः "तत्र भवः" अर्थ में अण् प्रत्यय की प्राप्ति होने पर बिल्वकीय + अण् स्थिति में बिल्वकीय के छ का लुक् होता है और बैल्वकाः रूप सिद्ध होता है। इस स्थल पर छ प्रत्यय और कुगागम एक ही सूत्र (४.२.९१.) से विहित है। अतः प्रकृत परिभाषा की प्रवृत्ति होकर दोनों का युगपत लुक् प्राप्त है। किन्तु कुक् का लुक् अभीष्ट नहीं है अतः सूत्र में छ ग्रहण चरितार्थ है। "बिल्वादिभ्यः लुक्" सूत्रारम्भ करने से कुगागम सहित छ प्रत्यय का अर्थात् दोनो का लुक् हो जाता। छ ग्रहण के द्वारा सूत्रकार "सन्नियोगशिष्टसाम्०" परिभाषा को स्वीकृति प्रदान करते है।

इस प्रसङ्ग में यह आशङ्का उपस्थित हो सकती है कि सूत्र पठित बिल्वकादि० शब्द में कुगागम विशिष्ट पाठ ही इसका प्रमाण हो सकता है कि कुगागम का लोप नहीं होता मात्र छ प्रत्यय का ही लोप होता है। यदि सूत्रकार को कुगागम का लोप अभीष्ट होता तो वे "बिल्वादिभ्यः०" उच्चारण करते। इस प्रकार परिभाषा ज्ञापित होने पर भी छ ग्रहण की सार्थकता सिद्ध नहीं हो सकती, इस आशङ्का का निवारण करते हुए परिभाषाकार नागेशभट्ट कहते है कि - "बिल्वादिभ्यो ऽण्" - (४.३.१३६.) सूत्र में बिल्वादि शब्दों से विकारार्थक अण् का विधान है। इस गण में कुगागम सहित बिल्वक आदि शब्द साक्षात् पठित् नहीं हैं। अतः उपर्युक्त आशङ्का के अनुसार यदि "बिल्वादिभ्यः लुक्" सूत्रारम्भ होता तो इसी सूत्र (५.३.१३६.) से विहित अण् का लुक् पहले प्राप्त होता। सूत्रकार ने इस अति प्रसक्ति के निवारणार्थ "बिल्वकादिभ्य०" कहकर कुगागम विशिष्ट बिल्वकादि शब्द से विहित छ प्रत्यय के लुक् का विधान किया है।

निष्कर्षतः बिल्वकादिभ्यः सूत्र में कुगागम विशिष्ट बिल्वकादि पद से परिभाषा को ज्ञापित करना असंगत है। सूत्र पठित छ प्रत्यय ही परिभाषा का ज्ञापक है।

❀❀❀

शब्द संकेत

१. पञ्च इन्द्राण्यो देवता अस्य अर्थ में "साऽस्य देवता" - (४.२.२२.) सूत्र से पञ्चेन्द्राणी शब्द से अण् प्रत्यय होता है। "द्विगोर्लुगनपत्ये" - (४.१.८८.) सूत्र से अण् प्रत्यय का लुक् होता है। पश्चात् "लुक् तद्धित लुकि" - (१.२.४९.) सूत्र से अण् का लोप हो जाने के बाद स्त्री प्रत्यय ङीष् का भी लुक् होता है। ङीष् के लुक् के साथ आनुक् प्रत्यय का भी लुक् होता है और पञ्चेन्द्रः रूप सिद्ध होता है।

❀❀❀

कार्मस्ताच्छील्ये
(६.४.१७२)

ताच्छील्य अर्थ में कार्म शब्द के निपातन के द्वारा "ताच्छीलिके णे ऽण् कृतानि भवन्ति" परिभाषा को ज्ञापित किया जाता है। "कर्म शीलं यस्य सः अर्थ" में "छत्रादिभ्यो णः" - (४.४.६२) सूत्र से कर्मन् शब्द से ताच्छीलिक ण प्रत्यय होता है और कर्मन् + ण् स्थिति में "अन्" - (६.४.१६७.) सूत्र से कर्मन् को प्रकृतिभाव न हो जाए एतदर्थ "कार्म" शब्द का निपातन किया गया है। अन् सूत्र से अन्नन्त प्रकृति से परे भाव या कर्म अर्थ को छोडकर अन्य अर्थ का वाचक अण् प्रत्यय आने पर "नस्तद्धिते" - (६.४.१४४.) सूत्र से प्राप्त टिलोप का निषेध होता है। अर्थात् कर्मन् + ण् में नस्तद्धिते से कर्मन् की टि का लोप प्राप्त होताहै। अन् सूत्र से उसका निषेध हो जाता है। किन्तु प्रकृत स्थल पर अन् सूत्र से टिलोप का निषेध अभीष्ट नही है अतः पाणिनि को "कार्मः" का निपातन करना पड़ा। कार्मः की निष्पत्ति के लिए टिलोप अभीष्ट है। इस प्रसङ्ग में आचार्यो ने (नागेशादि) कार्म शब्द के निपातन को व्यर्थ सिद्ध किया गया है क्योंकि "नस्तद्धिते" सूत्र से टिलोप करने पर कार्म की सिद्धि संभव है। अन् सूत्र के द्वारा प्रकृतिभाव की या टिलोप के निषेध की संभावना करना युक्तिसंगत नहीं है। अन् सूत्र की प्रवृत्ति अण् के परे ही होती है। कर्मन् + ण में तो ताच्छीलिक ण प्रत्यय है अण् नहीं है। अतः कार्म निपातन व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि अण् प्रत्यय परे रहते जो कार्य होते है वे ताच्छीलिक ण प्रत्यय के परे रहते भी होते हैं। **"ताच्छीलिके णे ऽण् कृतानि भवन्ति"** इसके फलस्वरूप कर्मन् शब्द से अण् प्रत्यय के परे जो प्रकृतिभाव (अन्) प्राप्त था वह ताच्छीलिक ण के परे भी संभव है जिसके निवारणार्थ प्रकृत निपातन चरितार्थ है।

❀❀❀

दाण्डिनायन-हास्तिनायनाथर्वणिक-जैह्माशिनेयवाशिनायनि-भ्रौणहत्य-धैवत्य-सारवैक्ष्वाक मैत्रेय-हिरण्यमयानि
(६.४.१७४)

उपर्युक्त सूत्र में निपातित रूपों में **"भ्रौणहत्य"** रूप के द्वारा "धातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये भवति" परिभाषा को ज्ञापित किया गया है। परिभाषा का आशय है कि धातु को विहित कार्य धातु से प्रत्यय का विधान होने पर ही होता है। जैसे - "कंसपरिमृड्भ्याम्" प्रयोग में भ्याम् प्रत्यय प्रातिपदिक से विहित है धातु से नहीं। अतः "मृजेर्वृद्धिः" - (७.२.११४.) सूत्र से मृज् धातु प्राप्त होने वाली वृद्धि कंसपरिमृड् + भ्याम् के मृज् को नही होगी। उपर्युक्त सूत्र में "भ्रौणहत्य" निपातन के द्वारा यह परिभाषा संकेतित होती है। भ्रौणहत्य में अन्तिम नकार के स्थान पर निपातन के द्वारा तकार किया गया है यही परिभाषा का ज्ञापक है। "भ्रूण हतवान्" अर्थ में निष्पन्न भ्रूणहा प्रयोग में "ब्रह्मभ्रूण वृत्रेषु क्विप्" -(३.२.८७.) सूत्र से भूत अर्थ में

क्विप् प्रत्यय करने पर भाव अर्थ में "ष्यञ् प्रत्यय" - (५.१.१२४.) होता है। भ्रूणहन् + य स्थिति में निपातनात् न को त करने पर भ्रौणहत्य रूप सिद्ध होता है। वस्तुतः इस स्थल पर "हनस्तो ऽचिण्णलोः" - (७.३.३२.) सूत्र से न को त हो सकता था और भ्रौणहत्य की अन्यथा सिद्धि संभव थी। सूत्र में पृथक् रूप से निपातन करना व्यर्थ था। व्यर्थ होकर यह ज्ञापित होता है कि धातु को विहित कार्य उसी स्थिति में संभव है जब धातु से ही कोई प्रत्यय विहित होता है। (धातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये भवति) प्रकृत उदाहरण में भावार्थक ष्यञ् प्रत्यय तद्धित प्रत्यय है, जो धातु से विहित न होकर समर्थ प्रातिपादिक से विहित है अतः "हनस्तोऽचिण्णलोः" - सूत्र से विहित कार्य (अर्थात् न को त आदेश) यहाँ नहीं हो सकता। यदि न को त अभीष्ट है तब उसके लिए विशेष यत्न करना पड़ेगा। सूत्रकार ने "भ्रौणहत्य" निपातन के द्वारा इष्ट रूप की सिद्धि की है।

परिभाषा की व्याप्ति - जहाँ सूत्रों में प्रत्यय निमित्तक कोई कार्य विहित हो वहीं प्रकृत परिभाषा की प्रवृत्ति होती है। अर्थात् धातु से विशिष्ट प्रत्यय का विधान होने पर उस प्रत्यय के परे यदि कोई कार्य विहित है तभी परिभाषा प्रवृत्त होती है। इसके फलस्वरूप प्रणग्भ्याम् आदि रूपों में प्र + नश् + क्विप् + भ्याम् स्थिति में न को ण "उपसर्गादसमासेऽपि" - (८.४.१४.) क्विप् का लोप "वेरपृक्तस्य" - (६.१.६७.) करने पर प्र + णश् + भ्याम् में भ्याम् प्रत्यय धातु से विहित नहीं है प्रातिपदिक से विहित है अतः प्रकृत परिभाषा से यहाँ "नशेर्वा " - (८.२.६३.) से होने वाला कुत्त्व कार्य बाधित हो सकता है किन्तु यह कुत्त्व प्रत्यय निमित्तक नहीं है। कुत्व का निमित् पदान्तत्व है अतः प्रकृत परिभाषा से इष्ट सिद्धि में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती। नशेर्वा सूत्र से शकार को कुत्व होकर प्रणगभ्याम् रूप सिद्ध होता है। कुत्व विकल्प होने के कारण एक बार "व्रश्च भ्रस्ज०" - (८.२.३६.) सूत्र से शकार को षत्व और जश्त्व ("झलां जशोऽन्ते" - ८.४.५३.) होकर प्रणड्भ्याम् रूप भी निष्पन्न होता है।

❀❀❀

नेदमदसोरकोः
(७.१.११)

"नेदमदसोरकोः" - (७.१.११.) सूत्र में पठित अकोः पद से **"तन्मध्यपतितस्तद् ग्रहणेन गृह्यते"** परिभाषा ज्ञापित होती है। सर्वादि गण में इदम् और अदस् शब्द पठित हैं। अकच्सहित इदम् और अदस् का पाठ सर्वादिगण में नहीं है अतः यह अन्यथा सिद्ध है कि अकच् सहित इदम् और अदस् शब्दों का ग्रहण अकच् रहित इदम् और अदस् शब्दों के द्वारा नहीं हो सकता क्योंकि इदम् और अदस् शब्द जिस वर्णानुपूर्वी से युक्त है उससे भिन्न वर्णानुपूर्वी अकच सहित इदम् - अदस् की है। मात्र इदम् - अदस् से परे भिस् को ऐस् आदेश का निषेध करने से भी इष्ट सिद्धि संभव थी। "अकोः" कथन की आवश्यकता न थी। तथापि सूत्रकार "अककारयोः इदमदसोः भिसः

ऐस् न स्यात्" कहकर यह ज्ञापित करना चाहते हैं कि केवल इदम् - अदस् शब्दों के पाठ से अकच् सहित इदम् - अदस् का भी ग्रहण हो सकता है जिसके निवारणार्थ "अकोः" ग्रहण आवश्यक है। सूत्रकार की इसी मान्यता को परिभाषाकारों ने "तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते" परिभाषा के द्वारा प्रदर्शित किया है। परिभाषा का आशय है कि सूत्र में किसी शब्द का निर्देश उस विशिष्ट शब्द स्वरूप का बोधक होता है तथा उस शब्द के मध्य अन्य वर्णो का उच्चारण होने पर उन वर्णो से युक्त शब्द का भी ग्रहण होता है। जैसे - सर्व और उच्चैः शब्दों के मध्य "अक" का समावेश होने पर सर्वकः, उच्चकैः शब्द निष्पन्न होते हैं।

"अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः" - (५.३.७१.)सूत्र से सर्व सर्वनाम की और उच्चैः अव्यय की टि के पूर्व अकच् प्रत्यय होता है और सर्वकः और उच्चैकः शब्द सिद्ध होते हैं। प्रकृत परिभाषा के बल से सर्व उच्चैः शब्दों से सर्वक और उच्चकैः शब्दों का ग्रहण हो जाता है और उसके फलस्वरूप "सर्वादीनि सर्वनामानि" - (१.१.२७.) सूत्र से इनकी भी सर्वनाम संज्ञा और अव्यय संज्ञा सिद्ध हो जाती है।

❀❀❀

यस्य विभाषा
(७.२.१५)
स्वरति सूतिसूयतिधूञूदितो वा
(७.२.४४)

"यस्य विभाषा" - (७.२.१५.) सूत्र के भाष्य से एक परिभाषा ध्वनित होती है जिसका आशय है सूत्र में उच्चरित कोई धातु यदि लुग्विकरण और अलुग्विकरण दोनों में सम्मिलित होता है तब सन्देह की स्थिति में अलुग्किरण धातु का ही ग्रहण करना चाहिए। **(लुग्विकरणालुग्विकरणयोर लुग्विकरणस्य)** अदादि गण की धातुओं से विहित् शप् विकरण का लुक् "अदि प्रभृतिभ्यः शपः" - (२.४.७२.) से होता है अतः अदादि गण की धातुओं को लुग्विकरण कहा जाता है। अन्य गण की धातुओं में विकरण का लुक् नहीं होता अतः उन्हें अलुग्विकरण धातु कहा जाता है। "गातिस्था घुपा०" - (२.४.७७.) सूत्र में पठित पा धातु अदादि गण में (पारक्षणे) पठित होने से लुग्विकरण है और भ्वादि गण में पठित होने से (पा पाने) अलुग्विकरण भी है किसी सूत्र में पा धातु का ग्रहण होने पर यह सन्देह उपस्थित हो सकता है कि किस गण की पा धातु का ग्रहण सूत्रकार को अभीष्ट है। जैसे - गातिस्था० सूत्र में पठित पा धातु के संबंध में सन्देह उपस्थित होने पर उपर्युक्त परिभाषा के बल से अलुग्विकरण (भ्वादिगण में पठित पा पाने) पा धातु का ही ग्रहण होता है। इसके परिणाम स्वरूप अदादि गण के पा धातु में उपर्युक्त सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती और लुङ् लकार में अपासीत् रूप सिद्ध होता है। भ्वादिगण के पा धातु के लुङ् लकार में गाति स्था० सूत्र से सिच् का लोप होकर अपात् रूप सिद्ध होता है।

भाष्य में यह परिभाषा साक्षात् पठित नहीं है। "यस्य विभाषा" - (७.२.१५.)

सूत्र के भाष्य में भाष्यकार इसका संकेत करते हैं। "विभाषा गमहन विदविशाम्" -(७.२.६८.) सूत्र से गम - हन - विद और विश धातुओं से क्वसु प्रत्यय के परे विकल्प से इडागम होता है। जिन धातुओं का विकल्प से इडागम का विधान है उनसे निष्ठा प्रत्यय आने पर "यस्य विभाषा" सूत्र से इडागम का निषेध होता है। प्रकृत स्थल पर गमहन० सूत्र में विद धातु से कौन सा विद् धातु ग्राह्य है ? - यह संदेह उपस्थित होता है। यदि हन् के साहचर्य से विद् से लुग्विकरण अदादि विद् का ग्रहण करते हैं तब निष्ठा प्रत्यय में विदित रूप निष्पन्न होता है। विश् के साहचर्य से तुदादि लुग्विकरण विद धातु का ग्रहण करते हैं तब निष्ठान्त रूप वित्त सिद्ध होता है। इस स्थिति में अनिष्ट रूप की आपत्ति होती है। अतः भाष्यकार इस प्रसङ्ग में अलुग्विकरण विद् धातु का ग्रहण ही स्वीकार करते हैं और परिणामः यस्य विभाषा सूत्र से इडागम का निषेध तुदादि के विद् को करते हैं। अदादि गण पठित विद् धातु का निष्ठान्त रूप विदित ही सिद्ध होता है क्योंकि अदादि के विद् को वैकल्पिक इडागम नहीं है।

निष्कर्षतः यस्य विभाषा सूत्र के भाष्य से "लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्यैव" परिभाषा का संकेत मिलता है।

"स्वरति सूति सूयति०" - (७.२.४४.) सूत्र के भाष्य प्रदीप में कैयट का कथन है कि सूति और सूयति इन दो धातुओं का पृथक् निर्देश प्रकृत परिभाषा का ज्ञापक है। अन्यथा सूङ् निर्देश करने से दोनों धातुओं का ग्रहणहो जाता। षूङ् धातु अदादि और दिवादि गणों में पठित है। यदि सूत्रकार उपर्युक्त सूत्र में सूङ् का निर्देश करते तो प्रकृत परिभाषा के बल से अलुग्विकरण षूङ् धातु का अर्थात् दिवादिगण पठित षूङ् धातु का ग्रहण होता। अदादि गण पठित षूङ् का ग्रहण अभीष्ट है अतः वे लुग्विकरण सूति और अलुग्विकरण सूयति दोनों का पृथक् - पृथक् उल्लेख करते हैं। यह पृथक् उल्लेख ही परिभाषा को ज्ञापित करता है।

वस्तुतः कैयट का उपर्युक्त कथन युक्ति संगत नहीं है क्योंकि "स्वरति सूति०" सूत्र में उच्चरित अन्य सभी धातु अलुग्विकरण है। साहचर्यन्याय से **(सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्)** केवल सूङ् का उच्चारण करने पर वह अलुग्विकरण षूङ् धातु का ही ग्राहक होता। दोनो धातुओं का (लुग्विकरण और अलुग्विकरण) ग्रहण यदि अभीष्ट है तो सूत्रकार को उसके लिए यत्न करना आवश्यक था। इस प्रकार सुति सूयति ये पृथक निर्देश परिभाषा के ज्ञापक नहीं कहे जा सकते।

"यस्य विभाषा" सूत्र का भाष्य ही इस विषय में प्रमाण है।

❀❀❀

हेरचङि
(७.३.५६)

" हेरचङि " - सूत्र में पठित "अचङि" प्रतिषेध से यह ज्ञापित होता है कि धातु से विहित कोई कार्य धातु की "णिजन्त" प्रकृति को भी होता है। **"प्रकृति ग्रहणे ण्यधिकस्यापि ग्रहणम्"** यदि यह परिभाषा न होती तो सूत्र में "अचङि" प्रतिषेध की कोई आवश्यकता न थी क्योंकि " णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ् " - (३.१.४८.) सूत्र से णिजन्त धातु से ही कर्त्रर्थक चङ् प्रत्यय होता है। हेरचङि सूत्र से हि धातु के ह को अभ्यास से परे होने पर कुत्व होता है चङ् परे होने पर नहीं होता। जैसे - प्र + हायि + सन् + ति में हायि को द्वित्व अभ्यास कार्य करने पर प्र जि हायि + स + ति में ह को कुत्व करने पर प्रजि घाययिषति रूप सिद्ध होता है। "अचङि" निषेध के कारण चङ् प्रत्यय में यह कुत्व नहीं होता। वस्तुतः चङ् के परे कुत्व का प्रतिषेध करना व्यर्थ है। क्योंकि "प्राप्तस्यैव निषेधः" न्याय से प्राप्त कार्य का ही निषेध होता है। जो कार्य प्राप्त ही नहीं उसका निषेध करना आवश्यक नहीं। प्रस्तुत प्रसङ्ग में " हेरचङि" सूत्र से केवल हि धातु के अभ्यास परक हकार को कुत्व का विधान है। चङ् प्रत्यय तो ण्यन्त धातु से ही होता है अतः कुत्व की प्राप्ति का प्रश्न ही नहीं है। तथापि सूत्रकार "अचङि" कहकर चङ् के परे कुत्व का निषेध करते हैं इससे ज्ञापित होता है कि केवल धातु को विहित कार्य उसके णिजन्त रूप को भी हो सकता है और इस प्रकार परिभाषा ज्ञापित होने पर अचङि निषेध सार्थक है।

परिभाषा के विषय में यह ध्यातव्य है कि जहाँ सूत्रों में धातु को कुत्व का विधान है वहीं परिभाषा प्रवृत्त होती है, अन्य कार्यों में परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं है जैसे - "अदि प्रभृतिभ्यः शपः" - (२.४.७२.) सूत्र से अदादि धातुओं से विहित शप् का लुक् होता है। यह लुक् कार्य णिजन्त अदादि धातुओं से विहित शप् को नहीं होता। इसीलिए आदयति, खादयति आदि रूप सिद्ध होते हैं।

❀❀❀

ज्ञाजनोर्जा
(७.३.७९)

"ज्ञाजनोर्जा " - सूत्र से ज्ञा और जन् धातुओं को शित् प्रत्यय परे रहते जा आदेश होता है। इस सूत्र में पठित जा पद से एक परिभाषा का संकेत प्राप्त होता है जिसके अनुसार "अङ्गाधिकार" में विहित कार्य के निष्पन्न होने पर पुनः अङ्गाधिकार के सूत्र से दूसरा कार्य नहीं होता। (अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिः) जैसे - युष्मद् + भ्यस् में अङ्गाधिकार में पठित सूत्र "भ्यसो भ्यम् " - (७.१.३०.) सूत्र से भ्यस् को भ्यम् आदेश करने पर और " शेषे लोपः" - (७.२.९०.) से अन्त्य दकार का लोप करने पर युष्म + भ्यम् की स्थिति में पुनः अङ्गाधिकार के सूत्र "बहुवचने झल्येत्" - (७.३.१०३.) से युष्म को एत्व नहीं होता और इस प्रकार युष्म + भ्यम् = युष्मभ्यम्

रूप सिद्ध हो जाता है। अन्यथा बहुवचने झल्येत् की भी प्रवृत्ति करने पर "युष्मेभ्यम्" इस अनिष्ट रूप की आपत्ति हो जाएगी।

" ज्ञाजनोर्जा " सूत्र का जा ग्रहण किस प्रकार उक्त परिभाषा का ज्ञापक है इस विषय में भाष्यकार लिखते है कि सूत्र में जा के स्थान पर ज का ग्रहण करने से भी इष्ट सिद्धि हो सकती थी। जैसे - ज्ञा + श्ना + ति में ज्ञा को ज आदेश करने पर ज + ना + ति में "अतोदीर्घो यञि" - (७.३.१०.) सूत्र से ज के अकार को दीर्घ करने पर जानाति रूप सिद्ध हो जाता। इसी प्रकार "जन् + श्यन् + ते " में जन् के स्थान पर ज आदेश को भी उसी सूत्र से (७.३.१०.) दीर्घ करने पर जायते रूप सिद्ध हो सकता था। सूत्र में जा की क्या आवश्यकता थी। इसका समाधान यह है कि "ज्ञाजनोर्जा " अङ्गाधिकार का सूत्र है। इस सूत्र से एक बार कार्य निष्पन्न हो जाने के बाद पुन: "अतोदीर्घो यञि" इस अङ्गाधिकार के सूत्र से कार्य नहीं हो सकता। सूत्रकार इस नियम से अवगत रहे होंगे। अत: उन्होने ज्ञा और जन् के स्थान पर ज आदेश न करते हुए जा आदेश ही किया है।

यही परिभाषा **"ज्यादादीयस:"** - (६.४.१६०.) सूत्र के आत् ग्रहण से भी ज्ञापित होती है। ज्य ईयस् में ज्यादादीयस: सूत्र से ईयस् के ई को आत्व किया गया है और ज्य + आयस् = ज्यायस् सिद्ध होता है। इस स्थल पर ज्यादीयस: सूत्रारम्भ करने से भी इष्ट सिद्धि संभव थी। पूर्व सूत्र "बहोर्लोपो भू च बहो:" - (६.४.१५८.) सूत्र से लोप की अनुवृत्ति होकर ज्य के परे ईयस् के आदि वर्ण का लोप हो जाता और ज्य + यस् में "अकृत सार्वधातुकयोर्दीर्घ:" - (७.४.२५.) से ज्य को दीर्घ होकर ज्यायस रूप सिद्ध हो जाता। किन्तु सूत्रकार को प्रकृत परिभाषा स्वीकार्य थी अत: उन्होंने "ज्यादीयस: लोप:" इस प्रकार अङ्गाधिकार के सूत्र से एक बार ईलोप रूप कार्य होने के बाद "अकृत्सार्वधातुकयो: दीर्घ:" अङ्गाधिकार के इस द्वितीय सूत्र से पुन: कार्य करना युक्ति संगत नहीं समझा और इसीलिए "ज्यादादीयस:" सूत्र में आत् पद का उच्चारण करना पडा। इस प्रकार परिभाषा ज्ञापित होने पर आत् ग्रहण सार्थक सिद्ध हुआ।

❀❀❀

ओर्गुण:
(६.४.१४६)

"ओर्गुण:" सूत्र में गुण पद के ग्रहण से यह ज्ञापित होता है कि सूत्र में संज्ञा वाचक शब्दों का विधेयांश में उच्चारण करते हुए यदि कोई कार्य विहित हो तो वह कार्य अनित्य होता है। **"संज्ञापूर्वक विधेरनित्यत्वम्"** ओर्गुण: सूत्र में गुण पदक स्थान पर यदि ओत् पद का ग्रहण किया जाता तो भी उकार के स्थान पर ओकार आदेश होकर इष्ट रूप की सिद्धि हो सकती थी। किन्तु गुण पद के उच्चारण के द्वारा सूत्रकार यह ज्ञापित करना चाहते हैं कि संज्ञा शब्दों के द्वारा विधीयमान कार्य अनित्य हो सकते हैं। इसीलिए "स्वायम्भुवम्" आदि प्रयोगों में स्वयम्भू शब्द से अपत्यार्थक अण् प्रत्यय (तस्यापत्यम् - ४.१.९२.)करने पर तया आदि अच् को वृद्धि (७.२.११७.)

करने से स्वायम्भू + अण्" स्थिति में "ओर्गुणः" सूत्र से ऊकार को गुण की प्राप्ति है किन्तु यह गुण कार्य अनित्य है अतः स्वायम्भू में ऊकार को गुण नहीं होता अपितु "उवङ् आदेश" - (६.४.७७.) होकर स्वायम्भुवम् रूप सिद्ध होता है।

❀❀❀

आनि लोट्
(८.४.१६)

"आनि लोट्" - (८.४.१६.) सूत्र के अनुसार उपसर्ग में णत्व के निमित्त विद्यमान होने पर लोट् लकार के आनि में स्थित नकार को णत्व आदेश होता है। लोट् लकार में उत्तम पुरूष एकवचन के मि (मिप्) के स्थान पर नि आदेश "मेर्निः" - (३.४.८९.) और "आडुत्तमस्य पिच्च" - (३.४.९२.) से नि को आडागम करने पर आनि प्रत्यय प्राप्त होता है। वस्तुतः आनि लोट् सूत्र में केवल नि लोट् कहने पर भी इष्ट सिद्धि हो सकती थी क्योंकि नि के नकार को णत्व विहित है तथापि सूत्रकार आडागम सहित नि का उच्चारण करते हैं जिसमें सूत्रकार का कोई न कोई प्रयोजन लक्षित होता है परिभाषाकारों ने इस आधार पर "आगमशास्त्रमनित्यम्" परिभाषा का ज्ञापन किया है। परिभाषा का आशय है कि आगम कार्य अथवा आगम शास्त्र अनित्य होते हैं। केवल नि लोट् कहने से कदाचित् आडागम् रहित नि को भी णत्व की प्रसक्ति न हो जाए अतः आडागम सहित नि का अर्थात् "आनि" का उच्चारण किया गया। आडागम सहित नि के उच्चारण सामर्थ्य से केवल नि के नकार को णत्व नहीं होता।

परिभाषा के अन्य उदाहरण सागरं तर्तुकामस्य इत्यादि उध्दरणों में प्राप्त है। तृ धातु सेट्क है अतः "आर्धधातुकस्येड् वलादेः" - (७.२.३५.) से इडागम करने पर तथा "वृतो वा" - (७.२.३८.) सूत्र से वैकल्पिक दीर्घ करने पर तरीतुकामस्य अथवा तरितुकामस्य रूप निष्पन्न होते हैं। तर्तुकामस्य रूप सर्वथा अनुचित है। परिभाषा के बल से आगम शास्त्र की अनित्यता स्वीकार करने पर इडागम रहित तर्तुकामस्य प्रयोग भी प्रचलित होता है। इसी प्रकार "शाकं पचानस्य" और "क्षुब्धो राजा" आदि लोक व्यवहार में प्रचलित प्रयोगों की साधुता भी स्वीकार्य होती है। "पचानस्य" के स्थान पर "पचमानस्य" रूप सूत्र सिद्ध है। पच् धातु से "शानच्" - (३.२.१२४.) और मुमागम "आने मुक्" - (७.२.८२.) करने पर पचमान सिद्ध होता है। किन्तु मुक् आगम अनित्य होने से पचानस्य प्रयोग में उसकी विद्यमानता नहीं है। क्षुभ् धातु भी सेट्क है अतः क्त प्रत्ययान्त क्षुभित रूप साधु है। किन्तु यहाँ भी "इडागम" -(७.२.३५.) को अनित्य मानकर क्षुब्धः प्रयोगार्ह हो जाता है।

❀❀❀

तनादिकृञ्भ्यः उः
(३.१.७९)

प्रकृत सूत्र में कृञ् ग्रहण के औचित्य पर विचार करते हुए कतिपय वैयाकरणों का मत है कि तनादि गण में कृ धातु पठित है अतः "तनादिभ्यः उः" सूत्रारम्भ करने पर भी इष्ट सिद्धि हो सकती है। तनादि के अन्तर्गत् पठित कृ धातु से भी उ विकरण की प्रवृत्ति हो जाएगी कृञ् ग्रहण व्यर्थ है। यह कृञ् ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि **गण कार्य** अनित्य होते हैं।**(गणकार्यमनित्यम्)** - अर्थात् सूत्र में गण का उच्चारण करते हुए जो कार्य विहित होते हैं वे अनित्य होते हैं। यही कारण है कि "न विश्वसेदविश्वस्तम्" आदि प्रयोग लोक मे प्रचलित है, और साधु माने जाते हैं। इस प्रयोग में श्वस् धातु का प्रयोग है जो अदादि गण में पठित है। "अदि प्रभृतिभ्यः शपः" - (२.४.७२.) सूत्र से इस धातु के शप् का लुक् होता है और विधि लिङ्ग में विश्व स्यात् रूप निष्पन्न होता है - विश्वसेत् नहीं। तथापि लोक में विश्वसेत् का प्रयोग किया जाता है। इससे सिद्ध है कि अदादि धातुओं से होने वाला शप् का लुक् नित्य नहीं है। विश्वसेत् में उसका लुक् नहीं है अतः विश्वसेत् रूप निष्पन्न हो जाता है।

❀❀❀

अनुदात्तं पदमेकवर्जम्
(६.१.१५८)

"अनुदातं पदमेकवर्जम्" - सूत्र स्वयं एक परिभाषा सूत्र है। सूत्र में पठित वर्जम् पद अन्य परिभाषा का ज्ञापक भी है। सूत्र में वर्जम् शब्द के स्थान पर नञर्थ में "एक" का समास करने पर "अनेकम" पद निष्पन्न होता है। यदि सूत्र में इसका प्रयोग करते तो **"अनुदात्तं पदमनेकम्"** सूत्रारम्भ होता। इस सूत्रारम्भ से अभीष्ट अर्थ का बोध हो सकता है और लाघव भी सिद्ध हो सकता है। सूत्रकार नञ् घटित प्रयोग न करते हुए "एकवर्जम्" का प्रयोग करते हैं। जिससे यह ज्ञापित होता है कि नञ्घटित कार्य अनित्य होते हैं। **(नञ्घटितमनित्यम्)**- इसका उदाहरण - "हे सुभ्रु !" इस सम्बुद्धि के रूप में दृष्टिगोचर होता है। "अचि श्नुधातु०" - (६.४.७७.) सूत्र से सुभ्रु में भ्रू के अकार को उवङ् आदेश प्राप्त है। इस प्रकार वह उवङ् आदेश का स्थानी है अतः "नेयङुवङ् स्थानावस्त्री" - (१.४.४.) सूत्र से सुभ्रू की नदीसंज्ञा का निषेध होता है। नदी संज्ञा का निषेध होने से सम्बुद्धि में हे सुभ्रु + स् में "अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः" - (७.३.१०७.)सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकती और इसके कारण अङ्ग को ह्रस्व नहीं हो सकता। तथापि लोक में ह्रस्व होकर हे सुभ्रु ! प्रयोग साधु हो जाता है। इससे सिद्ध है कि नेयङुवङ्० सूत्र से होने वाला निषेध अनित्य है, अर्थात् उवङ् आदेश का स्थानी होने पर सुभ्रू में नदी संज्ञा की योग्यता बनी रहती है।

यह परिभाषा भाष्य में पठित नहीं है अतः नागेशादि परिभाषाकारों को भी यह स्वीकार्य नहीं है।

❀❀❀

प्रत्ययलोपे प्रत्यय लक्षणम्
(१.१.६२)
आर्धधातुकस्येड् वलादेः
(७.२.३५)

कतिपय प्राचीन वैयाकरण उपर्युक्त दोनों सूत्रो के आधार पर **"सर्वविधिभ्यो लोपविधिरिड्विधिश्च बलीयान्"** परिभाषा की अवतारणा करते है। उनके अनुसार कानि + सन्ति और कौ + स्तः इत्यादि वाक्य प्रयोगों में कानि + अस् + अन्ति और कौ + अस् + स्तः इस विग्रह दशा में "इकोयणचि और एचोऽयवायावः" - (६.१.७८.) सूत्रों से क्रमशः यणादेश और आवादेश प्राप्त होते हैं। इसके साथ ही "श्नसोरल्लोप" - (६.४.१११.) सूत्र से अस् के अ का लोप भी प्राप्त है। यदि अ लोप पहले नहीं करते तो यणादेश और आवादेश की आपत्ति होती है। सभी विधियों से लोप विधि को बलवान् मानने से अलोप पहले होता है और इस प्रकार यणादेश और आवादेश के निमित्त नष्ट हो जाते है और दोनों आदेश निवृत्त हो जाते हैं।

उपर्युक्त नियम को "प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्" - सूत्र के द्वारा ज्ञापित किया जाता है। प्रत्यय का लोप हो जाने के बाद प्रत्यय लक्षण करने की अपेक्षा प्रत्यय निमित्तक कार्य ही प्रथम कर लिए जाएँ तदनन्तर प्रत्यय का लोप किया जाए। इस पध्दति से अभीष्ट सिद्धि भी हो सकती है और प्रत्यय लक्षण का आरम्भ करने की आवश्यकता भी नहीं रहती। किन्तु सूत्रकार प्रत्यय लक्षण का आरम्भ करते हैं जो ज्ञापित करता है कि लोप कार्य अन्य सभी कार्यो से बलवन्तर होते हैं अतः प्रथम हो जाते हैं। प्रत्यय का लोप हो जाने पर प्रत्ययनिमित्तक कार्य की प्रवृत्ति संभव नही रहती। उसकी निष्पत्ति के लिए प्रत्यय लक्षण करना आवश्यक है।

इस प्रकार "प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्" सूत्र उक्त परिभाषा को ज्ञापित करके चरितार्थ हो जाता है, कतिपय वैयाकरण " असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे " परिभाषा के आधार पर उपर्युक्त प्रयोगो की सिद्धि करते हैं तथा प्रस्तुत परिभाषा का खण्डन करते हैं। सन्ति स्तः आदि प्रयोगो में प्रत्यय को मानकर होने वाला "अलोप अन्तरङ्ग" है तथा शब्दान्तर को मानकर होने वाला यणादेश या आवादेश बहिरङ्ग है। अतः अन्तरङ्ग कार्य (अलोप) की दृष्टि से असिद्ध हो जाता है। फलस्वरूप अलोप प्रथम हो जाता है।

"आर्धधातुकस्येड् वलादेः" - (७.२.८.) सूत्र में पठित इड् ग्रहण से **"सर्व विधिभ्य इड् विधिर्बलवान्"** परिभाषा प्राचीन वैयाकरणों ने ज्ञापित किया है। उनके कथन का तात्पर्य यह है कि - " नेड् वशि कृति " - (७.२.८.) इस पूर्वसूत्र से इड् ग्रहण की अनुवृत्ति "आर्धधातुकस्य०" - सूत्र में हो सकती है तथापि सूत्रकार पुनः इड् ग्रहण करते हैं जिससे ज्ञापित होता है कि इडागम कार्य अन्य कार्यो की अपेक्षा प्रथम होता है।

वस्तुतः "आर्धधातुकस्येड्०" सूत्र के इड् ग्रहण का उपर्युक्त प्रयोजन युक्ति संगत नहीं है। सूत्र पठित इड् ग्रहण की सार्थकता यह है कि इडागम के द्वारा प्राप्त इड् को गुण या वृद्धि न की जाए **(इड् इडेव यथा स्यादिति)** सिद्धान्ततः भाष्यकार ने इड् पद का प्रत्याख्यान कर दिया है। अतः परिभाषा ज्ञापन में इसकी सार्थकता मानना अयुक्त है।

नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा
(६.१.९९)
अर्तिपिपर्त्योश्च
(७.४.७७)

"पटत् - पटत् इति" प्रयोग में ध्वनि के अनुकरण वाचक पटत् के आम्रेडित रूप के अन्तिम तकार को विकल्प से पररूप होता है। "नाम्रेडितस्या०" - (६.१.९९.) सूत्रारम्भ में किए गए निषेध का तात्पर्य है कि पूर्व सूत्र में "अव्यक्तानुकरणस्यात् इतौ" (६.१.९८.) में अव्यक्त अनुकरण वाचक शब्द के अत् को इति शब्द परे रहने पर पररूप का विधान किया गया है। प्रकृत सूत्र में आम्रेडित के लिए अत् के पररूप का निषेध है केवल अन्तिम तकार का विकल्प से पररूप किया गया है। प्रकृत सूत्र में अन्त्यस्य पद के प्रयोजन पर विचार करने से प्रतीत होता है कि उसका उच्चारण व्यर्थ है क्योंकि "अलोऽन्त्यस्य" - (१.१.५२.) परिभाषा सूत्र से अन्तिम तकार का ग्रहण होकर उसे पररूप की सिद्धि हो ही जाती। सूत्र में पुनः उसका उच्चारण करना व्यर्थ है। सूत्र पठित किसी शब्द को व्यर्थ सिद्ध करना संभव नही है अतः व्यर्थ प्रतीत होता हुआ वह ज्ञापित कराता है कि यहाँ "अलोऽन्त्यस्य" सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। **(नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरभ्यास विकारे)**

परिभाषा का आशय है कि जब कोई कार्य सार्थक शब्द को विहित होता है तब अलोऽन्त्यस्य की प्रवृत्ति होती है और वह विधीयमान कार्य अन्तिम वर्ण को होता है। यदि कोई कार्य अनर्थक वर्णसमूह को प्राप्त है तब वह कार्य अन्त्य अल् को नही वरन् सूत्र में निर्दिष्ट अंश को ही होता है। अभ्यास संबंधी विकार में यह नियम प्रवृत्त नहीं होता अर्थात् अभ्यास विकार में अनर्थक में भी अलोऽन्त्यस्य की प्रवृत्ति हो जाती है। प्रकृत सूत्र में अन्त्यस्य पद के उच्चारण का यही प्रयोजन है। ध्वनि का अनुकरण वाचक पटत् शब्द अर्थरहित वर्णसमुदाय है। इसे विहित कार्य में अलोऽन्त्यस्य की प्रवृत्ति नही होती। अतः अन्त्य को पररूप की सिद्धिहेतु अन्त्यस्य पद चरितार्थ है।

उपर्युक्त परिभाषा का उत्तरार्ध "अनभ्यास विकारे" को में अर्तिपिपर्त्योश्च पठित पिपर्ति शब्द के द्वारा ज्ञापित किया गया है। "अर्तिपिपर्त्योश्च"- सूत्र से जुहोत्यादि गण की पृ धातु के अभ्यास के अन्तिम वर्ण को इकार आदेश होता है। अभ्यास अर्थरहित होने से **"नानर्थकेऽलोन्त्य विधिः"** परिभाषा से सम्पूर्ण अभ्यास को इकारादेश हो जाता।

वस्तुतः पृ धातु के अभ्यास के अन्तिम वर्ण को ही अर्थात् ऋकार को ही इकारादेश अभीष्ट है। जिसकी सिद्धि के लिए सूत्रकार की पिपर्ति ग्रहण करना पडा। इस प्रकार पिपर्ति ग्रहण से ज्ञापित होता है कि अभ्यास अनर्थक होने पर भी उसमें अलोऽन्त्य विधि अभीष्ट नहीं है तो यत्न करना होगा। इस प्रकार "अनभ्यास विकारे" अंश को ज्ञापित कर पिपर्ति ग्रहण चरितार्थ होता है।

❀❀❀

नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा
(६.१.९९)
अर्तिपिपर्त्योश्च
(७.४.७७)

"पटत् - पटत् इति" प्रयोग में ध्वनि के अनुकरण वाचक पटत् के आम्रेडित रूप के अन्तिम तकार को विकल्प से पररूप होता है। "नाम्रेडितस्या०" - (६.१.९९.) सूत्रारम्भ में किए गए निषेध का तात्पर्य है कि पूर्व सूत्र में "अव्यक्तानुकरणस्यात् इतौ" (६.१.९८.) में अव्यक्त अनुकरण वाचक शब्द के अत् को इति शब्द परे रहने पर पररूप का विधान किया गया है। प्रकृत सूत्र में आम्रेडित के लिए अत् के पररूप का निषेध है केवल अन्तिम तकार का विकल्प से पररूप किया गया है। प्रकृत सूत्र में अन्त्यस्य पद के प्रयोजन पर विचार करने से प्रतीत होता है कि उसका उच्चारण व्यर्थ है क्योंकि "अलोऽन्त्यस्य" - (१.१.५२.) परिभाषा सूत्र से अन्तिम तकार का ग्रहण होकर उसे पररूप की सिद्धि हो ही जाती। सूत्र में पुनः उसका उच्चारण करना व्यर्थ है। सूत्र पठित किसी शब्द को व्यर्थ सिद्ध करना संभव नही है अतः व्यर्थ प्रतीत होता हुआ वह ज्ञापित कराता है कि यहाँ "अलोऽन्त्यस्य" सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। **(नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरभ्यास विकारे)**

परिभाषा का आशय है कि जब कोई कार्य सार्थक शब्द को विहित होता है तब अलोऽन्त्यस्य की प्रवृत्ति होती है और वह विधीयमान कार्य अन्तिम वर्ण को होता है। यदि कोई कार्य अनर्थक वर्णसमूह को प्राप्त है तब वह कार्य अन्त्य अल् को नही वरन् सूत्र में निर्दिष्ट अंश को ही होता है। अभ्यास संबंधी विकार में यह नियम प्रवृत्त नहीं होता अर्थात् अभ्यास विकार में अनर्थक में भी अलोऽन्त्यस्य की प्रवृत्ति हो जाती है। प्रकृत सूत्र में अन्त्यस्य पद के उच्चारण का यही प्रयोजन है। ध्वनि का अनुकरण वाचक पटत् शब्द अर्थरहित वर्णसमुदाय है। इसे विहित कार्य में अलोऽन्त्यस्य की प्रवृत्ति नही होती। अतः अन्त्य को पररूप की सिद्धिहेतु अन्त्यस्य पद चरितार्थ है।

उपर्युक्त परिभाषा का उत्तरार्ध "अनभ्यास विकारे" को में अर्तिपिपर्त्योश्च पठित पिपर्ति शब्द के द्वारा ज्ञापित किया गया है। "अर्तिपिपर्त्योश्च"- सूत्र से जुहोत्यादि गण की पृ धातु के अभ्यास के अन्तिम वर्ण को इकार आदेश होता है। अभ्यास अर्थरहित होने से **"नानर्थकेऽलोन्त्य विधिः"** परिभाषा से सम्पूर्ण अभ्यास को इकारादेश हो जाता।

वस्तुतः पृ धातु के अभ्यास के अन्तिम वर्ण को ही अर्थात् ऋकार को ही इकारादेश अभीष्ट है। जिसकी सिद्धि के लिए सूत्रकार की पिपर्ति ग्रहण करना पडा। इस प्रकार पिपर्ति ग्रहण से ज्ञापित होता है कि अभ्यास अनर्थक होने पर भी उसमें अलोऽन्त्य विधि अभीष्ट नहीं है तो यत्न करना होगा। इस प्रकार "अनभ्यास विकारे" अंश को ज्ञापित कर पिपर्ति ग्रहण चरितार्थ होता है।

❀❀❀

अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः
(७.१.७५)

अस्थि - दधि सक्थि और अक्षि शब्दों को अजादि सुप् विभक्ति के परे अनङ् आदेश होता है और वह अनङ् उदात्त होता है। सूत्र में उदात्त शब्द का उच्चारण करते हुए अनङ् का विधान है। अनङादेश को साक्षात् उदात्त उच्चारण करते हुए विधान किया जा सकता है किन्तु सूत्रकार उदात्त शब्द के द्वारा उदात्तत्व का निर्देश करते हैं जिससे ज्ञापित होता है कि गुण अभेदक होते हैं। **(अभेदकाः गुणाः)** - गुण से तातपर्य है उदात्तत्व - अनुदात्तत्व - स्वरितत्व - अनुनासिकत्व और अननुनासिकत्व। इन पाँच गुणों से युक्त शब्दस्वरूपों में तत्तत् गुण विवक्षित नहीं होते हैं अर्थात् गुणों के कारण शब्दस्वरूपों में भेद नही होता। जिस प्रकार शीतल जल और उष्ण जल में शीतता और उष्णता गुणों के कारण स्वरूपगत भेद नही होता। प्रकृत सूत्र में भी अनङ् का उदात्त उच्चारण करने पर सर्वत्र उदात्त अनङ् आदेश ही होता यह आवश्यक नहीं। क्वचित् भिन्न स्वर युक्त अनङ् भी उपलब्ध हो सकता है। यदि सर्वत्र उदात्त अनङ् ही अभीष्ट है तो उदात्त शब्द का उच्चारण करना आवश्यक होगा। इस प्रकार यत्न पूर्वक उच्चरित उदात्त शब्द गुणों की अभेदकता का ज्ञापक है।

परिभाषा का उदाहरण "उञः" - (१.१.१७.), "ऊँ:" - (१.१.१८.) सूत्रों में प्राप्त है। " ऊँ " सूत्र में विशेष रूप से अनुपासिक स्वर उच्चरित (निर्दिष्ट) है जो यत्न विशेष के कारण विवक्षित माना जाता है। अन्यथा "स्थानेऽन्तरतमः" - (१.१.५०.) के सामर्थ्य से निरनुनासिक उ के स्थान पर निरनुनासिक उकार आदेश हो जाता। सानुनासिक ऊँकार आदेश अभीष्ट है अतः सूत्रकार सानुनासिक ऊँ का विधान करते है। "पथिमथिऋभुक्षामात्" - (७.१.८५.) सूत्र में भी पथिन् - मथिन् - ऋभुक्षिन् ये तीनो शब्द नकारान्त है। इनके स्थान पर स्थान सादृश्य से अनुनासिक आकार ही प्राप्त है किन्तु सूत्रकार यत्न पूर्वक शुद्ध आकार "निरनुनासिक आकार" का सूत्र में उच्चारण करते हैं अतः अनुनासिक नकार के स्थान पर अननुनासिक आकार आदेश होकर इष्ट रूप सिद्ध होते हैं। यत्न विशेष के कारण निरनुनासिक आ से सानुनासिक का ग्रहण नहीं होता

❀❀❀

अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः
(१.१.६९)

प्रकृत सूत्र का अप्रत्यय पद **"भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहण न"** परिभाषा का सूचक है। कतिपय वैयाकरण सम्पूर्ण सूत्र को परिभाषा सूत्र की कोटि में सम्मिलित करते हैं। परिभाषा प्रकरण में इसकी व्याख्या की गई है। सूत्र में पठित अण् पद से भी एक परिभाषा का संकेत प्राप्त होता है जिसका संबंध "पूर्वत्रासिद्धम्" - (८.२.१.) से है। व्याकरण ग्रन्थो में **"पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे"** इस वार्तिक के रूप में यह पठित है। इसका आशय है कि पूर्वसूत्र से द्वित्व भिन्न कार्य कर्त्तव्य हो तभी पूर्वत्रासिद्धम् की प्रवृत्ति होती है अर्थात् त्रिपादी में पूर्वसूत्र के प्रति पर सूत्र की असिद्धता द्वित्व भिन्न कार्य के प्रति ही होती है पूर्व सूत्र से यदि द्वित्व कार्य

प्राप्त है तब उसके प्रति पर सूत्र असिद्ध नही होता । यह द्वित्व कार्य चाहे सापादिक हो सकता है और त्रैपादिक भी।

द्वित्व पद से इस प्रसंङ्ग में षष्ठाध्याय के प्रथम पाद में पठित "लिटि धातोरनभ्यासस्य" - (६.१.८.) सन्यङो - (८.१.१) अधिकार में पठित पदद्वित्वो का और अष्टमाध्याय चतुर्थ पाद में पठित वर्ण द्वित्वो का ग्रहण होता है। ("अनचिच" - ८.४.४७. आदि।)

अणुदित्० सूत्र के अण् ग्रहण से इसे ज्ञापित करते हुए कतिपय वैयाकरणो का कथन है कि अणुदित् ० के स्थान पर अजुदित्० भी पाठ कर इष्ट सिद्धि हो सकती थी । लण् के णकार तक वर्णो का बोध करने वाले अण् प्रत्याहार के ग्रहण का प्रयोजन यही हो सकता है कि सवर्ण ग्रहण में य - व - ल वर्णो का भी समावेश हो जाए। ये - व - ल से उनके सवर्णी सानुनासिक यँ - वँ - लँ का ग्रहण करने के लिए अण् प्रत्याहार का प्रयोग सार्थक प्रतीत होता है। यही कारण है कि सम्+ यन्ता , सम + वत्सर: आदि उदाहरणों में म् के स्थान पर य व आदेश करते समय स्थान साम्य से य के परे अनुनासिक यँ और व के परे अनुनासिक वँ आदेश हो जाता है। (८.४.५८.) अनुनासिक आदेश होने के पश्चात् सँय्यन्ता, सँव्वत्सर: इत्यादि स्थिति में अनुनासिक यँ, वँ को "अनचि च" से द्वित्व होकर सँय्यन्ता , सँव्वत्सर: रूप निष्पन्न होते है । यदि पूर्वत्रासिद्धम् की प्रवृत्ति यहाँ निर्बाध माने अर्थात् द्वित्व कार्य के प्रति पर सूत्र की असिद्धता का निषेध न करें तो "अनचि च" - (८.४.४७.) पूर्वसूत्र की दृष्टि में "अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण " - (८.४.५८.) सूत्र असिद्ध हो जाएगा और परसवर्ण असिद्ध होने से अनुनासिक यँ्, वँ् अथवा लँ को द्वित्व प्राप्त ही नहीं होगा।

प्रकृत परिभाषा के बल से द्वित्व कार्य के प्रति परसवर्ण असिद्ध नही होता अत: अनुस्वार के स्थान पर "सम् के मकार को अनुस्वार" - (८.३.२३.) होकर अनुस्वार को पर सवर्ण होता है। परसवर्ण करने पर अनुनासिक यँ् - वँ् प्राप्त होते है और बाद में अनचि च से द्वित्व करने पर दो यँ् - यँ् , और दो वँ् - वँ् करने वाले रूप प्राप्त होते है।

अणुदित० सूत्र के अण् की यही चरितार्थता है।कतिपय वैयाकरण **" उभौ साम्यासस्य"** - (८.४.२०.) के आधार पर प्रकृत परिभाषा को अनित्य मानते हैं। उनके अनुसार यदि परिभाषा नित्य होती तो "उभौ साभ्यासस्य" सूत्र की आवश्कता न थी । प्राणिणत् आदि प्रयोगों में प्र + अन् + णि + चङ् + त् स्थिति में "चङि" - (६.१.११.) इस सापादिक सूत्र की दृष्टि से त्रिपादी में पठित "णत्व विधायक" - सूत्र (८.४.१९.) असिद्ध न होता । त्रैपादिक सूत्र से अन् के न को णत्व होने के बाद णत्व युक्त धातु को चङि से द्वित्व हो जाता और इष्ट रूप सिद्ध हो सकता था। "उभौ साम्यासस्य" - सूत्र की कोई आवश्यकता न थी।

सूत्रकार "उभौ साम्यासस्य" के द्वारा संभवत: यह ज्ञापित करना चाहते हैं कि "पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे" नियम भी अनित्य है। निष्कर्षत: "पूर्वत्रासिद्धम्" - सूत्र की प्रवृत्ति णत्व विधायक सूत्रों में अनिवार्य है।

❀❀❀

एकाच उपदेशे ऽनुदात्तात्
(७.२.१०)

प्रकृत सूत्र के अनुसार उपदेशावस्था में एकाच् और अनुदात्त धातुओं को इडागम का निषेध होता है। सूत्र में पठित एकाच् पद के द्वारा परिभाषाकारो ने एक परिभाषा का संकेत किया है। जिसके अनुसार जहाँ सूत्रो में १. श्तिप् द्वारा, २. शप् के द्वारा, ३. अनुबन्ध युक्त धातु के निर्देश के द्वारा, ४. गण का उच्चारण करते हुए तथा ५. एकाच् शब्द के द्वारा कोई कार्य विहित हो वह कार्य यङ् लुक् में नही होता।

"श्तिपा शपानुबन्धेन निर्दिष्टं यद् गणेन च
यत्रैकाज् ग्रहण चैव पञ्चैतानि न यङ् लुकि"

उपर्युक्त परिभाषा के "यत्रैकाज् ग्रहणं चैव" अंश का ज्ञापन "उपदेशे०" सूत्र के एकाच् पद के द्वारा किया गया है। वस्तुतः धातुपाठ में पठित सभी अनेकाच् धातुएँ उदात्त उच्चरित है। अतः "उपदेशेऽनुदात्तात्" सूत्रारम्भ होने पर भी इडागम का निषेध एकाच् - अनुदात धातुओं को हो जाता। सूत्रकार इससे अवगत होते हुए भी एकाच् शब्द का उच्चारण करते हैं जिससे वे ज्ञापित करना चाहते है कि इडागम का निषेध यङ् लुक में नही होता अर्थात् उपर्युक्त परिभाषा के एकांश में उनकी स्वीकृति है।

भाष्य में इस परिभाषा का उल्लेख नही है। भाष्य पठित न होने से कतिपय वैयाकरण इसे स्वीकार नही करते। उनके मतानुसार सूत्र पठित एकाच् पद का प्रयोजन परिभाषा ज्ञापन के लिए नही अपितु भिन्न प्रयोजन के लिए होता है। यदि "उपदेशेऽनुदात्तात्" सूत्रारम्भ होता तो "हनो वध लिङि (लुङि च)" - (२.४.४२,४३.) सूत्र से हन् धातु को वध आदेश होने पर स्थानिवद्भाव से वध में हन् के अनुदातत्व का अतिदेश हो जाता और वध में भी इडागम निषेध हो जाता। जबकि वध धातु में इडागम अभीष्ट है। अतः वध में इडागम का निषेध न हो जाए एतदर्थ एकाच् ग्रहण चरितार्थ है। वध धातु अनेकाच् होने से उसमें इडागम निषेध नही होता और अवधीत् अवधिष्टाम् आदि रूप सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रसङ्ग में यह ध्यातव्य है कि स्थानिवद्भाव से जिस प्रकार अनुदात्तत्व रूप धर्म का अतिदेश होता है उसी प्रकार एकाच्त्व घर्म का अतिदेश संभव है। हन् धातु एकाच् है अतः उसके स्थान पर आदिष्ट वध में भी एकाच्त्व धर्म की प्राप्ति अतिदेश के द्वारा हो सकती है। इस आशङ्का का समाधान इस रूप में किया जाता है कि वध धातु सूत्र में (हनो वध लिङि लुङिच) साक्षात् द्वयच्क पठित है। साक्षात् पठित द्वयच्क धातु में अतिदेश के द्वारा एकाच्त्व धर्म को मानना युक्तिसंगत नही है। निष्कर्षतः "एकाच् ग्रहण उपदेश०" सूत्र में चरितार्थ है। उसे अनावश्यक मानकर परिभाषा को ज्ञापित करना अनुचित है।

एकाच् ग्रहण का दूसरा प्रयोजन "श्र्युकः किति" - (७.४.११.) सूत्र में अनुवृति होने से "जागृ" धातु उगन्त होने पर भी इडागम का निषेध नही होता। " श्र्युकः किति " सूत्र से श्रि धातु को और उगन्त धातुओं को कित् प्रत्यय परे रहते इडागम का निषेध होता है। जागृ धातु अनेकाच् है , अतः यह निषेध प्रवृत्त नही होता और जागृ को इडागम होकर जागरित्वत् आदि रूपों की सिद्धि हो जाती है।

"एकाच् उपदेशेऽशिति" सूत्र में एकाच् ग्रहण की यही सार्थकता है।

अध्याय - ६

"उपसंहार"

उपसंहार

अष्टाध्यायी में पठित परिभाषा सूत्रों का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत शोध प्रबंध की विषय वस्तु है। प्रथम अध्याय में अष्टाध्यायी की वैज्ञानिकता सूत्रों का स्वरूप तथा परिभाषा सूत्रों का लक्षण व परिष्कार प्रस्तुत किया गया। परिभाषा सूत्रों के स्वरूप पर विचार करते समय पाणिनि से पूर्व परिभाषाओं की सत्ता पर ऐतिहासिक दृष्टि से तथ्यों का संकलन किया गया। पाश्चात्य समालोचको में गोल्डस्टूकर के मत को उद्धृत करते हुए पाणिनि पूर्व परिभाषाओ की विद्यमानता और पाणिनि द्वारा उन्हें सूत्रात्मक रूप में प्रस्तुत किये जाने की चर्चा है। परिभाषाओं की कार्यपद्धति को हृदयंगम करने के पूर्व उनका परिष्कार अर्थात् लक्षण समझना आवश्यक है।

" लक्ष्यधर्मिक साधुत्व प्रकारका ऽऽ प्रामाण्य ज्ञाना ऽनास्कन्दित बोधोपयोगिबोध-जनकत्वं परिभाषात्वम् "

परिभाषा का यह लक्षण शब्द साधुत्व प्रक्रिया में उसके औचित्य को प्रदर्शित करता है। लक्ष्यानुरोध से शब्द सिद्धि करते समय अप्रामाण्य ज्ञान की निवृत्ति पूर्वक विधि सूत्रो को अर्थ बोध में सहायक होना परिभाषा का धर्म है। जैसे - तस्मिन्निति ० परिभाषा सूत्र की प्रवृत्ति के बिना " इकोयणचि" इस विधि सूत्र का शाब्दबोध नहीं हो सकता। "अच्" के परे "इक्" के स्थान पर यणादेश होता है। इस अर्थ निष्पत्ति में यह सन्देह बना रहता है कि अच् के अव्यवहित पूर्व के इक् को यण् किया जाए अथवा व्यवहित इक् को ? इस सन्देह का निवारण तस्मिन्निति परिभाषा सूत्र की प्रवृत्ति से संभव होता है। दोनो सूत्रो की एकवाक्यता के द्वारा अच् के अव्यवहित पूर्ववर्ती इक् के स्थान पर यण् आदेश होता है। यही अप्रामाण्यज्ञाना ऽनास्कन्दित बोध है।

परिभाषा के उपर्युक्त लक्षण की संज्ञा सूत्रो में भी अति प्रसक्ति संभावित हो सकती है क्योंकि वृद्धिरादैच् आदि संज्ञासूत्र भी वृद्धिरेचि आदि विधि सूत्रो के अर्थ बोध में सहायक अथवा उपयोगी है। संज्ञासूत्रो में परिभाषात्व की इस अति प्रसक्ति के निवारणार्थ परिभाषा के लक्षण में शक्ति का अविषय (**शक्त्यविषयकत्व**) होना भी सम्मिलित है। अधिकार सूत्रो में परिभाषा के लक्षण की अति प्रसक्ति की आशङ्का नही करनी चाहिए क्योंकि अधिकार सूत्र विधि सूत्रों के साथ एकवाक्यता करते हुए लक्ष्य सिद्धि में साक्षात् उपयोगी होते हैं। परिभाषा सूत्रो की उपयोगिता साक्षात् नही परम्परया होती है।

"अधिकार शास्त्राणामपि विधि शास्त्रेण सहैकवाक्य तथा बोधकत्वेन साधुत्वा प्रकारक बोधजनकत्वा भावान्न परिभाषा त्वम्।"

परिभाषा सूत्र के उपर्युक्त लक्षण के आधार पर अष्टाध्यायी के परिभाषा सूत्रो की सोदाहरण विस्तृत व्याख्या की गई। व्याख्या के अन्त में परिभाषा सूत्र की समीक्षा प्रस्तुत की गई जिसमें उसका औचित्य और लक्ष्य सिद्धि में उसकी उपयोगिता पर सप्रमाण विचार किया गया है। कतिपय परिभाषा सूत्रो की विस्तृत व्याख्यायें है जैसे - "इकोगुण वृद्धौ" - (१.१.३) "समर्थः पदविधिः"

- (२.१.१) आदि। ये व्याख्यायें सूत्र की व्याप्ति को स्पष्ट करती है। जैसे- " इको गुण वृद्धी " - (१.१.५) परिभाषा सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने तच्छेष और तदपवाद इन दो पक्षों की उद्भावना करते हुए "अलोऽन्त्यस्य" परिभाषा के साथ उसकी एक वाक्यता की समीक्षा की है। इसी सूत्र में शब्द कौस्तुभकार ने सात पक्षो की उद्भावना की है। जो इस प्रकार है -

१. इको गुण वृद्धी अलोऽन्त्यस्य का शेष है।

२. अलोऽन्त्यस्य इकोगुणवृद्धी का शेष है।

३. दोनो से सम्मिलित कार्य होता है।

४. अलोऽन्त्यस्य का विकल्प इकोगुणवृद्धी है।

५. अलोऽन्त्यस्य का अपवाद है।

६. अलोऽन्त्यस्य का बाधक है।

७.पदोपस्थापक है।

"इयं च परिभाषाऽलोन्त्य परिभाषाः शेषो वा शेषिभूता वा तया सह समुच्चिता वा वैकल्पिकी वा तदपवदो वा पूर्वविप्रतिषेधात्तद्बाधिका वा पदोपस्थापिका वेति सप्तपक्षाः सम्भाव्यन्ते।"

इनमें प्रथम और द्वितीय पक्षों के गुण दोषों की समीक्षा तच्छेष पक्ष के अन्तर्गत की गई है। तृतीय पक्ष में कार्य निष्पन्न होना संभव नहीं है क्योंकि "मिदेर्गुणः" - (७.३.८२.) आदि विधि सूत्रो में मिदेः पद की षष्ठी रूप लिङ्ग के आधार पर स्थान षष्ठी (अलोऽन्त्यस्य) और अवयव षष्ठी रूप दो अर्थो की प्रतीति दुर्लभ है। ("मिदेः अन्त्यस्य मिदेः इकश्च द्वयोरपि गुण इति मैवम्। स्थानेयोगावयवसम्बन्धरूपस्यार्थद्वयस्य युगपदुच्चारितया षष्ठया दुर्लभत्वात्" - शब्द कौस्तुभः - १.१.३.)

चतुर्थ पक्ष भी दोषग्रस्त होने से अस्वीकार्य है। अपवाद और बाधक की चर्चा तदपवाद पक्ष में तथा क्रोष्ट्रीयमत के अन्तर्गत की गई है। यह पक्ष भी दोष ग्रस्त होने से सिद्धान्ततः पदोपस्थापक पक्ष की स्थापना की गई। जहाँ भाष्यकार किसी परिभाषा सूत्र को प्रत्याख्येय मानते है वहाँ सूत्रकार की पृष्ठभूमि में सूत्र के स्वरूप पर विचार किया गया है। जैसे - "स्थानेऽन्तरतमः" - (१.१.५०.) सूत्र आदेश नियामक परिभाषा सूत्र है। भाष्यकार और वार्तिककार ने लोक व्यवहार के आधार पर इस परिभाषा सूत्र का प्रत्याख्यान किया है। (**"अन्तर तम वचनं चाशिष्यम् स्वभावसिद्धत्वात् .....।"**) समीक्षा के अन्तर्गत् यह प्रतिपाद्य है कि लोक - व्यवहार सिद्ध अथवा स्वभाव सिद्ध होने पर भी शास्त्रीय कार्य की सिद्धि में अन्तरतम आदेश का विधान परम आवश्यक है। अन्तरतम आदेशों में भी सन्देह उत्पन्न होने पर शास्त्र द्वारा ही निर्णय संभव है। अनेक विध आन्तर्यो में स्थान कृत आन्तर्य बली होता है यह शास्त्र वचन से ज्ञात हो सकता है। इसी प्रकार "एच् इग्घ्रस्वादेशे" - (१.१.४८.), "षष्ठी स्थाने योगा" - (१.१.४९.) आदि परिभाषा सूत्रों के भाष्य का अवलोकन करने पर यह प्रतीत होता है कि ये सूत्र अन्यथा सिद्ध हैं। तथापि सूत्रकार इनका आरम्भ करते है। इस प्रसंग में भाष्यकार के शब्द महत्वपूर्ण हैं। आरभ्यमाणेप्येतस्मिन् इत्यादि वचनो के द्वारा भाष्यकार पुनः सूत्र की समीक्षा करते

हैं। इसका तात्पर्य यह है कि भाष्यकार ने प्रत्युत्पन्नमति छात्रों की दृष्टि में सूत्र का प्रत्याख्यान किया है किन्तु स्पष्टप्रतिपत्ति के लिए या मन्दबुद्धियो के लिए सूत्र को स्वीकार भी किया है। (**"अन्वाख्यानमेव तर्हीदं मन्दबुद्धेः" - म. भा. - १.१.५६.)** "स्थानिवत्०" - (१.१.) सूत्र के भाष्य में वे स्पष्ट रूप से कहते हैं - "न हि दोषाः सन्तीति परिभाषा न कर्तव्या लक्षणं वा न प्रणेयम्।" लौकिक दृष्टान्त के द्वारा इसका समर्थन करते हुए वे कहते हैं - "न हि भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते। न च मृगाः सन्तीति यवाः नोप्यन्ते।"

परिभाषा सूत्रो के स्वरूप निर्धारण में परिभाषा के पूर्वोक्त लक्षण को मुख्य आधार माना है। इसके अतिरिक्त काशिका - न्यास - पदमन्जरी में स्पष्ट रूप से जिन सूत्रों को परिभाषा स्वीकार किया है उनकी भी व्याख्या द्वितीय अध्याय में है। काशिकाकार ने "अयमधिकारः परिभाषा वा" - कहकर प्रायः अधिकार सूत्रों में परिभाषात्व को स्वीकार किया है। जैसे - "समर्थः पदविधिः, परश्च, आद्युदातश्च इत्यादि।" कैयट ने "क्ङिति च" - (१.१.५.) आदि में परिभाषात्व माना है। **(यत्र गुणवृद्धी विधीयेते तत्र क्ङिति नेत्युपतिष्ठते इत्येवमियं परिभाषा भवति)**

भाष्यकार स्वयं कभी अतिदेश को और कभी अधिकार को परिभाषा के रूप में उल्लिखित कर देते हैं। "स्थानिवत्०" सूत्र के भाष्य में "न हि दोषाः सन्तीति परिभाषा न कर्त्तव्या" निर्देश से अनुमान किया जा सकता है कि अतिदेशादि सूत्रो में भी "अनियमे नियम कारित्व" होता है। द्वयोः, परिभाषयोः, सावकाशयोः, समवस्थितयोः,०.... इत्यादि शब्दों के द्वारा "पूर्वत्रासिद्धम्" जैसे अधिकार सूत्र भी परिभाषा की कोटि में सम्मिलित हो जाते है। स्वं रूपम्० आदि संज्ञा सूत्रों को नियमकारिता के आधार पर परिभाषा की कोटि में परिणित किया जा सकता है। जिन सूत्रों में संज्ञाकरण, नियम, विधि, अतिदेश अथवा अधिकार के साथ - साथ परिभाषात्व परिलक्षित होता है उनकी चर्चा तृतीय अध्याय में उभय विध सूत्रों के अन्तर्गत की गई है। वस्तुतः विधि सूत्रो के अतिरिक्त अन्य सभी सूत्रों में किसी न किसी रुप में नियमकारिता उपलब्ध होती है। किन्तु केवल इसी आधार पर उन्हें परिभाषा सूत्रों के अन्तर्गत अध्ययन का विषय बनाना दुष्कर है अतः सौविध्य के लिए उन्हे संज्ञा, परिभाषा, नियम, अतिदेश और अधिकार के रूप में वर्गीकृत किया गया है।

प्रबंध के चतुर्थ अध्याय में परिभाषाओं के ज्ञापक सूत्रों का संक्षिप्त विवेचन है। आचार्य पाणिनि ने इन ज्ञापक सूत्रों के द्वारा परिभाषाओं का संकेत किया है। परिभाषाकार नागेश ने निम्नानुसार पाँच परिभाषाओं को उदधृत करते हुए पाणिनि के सूत्रों में उनके ज्ञापको का निर्देश किया है -

१. संज्ञा पूर्वक विधेरनित्यत्वम् इसका ज्ञापक सूत्र "ओर्गुणः" - (६.४.१४६.) है।
२. आगम शास्त्रमनित्यम् - "आनि लोट्" - (८.४.१६.) सूत्र इस परिभाषा का ज्ञापक है।
३. गण कार्यमनित्यम् - "तनादिकृञ्भ्यः उः" - (३.१.७९.) सूत्र में पठित कृञ् ग्रहण से यह ज्ञापित है
४. अनुदात्तेत्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम् - चक्षिङ्धातु का ङित् करण इसका ज्ञापक है।
५. नञ्घटितमनित्यम् अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (६.१.१५८.) सूत्र में पठित वर्जम् शब्द इस परिभाषा का ज्ञापक है।

उपर्युक्त परिभाषाएँ महाभाष्य में पठित नही है। अतः वैयाकरणों को स्वीकार्य नही है। परिभाषाओ के ज्ञापक सूत्रो के संबंध में यह प्रतिपाद्य है कि यदि पाणिनीय सूत्र में कोई शब्द अनावश्यक अथवा निरर्थक प्रतीत होता है तो मात्र इसी आधार पर परिभाषा को ज्ञापित कर उस शब्द की चरितार्थता प्रकट करना उचित नही है। अष्टाध्यायी को श्रुतिवत् प्रामाण्य प्राप्त है, इसीलिए छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति कहा जाता है। सूत्र पाठ का यथावत् पारायण करने से ही पुण्य प्राप्ति होती है। "आनि लोट्" - (८.४.१६.) सूत्र में आनि और लोट् दोनों शब्द अनावश्यक प्रतीत हो रहे हों और केवल नि सूत्र से भी लक्ष्य सिद्धि संभव हो तथापि उससे परम अभीष्ट की सिद्धि नही हो सकती। भाष्यकार के "तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुं किं पुनरियता सूत्रेण ?" - शब्दो का यही स्वारस्य है।

अष्टाध्यायी में पठित विभाषा - अन्यतरस्याम् वा अथवा भाषायाम् आदि एक ही अर्थ के वाचक विभिन्न शब्दों के प्रयोग के आधार पर नागेश भट्ट ने "पर्याय शब्दानां लाघव गौरव चर्चा नाद्रियते" परिभाषा पठित की है। सूत्रकार ने निषेध के लिए न और विकल्प के लिए वा शब्द का प्रयोग निर्धारित किया है। ("नवेति विभाषा" - १.१.४४.) इस स्थिति में सूत्रकार को विकल्प का वाचक वा शब्द का प्रयोग ही करना चाहिए, तथापि सूत्रकार विकल्प के अर्थ में "विभाषा अन्यतरस्याम् भाषायाम्" आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। इससे प्रतीत होता है कि - "अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यते वैयाकरणाः" न्याय पर्याय शब्दो के लिए लागू नही होता।

अष्टाध्यायी के सूत्रो के अतिरिक्त कभी- कभी धातुओं के अनुबन्धों के द्वारा भी परिभाषा का संकेत प्राप्त होता है जैसे - दैप् शोधने धातु में पकार अनुबन्ध के द्वारा अर्थात् धातु के पित् करण के द्वारा यह ज्ञापित होता है कि - "लक्षण प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्" परिभाषा सार्वत्रिक नही है। दैप् में पित् करण का प्रयोजन घु संज्ञा के निषेध के लिए है। ("दाधाघ्वदाप्" - १.१.२६.) वस्तुतः दै धातु को घु संज्ञा की प्राप्ति ही नही है क्योंकि घु संज्ञा तो दा धातु को विहित है। दै धातु को "आदेच उपदेशेऽशिति" - (६.१.४५.) से आत्व करने पर दा धातु उपलब्ध होती है किन्तु यह दा रूप धातु का लाक्षणिक रूप है प्रतिपदोक्त नही। अतः लक्षण प्रतिपदोक्त परिभाषा से इस लाक्षणिक दा का ग्रहण स्वतः ही निवृत्त हो जाता है। इस स्थिति में घु संज्ञा भी अप्राप्त होती है उसकी निवृत्ति के लिए पित् करण व्यर्थ है , तथापि धातु पाठ में पित् करण से ज्ञापित होता है कि दा धातु से केवल प्रतिपदोक्त दा का ही ग्रहण अभीष्ट नही है अपितु लाक्षणिक दा धातु का भी ग्रहण अभीष्ट है। परिणामस्वरूप दा और धा धातुओ को विधीयमान घु संज्ञा (दाधाघ्वदाप्) देङ् और दा धातुओं को आत्व करने के पश्चात् ("आदेच उपदेशे०" - ६.१.४५.) प्रवृत्त हो ही जाती है यद्यपि दा और धा के रूप में दृश्यमान ये धातुएं मौलिक रूप से या प्रतिपदोक्त दा और धा नही है। घु संज्ञा के सूत्र में अदाप् ग्रहण के कारण पकार अनुबन्ध विशिष्ट दा धातु में घु संज्ञा का निषेध है। अर्थात् अदाप् ग्रहण के सामर्थ्य से लाक्षणिक दा धातु यदि पकार अनुबन्ध विशिष्ट हो तो उसकी घु संज्ञा नही होती।

इसी आधार पर परिभाषाकारों ने "लक्षण प्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्" - परिभाषा की अपवादात्मिका **"गामादाग्रहणेष्व विशेषः"** परिभाषा पठित की है जिसका आशय है कि

गा, मा और दा धातुओ के संबंध में लक्षण प्रतिपदोक्त परिभाषा प्रवृत्त नही होती । दा धातु के समान गा और मा धातुओ में भी इसके लाक्षणिक रूप का ग्रहण हो जाता है । उदाहरणार्थ गै धातु को आत्व ("आदेच०"- ६.१.४५.) करने पर निष्पन्न लाक्षणिक गा धातु का ग्रहण "घुमास्था गा पा०" - (६.४.६६.) आदि सूत्र में पठित गा धातु से हो जाता है और गै से निष्पन्न गा धातु को घुमास्थागा० सूत्र से ईत्व सिद्ध हो जाता है । इसी प्रकार मेङ् धातु को "आत्व" - (६.१.४५.) करने पर निष्पन्न मा धातु में "नेर्गदनदपदपतधु मा०" - (८.४.१७.) आदि सूत्र की प्रवृत्ति होकर प्रणिमाता आदि रूपों में णत्व की सिद्धि ही जाती है । निष्कर्षतः दैप् धातु के पित्करण से प्रकृत परिभाषा के एकांश का ज्ञापन होता है।

निष्कर्ष- वर्तमान में संस्कृत के अध्ययन की प्रवृति ने पुनः एक बार पाणिनि और उसकी अष्टाध्यायी की अध्येताओ का ध्यान केन्द्रित किया है । गोल्डस्टुकर, कीलहार्न, वेबर, विटने, प्रभृति पाश्चात्य विचारको के पश्चात् एक सुदीर्घ काल व्यतीत हो चुका था । पाल थीमे ने "Panini and Veda" नामक ग्रन्थ में अष्टाध्यायी के वैदिक अंश का अध्ययन प्रस्तुत किया । बेरेन फेडेगन ने - "Studies on Panini's Grammer" में विटने के Grammer में उपस्थापित कतिपय प्रश्नो का समाधान किया था । H. Scold ने "Papers on Panini" पाणिनीय व्याकरण पर शोध निबंध लिखे । प्रो० सूर्यकान्त शास्त्री ने ऋक् तन्त्र के समालोचनात्मक संस्करण में पाणिनि से पूर्व उपलब्ध व्याकरणिक तत्वों का उल्लेख किया था । इसी परम्परा में आई. एस. पावटे ने **"The structure of अष्टाध्यायी"** में अष्टाध्यायी से संबंधित महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर प्रश्न उपस्थित कर चिन्तन की सामग्री प्रस्तुत की है । सर्व प्रथम वे अष्टाध्यायी की संज्ञा और परिभाषाओं की कार्य पद्धति में विसंगतियों की चर्चा करते हैं। संज्ञाओं के संबंध में पावटे जी का कथन है कि - पाणिनि की संज्ञाओ में सर्वत्र एकरूपता दृष्टिगोचर नही होती । जैसे - "एकवचनं सम्बुद्धिः" - (२.३.४९.) और "एक श्रुति दूरात् सम्बुद्धौ" - (१.२.३३.) इन दोनो सूत्रो में सम्बुद्धि समानार्थक नही है । काशिकाकार एकश्रुति० सूत्र में सम्बुद्धि का अर्थ लिखते हैं - "दूरात् सम्बोधयति येन वाक्येन ततसम्बोधनं सम्बुद्धिः । नैकवचनं सम्बुद्धिः ।" - परिभाषाओ के संबंध में लेखक का मत है कि पाणिनि की अधिकांश परिभाषाएँ सापवाद है अर्थात् प्रायः ऐसी कोई परिभाषा नही है जिसका कोई अपवाद न हो । इसी प्रकार अनेक परिभाषाएँ पाणिनि को स्वीकार्य किन्तु अष्टाध्यायी में पठित नही है ।

पाणिनि के पक्ष में उपर्युक्त प्रश्नो का समाधान "सर्व वेद परिषदं हीदं शास्त्रम् । तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम्" - शब्दो में दिया जा सकता है । अष्टाध्यायी ग्रन्थ वेद के समस्त अङ्गों एवं चरणों से सम्बद्ध है अतः इसके रचना विज्ञान में एक निश्चित मानदण्ड का कठोरता पूर्वक पालन नही किया जा सकता । सर्थी वेदो के प्रतिशाख्यो से पाणिनि ने सामग्री संकलन किया है अतः अष्टाध्यायी के सिद्धान्तो में या नियमो में वैविध्य या विकल्प होना स्वाभाविक है ।

अन्त में

"संज्ञाः परार्था अत्यन्तं परिभाषाश्चतद्विधाः ।
न स्वातन्त्र्येण तास्तमात् कार्यावगतिहेतवः ॥
अनेकस्य प्रधानस्य शेषभूता भवन्विति ।
एताः केवलमाचार्यः पृथग्देशा उपादिशत् ॥
विधिवाक्यैस्तु संहत्य यत्र तत्र स्थितैरपि ।
बोधयन्त्यः स्वकार्याणि नैकपूर्वाः परा इमाः ॥"

- पदमंजरी - (८.२.१.)

पदमंजरीकार के उपर्युक्त वचनों से स्पष्ट होता है कि संज्ञा और परिभाषाओं का अर्थबोध विधि वाक्यों के साथ मिलकर ही होता है। यथोद्देश और कार्यकाल पक्ष **(यथोद्देशं संज्ञा परिभाषम्, कार्यकालं संज्ञा परिभाषम् ।)** की उद्भावना इसी उद्देश्य से की गयी है।

"भगवतः पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम्"

❀❀❀

परिशिष्ट – १

शोध-प्रबंध में समीक्षित परिभाषा सूत्रों की सूची

क्रमांक	सूत्र	
१.	अचश्च - १.२.२८.	
*२.	अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः - १.१.६९.	(संज्ञा + परिभाषा)
३.	अनुदात्तं पदमेकवर्जम् - ६.१.१५८.	
*४.	अनुपसर्जनात् - ४.१.१४.	(अधिकार + परिभाषा)
५.	अनेकाल् शित्सर्वस्य - १.१.५५.	
६.	अलोऽन्त्यस्य - १.१.५२.	
७.	आदेः परस्य - १.१.५४.	
*८.	आद्यन्तवदेकस्मिन् - १.१.२१.	(अतिदेश + परिभाषा)
९.	आद्यन्तौ टकितौ - १.१.४६.	
*१०.	आद्युदात्तश्च - ३.१.३.	(अधिकार + परिभाषा)
११.	इको गुणवृद्धी - १.१.३.	
*१२.	उच्चैरूदात्तः - १.२.२९.	(संज्ञा + परिभाषा)
१३.	उरण् रपरः - १.१.५१.	
१४.	एच इग्घ्रस्वादेशे - १.१.४८.	
*१५.	क्ङिति च - १.१.५४.	(विधि + परिभाषा)
१६.	तस्मादित्युत्तरस्य - १.१.६७.	
१७.	तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य - १.१.६०.	
*१८.	तेन दीव्यति खनति जयति जितम् - ४.४.२.	(अधिकार + विधि + परिभाषा)
*१९.	देविकाशिंशपा दित्यवाड् दीर्घसत्रश्रेयसामात् - ७.३.१.	(विधि + परिभाषा)
*२०.	न धातुलोप आर्धधातुके - १.१.४.	(विधि + परिभाषा)
*२१.	नीचैरनुदातः - १.२.३०.	(संज्ञा + परिभाषा)
*२२.	परश्च - ३.१.२.	(अधिकार + परिभाषा)
*२३.	पूर्वत्रासिद्धम् - ८.२.१.	(अधिकार + परिभाषा)
२४.	मिदचोऽन्त्यात्परः - १.१.४७.	
*२५.	यथासंख्यमनुदेशः समानाम् - १.३.१०.	(नियम + परिभाषा)
२६.	वासरूपोऽस्त्रियाम् ३.१.५४.	
*२७.	विप्रतिषेधेपरंकार्यम् - १.४.२.	(नियम + परिभाषा)
२८.	षष्ठी स्थाने योगा - १.१.४९.	
२९.	समर्थः पदविधि - २.१.१.	
३०.	स्थानेऽन्तरतमः - १.१.५०.	
*३१.	स्वं रूपं शब्दस्याशब्द संज्ञा - १.१.६८.	(संज्ञा + परिभाषा)
३२.	स्वरितेनाधिकारः - १.३.३.	

* चिह्नित सूत्र उभयविध सूत्रों की कोटि में व्याख्यात है इनमें अंशतः परिभाषात्व है।

❀❀❀

परिशिष्ट - २

शोध-प्रबंध में समीक्षित ज्ञापक सूत्र एवं उनसे ज्ञापित परिभाषाएँ

क्र.	ज्ञापक सूत्र	ज्ञापित परिभाषाएँ
१.	अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः - १.१.६९.	पूर्वत्रासिध्दीयमद्वित्वे
२.	अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्-वनव्ययस्य - ८.३.४६.	उणादयो ऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि
३.	अदो जग्धिर्ल्यप्तिकिति - २.४.३६.	अन्तरङ्गानपिविधीन् बहिरङ्गोल्यब् बाधते
४.	अनुदात्तं पदमेकवर्जम् - ६.१.१५८.	नञ्घटितमनित्यम्
५.	अनेकाल्शित्सर्वस्य - १.१.५५.	नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्
६.	अभ्यासस्यासवर्णे - ६.४.७८.	वर्णादाङ्गं बलीयो भवति
७.	अर्तिपिपर्त्योश्च - ७.४.७७.	नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यास विकारे
८.	अर्धं नपुंसकम् - २.२.२.	सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्
९.	अस्थि दधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्त - ७.१.७५.	अभेदका गुणाः
१०.	आनि लोट् - ८.४.१६.	आगम शास्त्रमनित्यम्
११.	उदीचां माङो व्यतिहारे - ३.४.१९.	नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम्
१२.	उपपदमतिङ् - २.२.१९.	गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सहसमासवचनं प्राक्सुबुत्पत्तेः
१३.	ऋत उत् - ६.१.३.	भाव्यमानोऽप्युकारः सवर्णान् गृहणाति
१४.	एकाच् उपदेशे ऽनुदात्तात् - ७.२.१०.	श्तिपा शपानुबन्धेन निर्दिष्टं यद् गणेन च यत्रैकाज् ग्रहणं चैव - पञ्चैतानिनयङ्लुकि
१५.	ओर्गुणः - ६.४.१४६.	संज्ञापूर्वकविधेरनित्यत्वम्
१६.	कार्मस्ताच्छील्ये - ६.४.१७२.	ताच्छीलिके णे ऽण्कृतानि भवन्ति
१७.	कुमारः श्रमणादिभिः - २.१.७०.	प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्
१८.	क्षियोदीर्घात् - ८.२.४६.	प्रकृतिवदनुकरणं भवति
१९.	गतिरनन्तरः ६.२.४९.	कृद्ग्रहणे गति कारकपूर्वकस्यापि ग्रहणम्
२०.	ज्ञाजनोर्जा - ७.३.७९.	अङ्गवृत्तेपुनर्वृत्तावविधिः
२१.	ज्यादादीयसः - ६.४.१६०.	भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न / अङ्गवृत्तेः०
२२.	णचः स्त्रियाम् - ५.४.१४.	क्वचित् स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्तन्ते
२३.	तनादिकृञ्भ्यः उः - ३.१.७९.	गणकार्यमनित्यम्
२४.	तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे बहुवचनस्य द्विवचनं नित्यम् -१.२.६३.	सर्वोद्वन्द्वो विभाषयैकवद् भवति
२५.	ददातिदधात्योर्विभाषा - ३.१.१३९.	नानुबन्धकृतमसारूप्यम्
२६.	दाण्डिनायनहास्तिनायनाथर्वणिकजैह्माशिनेय वाशिनायनि भ्रौणहत्य धैवत्य सारवैक्ष्वाकमैत्रे-यहिरण्मयानि - ६.४.१७४.	धातोः कार्यमुच्यमानंतत्प्रत्यये भवति
२७.	दिव उत् - ६.१.१३१.	भाव्यमानोऽप्युकारः सवर्णान् गृह्णाति

क्र.	ज्ञापक सूत्र	ज्ञापित परिभाषाएँ
२८.	दीर्घोऽकितः - ७.४.८३.	अभ्यास विकारेषु बाध्यबाधक भावोनास्ति
२९.	नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तुवा - ६.१.९९.	नांनर्थकेऽलोन्त्य विधिरनभ्यास विकारे
३०.	निन्दहिंस क्लिशखाद विनाश परिक्षिपपरिरट परिवादि व्याभाषा सूजोवुञ् - ३.२.१४६.	ताच्छीलिकेषु वासरुपविधिर्नास्ति
३१.	नेदमदसोरकोः - ७.१.३.	तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते
३२.	नेन्द्रस्यपरस्य - ७.३.४.	पूर्वोत्तरनिमित्त कार्यात् पूर्वमन्तरङ्गोऽप्येकादेशो न
३३.	नोत्तरपदेऽनुदात्तादावपृथिवीरुद्रपूषमन्थिषु - ६.२.१४२.	स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्
३४.	पूर्वत्रासिध्दम् - ८.२.१.	पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे
३५.	पूर्वादिनिः - ५.२.८६.	व्यपदेशिवद् भावो ऽप्रातिपदिकेन
३६.	प्रतेरंश्वादयस्तत्पुरुषे - ६.२.१९३.	समासान्तविधिरनित्यः
३७.	प्रत्ययलोपे प्रत्यय लक्षणम् १.१.६२.	सर्वविधिभ्योलोप विधि रिड् विधिश्चबलवान्
३८.	प्रत्ययोत्तर पदयोश्च - ७.२.९८.	अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग्बाधते
३९.	बिल्वकादिभ्यश्च्छस्य लुक् - ६.४.१५३.	सन्नियोगशिष्टानामन्यतरापाये उभयोरप्यपायः
४०.	यतो ऽनावः - ६.१.२१३.	हल्स्वर प्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्
४१.	यस्य विभाषा - ७.२.१५.	लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग् विकरणस्यैव
४२.	लोटो लङ्वत् - ३.४.८५.	आतिदेशिकमनित्यम्
४३.	वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ - ४.२.९.	निरनुबन्धक ग्रहणे न सानुबन्धकस्य। तदनुबन्धक ग्रहणे ना तदनुबन्धकस्य।
४४.	वाह ऊठ् - ६.४.१३२.	असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे
४५.	वृद्भ्यःस्यसनोः - १.३.९२.	विकरणेभ्यो नियमो बलीयान्
४६.	षत्वतुकोरसिद्धः - ६.१.८६.	नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः
४७.	सपूर्वाच्च - ५.२.८७.	ग्रहणवताप्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति
४८.	समर्थानां प्रथमाद् वा - ४.१.८२.	अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः
४९.	संख्याया अतिशदन्तायाः कन् -५.१.२२.	उभयगतिरिह भवति
५०.	सुप्तिङन्तं पदम् - १.४.१९.	संज्ञा विधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति
५१.	स्थण्डिलाच्छयितरि व्रते - ४.२.१५.	कार्यमनुभवन हि कार्यीनिमित्ततया नाश्रीयते
५२.	हशश्वतोर्लङ्च - ३.२.११६.	लादेशेषु वासरुपविधिर्नास्ति
५३.	हृदयस्यहृल्लेखयदणलासेषु - ६.३.५०.	उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे न तदन्तग्रहणम्
५४.	हेरचङि - ७.३.५६.	प्रकृति ग्रहणे ण्यधिकस्यापि ग्रहणम्

टीप :- अन्यतरस्याम् विभाषा वा (२.४.४०.)(२.१.११.)(१.३.९०.) आदि पर्यायवाची शब्दों से ज्ञापित .... पर्यायशब्दाना लाघव गौरव चर्चा नाद्रियते

चक्षिङ् धातु के ङितकरण से ज्ञापित .... अनुदात्तेत्त्वलक्षणमात्मने पदमनित्यम्

दैप् धातु के पित्करण से ज्ञापित .... गामादाग्रहणेष्व विशेषः

टीप :- सूत्रों में रेखाङ्कित अंश ज्ञापक हैं। जहां रेखांकन नहीं है वहां संपूर्ण सूत्र ज्ञापक है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

अष्टाध्यायी	- चौखम्भा सुर भारती प्रकाशन
अष्टाध्यायी प्रथमावृत्ति	- ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, रामलालकपूर ट्रस्ट, अमृतसर - १९६४
कातन्त्र व्याकरण	-
काशिका वृत्ति	- न्यास पदमंजरी सहित, रत्ना प्रकाशन, वाराणसी - १९८५
चान्द्र व्याकरण	- डेक्कन कॉलेज, पुणे
जैनेन्द्र महावृत्ति	- भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
परिभाषेन्दुशेखर	- के.व्ही.अभ्यंकर, भण्डारकर ओरियेन्टल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पुणे
परिभाषेन्दुशेखर	- तत्व प्रकाशिका भूति टीका, समवेत बालकृष्ण ग्रन्थमाला, काशी - १९८७
परिभाषेन्दुशेखर	- सर्वमङ्गला टीका सहित, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी - १९८७
परिभाषेन्दुशेखर	- बृहच्छास्त्रार्थ कला. चौखम्भा संस्कृत सीरीज - १९४३
पातञ्जल महाभाष्य में प्रत्याख्यात सूत्र	- डॉ. भीमसिंह वेदालकार, कुरुक्षेत्र
पाणिनि कालीन भारतवर्ष	- डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी - १९६८
पाणिनीय व्याकरण की भूमिका	- कृष्णास्वामी अयंगार, प्रभात प्रकाशन (दिल्ली)
पाणिनि व्याकरणे वादरत्नम्	- पं. सूर्यनारायण शुक्ल, चौखम्भा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी
पाणिनि व्याकरण में प्रज्ञनक प्रविधियाँ	- डॉ. रमानाथ शर्मा
Panini - His place in Sanskrit Lite	- गोल्डस्टूकर
Poona Orientalist	- October - 36
प्रौढ़ मनोरमा	- शब्दरत्न सहित, ना. दा. वाडेगांवकर, नागपुर - १९४४
महाभाष्य	- भाण्डारकर ओरियेन्टल रिसर्च, इंस्टिट्यूट, पुणे - १९६२
महाभाष्य	- डेक्कन एजुकेशन सोसायटी, पुणे - १९६४
महाभाष्य निगूढाकूतयः	- डॉ. देवस्वरूप मिश्र, संपूर्णानंद संस्कृत वि.वि., वाराणसी - १९७८
लघुशब्देन्दुशेखर	- चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी - १९७५
बृहच्छब्देन्दुशेखर	- वाराणसेय संस्कृत वि. वि., वाराणसी - १९६०
वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी	- तत्वबोधिनी बाल मनोरमा सहित, मोतीलाल बनारसी दास - १९७५
व्याकरण सिद्धान्त सुधानिधि	- विश्वेश्वर सूरि, राजस्थान पत्रिका, जोधपुर
शब्द कौस्तुभ	- चौखम्भा संस्कृत सीरीज - १९९१
सारस्वती सुषमा	- सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी (१९९१-९२, ९७-९८)
सिद्धान्त चिन्तामणि	- आचार्य रामप्रसाद त्रिपाठी, सम्पूर्णानन्द ग्रन्थमाला - १९८७
संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इति.	- युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत - १९७३
System of Sanskrit Grammar	- एस. के. बेलवलकर
The structure of अष्टाध्यायी	- I. S. Pawate